भारतीय साहित्य सिद्धान्त

डॉ. मदन लाल शर्मा
डॉ. प्रेम प्रकाश शर्मा

भारतीय साहित्य सिद्धान्त

डॉ. मदन लाल शर्मा
डॉ. प्रेम प्रकाश शर्मा

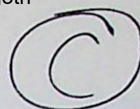
भारतीय साहित्य-सिद्धान्त

सिद्धान्त-दर्शन

कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन! (गीता)



राजेश प्रकाशन
जी-5/62, अर्जुन नगर, दिल्ली-110 051



भारतीय साहित्य-सिद्धान्त



डॉ॰ मदन लाल शर्मा

एम॰ ए॰(हिन्दी-संस्कृत), पी-एच॰ डी॰, डी॰ लिट्॰

पूर्व रीडर, किरोड़ीमल कॉलिज, (दिल्ली विश्वविद्यालय), दिल्ली

एवम्

डॉ॰ प्रेम प्रकाश शर्मा

एम॰ ए॰(हिन्दी-संस्कृत), पी- एच॰ डी॰

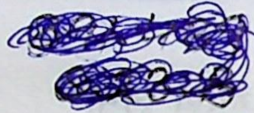
श्यामलाल कॉलिज, (दिल्ली विश्वविद्यालय), दिल्ली



प्रभृति मान्य आचार्य इसी चक्रालिका में फँस कर रह गये हैं। वे संस्कृत और रीतिकालीन आचार्यों की ओर देख भी नहीं सके हैं। यही कारण है कि भारतीय आलोचना-शास्त्र में भानुमती का कुनबा इकट्ठा हो गया है और अपनेपन को छोड़कर विद्वानों ने 'किसी की टोपी, किसी की लँगोटी और किसी की सोटी' लेकर हिन्दी-आलोचना को एक बिजूका बना डाला है।

हम हिन्दुस्तानियों की यह प्रवृत्ति बड़ी भयावह है कि हम जब तक अँग्रेजी और अँग्रेजियत को अपने शुभ कार्यों में सम्मिलित करके अशुभ नहीं बना लेते, तब तक हमें संतोष नहीं होता। यही स्थिति भारतीय आलोचना की हो गई है और इसी नियति से संत्रस्त





I.S.B.N :

कृति : भारतीय साहित्य-सिद्धान्त

लेखक : डॉ॰ मदन लाल शर्मा, डॉ॰ प्रेम प्रकाश शर्मा

मूल्य : 200.00

प्रथम संस्करण : 2003

प्रकाशक : राजेश प्रकाशन
जी-5/62, अर्जुन नगर, दिल्ली-110051



राजेश प्रकाशन

जी-5/62, अर्जुन नगर, दिल्ली-110 051

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ 'भारतीय साहित्य-सिद्धान्त', मेरी लगभग पच्चीस वर्षों की सतत साधना का प्रतिफलन है। काव्य-सिद्धान्तों के पठन-पाठन में मेरी प्रारम्भ से ही रुचि रही है और साहित्य-शास्त्र ने मेरे मन को सर्वाधिक आकृष्ट किया है। मैं इस नीति का अनुयायी रहा हूँ–

"काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"

अत: मैं साहित्य-शास्त्र की साधना में ही अपना समय लगाने का संकल्प करके निरन्तर उसकी साधना करता रहा और इस स्थिति में पहुँच गया हूँ कि अपने वर्षो से संचित ज्ञान, ध्यान और अनुभूतियों को ग्रन्थ का रूप दे सकूँ। सच है–

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी:"

वास्तव में श्रम ही जीवन का सार और सर्वस्व है। मेरा तो यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि परिश्रम करने से तन और मन दोनों निर्मल हो जाते हैं। इस ग्रन्थ के प्रणयन से मुझे इस सत्य की पुष्कल अनुभूति हुई है।

आज का भारतीय साहित्य और साहित्य-शास्त्र, ऐसे विषम संधि-स्थलों से गुजर रहे हैं, जहाँ संस्कृत, अँग्रेजी और हिन्दी के शास्त्रीय मानदण्डों का विशाल संगम है और इस संगम का समागम किए बिना साफल्य मिलना कठिन है। यही कारण है कि भारतीय आलोचक इस त्रिवर्त्त के गम्भीर गह्वर में फँस कर ही रह जाता है। पहले तो उसका इस महान् साहित्यावर्त को पार करने का साहस ही नहीं होता और यदि वह साहस करके आगे बढ़ भी जाता है तो अँग्रेजी की उथली चक्रालिका उसे बीच में ही रोक लेती है। हमारे प्रभृति मान्य आचार्य इसी चक्रालिका में फँस कर रह गये हैं। वे संस्कृत और रीतिकालीन आचार्यों की ओर देख भी नहीं सके हैं। यही कारण है कि भारतीय आलोचना-शास्त्र में भानुमती का कुनबा इकट्ठा हो गया है और अपनेपन को छोड़कर विद्वानों ने 'किसी की टोपी, किसी की लँगोटी और किसी की सोटी' लेकर हिन्दी-आलोचना को एक बिजूका बना डाला है।

हम हिन्दुस्तानियों की यह प्रवृत्ति बड़ी भयावह है कि हम जब तक अँग्रेजी और अँग्रेजियत को अपने शुभ कार्यों में सम्मिलित करके अशुभ नहीं बना लेते, तब तक हमें संतोष नहीं होता। यही स्थिति भारतीय आलोचना की हो गई है और इसी नियति से संत्रस्त

होकर हिन्दी-आलोचक; *काव्य लक्षण, हेतु, प्रयोजन, रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति* आदि सभी सिद्धान्तों में अँग्रेजी के सिद्धान्तों का आरोपण करता दिखाई देता है, जबकि अँग्रेजी विद्वान् भूलकर भी हमारे काव्य मूल्यों की ओर नहीं ताकते। इसका कारण स्पष्ट है कि भारतीय विद्वान् आज भी हीनता की ग्रंथियों से ग्रथित है। उसे अपने ज्ञान, मान और उत्कर्ष पर आस्था ही नहीं है। वह तो परमुखापेक्षी बनकर ही जीने का आदी हो गया है। इसके विपरीत अँग्रेजी विद्वानों में हिन्दी वालों की इस दीनता को देखकर अपने को पूर्ण समृद्ध, सिद्ध और महनीय समझ बैठने की प्रवृत्ति बलवती होती जा रही है। यही कारण है कि अँग्रेजी हिन्दी की मूल्यवान् भेंट को भी नहीं स्वीकारती और हिन्दी अँग्रेजी के करकट की अकारण ऋणी होती जा रही है।

इस घातक प्रवृत्ति के मोहपाश को भंग करके वास्तविकता को प्रकाश में लाने के लिए ही मैंने इस ग्रन्थ की रचना करने का संकल्प लिया था और आज उस संकल्प को पूर्ण होता देखकर मुझे अपार हर्ष हो रहा है। यह ग्रंथ दो लेखकों के कठोर परिश्रम और अथक प्रयास का प्रतिफलन है।

इस ग्रन्थ में भारतीय मानदण्डों के आधार पर ही हिन्दी साहित्य-शास्त्र के विश्लेषण का प्रयास किया है। यह प्रयास कितना सफल और उपयोगी है, इसका निर्णय तो विज्ञ पाठकों को ही करना है।

निश्चय ही यह ग्रन्थ भारतीय सिद्धान्त-दर्शन की शृंखला में एक अनुपम कड़ी के रूप में प्रतिष्ठित होगा। अस्तु!

—डॉ॰ मदन लाल शर्मा

रोशन निवास,
बी-51, विवेक विहार, फेज-2,
दिल्ली—110095

भक्त ज्ञानी तथा संतमना

परमपूज्य पितामह

पण्डित पन्नीलाल जी

को सादर!

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

काव्य-शास्त्र का इतिवृत्त

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

रस की महत्ता

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

रीति सिद्धान्त

सप्तम अध्याय

ध्वनि सिद्धान्त

अष्टम अध्याय

वक्रोक्ति सिद्धान्त

उपसंहार

प्रथम अध्याय

काव्य-शास्त्र का इतिवृत्त

उद्‌भव और विकास

भारतीय काव्य-शास्त्र का इतिहास अति प्राचीन है। वेदों से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तर काव्य-शास्त्र पर विचार होता रहा है। इसका कारण यह है कि भारतीय काव्य-जगत में अति प्राचीन काल से ही उत्कृष्ट काव्य (लक्ष्य) ग्रंथ उपलब्ध होते रहे हैं और जहाँ लक्ष्य ग्रंथ जितने अधिक सुष्ठु, पुष्ट, गरिमावान् एवं प्राचीन होंगे वहाँ का काव्य शास्त्रीय विवेचन भी उतना ही अधिक सुष्ठु, पुष्ट, गरिमावान् एवं प्राचीन होगा। एक कहावत है 'पीर बड़े नहीं होते पीराने बड़े होते हैं।' अर्थात व्यक्ति बड़े नहीं होते उनके संस्कार बड़े होते हैं। यही स्थिति भारतीय काव्य एवं काव्य शास्त्र की है। भारतीय काव्य अत्यधिक गरिमावान् है इसीलिए भारतीय काव्य-शास्त्र भी बेजोड़ है। यदि भारतवर्ष में कवि की लेखनी से रस की धारा न निकली होती तो काव्य-शास्त्र की प्रबलधारा भी भारतीय वाङ्मय में परिलक्षित न होती। अवलोकन से पता चलता है कि विश्व-साहित्य में 'रस', साधारणीकरण, गुण-दोष, शब्द-शक्ति आदि का कोई नाम भी नहीं जानता। इसका कारण स्पष्ट है कि वहाँ के काव्य में इन तत्वों का समावेश नहीं हैं। 'कहहुँ सुभाउ न कछु अभिमानू' की स्थिति से ही मैं इस बात को पूर्ण विश्वास के साथ कह रहा हूं और मेरी यह भी निश्चित धारणा है कि पाश्चात्य देश चाहे विज्ञान में भारत से आगे हैं परन्तु काव्य तथा शास्त्र में हमसे बहुत पीछे हैं। हम जहाँ से चले थे वे अभी वहां तक भी नहीं पहुँच सके हैं। हमने काव्य तथा काव्य-शास्त्र के सम्बन्ध में जो मत एवं सिद्धान्त स्थापित किये हैं उनकी कल्पना भी पाश्चात्य आचार्यो को नहीं है। अत: हमारा इस सम्पुष्ट काव्य शास्त्रीय परम्परा से परिचित होना आवश्यक है। भारतीय काव्य-शास्त्र की मूलधारा तो संस्कृत आचार्यों से ही सम्बद्ध है परन्तु वह हिन्दी में भी रीतिकालीन तथा आधुनिक आचार्यों के रूप में निरन्तर प्रवाहित होती रही है। इन तीनों का कालक्रमानुसार परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है–

संस्कृत - आचार्य

वैदिक-साहित्य–सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में काव्य-शास्त्रीय तत्वों के संकेत मिलते हैं। यथा:– 'दधान: कलशे रसम्'[1] – सोमरस के अर्थ में तथा 'रसोवैस'[2] आनन्द

के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त 'यथावाता यथा वन यथा समुद्र सजाति'[3] उपमान रूप में तथा 'उपमा यद्तद् तत्सदृशमिति'[4] उपमा के लक्षण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन संकेतों में ही यद्यपि भारतीय काव्य-शास्त्र के बीज विद्यमान हैं परन्तु हम इसे परम्परा प्रसूत काव्य-शास्त्र नहीं कह सकते। यह तो एक संकेत मात्र है जिसके आधार पर काव्य-शास्त्र की धारा के उद्‌गम का बोध प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही यह भी समझा जा सकता है कि अतिप्राचीनकाल में भी रस को ही काव्य का मूल माना जाता था।

वाल्मीकीय रामायण—वाल्मीकीय रामायण में आठ रसों का उल्लेख हुआ है।[5] साथ ही इस महान ग्रंथ का उदय भी शोक के कारण ही हुआ था। इस तथ्य की पुष्टि स्वयं वाल्मीकि ने 'शोक : श्लोकत्वमागत:'[6] कह कर की है। यद्यपि कुछ विद्वान रामायण के इन प्रसंगों को प्रक्षिप्त बताते हैं परन्तु यह उनका भ्रम है। उच्चकोटि की काव्य गरिमा से युक्त काव्यांश के लिए जो प्रक्षिप्त शब्द में विश्वास करता है वह स्वयं ही प्रक्षिप्त है। 'रामायण' में भी रस को ही प्रधानता दी है। अत: यह तथ्य पुष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि रस को ही काव्य का मूल तत्व मानते थे।

अग्नि पुराण—'अग्नि पुराण' के रचयिता 'व्सासदेव' हैं। इन्होंने ही पुराणों की रचना की थी। अग्निपुराण में काव्य-शास्त्र का पुष्ट एवं प्रामाणिक रूप देखा जा सकता है। इस ग्रंथ में काव्य के सभी अंगों (रस, अलंकारादि) का सम्यक् निरूपण मिलता है। विद्वान आचार्य अग्निपुराण को भरत से पश्चात् की रचना मानते हैं परन्तु उनका ऐसा मानना भी भ्रमात्मक है क्योंकि व्यास देव का प्रादुर्भाव द्वापर में हुआ था। वे इतने मेधावी थे कि निरन्तर बिना विराम लिये छन्दों की रचना करते जाते थे। उन्होंने ही संस्कृत के द्वितीय महत्वपूर्ण महाकाव्य 'महाभारत' की रचना की है। 'भगवद्‌गीता' जिसका एक अंश है।

भरत—सामान्य रूप से भरत को ही भारतीय काव्य शास्त्र का आदि आचार्य माना जाता है क्योंकि इन्होंने ही सर्वप्रथम लक्षण ग्रंथ के रूप में 'नाट्य-शास्त्र' की रचना की है। इनका नाट्यशास्त्र नाट्यकला तथा काव्य कला का इतना पुष्ट एवं प्रामाणिक ग्रंथ है कि इसके पश्चात् इसकी टक्कर का कोई नाट्य-ग्रंथ ही नही रचा जा सका। संक्षेप में हम इसे 'नाट्य-शास्त्र' का आदि तथा अन्त कह सकते हैं। नाट्य-शास्त्र में भरत ने 'नाटक' को इस प्रकार नियमों में बाँध दिया था जिस प्रकार पाणिनि ने संस्कृत को व्याकरण के कठोर नियमों में बाँध दिया था और जिस प्रकार पाणिनि को व्याकरण के क्षेत्र में कोई चुनौती न दे सका और यदि किसी ने इस प्रकार का दुराग्रह किया भी तो वह सफल नहीं हो सका क्योंकि अष्टाध्यायी पर जिस-जिस आचार्य ने भी 'वार्तिक' आदि लिखे, वे सब 'जहाज के पंछी' की भाँति पाणिनि के ही चरणों में लौट-लौट कर आते दिखाई देते हैं, उसी प्रकार सभी नाट्य शास्त्री भी आचार्य भरत के ही मत के पोषक रहे हैं। उनके ग्रंथों को नाट्य-शास्त्र की व्याख्याएँ ही कहा जा

सकता है क्योंकि उनमें मौलिकता नहीं है। मौलिकता केवल नाट्य-शास्त्र में ही है। अत: समस्त भारतीय नाट्य जगत भरत का ही ऋणी है। इनके समय के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिल सका है, अनुमानों के आधार पर इनको ईसापूर्व का ही बताया जाता है।

'नाट्य-शास्त्र के उपलब्ध संस्करण हैं –

1. काव्यमाला बम्बई (निर्णय सागर) का संस्करण।

2. चौखम्भा बनारस का संस्करण। नाट्य-शास्त्र का एम. एन. घोष द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद भी रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल द्वारा प्रकाशित हुआ है।

'नाट्य-शास्त्र' में व्यापक रूप से नाट्य की उत्पत्ति, नाट्यशाला (रंगमंचीय व्यवस्था), विभिन्न प्रकार के अभिनय, संधियाँ, वृत्तियां तथा शास्त्रीय संगीत आदि के सिद्धान्तों का सुष्ठु विवेचन हुआ है। इसके अतिरिक्त काव्य शास्त्रीय अंगों जैसे-रस, गुण, दोष, अलंकार तथा छन्द का भी मौलिक निरूपण इस ग्रंथ में उपलब्ध होता है। रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के जन्मदाता भी भरत ही हैं। इसी ग्रंथ में नायक-नायिका भेद भी विस्तार से वर्णित है। इस समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र भारतीय-काव्य-शास्त्र का प्रकाश स्तम्भ है।

भामह—भरत के पश्चात कई शताब्दियों तक काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में कोई प्रसिद्ध आचार्य उद्भूत नहीं हुआ। ईसा की छठी शताब्दी में 'भामह' ही काव्य-शास्त्र के दूसरे प्रमुख आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए। इन्हें कश्मीर का निवासी बताया जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यालंकार' है। इस ग्रंथ में 6 परिच्छेद और 400 श्लोक हैं। जिस प्रकार 'भरत को प्रथम रसवादी आचार्य माना जाता है उसी प्रकार भामह को प्रथम अलंकारवादी आचार्य कहा जाता है। भामह ने अपने ग्रंथ काव्यालंकार में अलंकारों को 'भूषण' मानते हुए उन्हें काव्य का मूल-तत्व घोषित किया। भामह ने 'भूषण' शब्द के अन्तर्गत 'रस, गुण, अलंकार तथा वक्रोक्ति' आदि सभी महत्वपूर्ण काव्याङ्ग.ों का गम्भीर, विवेकपूर्ण, मौलिक तथा उपयोगी रूप में विवेचन किया है। इन्होंने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर सूत्र रूप में काव्य की अत्यन्त सारगर्भित परिभाषा दी है। विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि 'भामह' 'भरत' के पश्चात् दूसरे उत्कृष्ट काव्य-शास्त्री थे। भरत और भामह की तुलना हम सूर्य तथा चन्द्रमा से कर सकते हैं। 'भरत' काव्य-शास्त्र के 'सूर्य' हैं और 'भामह' 'चन्द्रमा। जिस प्रकार भरत ने मूल रूप में 'रस' की ही स्थापना करते हुए अलंकारों का सामान्य रूप से ही निरूपण किया था उसी प्रकार भामह ने अलंकारों को प्रमुखता देते हुए उन्हें काव्य का प्रधान तत्व घोषित करके भरत से विपरीत दृष्टिकोण ग्रहण किया। रस को अलंकारों से गौण बताकर उसे रस के ही एक भेद रसवत् अलंकार के रूप में स्थापित कर दिया। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि वेदों में जो रस तथा अलंकार की धारायें प्रारम्भ में ही दिखाई देती हैं वे ही दोनों धारायें कभी स्थूल कभी क्षीण रूप में सम्पूर्ण काव्यशास्त्र में आदि

से अन्त तक दिखाई देती हैं। वेदों के पश्चात् वाल्मीकि, व्यास तथा भरत ने रस धारा का पोषण किया और इस समय तक अलंकारों की धारा क्षीण रही परन्तु भामह ने अलंकार धारा को इतना प्रबल बना दिया कि लम्बे समय तक यह धारा 'रस' को इस प्रकार दबा कर बैठ गई जिस प्रकार शिव, गंगा को अपनी जटाओं में रोक कर बैठ गये थे। इस प्रकार हमदेखते हैं कि भामह भी काव्यशास्त्र के उन दिग्गजों में से थे जिनका लोहा समस्त आचार्यगण मानते हैं।

दण्डी–भामह के पश्चात् दूसरे अलंकारवादी दिग्गज आचार्य दण्डी हैं। इन्होंने भामह द्वारा प्रस्थापित अलंकार रूपी वृक्ष को पाल-पोषकर ऐसा सुदृढ़ बना दिया जो आज भी रसनिर्झरिणी के थपेड़ों को सहन करते हुए किसी न किसी रूप में स्थित है। यद्यपि रस की प्रखर मंदाकिनी ने अन्य सभी स्तूपों को जैसे रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य को धाराशायी कर दिया है यह अलंकार-वृक्ष आज भी विद्यमान है परन्तु अब उसमें पहले जैसा आकर्षण नहीं रह गया है।

दण्डी का समय सातवीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनके तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं– काव्यादर्श, दशकुमार चरित तथा अवन्तिसुन्दरी कथा। इनमें 'काव्यादर्श' इनका प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है जिसमें भामह द्वारा निरूपित सिद्धातों को अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अत: दण्डी के विचारों को मौलिक नहीं माना जाता। वे सब प्रकार से भामह के व्याख्याता थे, फिर भी काव्य शास्त्र के क्षेत्र में दण्डी की पर्याप्त प्रतिष्ठा है। काव्यादर्श में तीन परिच्छेन्द हैं और श्लोकों की कुल संख्या 660 है। प्रथम परिच्छेद में काव्य लक्षण, काव्य भेद, रीति तथा गुणों का निरूपण है। द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों का तथा तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्र-बन्ध, और प्रहेलिका के अतिरिक्त दोषों का भी निरूपण है।

उद्भट–इनको कश्मीरी राजा जयापीड़ का सभा पण्डित बताया जाता है। इनका प्रादुर्भाव नवम शती के पूर्वाद्ध में हुआ था। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं 1. काव्यालांकार सार संग्रह। 2. भामह विवरण। 3. कुमार सम्भव। इनमें से केवल प्रथम ग्रंथ ही उपलब्ध है। उद्भट अलंकारवादी आचार्य थे।

वामन–ये रीतिवादी आचार्य थे। ये भी उद्भट के ही समान कश्मीरी राजा जयापीड़ के सभा पण्डित थे। इनका समय 800 ई० के आसपास है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' है। काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में यह पहला सूत्र-बद्ध ग्रंथ है। इन सूत्रों की वृत्ति भी स्वयं वामन ने लिखी है। वामन ने रीतिसिद्धान्त की स्थापना की है। इन्होंने 'रीति' को काव्य की आत्मा माना है। इनके मतानुसार रीति का सम्बन्ध गुणों से है और अलंकार रीति के हेतु हैं। इन्होंने बीस 'गुणों' तथा बीस 'दोषों' का निर्धारण किया है। 'गुण' तथा 'दोष' विवेचन में वामन का मत अधिक समीचीन है। 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' के संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में अनेक भाष्य तथा अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। इसी से वामन के इस ग्रंथ की गरिमा का पता चल जाता है।

रुद्रट–ये भी कश्मीरी आचार्य थे। इनका समय भी नवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इन्होंने भी 'काव्यालंकार' नामक ग्रंथ की रचना की है। इन्होंने अपने आधे ग्रंथ में मुख्य रूप से अलंकारों का विवेचन करते हुए, शेष में काव्य-लक्षण, काव्य भेद, दोष, रस आदि का निरूपण भी किया है। भरत के पश्चात् रुद्रट ही एक मात्र आचार्य थे जिन्होंने रस का व्यवस्थित तथा स्वतंत्र रूप में निरूपण किया है। रसादि के अतिरिक्त नायिका भेद का विस्तृत विवेचन भी रुद्रट में प्रथम बार मिलता है। नायिका के स्वकीया, परकीया और सामान्या ये तीनों भेद सर्वप्रथम रुद्रट में ही उपलब्ध होते हैं। प्रेयान रस की सर्वप्रथम चर्चा भी रुद्रट ने ही की और अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण भी सर्वप्रथम रुद्रट ने ही प्रस्तुत किया है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि रुद्रट एक समन्वयवादी तथा प्रखर मेधा के आचार्य थे। इन्होंने काव्याङ्ग.ों के विवेचन में सर्वथा नवीन उद्‌भावनाओं का परिचय दिया है। इन्हें यद्यपि विदान् अलंकारवादी आचार्य मानते हैं परन्तु रुद्रट नितान्ततः अलंकारवादी नहीं थे। इन्हें हम मम्मट की भांति समन्वयवादी आचार्य मान सकते हैं।

आनन्दवर्द्धन–आनन्दवर्द्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभा पण्डित थे। इनका समय नवी शताब्दी का मध्य माना जाता है। इन्होंने ध्वनि पर आधारित ध्वनि के एक मात्र ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' की रचना की थी। इस ग्रंथ के दो प्रमुख भाग हैं। 1. कारिका भाग 2. वृत्ति भाग। अधिकांश विद्वान इन दोनों ही भागों के रचयिता आनन्दवर्द्धन को ही मानते हैं। इस ग्रंथ में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में इन्होंने ध्वनि विरोधी (अभाववादी, भक्तिवादी तथा अलक्षणीयतावादी) क्रमशः अलंकार, रस तथा रीतिवादी आचार्यों का खण्डन करते हुए ध्वनि के स्वरूप का निर्धारण किया है। द्वितीय और तृतीय उद्योत में ध्वनि भेदों का विस्तृत विवेचन किया है। साथ ही गुण, अलंकार, संघटना (रीति), रस, रसदोष, ध्वनि की अनिवार्यता, गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र-काव्य का विवेचन किया गया है।

'ध्वन्यालोक' के प्रधान टीकाकार अभिनव गुप्त हैं। इन्होंने 'लोचन' नाम से 'ध्वन्यालोक' की टीका लिखी है। 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। 'ध्वन्यालोक' की हिन्दी-व्याख्या आचार्य विश्वेश्वर ने की है। साथ ही 'लोचन' साहित इस ग्रंथ की हिन्दी व्याख्या डॉ॰ राम सागर त्रिपाठी ने प्रस्तुत की है। यद्यपि आनन्दवर्द्धन को ध्वनिकार के रूप में पर्याप्त महत्व दिया जाता है परन्तु आनन्दवर्द्धन का यह मत कि 'ध्वनि' काव्य की आत्मा है, आचार्य परम्परा में मान्य न हो सका। हिन्दी आचार्यों में भी कुछ अपवादों को छोड़कर यह मान्य नहीं है।

अभिनव गुप्त–अभिनव गुप्त का समय दशवीं शती का उत्तरार्द्ध और ग्यारहवी शती का प्रारम्भ बताया जाता है। इन्होंने 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' और नाट्य शास्त्र पर 'अभिनव भारती' नामक टीकायें लिखीं। इनकी ये दोनों ही टीकायें भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। 'रस' के क्षेत्र में अभिनव की

देन अविस्मरणीय है। 'भरत-सूत्र' के विवाद को अत्यन्त कुशलता, योग्यता तथा बुद्धिमत्ता से सुलझाने का श्रेय अभिनव गुप्त को ही है। इन्होंने 'रस' की पूर्ण स्वतन्त्र रूप में स्थापना की और इस समस्या का सर्वमान्य हल प्रस्तुत किया कि 'रस' की स्थिति कहाँ होती है तथा सामाजिक को रसास्वाद किस प्रकार होता है। इसके पश्चात् 'साधारणीकरण' सिद्धान्त को भी इन्होंने आगे बढ़ाया। अभिनव गुप्त की 'रससूत्र की व्याख्या' में भट्टलोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक के मतों का उल्लेख किये जाने से इन आचार्यों के विचारों तथा अस्तित्व का भी पता चला क्योंकि इन आचार्यों का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता। 'अभिनव भारती' की हिन्दी व्याख्या (1-2-6 अध्यायों की) आचार्य विश्वेश्वर द्वारा की गई है और लोचन की हिन्दी-व्याख्या डॉ॰ रामसागर त्रिपाठी ने की है।

राजशेखर—राजशेखर विदर्भ (बरार) के निवासी थे और कन्नौज के प्रतिहार राजा महेन्द्र पाल तथा महीपाल के राजगुरु थे। इनका समय दशम शताब्दी का पूर्वाद्ध माना जाता है। इन्होंने काव्यमीमांसा नामक ग्रंथ की रचना की थी परन्तु उसका केवल एक ही भाग कवि रहस्य के नाम से प्राप्त होता है जिसमें 18 अध्याय हैं और काव्य स्वरूप, काव्यभेद, काव्य वक्रोक्ति, रीतिप्रकार, कवि भेद, आलोचक भेद, शब्दहरण, अर्थहरण, कविसमय, कालविभाग आदि महत्वपूर्ण तथा नवीन काव्याङ्ग.ों का निरूपण किया गया है। इस ग्रंथ का प्रकाशन 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद' ने हिन्दी-अनुवाद सहित प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ में स्थान-स्थान पर ये आचार्य की यायावर (निरन्तर चलने-फिरने वाले गृहस्थ ऋषि) से उत्पत्ति को सार्थक प्रमाणित करते दिखाई देते हैं। 'साहित्यविधा-वधु' और 'काव्य-पुरुष' की यात्रा की कल्पना द्वारा इन्होंने एक साथ ही काव्य में 'वृत्ति', 'रीति' तथा 'प्रवृत्ति' का देशपरक स्वरूप निर्धारित किया है। इनके इस ग्रंथ से इनकी बहुज्ञता तथा कल्पनाशक्ति की प्रखरता का पता चलता है।

धनंजय और धनिक—धनंजय और धनिक दोनों भाई थे। इनका समय दशवीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। धनंजय ने नाट्य-कला पर 'दशरूपक' ग्रंथ लिखा है जो भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात नाट्यकला पर दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ है। दशरूपक में चार प्रकाश हैं जिनमें नाटक का स्वरूप, नाटक के तत्व, प्रकार आदि का सविस्तार एवं विद्वता पूर्ण विवेचन है। इन्होंने नाटक की कथावस्तु, नायक-नायिका तथा अन्य पात्र, रस, नाट्य वृत्ति तथा प्रवृत्ति आदि का सविस्तार निरूपण किया है। इन्होंने अभिनव गुप्त के 'रस-सिद्धान्त' सम्बन्धी मत में व्यंजना के स्थान पर 'तात्पर्य' वृत्ति का उल्लेख किया है। धनिक ने 'दशरूपक' पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है और दशरूपक की कारिकाओं का अत्यन्त विवेकपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। ये दोनों ही भरत की परम्परा के रसवादी आचार्य थे। नाट्यकला के क्षेत्र में इनका स्थान महत्वपूर्ण माना जाता है।

कुन्तक—कुन्तक दशम शती के उत्तराद्ध तथा ग्यारहवीं शती के पूर्वाद्ध में हुए थे। ये वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित'

है जिसमें इन्होंने विस्तृत रूप में 'वक्रोक्ति' का विवेचन किया है और उसका विस्तार वर्ण से प्रबन्ध तक बताते हुए उसे काव्य की 'आत्मा' घोषित किया है परन्तु कुन्तक का यह मत प्रचलित न हो सका।

महिमभट्ट—ये कश्मीर निवासी थे। इनका समय 11वीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इन्होंने 'व्यक्ति विवेक' नामक काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ की रचना की जिसमें 'ध्वनि' को अनुमान में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया। परन्तु आचार्यों का अनुमान है कि वह सफल न हो सका। इन्होंने दोषों का भी निरूपण किया है। इन्होनें 'रसदोषों' की संख्या पाँच स्वीकार की है, जिन्हें मम्मट ने भी माना है।

क्षेमेन्द्र—क्षेमेन्द्र भी कश्मीर निवासी थे। इनका समय 11 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। 1. औचित्यविचारचर्चा, 2. सुवृत्ततिलक 3. कविकण्ठाभरण। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' में औचित्य का विशद् विवेचन करते हुए औचित्य को काव्य की आत्मा घोषित किया है। ये औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। परन्तु इन का यह सिद्धान्त भी 'वक्रोक्ति' आदि की भाँति न तो मान्य ही हो सका और न प्रचलित ही हुआ।

भोजराज—भोजराज धारा (उज्जयिनी) के नरेश थे। इनका समय 11 वीं शती का पूर्वार्द्ध है। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध इनके दो ग्रंथ उपलब्ध हैं। 1. सरस्वती कण्ठाभरण, 2.शृंगार प्रकाश। ये दोनों ही ग्रंथ विशालकाय हैं। प्रथम ग्रंथ में पांच परिच्छेद हैं। इनमें दोष, गुण, अलंकार और रस का विवेचन है। इस ग्रंथ के 2/3 भाग अर्थात 24 अन्तिम प्रकाशों में रस का विशद् विवेचन किया गया है। भोजराज ने शृंगार' को ही एकमात्र रस मा   है और अन्य सभी रसों का उसमें अन्तर्भाव दिखाया है। शृंगार प्रकाश' अभी तक अप्रकाशित ही है। डॉ॰ राघवन के अंग्रेजी में लिखित-प्रबन्ध 'भोजशृंगार-प्रकाश' से इस ग्रंथ का परिचय मिल जाता है। 'सरस्वती कण्ठाभरण' छन्दोबद्ध रचना है और शृंगार प्रकाश' पद्य-गद्य मय रचना।

मम्मट—मम्मट को भी कश्मीर का ही निवासी माना जाता है। इनका समय 11वीं शती का उत्तरार्द्ध है। इन का प्रसिद्ध ग्रंथ है 'काव्य प्रकाश' जिसे संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रंथ में दस उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु तथा काव्य भेदों का निरूपण है। उल्लास संख्या 2 व 3 में शब्द शक्तियों का विवेचन है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि भेदों तथा उसके अन्तर्गत रस, भावादि का निरूपण है। पंचम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य, काव्य के भेद तथा ध्वनि की स्थापना है। पष्ठ उल्लास में चित्र काव्य का परिचय है और अंतिम चार उल्लासों में क्रमश: दोष, गुण, शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का निरूपण है। काव्य प्रकाश में गुणों की संख्या 20 के स्थान पर तीन स्वीकार की गई है। इसे मम्मट की देन ही माना जायेगा क्योंकि मम्मट की यही मान्यता सर्वसम्मत सिद्ध हुई

है। परन्तु मम्मट ने दोषों की संख्या 86 तक पहुंचाकर काव्य को दोषों का अजायबघर बना दिया है। कुछ भी हो मम्मट अत्यन्त सुलझे हुए मेधावी, विवेकशील तथा व्याख्याता आचार्य थे, अतः संस्कृत काव्य शास्त्र के दिग्गजों में इनकी भी गणना की जाती है।

निष्कर्ष रूप में यह कहना असंगत न होगा कि 'काव्यप्रकाश' का जितना नाम है उतना और किसी ग्रंथ का नहीं है। इस ग्रंथ की संस्कृत में सर्वाधिक लगभग 70 टीकायें हुई हैं। काव्य प्रकाश की गोविन्द ठक्कर की 'प्रदीप' टीका अधिक प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक है। हिन्दी में आचार्य विश्वेश्वर तथा डॉ॰ सत्यव्रत सिंह की टीकायें उपलब्ध हैं।

रुय्यक—रुय्यक भी कश्मीर के निवासी थे। इनका समय 12 वीं शती का मध्य माना जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'अलंकार सर्वस्व' है। इन्होंने 'व्यक्ति-विवेक' पर भी टीका लिखी थी जिसमें उन्होंने महिमभट्ट के अनुमानवाद को अमान्य ठहराया है। इनका 'अलंकार-सर्वस्व' अलंकारों का प्रौढ़ एवं प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

विश्वनाथ—विश्वनाथ को विद्वान् उड़ीसा का निवासी बताते हैं। इनका समय 14 वीं शती का पूर्वार्द्ध है। ये भी संस्कृत के दिग्गज आचार्यों में से हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्यदर्पण' है, जिसमें दस परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य स्वरूप, काव्य भेद आदि का निरूपण है। द्वितीय में शब्द शक्ति, तृतीय में रस तथा नायक-नायिका भेद, चतुर्थ में ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के प्रकार, पंचम में व्यंजना की स्थापना, षष्ठ में दृश्य काव्य, अंतिम चार में क्रमशः दोष, गुण, रीति तथा अलंकारों का निरूपण है। विश्वनाथ की सबसे महत्वपूर्ण देन यह है कि इन्होंने 'रस' को काव्य की आत्मा घोषित किया जो सभी को मान्य है। इनके द्वारा निर्धारित किया गया रस का स्वरूप भी सर्वसम्मत ही है। अतः विश्वनाथ को 'रस' स्थापना का सर्वश्रेष्ठ आचार्य माना जाता है।

साहित्य-दर्पण पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें जीवनान्द शास्त्री की संस्कृत टीका तथा शालग्राम शास्त्री की विमला हिन्दी टीका अति प्रसिद्ध है। विश्वनाथ का एक और ग्रंथ बताया जाता है –'काव्य प्रकाश दर्पण' परन्तु यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। कुछ भी हो, मम्मट और विश्वनाथ की जोड़ी भारतीय काव्य-शास्त्र में दो उत्तम हंसों की जोड़ी है।

पण्डितराज जगन्नाथ—पण्डितराज की युवावस्था शाहजहां के दरबार में व्यतीत हुई थी और शाहजहाँ ने ही इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया था। इस आधार पर इनका समय सत्रहवीं शती का मध्यभाग है। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि पं॰ राज का प्रादुर्भाव रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशवदास के पश्चात हुआ है क्योंकि केशवदास जहाँगीर के समय में हुए थे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'रस गंगाधर' है। इस ग्रंथ में दो आनन हैं। जिनमें से प्रथम आनन में काव्यलक्षण, काव्य हेतु, काव्य भेद, रस, दोष तथा गुणों का निरूपण है। द्वितीय आनन में ध्वनि (अभिधा तथा लक्षणा)

शब्द शक्तियाँ तथा अलंकारों का विशद विवेचन है। रसगंगाधर के अतिरिक्त इनका एक ग्रंथ और उपलब्ध है - 'चित्र मीमांसा-खण्डन', जिसमें अप्पय दीक्षित के अलंकार विषयक ग्रंथ चित्र-मीमांसा की यथार्थरूप में आलोचना की गई है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत से लेकर जगन्नाथ तक (पूरे दो हजार वर्षों तक) निरन्तर काव्य-शास्त्र की परम्परा अविच्छिन्न रूप में चलती रही। इस सम्पूर्ण परम्परा का अवलोकन करने पर अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं– 1. अधिकांश आचार्य कश्मीर निवासी थे और कश्मीर ही प्रधान रूप में काव्य-शास्त्र का गढ़ था। 2. कुछ आचार्यों की गणना काव्यशास्त्र के दिग्गज आचार्यों में की जाती है। जैसे - नाटक के क्षेत्र में भरत तथा धनञ्जय और काव्य के क्षेत्र में भामह, दण्डी, आनन्दवर्द्धन, मम्मट, अभिनव गुप्त, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ। इनमें भी हिन्दी काव्य शास्त्रियों पर सर्वाधिक प्रभाव मम्मट तथा विश्वनाथ का हुआ है। इस आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि संस्कृत काव्य-शास्त्र विश्व-साहित्य में बेजोड़ है।

हिन्दी - आचार्य (रीतिकालीन आचार्य)

हिन्दी, में काव्य-सिद्धान्तों का निरूपण सर्वप्रथम रीतिकाल में किया गया जिसका विश्लेषण यहाँ किया जाता है।

केशवदास—केशवदास को रीतिकाल का प्रथम आचार्य कहा जाता है। इनका समय सन् 1555 ई० से 1617 ई० बताया जाता है। । ये जहाँगीर के समय में हुए थे और इन्होंने जहाँगीर की प्रशंसा में 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' नामक ग्रंथ की रचना की थी। केशवदास ओड़छा नरेश इन्द्रजीत सिंह के सभापण्डित थे। इनका प्रादुर्भाव पं० राज जगन्नाथ से पूर्व हुआ था। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने 'रसिकप्रिया' 'कविप्रिया', 'छन्दमाला' तथा 'शिखनख' ये चार काव्य शास्त्रीय ग्रंथ लिखे। इन ग्रंथों में 'रसिक प्रिया' इनका 'रस' सम्बन्धी ग्रंथ है। कविप्रिया में अलंकारों का विशद विवेचन है,। 'छन्दमाला' में अनेक वर्णवृत्त तथा मात्रिक वृत्तों के लक्षण एवं उदाहरण दिये गये हैं तथा 'शिख-नख' में शिख से नख तक के स्त्री सौन्दर्य वश्रृंगार का वर्णन है। इनके ये सभी गंथ छन्दोबद्ध हैं। लक्षण तथा उदाहरण छन्दों में ही प्रस्तुत किये गये हैं। केशवदास का आचार्यत्व इन ग्रंथों में स्पष्ट रूप से झलकता है। इन्हें विद्वान् अलंकारवादी आचार्य मानते हैं। परन्तु केशवदास अलंकारवादी आचार्य नहीं थे, वे समन्वयवादी थे। इन्होंने काव्यात्मा के रूप में तो रस को ही मान्यता दी है। परन्तु अलंकारों को भी उन्होंने आभूषण रूप में स्वीकार किया है। इन पर भामह, दण्डी मम्मट तथा भोज का प्रभाव परिलक्षित होता है।

चिन्तामणि—चिन्तामणि का समय केशवदास से 50 वर्ष पश्चात् माना जाता है। इनके दो काव्यशास्त्रीय ग्रंथ उपलब्ध हैं 1. 'कविकुल कल्पतरु' 2. श्रृंगार मञ्जरी'। कविकुलकल्पतरु में इन्होंने काव्य का स्वरूप, काव्य भेद, गुण, रस, शब्दार्थ अलंकार



तथा काव्यदोषों का विशद् निररूपण किया है। इन पर मम्मट तथा विश्वनाथ का प्रभाव बताया जाता है। इनकी भी दोनों रचनायें छन्दोबद्ध हैं। कुछ आधुनिक आचार्य इनको ही रीतिकाल का प्रथम आचार्य मानते हैं। ये भूषण के भाई थे।

कुलपति—आचार्य कुलपति का समय सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनका काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'रस रहस्य' है जिसमें काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, रस, काव्यवृत्तियाँ, गुण, अलंकार तथा दोषों का सम्यक् निरूपण छन्दोबद्ध रूप में किया गया है।

देव—देव रीतिकाल के प्रमुख आचार्यों में माने जाते हैं। इनका रचना-काल 1690 ई॰ से 1734 ई॰ माना जाता है। इनके तीन काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ मिलते हैं। 1. शब्द रसायन, 2. भाव विलास, 3. भवानी विलास। इन ग्रंथों में इन्होंने काव्य का माहात्म्य, कवि-आदर्श, काव्य की आत्मा, काव्य-गुण, अलंकार तथा शब्द शक्तियों का निरूपण किया है।

मतिराम—इनका जन्म सं॰ 1644 में माना जाता है। इनके दो प्रसिद्ध काव्य शास्त्रीय ग्रंथ हैं। 1. रसराज, 2. ललित ललाम। रसराज में 'रस' तथा नायिका-भेद निरूपण है और ललितललाम में अलंकारों का निरूपण हुआ है।

श्रीपति—इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य सरोज' है। जिसमें काव्य की परिभाषा, काव्यदोष, अलंकार प्रयोग तथा काव्य और रस आदि का विवेचन है। इनका समय 1720 ई॰ के आसपास माना जाता है।

सोमनाथ—इनका रचना काल 1733 से 1753 ई॰ माना जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसपीयूषनिधि' है जिसमें काव्य-लक्षण, काव्य प्रयोजन, शब्द शक्तियाँ, ध्वनि, रस, अलंकार, गुण, दोष आदि सभी काव्यांगों का विशद् विवेचन है।

भिखारीदास—भिखारीदास भी रीतिकाल के दिग्गजआचार्यों में माने जाते हैं। इनका रचना काल 1728 से 1750 ई॰ बताया जाता है। इनके काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं—'शृंगार निर्णय', 'रससारांश', तथा 'काव्य निर्णय'। इन ग्रंथों में काव्य स्वरूप, काव्य प्रयोजन, काव्य की आत्मा, शब्द शक्तियाँ आदि काव्यांगों का निरूपण हुआ है।

जसवन्त सिंह—महाराज जसवन्तसिंह का समय भी सत्रहवीं शताब्दी माना जाता है। इनका ग्रंथ 'भाषा-भूषण' बड़ा लोकप्रिय है। इस ग्रंथ में सभी काव्यागों का निरूपण मिलता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त रीतिकाल के प्रमुख आचार्य हैं - दूलह (रचनाकाल 1800 से 1825) ग्रंथ 'कविकुलकण्ठाभरण' अलंकारों का ग्रंथ है। पद्माकर (जन्म सं॰ 1810) ग्रंथ जगद्विनोद, 'पद्माभरण'/ प्रतापसाहि (रचनाकाल सन् 1823 से 1843 ई॰) ग्रंथ 'काव्य विलास'।

आधुनिक आचार्य

आधुनिक आचार्यों में **'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र'** सबसे प्रथम आचार्य हैं। इनका

ग्रंथ है– 'नाटक' जिसमें नाट्य तत्वों का सारगर्भित विवेचन है। इनके पश्चात् **पं॰ महावीर प्रसाद द्विवेदी** का नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। इनका ग्रंथ -रसज्ञरंजन' है जिसमें काव्य स्वरूप का विशद् विवेचन है। **मिश्रबन्धुओं** का नाम भी हिन्दी के आचार्यों में लिया जाता है। इनके गंथ हैं– 'मिश्रबन्धुविनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न'। जिनमें काव्योत्कर्ष, समालोचक के गुण तथा काव्य का सत्य आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी की आचार्य परम्परा में **अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'** का नाम प्रसिद्ध है और 'रसकलस' इनका प्रसिद्ध काव्य शास्त्रीय ग्रंथ है जिसमें इन्होंने रसों का विवेचनात्मक परिचय प्रस्तुत किया है।

हिन्दी आचार्यों में **पं॰ रामचन्द्र शुक्ल** का नाम अधिक चर्चित हैं। इनकी सब से बड़ी विशेषता यह थी कि इनका समस्त चिन्तन तथा विवेचन मौलिक, सारगर्मित तथा उपयोगी है। इनके ग्रंथ हैं 'चिन्तामणि' (प्रथम तथा द्वितीय भाग) रसमीमांसा आदि। इनके विवेचन का प्रमुख विषय 'रस' तथा 'कविता' है। यह कहना असंगत न होगा कि 'शुक्ल जी' का रस तथा काव्य सम्बन्धी विवेचन हिन्दी काव्य शास्त्र में अद्वितीय है। इसे हिन्दी काव्यशास्त्र का मूल माना जाता है क्योंकि इनकी सभी मान्यतायें स्वतंत्र हैं। इसी आधार पर इन्हें हम हिन्दी का आधिकारिक आचार्य कह सकते हैं। शुक्ल जी के पश्चात् **बाबू श्याम सुन्दरदास** जी का नाम भी हिन्दी की आचार्य परम्परा में एक कड़ी के रूप में जुड़ा हुआ है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है 'साहित्यालोचन'। इनके विवेचन में भारतीय तथा पाश्चात्य विचारों का मिश्रण है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य शास्त्र एवं आलोचना शास्त्र से सम्बद्ध काव्यशास्त्रीय रचना, अनुवाद, तथा व्याख्या प्रस्तुत करने वालों में **बाबू गुलाबराय, पं॰ रामदहिन मिश्र, आचार्य विश्वेश्वर, डॉ॰ रामसागर त्रिपाठी, डॉ॰ सत्यव्रत, डॉ॰ नगेन्द, डॉ॰ प्रेमस्वरूप गुप्त**, तथा **डॉ॰ सत्येदव चौधरी** आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सभी विद्वान आलोचक हैं और इनकी गणना हिन्दी के आलोचक आचार्यों में की जाती है क्योंकि इन्होंने अधिकांशत: प्राचीन ग्रंथों की व्याख्या तथा आलोचनायें ही प्रस्तुत की हैं।

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि लगभग दो हजार वर्ष से भारतीय काव्य-शास्त्र की धारा निरन्तर अपने पुष्ट एवं प्रामाणिक रूप में प्रवाहित होती चली आ रही है।

साहित्य का स्वरूप

साहित्य शब्द का आशय

आचार्यों ने सहित्य शब्द का आशय 'सहितयोर्भाव साहित्यम्' कहकर अभिव्यक्त किया है। इस व्युत्पत्ति के सामान्यत: दो अर्थ होते हैं– प्रथमत: जो रचना भावमय होती है वही साहित्य है। इस अर्थ के ग्रहण से काव्य में निहित रस, भाव तथा ध्वनि आदि

की अनिवार्यता की पुष्टि हो जाती है और पं॰ विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' तथा पं॰ राज जगन्नाथ के 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्, का औचित्य भी सिद्ध हो जाता है। साथ ही अन्य भाव तथा रसादि से रहित भाषामय रचनायें जैसे-इतिहास अर्थशास्त्र, विज्ञान, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञानदि से भी साहित्य का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। द्वितीय अर्थ में सहित का अर्थ 'स+हित' अर्थात 'हित सहित', उपयोगी आदि लेते हुए 'साहित्य' शब्द का आशय यह होता है कि समाज के लिए उपयोगी रचना को 'साहित्य' कहते हैं। इस अर्थ के ग्रहण करने में एक व्यवधान यह है कि विज्ञान, इतिहास, दर्शनादि विषय भी समाजोपयोगी होते हैं। यदि हम 'साहित्य' के पक्ष में भी मात्र इसी अर्थ को ग्रहण करते हैं तो विज्ञानादि विषयों को भी साहित्य मानना पड़ेगा परन्तु व्यवहार में यह देखा जाता है कि 'साहित्य' के अन्तर्गत उक्त विज्ञानादि विषय गृहीत नहीं होते क्योंकि इन विषयों में भावादि (प्रेरणादायक एवं आनन्ददायक) तत्त्वों का अभाव रहता है। साथ ही द्वितीय अर्थ ग्रहण में 'स+हित' का ही अर्थ ग्रहण किया गया है। भाव को यहाँ छोड़ दिया गया है, अतः साहित्य शब्द की उक्त विवक्षा में 'सहित' को श्लेष द्वारा दो अर्थो में ग्रहण करना अपेक्षित होगा–

1. सहित = साथ, 2. सहित = स+हित = हित सहित (लाभ दायक, प्रेरणादायक आदि)। इस आधार पर 'साहित्य' शब्द का आशय होगा:–

"जो रचना रस, भाव, विचारादि से युक्त होने के कारण प्रेरणादायक तथा समाज का हित करने में सक्षम होती है उसे साहित्य कहा जाता है।"

इसी आधार पर गुलाबराय ने भी साहित्य-स्वरूप का निर्धारण इन शब्दों में किया हैं:–

"..............साहित्य संसार के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।"[7]

साहित्य शब्द का भ्रामक अर्थ में प्रयोग

आजकल ज्ञान-विज्ञानादि के क्षेत्र में भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग होते देखा जाता है परन्तु इन विषयों का सम्बन्ध तो इतिहास, भूगोल, राजनीति, दर्शन, गणित, ज्योतिष तथा विज्ञानादि विषयों से होता है। अतः इन्हें साहित्य नहीं माना जाता। इसका कारण यह है कि साहित्य में विषयसामग्री का अत्यन्त रोचक, सजीव, मार्मिक गम्भीर, प्रेरणादायक एवं आह्लादक रूप में वर्णन किया जाता है। अतः 'समाज-शास्त्र', 'ज्ञान' तथा विज्ञानादि साहित्य नहीं हैं बल्कि इन विषयों से साहित्य को विषय-सामग्री प्राप्त होती है और ये विषय साहित्य को सामग्री प्रदान करने के स्रोत हैं या यों कह सकते हैं कि 'ज्ञान' 'विज्ञानादि' साहित्य का कारण या साधन हैं और साहित्य इनका सुरुचिपूर्ण एवं प्रेरणादायक कार्य तथा साध्य है। गुलाबराय इस सम्बन्ध में लिखते हैं –

''व्यापक अर्थ में साहित्य सारे वाङ्मय का पर्याय है। जितना शब्द-भण्डार और

वाणी का विस्तार है सब इसके अंतर्गत आ जाता है। पञ्चाङ्ग, त्रिकोणमिति, बीमा कम्पनी का प्रोस्पैक्ट्स और दवाइयों के विज्ञापन से लगाकर रघुवंश, मेघदूत, तुलसीकृत रामायण, साकेत, कामायनी, गोदान, चिन्तामणि आदि सभी गद्य-पद्यात्मक पुस्तकें इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं। प्राय: लोग कहते हैं – दार्शनिक साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य। बीमा कम्पनी और दवाइयों के एजेन्ट भी कहते सुने जाते हैं, इसमें यदि आपकी अभिरुचि हो तो इसके सम्बन्ध की कुछ 'लिट्रेचर' या साहित्य हम आपकी सेवा में भेज दें।''[४]

बाबू श्यामसुन्दरदास भी इस सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं–

''अँग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द की भांति हिन्दी का 'साहित्य' शब्द भी अब दो विभिन्न अर्थों में प्रयुकत होने लगा है। बोलचाल की भाषा में हम किसी भी छपी हुई पुस्तक को साहित्य की संज्ञा देते हैं। यहाँ तक कि दवाइयों के साथ आनेवाले छपे हुए पर्चे भी साहित्य कहलाते हैं किन्तु दूसरे और अधिक उपयुक्त अर्थ में साहित्य से उन्हीं पुस्तकों का बोध होता है जिनमें कला का समावेश होता है। अधिकतर पुस्तकें पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के लिए लिखी जाती हैं। इन पुस्तकों के लेखक का उद्देश्य पढ़ने वालों की जानकारी बढ़ाने का होता है। इतिहास लिखने वाले का आशय होता है कि लोग विगत काल की घटनाओं और महापुरुषों के विषय में कुछ जान जाएँ, भूगोल-सम्बन्धी पुस्तकों का लेखक पाठकों को संसार के विविध देशों का परिचय कराना चाहता है और ज्योतिष-शास्त्र की पुस्तकें हमें ग्रहों ओर नक्षत्रों की अवस्था का ज्ञान कराती हैं। इसी प्रकार विज्ञान की जितनी पुस्तकें हैं सभी मनुष्य की जानकारी से सम्बन्ध रखती हैं और उसके ज्ञान की सीमा अधिक विस्तृत करती हैं। ये पुस्तकें जिनका सम्बन्ध मनुष्य के ज्ञान मात्र से है, साहित्य की गरिमा में नहीं आतीं। साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को सन्तुष्ट करना नहीं है, वह तो मनुष्य जीवन को अधिक सुखी और अधिक सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है। साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दु:ख और संकटों को क्षण भर के लिए भूल सकता है, वह आपदाओं से भरे हुए वास्तविक संसार को छोड़कर कल्पना और भावना के सुन्दर लोक में भ्रमण कर सकता है। वास्तव में साहित्य की सीमा के अन्तर्गत उन्हीं पुस्तकों की गरिमा हो सकती है जो इस महान उद्देश्य की पूर्ति करती हैं या इस पूर्ति के आदर्श को सामने रखकर लिखी गई हैं।..........ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ग्रंथ साहित्य में परिणित नहीं हो सकते।'' (सहित्यालोचन पृ॰42-45)

साहित्य-स्वरूप का निर्धारण करते समय इस तथ्य को अवश्य ही ध्यान में रखना होगा कि साहित्य की धारा प्राचीन काल से ही दो प्रमुख रूपों में प्रवाहित होती देखी जाती है –

1. लक्ष्य रूप में - जिसे 'काव्य' कहा जाता है।
2. लक्षण रूप में - जिसे 'काव्य-शास्त्र' कहा जाता है।

इन दोनों ही धाराओं का समवेत रूप साहित्य कहलाता है। भाषा तथा शैली की

दृष्टि से भी साहित्य के दो ही रूप होते हैं। 1. गद्यमय 2. पद्यमय (गद्यपद्यमयं द्वय)। गद्यमयरूप में – सामान्यतया नाटक, कथा, आलोचना आदि विधाएँ आती हैं और पद्यमय रूप में महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तकादि को रक्खा जाता है।

पाश्चात्य विद्वान् भी 'साहित्य' को बहुत कुछ इन्हीं दो रूपों में मानते हैं।

1. ज्ञान मूलक साहित्य (Literature of Knowledge)
2. प्रेरणा या शक्ति मूलक साहित्य (Literature fo Power)

उनकी दृष्टि में प्रथम का उद्देश्य सिखाना और दूसरे का उद्देश्य प्रेरणा देना है। (The function of the first is teach; the function of the second is to move)[9]। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'काव्य-शास्त्र' भी साहित्य का एक अंग है।

काव्य और साहित्य

संस्कृत के प्रभृति आचार्यों ने 'साहित्य के स्थान पर प्राय: 'काव्य' शब्द का ही व्यवहार किया है। इसीलिए उन्होंने तत्वादि के निर्धारण में भी काव्य-तत्त्वादि का ही निर्धारण किया है। आचार्यों के काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों के नाम भी 'काव्य शब्द' पर ही आधारित हैं। यथा :– 'काव्यालंकार', 'काव्यादर्श', 'काव्यप्रकाश' आदि। इसका कारण यह है कि काव्य का सम्बन्ध 'कवि' से है और 'काव्य-शास्त्र' का 'काव्यसिद्धान्त' से। विश्वनाथ ने अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ का नाम 'साहित्य दर्पण' रखकर और उसमें समस्त काव्य-तत्वों का निरूपण करके 'काव्य' तथा 'साहित्य' की एक-रूपता को प्रामाणिकता प्रदान की है। इन सभी मान्यताओं का आशय यही है कि साहित्य को भी काव्य के ही समान गरिमावान् माना जाता रहा है। अत: 'काव्य' और 'साहित्य' एक दूसरे के स्थानापन्न शब्द हैं। इन दोनों में किंचित् भी भेद नहीं है। परन्तु 'पद्योबद्ध' रचना को 'कविता-रूप' में ग्रहण किए जाने से विद्वानों में कुछ भ्रांन्ति उत्पन्न हो गई है। कतिपय विद्वान् 'काव्य' केवल 'कविता-रूप' में ग्रहण किए जाने से केवल 'कविता' (छन्दोबद्ध रचना) को ही कहते हैं और साहित्य पद्यमूलक और गद्यमूलक रचनाओं के समग्र रूप को। परन्तु शाश्वत मानदण्डों को त्याग कर अशाश्वत एवं अनुपयोगी मानदण्डों को अपनाने की उत्सुकता दिखाना कभी उपयोगी नहीं होता। अत: 'काव्य' और 'साहित्य' में भेदबुद्धि' रखना अनुचित है।

बाबू श्यामसुन्दरदास का कथन इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है –

'काव्य' शब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है। साहित्य-दर्पणकार ने काव्य को 'रसात्मक काव्य' बताया है अर्थात् काव्य के द्वारा पाठक अथवा श्रोता के चित्त में रस की उत्पत्ति होती है। रस की उत्पत्ति का अर्थ है, आनन्दपूर्ण एक विशेष मानसिक अवस्था का उत्पन्न हो जाना। 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।' यह परिभाषा 'रस गंगाधर' नामक ग्रन्थ की है। 'रमरणीय अर्थ के प्रतिपादन का आशय है सौंदर्य की सृष्टि करके पाठक तथा श्रोता के मन में आनन्द उत्पन्न करना।

काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी प्रकार के ज्ञान की अवगति करावे। उसके लिए सबसे आवश्यक और विशेष बात यही है कि वह अपने विषय तथा वर्णन शैली से पढ़ने वालों के हृदय में उस आनन्द का प्रवाह बहाए जो रसानुभव या रस परिपाक से उत्पन्न है अथवा दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं कि काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'काव्य' साहित्य का समानार्थक है। बहुत से लोग काव्य को कविता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि कविता काव्य का एक अंग मात्र है। कविता के अतिरिक्त अनेक प्रकार की रचनाएँ काव्य अथवा साहित्य की श्रेणी में आती हैं। .... साहित्य के अन्तर्गत कविता, नाटक, चम्पू, उपन्यास, आरव्यायिकाएँ आदि सभी आ जाते हैं।' (साहित्यालोचन पृ॰ 45)

साहित्य और समाज

साहित्य; समाज का प्रतिबिम्ब या दर्पण होता है। इसका आशय यह है कि साहित्य में तत्कालीन समाज के आदर्श-भावों, विचारों, गुणों तथा क्रिया-कलापों आदि का भावपूर्ण, प्रेरणादायक, सजीव तथा रोचक वर्णन किया जाता है। यही कारण है कि किसी युग की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक स्थितियों का यथार्थ एवं आदर्शमूलक परिचय तत्कालीन साहित्य से सरलता पूर्वक प्राप्त हो जाता है। यथा– 'रामायण' तथा 'महाभारत' कालीन 'सभ्यता'– संस्कृति एवं तत्कालीन व्यक्तियों के भावों, विचारों एवं मनोदशा का ज्ञान 'रामायण' से तथा 'महाभारत' से हो जाता है क्योंकि रामायण काल तक राज्य के बँटवारे की प्रथा नहीं थी। बड़ा भाई ही राज्याधिकारी होता था। पुत्र पिता की आज्ञा पालन करने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे। भाई-भाई की सेवा करना अपना धर्म मानते थे। स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी आदि के सम्बन्ध अत्यधिक पवित्र एवं दृढ़ थे। राजा का परम पवित्र कर्त्तव्य अपनी प्रजा का पालन एवं संरक्षण करना तथा दूसरों के द्वारा किये गये अन्याय का विरोध करना था। देवासुर विरोध भी 'त्रेता' तक समाप्त नहीं हुआ था। बलि के पराभव के पश्चात् 'रावण' का अभ्युदय हो गया था जो राक्षसों का प्रतिनिधि था। उसने देवगणों को यंत्रणायें देना प्रारम्भ कर दिया था। कुबेर से पुष्पक विमान एवं स्वर्ण की लंका छीन ली थी। दक्षिण भारत में जहाँ ऋषियों के आश्रम थे, वहीं रावण की चौकियाँ थीं जिनके अधिपति रावण के भाई खर-दूषण व त्रिशिरा थे और चौदह सहस्र राक्षस उनके नियंत्रण में रहते थे। वे नर भक्षी थे और ऋषि-मुनियों को यंत्रणायें देते रहते थे। वे देव-यजन के विरोधी थे। यज्ञों में विघ्न उपस्थित करना उनका प्रधान कार्य था। राक्षसों के उत्पात एवं अत्यचारों से देव तथा ऋषि मुनि अत्यन्त त्रस्त एवं दुःखी थे। त्रेता युग में अयोध्या के 'सूर्यवंशी' राजाओं का सर्वत्र बोलबाला था। मिथिला में महाप्रतापी राजा जनक राज्य करते थे जो कुशल शासक एवं महान् योगी थे। उस समय वानरराज बाली, दैत्यराज बाणासुर, कार्तवीर्य सहस्रबाहु, जामदग्नि परशुराम भी अत्यन्त शक्तिशाली

योद्धा थे। भारतीय संस्कृति, कला एवं विज्ञान का स्रोत ऋषियों के आश्रम थे। एक प्रकार से भारतवर्ष उस समय संसार में सर्वाधिक सभ्य, समर्थ एवं वैभवशाली देश था। यहाँ विद्या, बल, बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान के दीप जलते थे और ज्ञान-विज्ञान कला तथा संस्कृति में भारतवर्ष की समानता विश्व का कोई देश नहीं कर सकता था। उस समय अयोध्या संसार की सर्वाधिक समृद्धिशाली नगरी थी।

भारतवर्ष की उपर्युक्त राजनैतिक स्थिति के साथ ही साथ वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, वैवाहिक सम्बन्ध, रहन-सहन, रीति-रिवाज, धर्म, दर्शन आदि का भी पूर्ण ज्ञान 'रामायण' से प्राप्त हो जाता है। साथ ही ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिस्थितियाँ, कला-कौशल, इंजीनियरिंग, महान् अस्त्र-शस्त्रों तथा वैज्ञानिक यंत्रों का आविष्कार, आयुर्वेद, आदि सभी विषयों की समृद्धि आदि का ज्ञान भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाता है। रामायण की साहित्यिक गरिमा उसमें वर्णित भावमूलक एवं रसात्मक स्थलों से ही प्रस्फुटित होती है जिसमें सत्य, अहिंसा, त्याग, बलिदान, सहिष्णुता परोपकार आदि के उदात्त मानवीय भावों एवं सेवा, शिष्टाचार, आज्ञा-पालन, सत्य-व्रत-पालन, धर्म-पालन आदि के महान् आदर्शों का निरूपण इस प्रकार किया गया है जिससे सरसता, रोचकता, प्रेरणादायकता, शिक्षा-नीति एवं उपदेशमूलकता आदि की अविरल धारा प्रवाहित होकर पाठक-वृन्द को रसमग्न कर देती है। यही कारण है कि यह ग्रंथ भारतीय जीवन का गौरवमय चित्र प्रस्तुत करते हुए भारतीय वाङ्मय की अमूल्य निधि बन गया है।

'महाभारत' के अवलोकन से भी भारतीय राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परम्पराओं का सजीव परिचय मिल जाता है जिसमें रामायण काल की तुलना में पारिवारिक विद्वेष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। दैत्यों की समस्या प्राय: हल हो गई थी। रावण जैसा कोई प्रबल दैत्य उस समय नही था। देवासुर-संघर्ष भी शिथिल पड़ गया था। केवल मानव-संघर्ष का बोल बाला था। सभी राजागण आपस में लड़ने लगे थे। उनमें भयानक ईर्ष्या, द्वेष, 'फूट तथा बैर' व्याप्त था। उस समय 'सूर्यवंशियों' का सितारा मंद था और 'चन्द्रवंशियों' का सितारा बुलन्द था। हस्तिनापुर में चंद्रवंशियों का शासन था, जिनमें परस्पर कलह होता रहता था। इस कलह का प्रमुख कारण कौरवों तथा पांडवों का राज्य-विभाजन सम्बन्धी विवाद था। चारों ओर उच्छृंखलता, उदण्डता, धृष्टता, दुष्टता, निरंकुशता का बोलबाला था। 'त्रेता युग 'का शिष्टाचार समाप्त हो गया था। कंस, जरासंध, शिशुपाल, जयद्रथ, दुर्योधन, शकुनि तथा कर्ण जैसे धूर्त एवं लम्पट लोगों की चाण्डाल चौकड़ी निरन्तर छल, कपट, उत्पीड़न, धोखा, पारस्परिक मानोपमान एवं राजनीतिक दाँव-पेचों में लीन रहा करती थी। इनका वर्ग अत्यन्त प्रबल था जो समस्त समाज पर निरंकुशता पूर्वक शासन करता रहा था। इस लम्पट तथा निरंकुश शासन तन्त्र के विरोध में इन लम्पटों से प्रबुद्ध एवं सज्जन वर्ग की रक्षा करने के लिए श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों का एक शिष्ट वर्ग भी आगे बढ़ रहा था, जिन्होंने महाभारत

के युद्ध तक समस्त लम्पट, निरंकुश एवं धूर्त राजाओं का विनाश अपनी पूर्ण शक्ति लगा कर किया।

महाभारत काल में पारिवारिक संघर्ष की ही प्रधानता थी। शासन के लिए भाई से भाई संघर्ष कर रहा था और एक ही परिवार के लोग आपस में एक-दूसरे के रक्त के प्यासे बन गये थे। कंस ने अपनी बहिन देवकी तथा बहनोई वसुदेव को कारागार में डाल रखा था। श्री कृष्ण ने इसी कारण से अपने मामा कंस का वध किया, अपने फुफेरे भाई शिशुपाल को मारा और महाभारत के युद्ध में तो पिता के हाथों पुत्र, भाई के हाथों भाई, शिष्य के हाथों से गुरु, पुत्र के हाथों से पिता, बुरी तरह नृशंसता पूर्वक मार डाले गये। पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, पाप, पाखण्ड का जैसा भयानक ताण्डव इस युग में था वैसा शायद ही कभी देखने को मिले। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में–

'हा! बन्धुओं के ही करों से बन्धु-गण मारे गये।
हा! तात से सुत, शिष्य से गुरु स-हठ संहारे गये।
इच्छा रहित भी वीर पाण्डव रत हुए रण में अहो।
कर्त्तव्य के वश विज्ञ जन क्या-क्या नहीं करते कहो।।' (जयद्रथवध)

यह सब क्यों हुआ? उसी चाण्डाल चौकड़ी की दुर्नीति के कारण जिसका मुखिया दुर्योधन था। दुर्योधन की अनैतिक महत्त्वाकांक्षा ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट, पाप-पाखण्ड, अहंकार एवं लोलुपता ने कौरवों का ही नहीं सम्पूर्ण भारत वर्ष का ही सर्वनाश करा दिया। गुप्त जी की निम्न पंक्तियों में इसी विनाशकारी तथ्य की ओर संकेत किया गया है :–

'दुर्वृत्त दुयोधन न जो शठता-सहित हठ ठानता।
जो प्रेम-पूर्वक पाडण्वों की मान्यता को मानता।
तो डूबता भारत न यों रण-रक्त-पारावार में।
'ले डूबता है एक पापी नाव को मँझधार में।।' **(जयद्रथवध)**

इस भयंकर एवं महाविनाशकारी युद्ध के कारण ही–

'हो स्वप्नतुल्य सदैव को सब शौर्य्य सहसा खो गया।
हा ! हा ! इसी समराग्नि में सर्वस्व स्वाहा हो गया।। (जयद्रथवध)

विकृत एवं विस्फोटक राजनैतिक स्थिति के साथ ही साथ सामाजिक स्थिति भी द्वापर में 'त्रेतायुग' की तुलना में अधिक घातक एवं दुष्परिणामी हो चुकी थी। समाज में वर्णसंकरता बढ़ती चली जा रही थी। बहुपतिवाद की प्रथा जो 'त्रेता' में केवल दैत्यों एवं निम्नश्रेणी की वानरादि जातियों तक ही सीमित थी 'द्वापर' में आकर वह उच्च क्षत्रिय वंशोंतक में स्थान पा चुकी थी क्योंकि 'त्रेता' में जो आचरण 'तारा' तथा 'मन्दोदरी' तक सीमित था वह द्वापर में 'कुन्ती' तथा 'द्रौपदी' ने भी ग्रहण कर लिया था। 'त्रेता' में जहां श्री राम ने निषादों, भीलों तथा वानर आदि जंगली जातियों को अपना

सेवक और मित्र बनाया था तथा उनके प्रति प्रेम एवं सद्‌भावना व्यक्त की थी तथा ऊँच-नीच और 'छुआ-छूत' के भेद को समाप्त किया था, वहाँ द्वापर में वर्णव्यवस्था अधिक संकुचित एवं कठोर हो गई थी। इसीलिए तो आचार्य द्रोर्ण ने एकलव्य का 'अँगूठा' कटवा लिया था। परशुराम ने 'कर्ण' को शाप दे दिया था। साथ ही 'त्रेता' में जंगली जातियाँ अधिक प्रबल नहीं हो पाई थीं। परन्तु द्वापर में भीलों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और राजस्थान के भीलों ने अर्जुन को परास्त कर द्वारका के अन्त:पुर की महिलाओं को लूट लिया था जिससे उन महिलाओं ने एक तालाब में कूद कर आत्महत्या कर ली थी। साथ ही एक भील के ही 'बाण' से आहत हो जाने के कारण ही श्री कृष्ण का देहावसान हुआ था। इन दोनों ही ग्रंथों के अवलोकन से यह स्पष्ट रूप में ज्ञात हो जाता है कि 'त्रेता' में समाज अधिक संगठित, मर्यादित, शिष्ट एवं सदाचारी था और द्वापर में उसमें उच्छृंखलता, मर्यादा का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति, ऊँच-नीच की भावना, पारस्परिक ईर्ष्याद्वेष, दुष्टतापूर्ण स्वार्थवाद निरंकुशता आदि, दुर्गुणों का बोल बाला हो गया था। इसी कारण से द्वापर के अन्तिम चरण में महाभारत का भयानक पारिवारिक युद्ध हुआ और भारतवर्ष का ज्ञान-विज्ञान, बुद्धि-बल, वैभव एवं सम्मान सभी नष्ट हो गया। इस युग में देव-दानव के स्थान पर देव-मानव' संघर्ष भी प्रारम्भ हो गया था क्योंकि द्वापर में मानव शक्ति देव-शक्ति से भी अधिक प्रबल हो गई थी। श्री कृष्ण ने दो बार इन्द्र को परास्त किया था। पाण्डवों ने देवों से संघर्ष किया था। अर्जुन गंधर्वों से दुर्योधन को मुक्त करके लाया था।

रामायण तथा महाभारत के अतिरिक्त संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य में भारतवर्ष पर विदेशियों के आक्रमणों तथा उनके साथ हुए संघर्ष एवं परिणामादि पर क्रमबद्ध रूप में साहित्य का सृजन हुआ है। साथ ही बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का भी पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। धार्मिक संघर्ष-मूलक साहित्य की भी कमी नहीं है। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा साहित्यिक आन्दोलन का सजीव चित्र भी संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में सर्वत्र उपलब्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत तथा हिन्दी के साहित्य में क्रमबद्ध रूप से भारतीय इतिहास, सामाजिक व्यवस्था, धर्म तथा दर्शन, साहित्यिक अभिरुचि, रीतिरिवाज, रहन-सहन आदि का सजीव मार्मिक एवं प्रेरणादायक चित्र उपस्थित किया जाता रहा है। इस आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि **साहित्य, समाज का भावपूर्ण इतिहास होता है जो समाज का आनन्दमूलक एवं प्रेरेणादायक चित्र उपस्थित करके समाज का ज्ञानवर्द्धन करते हुए उसकी अभिरुचि को तुष्ट करता है।**

साहित्य और जीवन

साहित्य का समाज की ही भांति जीवन से भी अटूट सम्बन्ध है, क्योंकि साहित्य में मानव जीवन ही नहीं मानवेतर जीवन के भी प्रभावशाली चित्र प्राप्त होते हैं। विधाता की बनाई हुई सृष्टि के सर्वत्र दो ही रूप दिखाई देते हैं –

1. सत् 2. असत्। इसी को महात्मा तुलसी दास ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है –

'जड़-चेतन गुनदोष मय विस्व कीन्ह करतार।'

परन्तु साहित्यकार एक हंस के समान होता है जो जीवन के सदसद् का सम्यक् निरूपण करके असद् के त्याग एवं सद् के ग्रहण का आग्रह करता है–

'सन्त हंस गुण लहहिं पय परिहरि वारिविकार॥'

इसीलिए साहित्य सृजन करते समय साहित्यकार 'विवेक' से काम लेता है। वह ऐसे पात्रों का चुनाव करता है जो सदसद् का ज्वलंत उदाहरण हों। इसी आधार पर साहित्य में 'धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित तथा धीरोद्धत चार प्रकार के नायक माने जाते रहे हैं। नायकों के उत्कर्ष में अभिवृद्धि करने के लिए दुष्ट तथा पापी मनुष्य, दैत्य, दानव पशुपक्षी-कीट-पतंगादि के जीवन (स्वभाव, टेव, शक्ति-बुद्धि-भाव एवं विचारादि) का भी प्रदर्शन किया जाता रहता है। जिस प्रकार भयंकर अग्नि में तपकर स्वर्ण खरा बन जाता है और दोष अग्नि में जलकर राख हो जाते हैं उसी प्रकार एक सद्पात्र भी निरन्तर संघर्ष करते हुए तथा संकट झेलते हुए जीवन के अक्षुण्ण आदर्शों की रक्षा करते हुए उनकी स्थापना कर जाता है।

भारतीय साहित्य का यह सौभाग्य रहा है कि यहाँ के इतिहास तथा समाज में एक से एक बढ़कर प्रभावशाली चरित्र उपलब्ध होते रहे हैं। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि 'धीरोदात्त' कोटि के नायकों की जन्मभूमि तो एकमात्र आर्य भूमि भारत वर्ष ही है क्योंकि विश्व के अन्य किसी भी देश के इतिहास में 'धीरोदात्त' कोटि का नायक जन्म लेता दिखाई नहीं देता। धीरोदात्त नायक का सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उसके एक हाथ में 'शस्त्र' होता है जो दुष्टों का विनाश करके सन्तों की रक्षा करता है साथ ही उसके दूसरे हाथ में 'शास्त्र' होता है जो आध्यात्मिक ज्ञान एवं सामाजिक मर्यादाओं के पालन की प्रेरणा मानव-मात्र को देता है। तीसरा गुण धीरोदात्त नायक का यह है कि उसके हृदय में दया, क्षमा, परोपकार, करुणा, सत्य, अहिंसा, त्याग, तप, सहिष्णुता आदि उदात्त मानवीय भाव समाहित रहते हैं। उसका प्रत्येक कार्य धर्म की रक्षा के लिए होता है। वह ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट असत्य हिंसा पाप-पाखण्डआदि दुर्गुणों से परे रहता है। भारतवर्ष की भूमि पर सूर्यवंशी तथा चंद्रवशी राजाओं की एक लम्बी सुदीर्घ परम्परा रही है जिसमें निरन्तर एक से एक बढ़कर 'धीरोदात्त' कोटि के नायक उत्पन्न होते रहे हैं। यथा रघु, हरिचन्द्र, दिलीप, अज, दशरथ, राम आदि 'सूर्य वंश में। पुरूरवा, ययाति, दुष्यन्त, श्रीकृष्ण, अर्जुन आदि चन्द्रवंश में उद्भूत हुए हैं। इन उदाततम चरितों के ही कारण भारतीय साहित्य में जीवन की उदात्ततम झांकियाँ निरन्तर प्रस्तुत करते रहने का सौभाग्य साहित्यकारों को प्राप्त होता रहा है। यही कारण है कि संस्कृत तथा हिन्दी में एक से एक बढ़कर जीवनोपयोगी महाकाव्य तथा नाटकादि उपलब्ध हैं। रामायण, महाभारत, रघुवंश, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, शिशुपालवध, उत्तररामचरित, रामचरितमानस,

सूरसागर, साकेत, कामायनी आदि में जीवन के सदसद् पक्षों का ऐसा मर्मस्पर्शी तथा प्रेरणादायक चित्रण मिलता है कि इनकी तुलना में अन्य साहित्यकारों के जीवन-चित्र अत्यन्त क्षुद्र एवं एकांगी प्रतीत होते हैं।

मानव जीवन के चार मूल उद्देश्य माने जाते रहे हैं - अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। भारतीय साहित्य में इन चारों ही प्रकार के लक्ष्यों को ध्यान में रखकर जीवन के विविध चित्र प्रस्तुत किये जाते रहे हैं; परन्तु प्रधानरूप से धर्म तथा मोक्ष पर ही अधिक बल दिया जाता रहा है। काम तथा अर्थ को भी धर्म नियंत्रित करते हुए जीवन को स्वतन्त्रता, शिष्टता, मर्यादा तुष्टि तथा आनन्द प्रदान किया गया है। भारतीय साहित्यकार की दृष्टि में मानव जीवन के साथ ही मानवंतर प्राणियों के जीवन का भी विशिष्ट स्थान रहा है। यहाँ तक कि वह प्रकृति में स्पन्दित जीवन के सुखद क्रिया-कलापों को भी नहीं भूल सका है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में समाज और जीवन का अत्यन्त विशाल, सुरुचिपूर्ण, मार्मिक, गम्भीर, आदर्शमूलक, प्रेरणादायक एवं उपयोगी चित्रण मिलता है।

मनुष्य का जीवन अत्यन्त विषम है। वह सदैव सुख-दुःख की ऊँची-नीची भूमियों पर होता हुआ चलता है। संसार में मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की प्रवृत्तियों में भी विषमता पाई जाती है। इसी कारण जीवन में निरन्तर संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। यही संघर्ष मानव जीवन की कहानी बन जाता है। इसी कहानी को साहित्यकार अपनी रचना का आधार बना लेता है और उसे वह अपनी प्रतिभा का मुलम्मा चढ़ा-चढ़ा कर ऐसा चमका देता हैं कि देखने वालों की आँखें चौंधिया जाती हैं। परन्तु जहाँ जीवन के जितने अधिक उदात्ततम चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं, वहाँ कला का मुलम्मा उसी अनुपात में कम होता चला जाता है।

संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य में प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक के विविध जीवन चित्रों को प्रदर्शित किया जाता रहा है। जीवन के इन विविध चित्रों के संकलन को ही हम 'साहित्य' की संज्ञा देते हैं। काव्य, नाटक तथा कथा साहित्य में सर्वत्र ही राजा-रंक, वीर-भीरु तथा कायर, धनी-निर्धन, शोषक-शोषित, आस्तिक-नास्तिक, देशभक्त-देशद्रोही, कृतज्ञ-कृतघ्न, गुणी-अगुणी, शिक्षित-अशिक्षित, ज्ञानी-मूर्ख, दयालु-क्रूर आदि विविध प्रकार के जीवन-चित्र आद्योपान्त उपलब्ध होते हैं और इन चित्रों को सुख-दुःख, करुणा-अकरुणा, सत्य-असत्य, उत्थान-पतन, त्याग-संग्रह, तप-आसक्ति आदि के उदात्त-अनुदात्त मानवीय भावों की लाग देकर सुरुचिपूर्ण एवं उपयोगी रूप में प्रस्तुत करके साहित्य की गरिमा को निरन्तर बढ़ाने का कार्य किया जाता रहा है। जीवन में पुत्र-वित्त तथा कलत्र ही सब कुछ नहीं हैं। स्वार्थ-साधन मात्र ही जीवन का लक्ष्य नहीं है। क्रूरता तथा हिंसा तथा असत्य ही जीवन के मापदण्ड नहीं हैं। अत्याचार एवं ढोंग ही जीवन का सच्चा स्वरूप नहीं है। जीवन में सत्य, अहिंसा, त्याग, तप, बलिदान, परोपकारादि भाव ही मुख्य हैं। अतः साहित्य में सर्वत्र ही इन उदात्त मानवीय

भावों की गूँज सुनाई देती है। उदाहरणार्थ –

'कबहुक हौं यहि रहनि रहोंगौ।
यथा लाभ संतोष सदा काहू सौं कछुन चहौंगौ।
परुष वचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहोंगौ।
विगत मान सम सीतल मन परगुन नहि दोष कहौंगौ।।

(विनय पत्रिका)

जीवन को आदर्श बनाने एवं उदात्त मानवीय कृत्यों का सम्पादन करके शान्ति, सुख एवं मोक्ष लाभ करने की ऐसी उत्तम व्यवस्था भारतीय साहित्य की अपनी अमूल्य निधि है। इसी प्रकार की शिक्षा, आकांक्षा, नीति, उपदेश, प्रेरणा, आदि के उदाहरणों से संस्कृत तथा हिन्दी का साहित्य भरा पड़ा है। यही कारण है कि इन भाषाओं का साहित्य बहुजनहिताय, बहुजनरताय, वसुधैवकुटुम्बकम्, तथा आत्मवत् सर्वभूतेषु' की प्रेरणा को वहन करता हुआ चला है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में परोपकार का एक सजीव चित्र दर्शनीय है :–

क्षुधार्त्त रन्तिदेव ने दिया करस्थथाल भी।
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थि जाल भी।
उशीनरः क्षितीश ने स्वमाँस दान भी किया।
सहर्ष वीर कर्ण ने स्वदेह चर्म भी दिया।
यही पशु प्रवृत्ति है कि आप-आप ही चरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे।। **(भारत भारती)**

यदि संस्कृत तथा हिन्दी के साहित्य का अद्योपान्त अवलोकन एवं अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि भारतीय साहित्य मानों भारतीय जीवन का सजीव, प्रेरणादायक एवं उपयोगी चित्रपट है।

साहित्य और कला

संसार में दो प्रकार की वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं 1. ईश्वर कृत 2. मनुष्य कृत। ईश्वर कृत निर्माण को 'प्रकृति' कहा जाता है और मनुष्य कृत निर्माण को 'कला' कहते हैं। मनुष्य द्वारा किये गये निर्माण को 'कला' इसलिए कहा जाता है कि मनुष्य अपनी बुद्धि तथा शक्ति के आधार पर उन प्राकृतिक वस्तुओं को जो असुन्दर एवं अनुपयोगी प्रतीत होती हैं, सुन्दर एवं उपयोगी रूप में अपनी सुख सुविधानुसार विकसित कर लेता है या अपने मनोरंजन के लिए प्राकृतिक वस्तुओं का पुनर्निमाण कर लेता है। कभी मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी प्रतिभा के बल पर 'कला' के द्वारा 'प्रकृति' से प्राप्त पदार्थों को विकसित करके सुन्दर से सुन्दरतर एवं सुन्दरतम बना लेता है, जैसे पत्थर को कांट-छाँट कर सुन्दर मूर्ति या भवन बनाना, रंगों से चित्र बनाना, रुई-रेशम तथा स्वर्णादि से वस्त्राभूषण तैयार करना आदि, ये सभी कार्य सुन्दर, आह्लादक एवं उपयोगी होते हैं। इन कार्यों को कला-कोटि में माना जाता है, इन कार्यों को सुंदर

एवं उपयोगी रूप मिलने पर ही ग्रहण किया जाता है। **अतः 'कला' मनुष्यकृत उस निर्माण को कहते हैं जो मनोरंजक, सुन्दर, आह्लादक तथा उपयोगी होता है।**

'कला' के प्रायः तीन भेद माने जाते हैं। 1. उपयोगी कला 2. मनोरंजक कला 3. उभयनिष्ठ कला (उपयोगी तथा आह्लादक कला)। प्रथम कोटि की कलाओं में स्थापत्य कला आदि को रक्खा जाता है। द्वितीय कोटि की कलाओं में चित्र कला, मूर्तिकला तथा वाद्यादि कलाओं को गिना जाता है। इन्हें ललितकलायें भी कहते हैं। तृतीय कोटि में 'काव्य' को रखा जाता है जो उपयोगी (ज्ञान तथा प्रेरणा दायक) भी है और मनोरंजक भी है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि **काव्य कला का उत्कृष्टतम रूप होता है।**

ईश्वरकृत निर्माण के दो पक्ष होते हैं। 1. जड़-तत्त्व 2. चेतन-तत्त्व। श्री मद्भगवद्गीता में इस तथ्य को इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है –

भूमिरापोऽनलो वायुः रवं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्ट्धा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता 7/4-5)

'भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन! पृथ्वी, ज़ल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार की मेरी 'जड़ सृष्टि है। इसे 'अपरा' कहते हैं। इससे भिन्न मेरी 'परा' अर्थात् चेतन सृष्टि है। इन दोनों ही प्रकार की सृष्टियों को 'प्रकृति' कहते हैं।' इसका आशय यह है कि ईश्वर कृत निमार्ण दो प्रकार का होता है। 1. जड़, 2. चेतन। परन्तु यह 'जड़' और 'चेतन' कहलाने वाली सृष्टि एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न भी नहीं होती और पूर्णतया एक भी नहीं कही जा सकती। ईश्वरकृत इस दोनों ही प्रकार की सृष्टि में केवल भेद यह है कि एक में 'जड़ तत्त्व' प्रधान होता है और दूसरी अर्थात 'प्राणी-सृष्टि' में 'चेतन-तत्त्व' की प्रधानता रहती है। केवल जड़ सृष्टि के रूप को ही परिवर्तित करके कला के रूप में विकसित किया जा सकता है जबकि चेतन (प्राणि) सृष्टि का रूप परिवर्तित नहीं होता। चेतन काश्रृंगार किया जा सकता है जिसके लिए उपकरण जड़ सृष्टि ही प्रदान करती है। ठीक यही स्थिति (मानवकृत निर्माण) कला की है। कला भी 'जड़ तथा चेतन' इन दो रूपों में प्राप्य है। जड़ मूलक कला के अन्तर्गत उपयोगी तथा ललित कलायें आती हैं और चेतन मूलक (सजीव) 'कला' के अन्तर्गत 'काव्य' आता है क्योंकि काव्य में 'चेतन तत्त्व' के रूप में 'रस' या 'भाव' विद्यमान रहता है जो एक जीवित प्राणी की भाँति सजीव एवं प्रेरणादायक होता है। जिस प्रकार शरीर के दो रूप होते हैं– 1. बाह्यरूप या 'शरीरतत्व', 2. आन्तरकि रूप या 'आत्म तत्त्व'। उसी प्रकार 'काव्य' के भी दो ही रूप होते हैं। 1. बाह्यरूप अर्थात भाषा अलंकारादि जिसे अभिव्यक्तितत्त्व भी कहते हैं। 2. आन्तरिकरूप अर्थात् रस भावादि जिसे अनुभूति तत्त्व कहा जाता है।

काव्य को 'कला' मानने या न मानने के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। 1. काव्य भी एक 'कला' है। 2. काव्य 'कला' नहीं है। प्रथम दृष्टिकोण मूलरूप में तो पाश्चात्य आचार्यों का है और उसका पिष्टपेषण आधुनिक हिन्दी आचार्यों द्वारा भी किया गया है। द्वितीय दृष्टिकोण प्राचीन भारतीय आचार्यों का है जो काव्य को 'निर्जीव-कला' न मानकर 'सजीव रचना' मानते हैं। उनकी दृष्टि से काव्य एक पुरुष शरीर की भांति है। 'शरीरं तावद् इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' (दण्डी)। अर्थात्- 'काव्य एक पुरुष शरीर की भांति है जिसमें इष्टार्थ से युक्त पदावली का प्रयोग होता है।' इसका आशय यह है कि काव्य एक 'प्रेरणादायक, सजीव एवं उपयोगी चेतना' से युक्त रचना होती है। उसमें चित्र, या मूर्ति आदि जैसी निष्प्राणता, शुष्कता एवं नीरसता नहीं होती।

'काव्य' को 'कला' के रूप में स्वीकार करने पर अधिक बल पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दिया गया है। इसी प्रवृत्ति का प्रभाव हिन्दी आचार्यों पर भी पड़ा है। यहाँ एक बात विशेष रूप से जान लेने की आवश्यकता है कि काव्य-सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा और भारतीय धारणा में पर्याप्त अन्तर है। सामान्य रूप से यह कहना भी असंगत न होगा कि पाश्चात्य धारणा भारतीय धारणा के प्रतिकूल है। दोनों ही स्थलों के रहन-सहन वातावरण आदि भिन्नता के कारण दोनों ही स्थानों के विद्वानों के विचारों में भी भिन्नता है। भारतीय विचारधारा सदैव अध्यात्म चिन्तन के पक्ष में रही है। वह संसार की प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिकता की कसौटी पर चढ़ाकर ही उसके खरे-खोटे होने की घोषणा करती है। जबकि पाश्चात्य दृष्टिकोण भौतिकवाद से आगे नहीं जा सका। पाश्चात्य विद्वान काव्य को भी भौतिकवाद की कसौटी पर चढ़ा कर उसके अस्तित्व की घोषणा करता रहा है। सर्वप्रथम प्लेटो ने अपने काव्य सम्बन्धी विचार इस प्रकार व्यक्त किये थे– 'ऐसा व्यक्ति जो सत्य के दर्शन कर चुका है, दार्शनिक या कलाकार के रूप में ही सम्मानित होगा। जो व्यक्ति सत्य से कुछ दूर रहा है और जिसने सत्य को कुछ अन्तर से देखा है, वह कोई न्यायिक राजा होगा। सत्य से तीन गुना दूर रहने वाला व्यक्ति राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री या व्यापारी होगा। चौथे स्थान पर खिलाड़ी और चिकित्सक को रक्खा जा सकता है। पाँचवा भविष्यद्रष्टा और छठे स्थान का अधिकारी कवि होगा।[10] प्लेटो की इस धारणा से यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वान् 'काव्य' को सभी कलाओं से हेय एवं निम्न कोटि का मानते हैं। आगे चलकर पाश्चात्य् विद्वानों के विचारों में कुछ सुधार तो हुआ परन्तु फिर भी वे 'काव्य' को इतना सम्मान जनक स्थान न दे सके जितना कि उसके लिए अपेक्षित था। डॉ॰ सैम्युअल जॉनसन कला की भाँति काव्य को भी प्रकृति का ही अनुकरण मानते हैं। प्रकृति के अनुकरण से उनका आशय जीवन की वास्तविक घटनाओं का अनुकरण है। उनकी राय में प्रकृति ही सत्य है और कला जो प्रकृति का अनुकरण करती है वह सत्य को ही उद्घाटित करती है। इन विद्वानों के विचारों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'काव्य' कला का ही एक रूप है जो अन्य कलाओं की तुलना में हेय एवं निम्नतम स्तर की कला है। यही

कारण है कि पाश्चात्य दृष्टिकोण से कला के विभिन्न रूपों जैसे- वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतादि में काव्य का स्थान सबसे पीछे रक्खा गया है। काव्य और कला के सम्बन्ध में यह धारणा प्लेटों के समय से ही चली आ रही है और अभी तक उसमें कोई विशेष परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता। इस समस्त भावना का कारण यह है कि योरप में अन्य कलाएँ अत्यंत दुर्लभ हैं और उनकी तुलना में काव्य सुलभ है। इसलिए उन्होंने काव्य को अन्य कलाओं की तुलना में कम महत्व प्रदान किया है।

काव्य और कला के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण अधिक व्यापक, उपयोगी, मूल्यवान् एवं गरिमावान् है। भारतीय विद्वान् काव्य या साहित्य को कला से उत्कृष्ट रूप में मानता है। भर्तृहरि ने **'साहित्य सङ्गीत कला विहीनः, साक्षात् पशु पुच्छ विषाणहीनः।'** कह कर 'साहित्य' को सङ्गीत और कला से प्रथम स्थान पर अभिषिक्त किया है। काव्य के प्रयोजन में भामह ने **'वैचक्षण्यं कलासु च'** कहकर काव्य को सभी कलाओं में विलक्षण अर्थात् श्रेष्ठ माना है। आचार्य दण्डी ने– **'नृत्य-गीत प्रभृतयः कला कामार्थ संश्रयाः'** कहकर नृत्य, गीतादि कलाओं को काव्य की तुलना में हेय घोषित किया है। दशरूपककार धनञ्जय ने **'निश्चिन्तो धीर ललितः कलासक्त सुखी मृदुः'** कह कर कलासक्त नायक को नायकों की तृतीय श्रेणी में रक्खा है। भरतमुनि ने 'नाटक' को सभी विद्याओं और कलाओं से श्रेष्ठ घोषित किया है।

'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति।
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न साकला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।।(नाटयशास्त्र 1/113/114)

इस समस्त विवेचन का सार यही है कि जहाँ पाश्चात्य विद्वान् कला को प्रकृति के पुनर्निमाण का माध्यम मानता है और 'काव्य' को भी कला मानते हुए उसे अन्य कलाओं की तुलना में पाँचवें या छठे स्थान पर प्रतिष्ठित करता है, वहाँ भारतीय विद्वान् काव्य को न तो कला ही मानता है और न उसे कलाओं से निम्नतर स्थिति में स्थापित करता है। **भारतीय मतानुसार 'काव्य' या 'साहित्य' सभी कलाओं से श्रेष्ठ है और निर्जीव वह निर्माण न होकर उत्कृष्टतम सजीव रचना है।**

यहाँ एक तथ्य गम्भीर रूप से और भी विचारणीय है कि कला के स्वरूप निर्धारण में हम पीछे जो सीमारेखा अवधारित कर चुके हैं कि 'कला' प्रत्येक मानवकृत निर्माण को कहते हैं उसके अनुसार तो 'काव्य' को भी 'कला' मानने में कोई हानि नहीं है। हमारी राय में तो प्राचीन आचार्यों का भी यही दृष्टिकोण रहा होगा क्योंकि अन्य कलाओं की भांति 'काव्य' भी मानवकृत निर्माण ही है। साथ ही जहाँ काव्य का हेतु कवि प्रतिभा होती है वहाँ अन्य कलाओं का हेतु भी कलाकार की प्रतिभा ही होती है। अतः यह कहना तो असंगत न होगा कि 'काव्य' भी एक 'कला' है परन्तु काव्य अन्य सभी कलाओं से श्रेष्ठतम कला है और प्रकृति के 'अपरा' तथा 'परा' स्वरूप की भाँति 'काव्य'

को परा (कला का चेतना रूप) तथा अन्य कलाओं को 'अपरा'(कला का जड़ रूप), कला मानना ही उचित होगा। क्योंकि जिस प्रकार ईश्वरकृत निर्माण के दोनों ही रूप 'अपरा' अर्थात् जड़ सृष्टि और 'परा' अर्थात् 'चेतन सृष्टि' 'प्रकृति' कहलाते हैं और इन दोनों का ही उत्पत्तिकर्ता ब्रह्म है, उसी प्रकार नृत्यादि कलायें 'अपरा कला' अर्थात् मानव की जड़ सृष्टि कही जा सकती है और 'काव्य' 'परा' अर्थात् 'मानव की चेतनसृष्टि' मानी जा सकती है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार ईश्वरीय सृष्टि 'सत्+चित्+आनन्द' तत्त्वों से निर्मित होती है उसी प्रकार मानवीय सृष्टि भी इन तत्त्वों से ही निर्मित होती है क्योंकि विभिन्न कलाओं की बाह्य सामग्री 'सत्' तत्व से, आत्म-सामग्री (रस, भाव, नीति, शिक्षा, उपदेश प्रेरणादि) 'चित्' तत्त्व से और आत्मानुभूति आनन्द तत्त्व से निर्मित होती है। ईश्वरीय सृष्टि में इन तीनों ही तत्त्वों का आविर्भाव तथा तिरोभाव सन्निहित रहता है, जैसे – जड़-सृष्टि में 'सत्-तत्त्व' का आविर्भाव रहता है और 'चित्' तथा 'आनन्द' का तिरोभाव रहता है। प्राणी समुदाय में 'सत्' तथा 'चित्' का आविर्भाव रहता है और आनन्द का तिरोभाव रहता है अर्थात प्राणी मात्र में आनन्द अव्यक्तावस्था में रहता है क्योंकि प्राणी वर्ग माया में लिप्त होने के कारण 'आनन्द-तत्त्व' से वंचित रह जाता है। इसीलिए वह मुक्त नहीं हो पाता। जब जीव 'ज्ञान' या 'भक्ति' आदि के द्वारा 'आनन्दावस्था' को प्राप्त कर लेता है तभी वह माया-मुक्त जीव (सच्चिदानन्द) स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार कलाओं में भी विषय-सामग्री मूलक स्थापत्य आदि कलायें 'सत्' स्वरूपिणी होती हैं। इन कलाओं में चित् (रस-भावादि) तथा आनन्द (आत्मानुभूति आदि) का तिरोभाव रहता है। परन्तु काव्य में सत् (विषय सामग्री), चित्त (रस भावादि) तथा आनन्द (आत्मानुभूति आदि) अर्थात **सत्यं शिवं सुन्दरम्** ये तीनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इसीलिए **'काव्य' अन्य सभी कलाओं से श्रेष्ठ कला है। अन्य कलायें 'अपरा' (जड़) तथा काव्य कला का 'परा' अर्थात् चेतन रूप है।**

'कला' के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य् दृष्टिकोण में एक मौलिक अन्तर और भी है। पाश्चात्य विद्वान जैसे जॉनसन आदि प्रकृति को ही सत्य मानते हैं और कला को उस सत्य का यथार्थ चित्रण करने का माध्यम घोषित करते हैं परन्तु भारतीय विद्वान् कला को प्रकृति का यथार्थ चित्रण नहीं मानते, वे तो 'कला' को 'आदर्श' का चित्रक मानते हैं। गुप्त जी ने निम्न लिखित पंक्तियों में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है।

'हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा।
यदि वही हमने कहा ता क्या कहा?
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।' **(साकेत प्रथम सर्ग)**

'गुप्त जी' के इस कथन से स्पष्ट है कि 'कला' केवल प्रकृति का यथार्थ चित्रण नहीं करती क्योंकि जिस प्रकृति (जीवन) को पाश्चात्य विद्वान 'सत्य' मानकर चलता है और जीवन का हूबहू चित्रण करना ही 'कला' का उद्देश्य मानता हैं उसी प्रकृति

(जीवन) को भारतीय विद्वान असत् (क्षणभंगुर) मानकर चलता है और जीवन के यथार्थ चित्रण को वह अयथार्थ मानता है क्योंकि जीवन में माया व्याप्त है। अत: जीवन और जगत का रूप वास्तविक नहीं है, वह आभासित है। इसी को लक्ष्य करके महात्मा तुलसीदास ने कहा है–

'अब मैं तोहि जान्यो संसार।'
देखत में कमनीय किन्तु नाहिंन कछु किये विचार॥

इसीलिए तुलसीदास मनुष्य को सांसारिक बंधन में न बँधने का उपदेश देते हैं–

'जगनभ वाटिका रही है फलफूलि रे।
धूँआ के से धौरहर देखि मति भूलि रे॥'

तुलसीदास की यह भी चेतावनी है कि सांसारिक धन्धों में कोई सार नहीं है, अत: –

'राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे।
घोर भव नीर निधि नामु निजु नावरे।
बूड़यौ मृग वारि खायौ जेवरी को साँप रे।'

इसी धारणा को लेकर भारतीय कवि आगे बढ़ता रहा है, जिसे आदर्शवाद कहते हैं। भारतीय दृष्टिकोण में आदर्शवाद का ही अधिक महत्व है जबकि पाश्चात्य दृष्टिकोण में लौकिक यथार्थ का अधिक महत्त्व माना गया है। पाश्चात्य धारणा आदर्श के नाम से ही चिढ़ती है।

पाश्चात्य विद्वान् काव्य के चार तत्व मान कर चले हैं। 1. भाव तत्त्व 2. विचार तत्त्व 3. कल्पना तत्त्व 4. शैली तत्त्व। परन्तु भारतीय धारणानुसार काव्य के केवल दो ही तत्त्व हैं। 1. अनुभूति तत्त्व, (रस, भावदि आन्तरिक तत्त्व) 2. अभिव्यक्ति तत्त्व (भाषा, अलंकार, छन्द तथा शैली आदि ब्राह्य तत्त्व या कला तत्व) अपनी इसी धारणा के आधार पर भारतीय विद्वान अनुभूति तत्त्व को काव्य की आत्मा मानते हैं और अभिव्यक्ति (कला) तत्त्व को काव्य का शरीर मानते हैं। और जिस प्रकार बिना आत्मा के शरीर का कोई उपयोग नहीं होता, वह त्याज्य एवं घृणित वस्तु बन जाता है उसी प्रकार बिना अनुभूति तत्त्व (रसादि) के काव्य का भी कोई मूल्य नहीं है। वह बिना प्राण की देह के समान अनुपयोगी एवं त्याज्य हैं। अभिव्यक्ति तत्त्व या कला तत्त्व का महत्त्व केवल उसी समय तक है जिस समय तक काव्य में अनुभूति तत्त्व विद्यमान है। दूसरे शब्दों में काव्य में सर्वाधिक महत्त्व 'रस' का है। भाषा, अलंकारादि केवल 'रस' सौंदर्य के उसी प्रकार उद्बोधक कारण होते हैं जिस प्रकार शारीरिक गठन आदि आत्मसौन्दर्य के उद्भावक होते हैं। परन्तु यह भी आवश्यक नहीं है कि सुन्दर एवं सुगठित शरीर में ही महान् आत्मा विराजती है। आत्मा की महान् छवि तो दुबले-पतले हड्डियों के ढाँचे में भी देखी जाती हैं उदाहरणार्थ :–

'गात पै लँगोटी और बोटी भर माँस लिए'
पैतिस करोड़ भारतीयता की थाती है।
भारत के भाग्यभानु कर्मवीर गाँधी तेरे,
तीन हाथ गात पै हजार हाथ छाती है।।'

इतिहास इस बात का साक्षी है कि अष्टावक्र, चाणक्य और शुक्राचार्य का शारीरिक सौदंर्य आकर्षक नहीं था परन्तु उनका आत्मतेज अवर्णनीय था। यही कारण है कि भारतीय आचार्य काव्य में अभिव्यक्ति तत्व (कला तत्त्व) को गौण मानते हैं और अनुभूति तत्त्व को प्रधानता देते हैं। विभिन्न काव्य की परिभाषाओं से भी यही स्पष्ट है। गुप्त जी की इन पंक्तियों में भी इसी ओर संकेत दिया गया है–

'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला' (साकेत)

परन्तु इसके विपरीत क्रोचे आदि विद्वान् 'अभिव्यंजना' को ही काव्य का मूल तत्त्व मानते हैं जिसका आशय यह है कि वे काव्य के 'कला-पक्ष' को अधिक महत्व देते हैं, परन्तु भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतों में 'काव्य' एवं 'कला' के सम्बन्ध में पर्याप्त अन्तर है। यदि एक 'चीर घाट' है तो दूसरा मीर घाट। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भारतीय मनीषा काव्य को 'सच्चिदानन्द', वत् मानती है और उसे समस्त कलाओं में श्रेष्ठ घोषित करती है। इसके विपरीत पाश्चात्य धारणा काव्य को 'कला' का निम्नतमरूप मानते हुए उसे मात्र लौकिक यथार्थ का ही चित्रक स्वीकार करती है। पाश्चात्य विद्वान् की दृष्टि कला के केवल बाह्य सौंदर्य को ही महत्त्व प्रदान करती है जबकि भारतीय दृष्टि 'कला' के **'सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम्'** इन तीनों ही रूपों को महत्त्व प्रदान करते हुए 'काव्य में इन तीनों रूपों का समावेश प्राप्त करके काव्य को सर्वश्रेष्ठ, सर्वाधिक उपयोगी एवं सर्व सुन्दर 'परा' कला (मानव कृत जीवंत निर्माण) स्वीकार करती है। दूसरे पाश्चात्य विद्वान् जहाँ काव्य का प्रयोजन केवल मनोरंजन (कला-कला के लिए) ही मानते हैं वहाँ भारतीय विद्वान 'काव्य' के प्रयोजन **'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।'** मानते हुए 'काव्य' को सर्वाधिक उपयोगी मानकर चले हैं। अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि **काव्य भी एक कला (मनुष्य कृत निर्माण) है परन्तु वह अन्य सभी कलाओं से श्रेष्ठ, सुन्दर एवं उपयोगी है। काव्य कला का 'परा' अर्थात् चेतन रूप है और काव्येतर अन्य कलायें कला का 'अपरा' अर्थात् जड़ रूप हैं।**

निष्कर्ष– उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'साहित्य' के अन्तर्गत एक ओर जहाँ 'भावात्मक', 'रसात्मक', उपयोगी, प्ररेणादायक तथा कलात्मक रचनाएँ आती हैं जिन्हें 'काव्य' कहा जाता है, वहाँ दूसरी ओर काव्यशास्त्रीय रचनाएँ भी आती हैं जिन्हें काव्य-शास्त्र या आलोचना-शास्त्र कहा जाता है। रस-भावादि-विमुक्त ज्ञानार्जन का सम्बन्ध अधिकाधिक खोज, आविष्कार एवं सूचैनाओं के वैचारिक संग्रह से है और कला का सम्बन्ध 'कला' अर्थात् सौंदर्य से। 'काव्य' का सम्बन्ध ज्ञानार्जन एवं सौंदर्य

दोनों से है परन्तु काव्य मूलक ज्ञान उपादेयता, सजीवता, रोचकता, आनन्ददायकता तथा प्रेरणादायकता आदि से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध रहता है। यही कारण है कि साहित्य में कला का सजीव, रोचक, भाव-प्रधान तथा प्रेरणादायक सच्चिादानन्दवत् तत्त्व ही प्रधान रहता है। इस समस्त विवेचन का आशय यह है कि **साहित्यः ज्ञान, विज्ञान, उपयोगिता तथा कला इन समस्त तत्त्वों का समन्वयात्मक रूप होता है और इन सभी तत्त्वों का नियमन 'भाव' द्वारा किया जाता है।** अतः साहित्य या काव्य में 'भाव' की अनिवार्यता रहती है और अन्य तत्त्वों का समावेश वैकल्पिक या गौण रूप में भाव की गरिमा को अधिक उत्कृष्ट बनाने के लिए ही रहता है।

हमें साहित्य को कला मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है, परंतु साहित्य, कला का सच्चिदानन्दवत् 'परा' अर्थात् जीवंत (चेतन) रूप है जो अन्य 'अपरा' अर्थात् जड़ कलाओं से जिनकी संख्या भारतीय मनीषा चौसठ मानती है पूर्णतया भिन्न है तथा अन्य सभी कलाओं में श्रेष्ठतम परमोपयोगी एवं सुन्दरतम है। संक्षेप में **साहित्य काव्य का 'सत्य, शिव और सुन्दर' रूप है जो धर्मार्थकाममोक्षेषु की महान् प्रयोजनीयता का साधक है।**

अन्त में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि विश्व में निर्माण (सृजन) दो ही रुपों में उपलब्ध होता है। 1. ईश्वरीय सृष्टि (जड़+चेतन) जिसे 'प्रकृति' कहते हैं। 2. मानवीय सृष्टि जिसे 'कला' कहते हैं। और यह मानवीय सृजन भी ईश्वरीय सृजन की भाँति अपरा अर्थात् जड़ 'कला' (64 कलाएँ) और परा अर्थात् 'चेतन कला' (काव्य या साहित्य) दोने ही रूपों में दृश्यमान है।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

स्वरूप-विवेचन

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्मजीवेवनापरः' की धारणा ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को असत्य मानती है। ब्रह्म तथा जीव भी एक ही हैं परन्तु जीव पर माया का आवरण होने से वह असतवत् प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में महात्मा तुलसीदास की यह उक्ति द्रष्टव्य है –

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सो मायाबस भयउ गुसाईं। बंध्यौ कीर मरकट की नाईं।।
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परिगई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।।[11]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि आत्मा, परमात्मा का ही अंश है। आत्मा चेतन है। अमल है। सहज आनन्दमूल है। अर्थात सत्-चित् आनन्द स्वरूप है। यही सच्चिदानन्द-रूप आत्मा माया (अज्ञान) के बंधन में बँध गयी है। जीव (चेतन तत्त्व) माया (जड़ तत्त्व) में ऐसा गठबन्धन हो गया है कि उसके छूटने में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है। यही

कारण है कि यह जीव माया के बन्धन में बँधकर संसारी हो गया है और सुखी नहीं हो पाता। महात्मा सूरदास इस सम्बन्ध में कहते हैं –

''अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
महामोह के नूपुर बाजत निंदा सबद रसाल।
तृष्णा नाद करति घट भीतर नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यों लोभ तिलक दियो भाल।

✠ ✠ ✠ ✠

सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल।''[12]

यहाँ भी जीव को माया के बन्धन के कारण दुःख में भ्रमित एवं सुख से वंचित बताया गया है।

महात्मा कबीर दास ने कहा है–

''माया तजूँ तजी नहिं जाई। फिरि-फिरि माया मोहि लपटाई।
माया मारि करै व्यौहार। कहै कबीर मेरे राम अधार॥''[13]

माया या जगत्-तत्त्व भी असत्य है परन्तु वह सत्यवत् प्रतीत होता है।

''अब मैं तोहि जान्यों संसार।
देखत में कमनीय किन्तु नाहिन कछु किये विचार॥''[14]

अर्थात इस संसार की वास्तविकता को सामान्य मनुष्य नहीं पहचान सकता। वह तो अज्ञान के कारण संसार को सत्य, सुन्दर, एवं सुखद मान लेता है परन्तु ज्ञान प्राप्त हो जाने पर संसार की वास्तविकता का पता चल जाता है कि यह जागतिक आकर्षण देखने में ही सुन्दर लगता है परन्तु खोज करने पर इसमें कोई सार दिखाई नहीं देता। कबीरदास ने भी संसार को धोखा कहा है। जिस प्रकार किसी ठग को देखकर और उसकी वास्तविकता को न समझ कर लोग ठगे जाते हैं उसी प्रकार यह संसार भी 'ठगी' का ही बाना है।

''माया महाठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी॥''[15]

महान पुरुषों के इन वाक्यों में 'सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम्' के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। आत्मा सत् अर्थात् सत्य है। आत्मा अमल अर्थात सुन्दर है। आत्मा आनन्दस्वरूप अर्थात शिव है। परन्तु इस 'सत्य' 'सुन्दर' तथा 'शिव' स्वरूपिणी आत्मा को माया के असत् कलेवरने इस प्रकार ढँक दिया है जिस प्रकार बादल सूर्य को ढँक देते हैं। माया बंधित जीव; काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार जन्य ईर्ष्या, द्वेष छल, कपट, पाप, पाखण्ड, हिंसा आदि कुत्सित भावों से आवृत हो जाता है। वह संसार में भ्रमित होता रहता है। अनुकूल वातावरण मिलने पर ही माया के पर्दे को हटाकर आत्मा के 'सत्य, शिव एवं सुन्दर' स्वरूप को पुनः प्राप्त करने के लिए मनुष्य ईश्वराराधन

में लीन होता है। वह ज्ञान-साधना या इष्टाराधन का आलम्बन ग्रहण कर भक्ति एवं वैराग्य का पालन करता हुआ काम, क्रोधादि कुत्सित भावों से मुक्त होकर सत्य, अहिंसा, त्याग, तप, बलिदान, करुणा, क्षमा, परोपकार, दया आदि के उत्तम भावों से युक्त हो जाता है। इस स्थिति में पहुँच जाने पर जीव 'आत्मवत् सर्वभूतेषु, 'वसुधैवकुटुम्बकम्', 'बहुजन हिताय', 'बहुजनरताय' तथा 'सर्वभूतहितेरता' की स्थिति में आकर परमानन्द में लीन हो जाता है। यह दशा एक सच्चे ज्ञानी या 'जीवन-मुक्त' पुरुष की ही होती है जिसे सांसारिक प्रभाव व्याप्त नहीं होता। वह जब आत्मानन्द में लीन हो जाता है तब उसका हृदय ईश्वरीय सौंदर्य एवं ब्रह्मानन्द से भर जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वह ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप 'सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम्' का साक्षात्कार करने में सफल हो जाता है।

सांख्य-दर्शन में संसार के 25 तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। इनमें 24 तत्त्व=प्रकृति; अहंकार बुद्धि, मन, पंचमहाभूत, पंच तन्मात्राएं, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, ये 24 तत्त्व तो जड़ हैं और पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष ही केवल चेतन है।[16] मन तथा बुद्धि जड़ होने के कारण चेतन तत्त्व से भिन्न हैं और 'असत्' हैं यद्यपि साँख्य में इन्हें भी 'सत्' माना गया है[17] परन्तु ये सत् केवल उस रूप में ही हैं जब गुणों की परिधि समाप्त कर ये चेतन में विलीन हो जाते हैं। गुणात्मक रूप तो अवास्तविक होने के कारण असत् ही माना जायेगा। अत: जो सत्य है वही शिव अर्थात उपयोगी है क्योंकि शिवत्व जो लोककल्याण का द्योतक है, उस समय तक विदित नहीं होता जब तक कि व्यष्टि मूलक भाव को त्यागकर प्राणी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मूलक समष्टि की भावना को धारण नहीं कर लेता।

शास्त्र का वचन है कि 'परोपकार ही पुण्य है और परपीड़न ही पाप है।[18] 'परहित के समान कोई दूसरा धर्म नहीं है और परपीड़न के समान कोई पाप नहीं है।[19] अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है।[20] आदि आप्त वाक्य' शिवत्व के ही द्योतक हैं और वह 'शिवत्व' आत्ममूलक 'सत्य' में ही निहित रहता है। 'सत्यमेव जयते' इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ आत्मतत्त्व प्रकाशित है वहीं सत्य है, जहाँ शिवत्व की भावना का विस्तार होता है और 'शिवत्व' ही सर्वग्राह्य होने से सुन्दर है क्योंकि सौंदर्य का एकमात्र आधार ज्ञान है।[21]

मन तथा बुद्धि यद्यपि चेतनवत् प्रतीत होते हैं परन्तु ये 'सत्य-शिव-एवं सौंदर्य के परिपोषक नहीं हैं। मन तो अत्यन्त चंचल होता है।[22] वह इन्द्रियों का स्वामी और विषयों का दास है। ईर्ष्यादि दुष्प्रवृत्तियां भी मन के विकार हैं। अत: यह 'असत्स्वरूपी मन जो 'सत्य' (आत्म-तत्त्व) पर भी आलस्य का पर्दा डाल देता है सत्य नहीं हो सकता। महात्मा तुलसीदास ने मन की इसी प्रवृत्ति का बड़ा ही अनुकूल चित्र प्रस्तुत किया है।

'मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयौ।
या के लिए सुनहु करुणा निधि, मैं जग जनमि जनमि दुःख रोयौ।।
'ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम भगति सुरसरिता आस करै ओस कन की।।'
'जौ निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा।।'[23]

बुद्धि भी यद्यपि जड़ है परन्तु चेतन (पुरुष तत्व) का सर्वाधिक प्रतिबिम्ब उसी पर पड़ता है और वह चेतनवत् आभासित होती है। जिस प्रकार चन्द्रमा में स्वयं का प्रकाश नहीं होता, वह सूर्य के प्रकाश से ही चमकता है और सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा के जितने भाग पर पड़ता है वही भाग-मात्र प्रकाशित होता है, शेष भाग अप्रकाशित ही रहता है। तभी द्वितीया से लेकर पूर्णिमा तक चन्द्रमा के विभिन्न आकार देखने को मिलते हैं। अमावस तथा प्रतिपदा के दिन चन्द्रमा बिल्कुल तिरोहित रहता है क्योंकि इन तिथियों में उस पर सूर्य का प्रकाश बिल्कुल नहीं पड़ता। ठीक यही स्थिति 'बुद्धि-चैतन्य' की है। बुद्धि जितनी निर्मल होगी उतना ही चैतन्य उसमें आभासित होगा। इसके अतिरिक्त बुद्धि पर मनोविकारों (अज्ञान) का जितना पर्दा पड़ा रहेगा उसका उतना ही भाग अप्रकाशित रहेगा। अतः मन एवं बुद्धि जड़ हैं और असत् हैं। असत् होने के कारण ही ये अशिव अर्थात् अनुपयोगी हैं[24] क्योंकि काम, क्रोधादि तथा ईर्ष्या-द्वेषादि कुत्सित भाव मन तथा बुद्धि के ही विकार हैं। असत् एवं अशिव होने के कारण ही मन तथा बुद्धि आदि का सौन्दर्य अवास्तविक है, जिसकी प्रतीति भ्रम से होती है।[25]

आत्मतत्त्व पर पर्दा डालने और प्राणी को दुख का अनुभव कराने का कारण 'रजस्' तथा 'तमस्' नामक गुण हैं। प्राणी में जब तक ये गुण व्याप्त रहते हैं तब तक वह आत्मानुभूति में असमर्थ रहता है। उसका मन ईर्ष्या, द्वेषादि से भरा रहता है। वह निज प्राण पोषण में ही लगा रहता है। अतः वह 'सत्य', 'शिव' तथा 'सौंदर्य' को प्राप्त नहीं करता।

सत्यं शिवं सुन्दरम् तथा काव्य

काव्य का सम्बन्ध 'रस' से है और 'रस' को काव्य की आत्मा माना गया है।[26] 'रस' का स्वरूप भी आत्मतत्त्ववत् – अखण्ड, चिन्मय, आनन्दमय तथा लोकोत्तर होता है।[27] अतः 'रस' काव्य में सत्-तत्त्व (सत्य) के रूप में ही गृहीत है। यही रस चिन्मय होने के कारण सौंदर्य स्वरूपी है। कामायनी की इन पंक्तियों में इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है –

'उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।।'[28]

अर्थात – जो चेतना (आत्मा) का उज्ज्वल (विकाररहित) वरदान (प्रकाश) है उसे ही सब सौंदर्य कहते हैं। चेतना के इसी सौंदर्य युत स्वरूप में मन तथा बुद्धि आदि की अनंत अभिलाषाएँ भी अव्यक्त रूप में बनी रहती हैं। कामायनी में ही चिति-तत्त्व के आनन्द स्वरूप अर्थात 'शिव-तत्त्व' का निरूपण भी इसी प्रकार किया गया है:–

कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त।।[29]

अर्थात विराट्-सत्ता-मूलक चैतन्य (आत्म तत्त्व), इस नाना नाम रूपात्मक जगत-तत्त्व में लीलामय (स्वच्छन्द रूप में) आनन्द (आत्मानन्द) में लीन है परन्तु मायाच्छादित होने के कारण यही चैतन्य सांसारिक-मोह पाश को अभिराम समझकर उसमें ही अनुरक्त दिखाई देता है।

श्री सुमित्रा नन्दन पंत ने सत्यं, शिवं, एवं सुन्दरम् का स्वरूप इन शब्दों में व्यक्त किया है –

'वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव साकार।'[30]

अर्थात-प्रज्ञा (ज्ञान) का जो सत्य-स्वरूप (आत्मानुभव) होता है वहीं रसात्मक अनुभूति के समय (सत्वोद्रेक होने से और रजस् तथा तमस् के तिरोभाव हो जाने से) हृदय में अपरिमित प्रेम (आत्म-प्रेम) का रूप धारण कर लेता है। जब यही विश्वबन्धुत्व का भाव नेत्रों के समक्ष उपस्थित होता है अर्थात् जब ज्ञान-स्वरूपिणी बुद्धि सभी प्राणियों में उसी एक आत्म-तत्त्व का दर्शन करने लगती है तभी वह आत्मानुभूति अलौकिक सौंदर्य का रूप धारण कर लेती है और यही आत्मानुभूति जब लोक सेवा में (वसुधैवकुटुम्बकम्' की धारणा को लेकर) लीन हो जाती है तब शिव अर्थात उपयोगिता रूपिणी बन कर जगत्कल्याण कारिणी बन जाती है।

प्राणी, संसार में जन्म लेता है। प्रारम्भ में उसकी बुद्धि अज्ञानावृत्त रहती है और वह इच्छा (मनोविकार) ज्ञान (आत्मानुभूति) तथा क्रिया (मौलिक प्रभाव) के त्रिगुणात्मक झूले में झूलता रहता है। वह सांसारिक मोह में फँसकर कुछ भिन्न क्रियाएँ करता है। (पाप मूलक कर्म करता है)[31] तब ज्ञान (सद्‌गुणमूलवृत्तियाँ) उससे दूर हो जाती हैं और उसके मन की अनन्त इच्छाएँ पूर्ण नहीं हो पातीं। तब वह दुःख उठाता रहता है। जीवन की यही सबसे बड़ी विडम्बना है। परन्तु जब साधना की अग्नि अपने हृदय में प्रज्ज्वलित करके मनुष्य मोहादि को भस्म कर डालता है तब उसकी आत्मा के ऊपर से 'मन-बुद्धि' विषयक माया का आवरण हट जाता है और उसके मन-बुद्धि आदि तत्त्व आत्म-तेज में विलीन हो जाते हैं।

यही सत्य के साक्षात्कार से उत्पन्न तत्त्व की स्थिति होती है जो आनन्ददायक

होने के कारण सुन्दर भी है।[32]

काव्य भी आत्म-तत्त्व' मूलक 'रस-तत्त्व से परिवेष्ठित होने के कारण आनन्दमूलक होता है परन्तु काव्य का यह आनन्द तब उपलब्ध होता है जब विभावादि के द्वारा सामाजिक के हृदय से रजोगुण तथा तमोगुण का नाश होकर सतोगुण का उद्रेक हो जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि काव्य के पाठक या श्रोता का हृदय सभी कुत्सित भावों, इर्ष्यादि को त्याग कर उत्कृष्टतम भावों अर्थात सहानुभूति, करुणादि से भर जाता है। श्री जयशंकार प्रसाद ने इसी तथ्य का उद्‌घाटन इन शब्दों में किया है –

'नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान।
व्यथा की नीली लहरों बीच,
उमड़ते सुख मणि-गण द्युतिमान॥'[33]

सुन्दर केवल वही होता है जो उपयोगी है। अतः काव्य वहीं सुन्दर है जो गंगा की अमृतमयीधारा के समान सब का हित करने वाला हो।[34] काव्य में उपयोगिता का यह तत्त्व 'रस' के द्वारा ही प्राप्त होता है। प्राचीन काव्य शास्त्रियों ने काव्य में अलंकारों को सौन्दर्य के रूप में ग्रहण किया है।[35] परन्तु अलंकार तो सौदर्य के धर्म हैं, धर्मी नहीं।[36] काव्य का वास्तविक सौन्दर्य तो 'रस' में ही है क्योंकि जिस प्रकार बड़े-बड़े नेत्र भी बिना ज्योति के सुन्दर नहीं लगते, उसी प्रकार काव्य भी बिना रस के सुन्दरता को प्राप्त नहीं कर सकता।[37]

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आत्मा' ही 'सत्य, सुन्दर और शिव' है। काव्य में 'रस' को ही 'आत्मा' माना गया है, अतः काव्य में 'रस' ही सत्य है, उपयोगी (शिव) है, और सर्वग्राहय अर्थात सुन्दर है। जिस प्रकार आत्म-तत्त्व एक सार्वभौम सत्य के रूप में गृहीत है उसी प्रकार काव्य में रस तत्त्व भी सार्वभौम सत्य का द्योतक है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि काव्य में रस ही एक शाश्वत तत्त्व है। वह देश-कालादि की सीमाओं से परे है, अतः काव्य में रस तत्त्व ही ऐसा है जो सर्वग्राह्य होता है। रसोद्रेक की स्थिति में काव्यानुशीलक 'निज-पर-तटस्थ की स्थिति से ऊपर उठकर 'आत्मानन्द' में लीन हो जाता है, वहाँ वह ब्रह्मानन्दवत् (कुछ क्षणों के लिए) रसानन्द का अनुभव करता है। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि आत्मोत्कर्ष उसके (प्रमाता के) समक्ष सौंदर्य का रूप धारण करके उपस्थित हो जाता है। अतः काव्य का सत्य, शिव और सुन्दर (आत्म रूप में मान्य) 'रस' ही है।

श्रेय और प्रेय

यथार्थ तथा आदर्श की भाँति काव्य में श्रेय और प्रेय भी साथ ही साथ विद्यमान रहते हैं। अतः इन दोनों का भी चोली-दामन का साथ है। दोनों ही तत्व उपयोगिता रूपी सिक्के के दो पहलू हैं। श्रेय के बिना प्रेय ग्राह्य नहीं होता और प्रेय के बिना श्रेय

अपनी महत्ता खो बैठता है। 'श्रेय' का तात्पर्य है श्रेयस्कर या कल्याणकारक और 'प्रेय' का तात्पर्य है प्रिय या ग्राह्य। ग्राह्यता का आधार किसी वस्तु विशेष के गुण ही होते हैं। निम्नलिखित उक्ति में इसी बात की पुष्टि की गई है –

गुन के गाहक सहस नर बिनु गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला शब्द सुनें सब कोय।
शब्द सुनें सब कोय कोकिला सबै सुहावन।
दोऊन को एक रंग काग सब भये अपावन।
कह गिरिधर कविराय सुनो हे ठाकुर मने।
बिनु गुन लहै न कोइ सहस नर गाहक गुनक।[38]

अत: गुण और ग्राह्यता श्रेय और प्रेय के ही पर्याय हैं। गुणों से यहाँ तात्पर्य लौकिक गुणों से नहीं है। लौकिक गुणों में व्यष्टि की घुटन विद्यमान रहती है। ईर्ष्या, द्वेष, मोह, ममता, छल, कपट आदि कुत्सित भाव लौकिक गुणों में विद्यमान रहकर उन्हें दूषित एवं अश्रेयस्कर बना देते हैं। ठीक यही स्थिति लौकिक ग्राह्यता की है। जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष उत्पन्न होगा। जब मूल ही अश्रेयस्कर है तो फल भी तदनुरूप ही होगा क्योंकि जो संकीर्ण है वह कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। श्रेय का मूलाधार तो प्राणीमात्र का कल्याण या मंगल भावना ही है। श्रेय की यद्यपि एक सार्वभौम सत्ता होती है परन्तु उसके रूप भी अनेक हैं। मोटे, तौर पर उसके रूपों को निम्नलिखित कोटियों में रखा जा सकता है–

1. **स्वयंभू श्रेय।**
2. **संयोग सम्बन्ध से उदभूत श्रेय।**
3. **समयोचित श्रेय।**
4. **सामंजस्य मूलक श्रेय।**

इन सबका पृथक्-पृथक् विवेचन इस प्रकार है–

1. स्वयंभू श्रेय–श्रेय का सार्वभौम रूप वह होता है जो कभी परिवर्तित नहीं होता और सार्वजनीन होता है। 'परोपकार' को ही लीजिए–

'परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।
पर हित बस जिनके मन माहीं। तिन कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।।'[39]

तथा

'अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वय।
परोपकार: पुण्याय पापाय परपीडनम्।।'

इन उक्तियों में परोपकार के श्रेयस्कर स्वरूप का चित्रण किया गया है। कहावत है कि 'अपना पेट तो कुत्ता भी भर लेता है– मनुष्य वहीं है जो दूसरो का उपकार करता है, इस बात को सभी लोग भली प्रकार जानते हैं कि परोपकारादि ऐसे उत्कर्ष मूलक कार्य हैं जिनके करने में स्वयं ही आनन्द की प्राप्ति होती है।– रहीम ने इसी

ओर संकेत करते हुए कहा है–

'यों रहीम सुख होत है उपकारी के अंग।
बाँटन बारे को लगे ज्यों मेंहदी को रंग।'[40]

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य शरीर धारण करने का एक मात्र फल परोपकार ही है। स्वार्थी को कोई भला नहीं कहता। वह तो निरापशु है। 'यही पशुप्रवृत्ति है कि आप-आप ही चरे।'[41] अतः जो केवल अपना ही पेट पालता है वह कभी ग्राह्य नहीं है। ऐसा व्यक्तित्व समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। इसीलिए पग-पग पर परोपकार करने का सुझाव मनुष्य को दिया जाता है।

'जस करिले देह बिरानी।
या देही पर दूब जमेगी फिर बरसेगा पानी।।'[42]

भारतीय भाव-धारा सदैव लोक-कल्याण के साथ ही बहती रही है। यही कारण है कि भारतीय इतिहास में शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, गौतम-बुद्ध, चाणक्य, महात्मा गांधी आदि ऐसे परोपकारी महान पुरुष हो चुके हैं जिन्होंने लोककल्याण पर अपना सर्वस्व ही निछावर कर दिया था। तभी ये महान् आत्मायें हमारे लिए प्रातः स्मरणीय एवं श्रद्धेय बनी हुई हैं–

इसके विपरीत लोकघाती, हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, दुर्योधनादि का तो कोई नाम भी नहीं लेता।

सत्य, अहिंसा, धर्म और दया भी श्रेय के सार्वभौम रूप हैं और सर्व ग्राह्य या प्रेय हैं। 'सत्यंवद', 'धर्मंचर', 'अहिंसा परमोधर्म' तथा 'दया बिनु सन्त कसाई' आदि आप्तवाक्य इस बात के प्रमाण हैं कि सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, दूसरे जीवों को न सताना तथा दयालु होना ही मानव मात्र का कर्तव्य है। हिंसक, अधर्मी तथा क्रूर व्यक्ति सर्वत्र घृणित दृष्टि से ही देखा जाता है। उसका दर्शन भी अनिष्ट कारक होता है। सत्य, अहिंसा, धर्म और दया का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि एक कार्य है, तो दूसरा उसका कारण। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। यथा–

'दया धरम को मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँडिये जब लगि घट में प्रान।।'[43]

दया कितनी प्रिय वस्तु है। वही मनुष्य का धर्म है। दया को प्राण रहते नहीं छोड़ना चाहिए। सन्तों की इस मान्यता में कितना बल है। ये वाक्य ब्रह्मानन्द का अनुभव कराने वाले हैं। लोक में सुख तथा परलोक में मोक्ष प्राप्ति का आधार हैं। दया तो सत्य और अहिंसा का भी आधार है। जहाँ दया है वहीं अहिंसा (क्रूरता से विरक्ति) है। जो दयालु नहीं है वह कभी अहिंसक नहीं हो सकता। अतः अहिंसा के लिए दया का होना अनिवार्य है। 'सत्य' ज्ञान का पर्याय है। ज्ञान, आत्मा परमात्मा के वास्तविक सम्बन्ध का परिचय है। आत्मज्ञान हो जाने पर मनुष्य वसुधैवकुटुम्बकम्' तथा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की स्थिति में आ जाता है और तब सत् तथा असत् का भेद जान कर वह 'सर्वभूतहितेरता' की

वृत्तिधारण कर लेता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ऐसे महान् पुरुष का हृदय पराये दु:खों को देखकर दया से भर जाता है।[44] यही कारण है कि विश्व समुदाय का प्रत्येक संत-वृत्तिधारी महात्मा अहिंसक और दयालु होता चला आ रहा है।

त्याग तथा बलिदान भी श्रेय का ही रूप हैं। त्याग में जहाँ विराग बसता है वहाँ दूसरी ओर राग या आसक्ति विद्यमान रहती है। महात्मा तुलसीदास ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है–

'जग ते रहु छत्तीस है रामचरन छैतीन।
तुलसी देखि विचारि जिय है यह मतो प्रवीन।।'[45]

इस उक्ति में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संसार से विरक्त होकर रहना और भगवान् के चरणों का सदैव ध्यान रखना ही श्रेयस्कर है। 'दान' भी त्याग और बलिदान का ही पर्याय है। दानवृत्ति स्वत्व का त्याग है और स्वत्व का त्याग-ममत्व का त्याग होता है। ममत्व के त्याग से ही मनुष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति करता है। संसार में त्याग और बलिदान की बड़ी महिमा है।

हमारे देश में एक से एक बढ़कर त्यागी और बलिदानी हुए हैं जिनकी कीर्त्ति का गायन सदैव होता रहा है– कविवर मैथिलीशरण गुप्त ऐसे महात्मा और बलिदानी वीरों का वर्णन इन शब्दों में करते हैं –

क्षुधार्त रन्तिदेव ने दिया करस्थ थाल भी।
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थि जाल भी।
उशीनर: क्षितीश ने स्वमाँस दान भी किया।
सहर्ष वीर कर्ण ने स्वदेह चर्म भी दिया।
यही पशु प्रवृत्ति है कि आप-आप ही चरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।।[46]

त्याग का ही एक रूप कर्मों का त्याग है। लोकव्यवहार में प्राय: यह देखा गया है कि मनुष्य फलेच्छा से ही प्रेरित होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। फलेच्छा से किया गया कर्म मनुष्य को सांसारिक बंधन में बाँधता है। परन्तु फलेच्छा रहित निष्काम भावना से किया गया कर्म मोक्ष और शन्ति का दाता होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसका महात्म्य इन शब्दों में निरूपित है–

'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिनिरनन्तरम्।।'[47]

– अर्थात (चित्त को स्थिर करने के) अभ्यास से ज्ञान श्रेयस्कर है, ज्ञान से परमात्मा का ध्यान श्रेयस्कर है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेयस्कर है क्योंकि कर्मों के फल के त्याग के पश्चात आत्मा को पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है।

अत: सार्वभौम सत्य के रूप में जिस श्रेय को ग्रहण किया जाता है वह स्वयं-सिद्ध लोकोपकारिता में लीन 'भाव' होता है। उसके लिए किसी अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता

नहीं होती। न्याय-शास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्तानुसार जहाँ-जहाँ धूम होगा वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होगी।[48] की प्रक्रिया स्वयंभू श्रेय पर भी लागू होती है।

2. संयोग-सम्बन्ध से उद्भूत श्रेय—श्रेय का दूसरा रूप वह होता है जो कुत्सित भावनाओं के सद्वृत्तियों में परिवर्तन होने से प्राप्त होता है। परन्तु इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए सत्त्वगुणमूलकता का होना आवश्यक है– ऊपर हम न्याय शास्त्र के उस सिद्धान्त का निरूपण कर चुके हैं जिसमें धूम के साथ अग्नि अनिवार्यरूप में स्वत: ही प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि अग्नि से धूम निकलता है न कि धूम से अग्नि। अत: यह सिद्धान्त भी न्याय-शास्त्र में निरूपित किया गया है कि जहाँ अग्नि होगी वहां धूम का होना अनिवार्य नहीं है। यदि वहाँ धूम होगा तो आर्द्रेन्धन संयोग से ही होगा। अर्थात यदि ईधन आर्द्र (गीला) होगा तभी अग्नि के साथ धूम भी अवश्य होगा।[49] ठीक यही स्थिति भावों के परिवर्तन से उद्भूत श्रेय की है। कामादि भावों को कुत्सित एवं गर्हित कहा जाता है क्योंकि ये भाव माया के प्रेरक तथा इन्द्रियों के भोगों के दाता हैं। परन्तु यदि इन भावों को सत्त्वगुण का संयोग सम्बन्ध प्राप्त हो जाय तो ये भी श्रेयस्कर बन जाते हैं। श्री जयशंकर प्रसाद ने इस रहस्य का उद्घाटन करने का प्रयास किया है –

'काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग इच्छा का है परिणाम।
भुलाकर क्यों इसको तुम व्यर्थ बनाते हो दु:खमय भवधाम।।'[50]

– अर्थात् मंगल से मंडित (लोककल्याण की भावना से युक्त) काम (गृहस्थाश्रम) श्रेयस्कर होता है। संसार का विकास तो केवल इच्छा करने पर ही होता है। अत: स्त्री और पुरुष का साथ रहना तो उत्तम है परन्तु काम-भावना को सीमित रखकर लोक-कल्याणमूलक कार्यों में निरत रहना ही श्रेयस्कर है। अरण्य में रहकर ज्ञान-विज्ञान की साधना करने वाले ऋषि-दम्पतियों के चरित्र में इस श्रेयस्कर तत्त्व का प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है। यह तो मानना पड़ेगा कि काम, एक कुत्सित भाव है; परन्तु कब? जबकि वह लोक मंगल की भावना से रहित हो। परन्तु जब काम-वृत्ति का पालन (गृहस्थाश्रम का निर्वाह) लोक मंगलकारी सिद्ध होता है तो वह अवश्य ही श्रेयस्कर होता है। इसीलिए कामजन्य प्रभाव से उत्पन्न महान् पुरुषों की उत्पत्ति श्रेयस्कर मानी जाती है। रहीम ने इसी तथ्य को निम्नलिखित दोहे में स्पष्ट किया है–

'सुरतिय नरतिय नागतिय सह मनसिज सबकोय।
गोद लिये हुलसी फिरै तुलसी सौ सुत होय।।'

राजस्थानी का निम्नलिखित दोहा भी इसी तथ्य को व्यक्त करता है–

'माई एहड़ा पूत जण जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सोवत ऊझकै जांण सिराणे साँप।।'

अर्थात् हे माता! तू ऐसे ही पुत्र को जन्म दे जैसा कि (मेवाड़ नरेश) महाराणा प्रताप था जिसको सिरहाने का सांप (अत्यन्त घातक शत्रु) समझकर बादशाह अकबर

सोते-सोते डर जाया करता था।

क्रोध भी काम की ही भांति कुत्सित भाव माना जाता है क्योंकि वह पाप की जड़ होता है और मनुष्य समस्त अनुचित कार्य उसी की प्रेरणा से करता है।[51] यह क्रोध का लौकिक रूप ही है जो रजस् और तमस् की भावना से अभिभूत होता है। क्रोध का सत्व समन्वित रूप जिसमें रजस्-तमस् के प्रभाव से उत्पन्न स्वहित का तिरोभाव हो जाने से व्यक्तिगत स्वार्थ की संकीर्ण-परिधि को लाँघकर लोक-मंगल की सीमा में प्रवेश कर जाने वाला क्रोध अवश्य ही श्रेयस्कर होता है। इसी कारण से 'क्रौंच के वध पर वाल्मीकि मुनि के करुणा-क्रोध का सौन्दर्य एक महाकाव्य का सौंदर्य हुआ। उक्त सौंदर्य का कारण है निर्विशेष्यता। वाल्मीकि के क्रोध के भीतर प्राणीमात्र के दु:ख की सहानुभूति छिपी है– राम के क्रोध के भीतर सम्पूर्ण लोक के दु:ख का क्षोभ समाया हुआ है। क्षमा जहाँ से श्री हत हो जाती है, वहीं से क्रोध के सौन्दर्य का आरम्भ होता है। शिशुपाल की बहुत-सी बुराइयों को सहन करते-करते जब श्री कृष्ण की क्षमा पराकाष्ठा तक पहुँच गई तब जाकर उसका लौकिक लावण्य फीका पड़ने लगा और क्रोध की समीचीनता का सूत्रपात हुआ। अपने ही दु:ख पर उत्पन्न क्रोध तो प्राय: समीचीनता ही तक रह जाता है, सौंदर्य दशा तक नहीं पहुंचता। दूसरे के दु:ख पर उत्पन्न क्रोध में या तो हमें तत्काल क्षमा का अवसर या अधिकार ही नहीं रहता अथवा वह अपना प्रमाण खो चुकी रहती है।[52]

लोभ भी जब लोकमंगल की कामना से उत्प्रेरित हो जाता है तो श्रेय का रूप धारण कर लेता है। महात्मा तुलसीदास ने भी अपनी अनन्यता का प्रमाणपत्र लोभ को साक्षी बनाकर ही दिया है।

'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभी कहँ प्रिय दाम।
अस रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।।'[53]

यहाँ महात्मा तुलसीदास द्वारा श्री राम के प्रेम को प्राप्त करने के लोभ का ही प्रदर्शन है जिसे वे संवरण नहीं करना चाहते। लोभ, चित्त की एकाग्रता तथा संरक्षण की दृढ़ता का प्रतीक है। लोभियों के भी अनेक प्रकार होते हैं जैसे- रूप-लोभी, धन-लोभी, ज्ञान-लोभी, मान-लोभी आदि। इन सभी लोभियों में एक ही जैसी हठीली प्रवृत्ति देखने को मिलती है। कोई लोभी अपना हठ नहीं छोड़ता चाहे उसके प्राण चले जाएँ। प्राण देने वाले ये लोभी संसार के सामने व्रत्त-पालन का एक महान् उदाहरण स्थापित कर जाते हैं, जिससे संसार को सतत् प्रेरणा मिलती रहती है। इस प्रवृत्ति के परिचायक अनेक लोभियों ने संसार में अपना नाम भी ऊँचा कर रक्खा है। जैसे-दीपक और पतंग, चन्द्रमा और चातक, जल और मीन, स्वाति और सीप आदि। लोभ की यह प्रवृत्ति जड़-चेतन में सर्वत्र व्याप्त दिखाई देती है। लोभ का यही रूप प्रेम कहलाता है और यह रूप श्लाघनीय और श्रेयस्कर है। इसी प्रकार मोह, घृणा तथा अहं आदि के कुत्सित समझे जाने वाले भाव भी जब रजस् तथा तमस् के प्रभाव से मुक्त होकर

सत्वमूलक बन जाते हैं तब श्रेय का रूप धारण कर लेते हैं। लोक मंगल की भावना के संसर्ग से कुत्सित एवं गर्हित भी ग्राह्य हो जाते हैं क्योंकि उनके कार्य 'बहुजन हिताय' तथा 'बहुजनरताय' होते हैं। महर्षि बाल्मीकि, काकभुशुण्डि, गरुड़, तथा जटायु आदि इस के ज्वलंत उदाहरण हैं।

लोक-जीवन में संयोग-सम्बन्ध से उद्भूत श्रेय के अनेक उदाहरण लोकोक्तियों के रुप में प्रचलित हैं– यथा 'विषस्यविसमौषधिम्', कांटे से ही कांटा निकलता है, लोहे को लोहा ही काटता है आदि-आदि।

3. समयोचित श्रेय–संसार में कुछ बातें समय सापेक्ष होती हैं। अत: उनकी ग्राह्यता के लिए अवसरानुकूलता आवश्यक है। उदाहरणार्थ –

नीकी पै फीकी लगै बिनु अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में रस सिंगार न सुहात॥

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भी इसी ओर इंगित किया है –

'एक समय जो ग्राह्य दूसरे समय त्याज्य होता है।
ऊष्मा में हिम के कम्बल का भार कौन ढोता है॥'[54]

विचारकर कार्य करने की प्रवृत्ति भी अवसरानुकूलता की द्योतक है। जो लोग खूब सोच-समझ कर कार्य करते हैं वे सदैव सुख का अनुभव करते हैं और जो बिना बिचारे ही जल्दबाजी में कार्य कर डालता है वह ऐसे पछताता है जैसे एक बंजारा अपने कुत्ते को मार कर पछताया था।[55]

4. सामंजस्य मूलक श्रेय–जब कुछ विरोधी तत्वों में सामजस्य हो जाता है तो वह श्रेयस्कर माना जाता है। दो या दो से अधिक विरोधी पक्षों में संधि का होना भी सामंजस्य का ही प्रतीक है। संभवतया महात्मा तुलसीदास ने अपनी इसी भावना की तुष्टि के लिए समन्वयवादी भक्ति-भावना का साम-गान किया है।[56] प्रसाद जी ने इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण को लेकर आनन्दवाद के एक नये रूप 'समरसता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि –

'नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान।
व्यथा की नीली लहरोंबीच,
उमड़ते सुख मणिगण द्युतिमान॥'[57]

प्रसाद जी के इस दृष्टिकोण में श्रेय का समन्वयवादी रूप ही परिलक्षित होता है। संसार में विरोधी परिस्थितियों से समझौता कर लेना ही 'समरसता' है। 'समरसता' की प्राप्ति मन और बुद्धि पर नियंत्रण करने तथा अहं का त्याग करने पर ही हो सकती है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी तत्व का निरूपण इस प्रकार किया है–

'सम: शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो:।
शीतोष्णसुखदु:खेषु सम: संगविवर्जित:॥

तुल्यनिन्दास्तुतिमोनी संतुष्टो येन केन चित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥'[58]

महात्मा तुलसीदास भी इसी प्रवृत्ति की याचना भगवान से करते हैं–

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
यथा लाभ संतोष सदा काहूसौं कछु न चहौंगो॥
परहित निरत निरन्तर मन-क्रम-वचन-नेम निबहौंगो।
परुष वचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोस कहौंगो।
तुलसीदास कब यहि थिति रह अविचल हरि भक्ति लहौंगो।।[59]

– अर्थात जो शत्रु-मित्र तथा मान-अपमान को समान समझता है। शीत-उष्ण तथा सुख-दुखदि भी जिसके लिए समान हैं। निंदा तथा स्तुति करने वालों में भी जो समान भाव रखता है। जो मितभाषी तथा यथा लाभ संतोषी है। जो गृहासक्ति से परे और स्थिर बुद्धि वाला है वहीं मुझे (भगवान को) सबसे अधिक प्रिय है।

महात्मा कबीर दास ने भी समन्वय की भावना का प्रदर्शन किया है–

'कबिरा खड़ा बजार में सब की माँगे खैर।
ना काहू सों दोसती ना काहू सों बैर।।'[60]

समरसता का भाव रखने वाला आत्म-दर्शी एवं ज्ञानी माना जाता है। वह ऊँच-नीच की भावना से मुक्त रहता है। उसके लिये 'विद्या तथा विनय से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल ये समान हैं।'[61] श्रेय का यह रूप अधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी माना जाता है।

यद्यपि श्रेय के रूप अनेक हैं परन्तु सबका मूल लोक-कल्याण ही है।

प्रेय–श्रेय के स्वरूप एवं प्रकारादि का विवेचन करने के पश्चात् प्रेय का निरूपण करना भी आवश्यक है। यह तो ऊपर कहा जा चुका है कि जो श्रेय होगा वह प्रेय अवश्य होगा। बिना श्रेय के प्रेय का होना असम्भव है। श्रेय का तात्पर्य है उपयोगी तत्त्व। उपयोगिता सदा ग्राह्य होती है। यह ग्राह्यता ही प्रेय है। अतः जो अश्रेय (अनपयोगी) होगा वह कभी प्रेय (ग्राह्य) नहीं होगा। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा में **'गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको'** कह कर इस तथ्य की पुष्टि की है। श्रेय की प्रेयता का प्रदर्शन इन पंक्तियों में भी देखा जा सकता है–

'राधा-माधव शब्द यही अनमोल उठे।
माधव भी तब राधा-राधा बोल उठे।।'[62]

यह एक सर्व सम्मत मत है कि अश्रेयस्कर वस्तु एवं व्यक्ति सर्वथा त्याज्य होते हैं चाहे उनसे त्यागने वाले का कितना ही गहरा सम्बन्ध हो। निम्नलिखित उदाहरण से यह तथ्य स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगा।

'जाके प्रिय न राम वैदेही।
छांडिय ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।।
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यौ कंत ब्रज ण्वबनितन भयो मुदमंगलकारी।।'

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रेय और प्रेय का चोली दामन का साथ है। दोनों एक ही सिक्के (लोक कल्याण) के दो पक्ष हैं। इन्हें-

''गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न''

के रुप में जाना जाना चाहिए। प्रेय के लिए श्रेय का होना अनिवार्य है। यह अन्वय व्यतिरेकी भाव से प्रमाणित किया जा सकता है।[63] अर्थात् जहाँ श्रेय होगा वहाँ प्रेय अवश्य होगा और इनके मूल में लोकजीवन से सम्बद्ध सत्य होगा।

आदर्श और यथार्थ

आदर्श एवं यथार्थ काव्य के महत्त्वपूर्ण गुण हैं परन्तु प्राचीन काल में काव्य को केवल आदर्शोन्मुख माना जाने के कारण यथार्थ की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया। भारतीय काव्य में यथार्थ पर आधारित भौतिकवाद को कभी महत्त्व नहीं मिला। उसे तो भारतीय मनीषा सदैव अनुपयोगी एवं हानिप्रद मानती रही है क्योंकि भौतिक यथार्थ में काव्य के मूल तत्वों जैसे-मार्मिकता, गंभीरता, सप्राणता, रोचकता, प्रेरणादायकता, शिक्षा, नीति आदि का तिरोभाव सा ही रहता है। यही कारण है कि असत्य पर आधारित सामान्य यथार्थ भारतीय काव्य में समहित न हो सका।

काव्य, जनसामान्य के मानसिक स्वास्थ्य का साधन होता है और काव्य-सामग्री समाज के मन को स्वस्थ एवं उत्फुल्ल रखने वाली औषधिवत् मानी जाती है। यही कारण है कि काव्यरूप औषधि समाजोपयोगी होती है जिसका मूलाधार आदर्श ही है, यथार्थ नहीं।

परन्तु साहित्य में 'यथार्थ' शब्द का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है, यह अंग्रेजी साहित्य के 'रियलिज्म' शब्द के तौल पर गढ़ लिया गया है। यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के द्वारा चित्रित रंगों से अनुरंजित करना और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिए उसे काट-छाँटकर उपस्थित करना। यूरोपियन साहित्य में 'रियलिज्म' का व्यवहार 'रोमेण्टिसिज्म' (स्वच्छन्दतावाद) और 'आईडियलिज्म' (आदर्शवाद) के विरुद्ध अर्थ में हुआ है।[64]

आदर्श का अपना एक विशिष्ट महत्व है क्योंकि 'आदर्श' हमारी दृष्टि की मलिन संकीर्णता धोकर उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को, मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खण्डित भावना को, अखण्ड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है।'[65]

प्राय: आधुनिक आलोचक और लेखक 'आदर्श की अपेक्षा 'यथार्थ' के चित्रण को सहज मानते हैं परन्तु 'यथार्थ' का काव्यगत चित्रण सहज होता है, यह धारणा भ्रान्तिमूलक ही प्रमाणित होगी। वास्तव में यथार्थ के चितेरे को अपनी अनुभूतियों के हल्के-से-हल्के और गहरे-से-गहरे रंगों के प्रयोग में बहुत सावधान रहना पड़ता है क्योंकि उसका चित्र आदर्श के समान न अस्पष्ट होकर अग्राह्य हो सकता है, और न व्यक्तिगत भावना में बहुरंगी। वह प्रकृत न होने पर विकृत के अनेक रूप रूपान्तरों में से किसी एक में प्रतिष्ठित होगा ही। यथार्थ की कविता को जीवन के उस स्तर पर रहना पड़ता है जहाँ से वह हमें जीवन के भिन्नवर्णी चित्र ही नहीं देती, प्रत्युत उनमें व्यक्त जीवन के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक संवेदना भी देती है। घृणित कुत्सित के पास हमारी करुण संवेदना की प्रगति और क्रूर कठोर के विरूद्ध हमारी कोमल भावना की जागृति, यथार्थ का ही वरदान है। परन्तु अपनी विकृति में यथार्थवाद ने हमें क्या दिया है। इसे जानने के लिए हम अपने नैतिक पतन के नग्न रूप पर आश्रित साहित्य को देख सकते हैं?'[66]

यथार्थ तो यह है कि 'पाप का पर्यवसान दु:ख में होना चाहिए और पुण्य की परिणिति सुख में। यदि जीवन में सामान्यत: ऐसा नहीं होता है तो कम-से कम साहित्य में ऐसा होना चाहिए।............... यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि जीवन की बहुत सी मार्मिक घटनाएँ भी हमारे चित्त पर उतना प्रभाव नहीं डाल सकतीं जितना वे ही घटनाएँ काव्य या साहित्य के माध्यम से हमारे चित्त पर डालती हैं।......... अपने स्वार्थ या सुख दु:ख की वैयक्तिक परिधि से बाहर जाने पर ही अहंकार का तिरोभाव होता है। जब तक अहं की सत्ता वर्त्तमान रहती है तब तक रसानुभूति के लिए अनुकूल मुक्तदशा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मुक्तदशा में हमारी वैयक्तिक सत्ता अपने अंह को लेकर डूब जाती है। हृदय एकान्त रूप से स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। यही अवस्था सत्वोद्रेक की है जिससे रस दशा लाई जाती है।'[67]

काव्य का यही यथार्थ है और यही आदर्श क्योंकि यथार्थ का मूल है।–'सत्य' और 'सत्य' के ग्रहण का परिणाम होता है 'आनन्द', 'आनन्द' का मूल है 'रस' और रस का कारण है साधारणीकरण, जो गुणों की आदर्शोन्मुख स्थिति होती है। यही साधारणीकरण 'यथार्थ और आदर्श' का पोषक होता है, जिसके द्वारा 'सदसद्' की सही विवक्षा करना सम्भव होता है।

'आदर्शवाद भारतीय जीवन के सदा अनुकूल रहा है।....... व्यक्ति-कल्याण, समाज-कल्याण, विश्व-कल्याण ही भारतीय साहित्य का मूल मंत्र है।'[68] यही कारण है कि भारतीय 'आदर्शवादी साहित्य प्रतीति के मार्ग से हमें बुरे भावों से विरत कर सद्‌भावों की और प्रेरित करता है।'[69]

आदर्श और यथार्थ परस्पर एक होते हुए भी उनमें बाह्य दृष्टि से भेद दिखाई देता है। 'किन्तु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का जो अव्यक्त तथा

विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है,– सूक्ष्म-स्थूल रूप या बिम्ब-प्रतिबिम्ब मान लें तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है और आदर्श तथा वस्तुवादी, अपनी-अपनी उपयोगिता तथा सीमाओं को मानते हुए, विश्व-कर्म में परस्पर सहायक की तरह हाथ बँटा सकते हैं। विनय, आत्म-त्याग, सच्चाई, सहानुभूति, अहिंसा आदि व्यावहारिक आदर्शों को अपनाकर-जो मनुष्यत्व की परिचायक, सनातन सामाजिक विभूतियाँ हैं– दोनों शिविरों को संयुक्त कर्म, भू-निर्माण के कार्य को अधिक परिपूर्ण रूप से आगे बढ़ा सकता है।'[70]

यथार्थवादी साहित्य का भवन दु:खवाद की भित्तियों पर खड़ा हुआ है क्योंकि 'वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दिशा में प्राय: सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दु:ख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामजिक रूढ़ियाँ हैं। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है।'[71]

अपने को यथार्थवादी मानने वाले समीक्षकों, लेखकों और कवियों की धारणा है कि भारतीय साहित्य में यथार्थवाद का आरम्भ समाज की प्राचीन रूढ़ियों, संकीर्णभावनाओं तथा आर्थिक विषमताओं के कारण हुआ है। अत: यथार्थवाद पर आधारित साहित्य प्रगतिशीलता का द्योतक माना जाता है। 'कुछ लोगों का विचार है कि प्रगतिशील साहित्य बदलती हुई परिस्थतियों का चित्रण करता है, इसलिए वह स्थायी साहित्य नहीं हो सकता। अगर उसे स्थायी बनाना है तो उसमें ऐसे सत्य का चित्रण होना चाहिये जो इन बदलती हुई परिस्थितियों में बँधा हुआ न हो, यानी जो शाश्वत हो।'[72] शाश्वत सत्य का दावा करने वाले यह भी कहते हैं कि जो प्राचीन साहित्य अमर है, वह शाश्वत सत्य का चित्रण करने से ही अमर हो सका है। इसलिए बदलती हुई परिस्थितियों के चित्रण से बचना चाहिए। जो लोग इन परिस्थितियों को बदलने के लिए साहित्य लिखते हैं, वह उसे प्रचार का माध्यम बना देते हैं। साहित्य साध्य न होकर साधन बन जाता है।

इसका आशय यह है कि आधुनिक आलोचक न तो यथार्थ का ही वास्तविक अर्थ समझता है और न आदर्श का। उसके लिए भूतवाद पर आधारित अयथार्थ ही यथार्थ है और मनोविज्ञान पर आधारित अनादर्श ही आदर्श। उसके लिए 'शाश्वत' और 'प्रगतिशीलता' जैसे लोकोपयोगी शब्द भी मात्र उपहास एवं खिलवाड़ के साधन हैं। यही कारण है कि हमारा स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य पाश्चात्य भूतवादियों का अनुकरण करता हुआ यथार्थ के गढ़े में ऐसा गिर गया है कि उसका सम्हलना दुर्लभ है।

हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद का ऐसा कुहराम सा मचा हुआ है कि आधुनिक युग का आलोचक-समुदाय आदर्श का विरोधी और यथार्थ का पक्षपाती

बना हुआ है। वास्तविक रूप में उसे यह भी ज्ञात नहीं है कि यथार्थ और आदर्श में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है। जो विरोध बताया जाता है वह केवल आरोपित ही है, वास्तविक नहीं। इस भेद-बुद्धि का कारण पाश्चात्य दृष्टिकोण है जिसमें वस्तु के स्थूल वर्णन को ही महत्व दिया जाता है और उसके सूक्ष्मतम पक्ष का निरूपण करने में साहित्यकार दूर भागना चाहता है। कल्पनादि का प्रयोग मानो उसे काटने को दौड़ता है। वह ठीकरी से लेकर पर्वत-खण्ड तक का जैसा है वैसा ही वर्णन अपेक्षित मानता है, परन्तु यथार्थ का यह आशय कदापि नहीं है। हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद का बोलबाला आदि काल से ही रहा है। भक्तिकाल में तो यथार्थवाद अपनी चरम सीमा पर ही पहुँच गया था। महात्मा कबीरदास तथा अन्य संत कवियों ने बड़ी निर्भीकता के साथ यथातथ्य चित्रण किया है। सूरसागर में आदि से अंत तक यथार्थ का ही निरूपण है। महात्मा तुलसीदास ने रामचरितमानस तथा अन्य सभी ग्रंथों में शुद्ध यथार्थ का ही प्रयोग किया है। कवि केशवदास की 'रामचन्द्रिका' यथार्थ का प्रत्यक्ष उदाहरण है। श्री मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती आदि ग्रंथों में यथार्थ ही यथार्थ है। कहाँ तक कहें आधुनिक कविता में भी समस्त सुधारवादी स्वर यथार्थ का ही राग आलापते दिखाई देते हैं। प्रेमचन्द आदि का भी 'यथार्थ' वह 'यथार्थ नहीं है, जो गृद्धों और कौवों के वर्णन में अपनाया गया है।

आदर्श क्या है? इसको भी यथार्थ के ही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। लेखक या कवि समय की माँग होता है।वह अपनी सूक्ष्म तत्त्व-दर्शिनी प्रतिभा से अपने समसामयिक समाज की निरख-परख करता है और विगत परम्पराओं से उसकी तुलना करता है। यदि उसे वर्तमान परम्पराएँ विगत सुष्ठु परम्पराओं को तोड़कर दूषित एंव कुत्सित तत्वों का सृजन करती हुई परिलक्षित होती हैं तो वह दु:खी होता है और यदि वर्तमान परम्पराएँ विगत दूषित परम्पराओं को त्याग कर नवीन स्वस्थ परम्पराओं के निर्माण में दत्तचित्त हैं तो लेखक का हृदय मारे आह्लाद के बल्लियों उछलने लगता है। दोनों ही परिस्थितियों में वह पहले यथार्थ का चित्रण करता है और फिर आदर्श का। इस प्रकार वह सदसद् परिणाम की ओर इंगित करते हुए दूषित स्थिति को त्याग कर उत्तम स्थिति में आने की प्रेरणा देता है और उत्तम परम्पराओं का पालन करने वालों की प्रशंसा करके उन परम्पराओं पर दृढ़ रहने का आग्रह करता है। संपूर्ण भारतीय साहित्य मे यही स्थिति अवगत होती है जो यथार्थ पर आधारित आदर्श की शंखध्वनि करती चली आ रही है। आदिकाल से आधुनिक युग तक के सभी प्रमुख कवियों और लेखकों ने यथार्थ का चित्रण करते हुए बुराइयों से बचने और भलाइयों को बनाये रखने की जो प्रेरणा दी है, यही आदर्शवाद है। इस पुनीत कार्य के संपादनार्थ इन कवियों और लेखकों ने भारत के प्राचीन गौरवपूर्ण युग के उन सभी महान् चरित्रों और चित्रों को अपनाया है जिनमें 'आदर्श' कूट-कूट कर भरा हुआ है।

यथार्थ के सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि यथार्थ कहना कोई सरल बात

नहीं है। यथार्थ का निरूपण करने के लिए बड़े साहस और शक्ति की आवश्यकता है। कितने ही यथार्थ वक्ताओं को उनकी यथार्थवादिता के लिए घोर यातनाएँ दी जाती रही हैं। कबीर को इसी यथार्थ के कारण हाथ-पैर बाँधकर जल में डाल दिया गया था। मीरा को यथार्थवादिनी होने के कारण ही विषपान करना पड़ा था। 'गंग' कवि को इसी कारण हाथी के नीचे कुचलवा कर मरवा डाला था। घनानन्द को यथार्थवादिता के अपराध में दिल्ली से निकाल दिया था। यही नहीं राष्ट्रीय आन्दोलन के समय यथार्थवादी अनेक साहित्यकारों को गंभीर जेल यातनाएँ सहन करनी पड़ी थीं। परन्तु अपार कष्ट सहन करके भी इन गण्यमान साहसी साहित्यकारों ने यथार्थ का निरूपण किया और आदर्श का पाठ समाज को पढ़ाया।

इस समस्त विवेचन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि यथार्थवाद और आदर्शवाद का सच्चा स्वरूप यही है कि साहित्यकार बिना किसी भय के सत्य का उद्घाटन करे और सत्य के मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं को हटाकर भलाई की स्थापना करने की प्रेरणा समाज को दे। दूसरे शब्दों में 'कथनी' और 'करनी' के सामंजस्य को सदा स्थिर रखते हुए उन्हीं के अन्तराल में स्थित यथार्थ के बीज से आदर्श की विशाल वट-राशि को विवर्द्धित करे ताकि समाज उसकी शीतल छाया में बैठकर भवश्रम-मूलक क्लान्तियों का निवारण कर सके।

उपर्युक्त समस्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि 'यथार्थ' और 'आदर्श' दोनों ही साहित्य के परम उपयोगी तत्त्व हैं, और ये जहाँ भी आते हैं, जोड़ा बनाकर ही उद्भूत होते हैं। सारस के जोड़े के समान इनका पारस्परिक विछोह इनके मूल तत्वों के विनाश का ही कारण बन जाता है। यथार्थ 'सत्' है तो आदर्श भी 'सत्' है। यदि यथार्थ को हम 'असत्' रूप में ग्रहण करेंगे तो आदर्श भी 'असत्' हो जाएगा। बिना यथार्थ के आदर्श को जगाया नहीं जा सकता और बिना आदर्श के यथार्थ अनुपयोगी सिद्ध होता है। जिस प्रकार महात्मा तुलसीदास ने 'ज्ञान समन्वित भक्ति' को ही वास्तविक भक्ति माना है उसी प्रकार यथार्थ समन्वित आदर्शवाद ही वास्तविक आदर्शवाद है। निराधार आदर्श की कल्पना करना बालू पर दीवार खड़ी करने के समान है। कोरा आदर्श कभी उपयोगी नहीं हो सकता। वह तो मात्र ढोंग का पक्षपाती है।

साहित्य में निरूपित सार्वभौम सत्य ही यथार्थ की जड़ है। सदाचार उसका तना है। आदर्श सुंगधित पुष्प है और आत्मानन्द उसका फल है। यही काव्य की आत्मा अर्थात् 'रस' है।

टिप्पणियां

1. ऋग्वेद 9, 63, 13,
2. तैत्तिरेय उपनिषद् 11/7.1

3-4. निरुक्त 3.13

5-6. बालकाण्ड 2.91, 2/40/7

7-8. काव्य के रूप पृ॰ 2, 3

9. The Making of literature by Sccot James- P.22

10. फंइड्स - प्लेटो।

11. रामचरित मानस - उत्तरकाण्ड

12. सूरसागर (विनय प्रसंग)

13. कबीर ग्रंथावली-पद संख्या 84

14. विनय पत्रिका

15. कबीर ग्रंथावली

16. **'मूल प्रकृति विकृति महदोद्याः प्रकृतिः विकृतयः सप्त।**
षोडशस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥'
(साँख्य-कारिका-3)

– अर्थात सांख्य मत में 25 तत्त्व माने गये हैं। ये चार वर्गों में विभक्त होते हैं। 1. प्रकृति (केवल कारण रूप अव्यक्त) 2. प्रकृति विकृति उभय रूप (कार्य-कारण रूप व्यक्त) ये सात हैं - महत्तत्त्व (बुद्धि), अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्राएँ अर्थात रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। 3. केवल विकृति रूप (कार्य रूप)। ये 16 हैं- 11 इन्द्रियाँ (1 मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पञ्च कर्मेन्दियाँ) 4. पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश तथा अग्नि)। प्रकृति तथा विकृति (कारण-कार्य) से रहित पुरुष तत्त्व।

पुरुष तत्त्व का लक्षण इस प्रकार है :–

'त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥' (सांख्य कारिका-11)

- अर्थात ये अव्यक्त (प्रधान) तथा व्यक्त बुद्धयादि 23 तत्त्व (कुल मिलाकर 24 तत्त्व) त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्, रज्, तम् मूलक होने के कारण अविवेकि अर्थात् वेश्या के समान सब में समान रूप से भोग-योग्यता रखने वाले, तथा प्रसवधर्मि- अर्थात्- उत्पत्ति कारक (कार्य-कारण रूप) हैं। पुरुष तत्त्व (आत्म-तत्त्व) ठीक उपर्युक्त का वैषम्य-मूलक तत्त्व है अर्थात् व्यक्त तथा अव्यक्त त्रिगुण हैं और पुरुष निर्गुण है। ये व्यक्ताव्यक्त अविवेकी हैं तो पुरुष विवेकी है। इसी प्रकार पुरुष अविषय, असाधारण चेतन तथा अप्रसवधर्मी है।

2. **असद करणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।**
शक्तस्य शक्यकरणात् कारण भावाच्च सत्कार्यम्॥
(साँख्यकारिका-9)

– अर्थात् ये महदादि कार्य सांख्यमत में सत् हैं। अर्थात कारण व्यापार के

पहले भी उसकी अव्यक्त रूप से सत्ता है क्योंकि जो मूल रूप से ही असत् होगा तो वह कभी भी सत् नहीं हो सकता। यहाँ यह मानना तो उचित हैं कि महदादि तत्त्व मूल रूप में (अव्यक्त-आत्म रूप) में तो सत् हैं परन्तु व्यक्त (जड़) रूप में 'सत्' नहीं हैं। इसलिए तो महात्मा तुलसीदास ने कहा है –

'कोऊ कह सत्य, झूठ कह कोऊ कोऊ उभय करि मानें।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुहि पहिचानें।।

(विनय-पत्रिका)

17. 'अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वय।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्।।'

18. परहित सरिस धरम नहि भाई। परपीड़ासम नहिं अधमाई।।
परहित बस जिनके मन माहीं। तिन कहँ जगदुर्लभ कछु नाहीं।।

(तुलसीदास, रामचरित मानस)

19. अहिंसा परमो धर्म।

20. 'सूरति ज्ञान सों कीरति दान सों प्रीति बढ़ी सनमान महा सौं। (भूषण)

21. ''चञ्चलंहि मनः कृष्ण प्रमार्थिबलवद्दृढ्म्।
तस्याहं निग्रह मन्यं वायोरिव सुदुष्करम्।।'' (गीता 6-34)

22. विनय पत्रिका

23. 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय'
'फैली अलकें ज्यों तर्क जाल' (कामायनी इड़ा सर्ग)

24. 'जग नभवाटिका रही है फल फूलिरे,
धूँआ के से धौरहर देखि मति भूलि रे।' (वि॰ प॰)

25. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (साहित्य दर्पण)

26. देखिए डा॰ नगेन्द्र कृत 'रस सिद्धान्त में' रस का स्वरूप, पृष्ठ-87-88
(विश्वनाथ का मत)

27-28. कामायनी (लज्जा सर्ग)

29. आधुनिक कवि (पृष्ठ 39)

30. ज्ञानदूर कुछ क्रिया भिन्न हैं।
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सकें।
यह विडम्बना है जीवन की।। (कामायनी रहस्य सर्ग)

31. स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में,

श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।। (कामायनी रहस्य सर्ग)

32. कामायनी (श्रद्धा सर्ग) ....

33. कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।। (तुलसीदास)

34. सौंदर्यमलंकारम् (वामन)

35. "काव्यशोभाकरान्धर्मालंकारान् प्रचक्षते।" (दण्डी)

36. "ज्यों बिनुदीठि न शोभिजै लोचन लोल बिसाल।
तैसेई 'केशव' सकल कवि बिनु बानी न रसाल।।" *(रसिक प्रिया)*

37. गिरिधर की कुंडलिया।

38. महात्मा तुलसीदास (रामचरितमानस बाल काण्ड)

39. रहीम ग्रन्थावली॰ ....

40. भारतभारती, मैथिलीशरण गुप्त

41. स्फुट।

42. स्फुट।

43. अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछा मुनिहि लागि अति दाया।।
निसिचर निकर सकल मुनि खावा। सुनि रघुवीर नयन जल छावा।।

44. तुलसी सतसई।

45. भारतभारती।

46. श्रीमद् भगवद्गीता- अध्याय 12 श्लोक सं॰ 12

47. 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र बह्नि।' (तर्कभाषा प्रामाण्यवाद)

48. 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र बह्नि।' (तर्कभाषा प्रामाण्यवाद)

49. कामायनी - श्रद्धासर्ग।

50. क्रोध न कीजै भूलिहू क्रोध पापकर मूल।
जेहि वश जन अनुचित करहिं होइ विश्व प्रतिकूल।।'

51. पं॰ रामचन्द्र शुक्ल (चिन्तामणि 1, पृ॰ 137)

52. रामचरितमानस -7-130 ख।

53. पञ्चवटी।

54. बंजारे की कथा।

55. विनयपत्रिका - स्तोत्र भाग।

56. कामायनी - श्रद्धा सर्ग।

57. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 12, श्लोक सं॰ 18-19।

58. विनय पत्रिका ।

59. कबीर ग्रंथावली।

60. 'विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनिचैवश्वपाके च पण्डिता: समदर्शिनि।। (गीता-5-18)।

61. दाऊ दयाल गुप्त, 'राधा'-महाकाव्य की अन्तिम पंक्तियाँ।
62. "यत्रयत्रधूमस्तत्रतत्रबह्नि"
63. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (हिन्दी साहित्य पृ0 428-29)
64. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य पृ॰ 195-96।
65. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य पृ. 214
66. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हीरक जयन्ती समारोह पर 9 मार्च 1954 ई॰ को सभापति पद से दिए गए अभिभाषण से उदधृत, पृ॰ 4-8)
67. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हीरक जयन्ती समारोह पर 9 मार्च 1954 ई॰ को सभापति पद से दिए गए अभिभाषण से उद्धृत, पृ॰ 4-8)
68. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हीरक जयन्ती समारोह पर 9 मार्च 1954 ई॰ को सभापति पद से दिए गए अभिभाषण से उद्घृत, पृ॰ 4-8)
69. सुमित्रानन्दन 'पंत' (उत्तरा की भूमिका)
70. जय शंकर प्रसाद – काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (में यथार्थवाद)।
71 डॉ॰ रामविलास शर्मा (भाषा, साहित्य और संस्कृति: आस्था और सौन्दर्य)

द्वितीय अध्याय

काव्य-लक्षण

काव्य, साहित्य की अत्यन्त उपयोगी विधा है। अति प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में एक से एक बढ़कर काव्य-कृतियों का निर्माण हुआ। काव्य के आदि प्रणेता 'महर्षि वाल्मीकि' माने जाते हैं और 'रामायण' काव्य-साहित्य का आदि ग्रंथ। 'रामायण' के पश्चात् महर्षि व्यास द्वारा 'महाभारत' की रचना की गई। ये दोनों ही कृतियाँ साहित्य की अमर कृतियाँ हैं। इन्हें 'महाकाव्य' कहा जाता है। 'रामायण' तथा 'महाभारत' के पश्चात कालिदास, भारवि, माघ श्री हर्ष आदि कवियों ने अनेक महत्त्वपूर्ण काव्यों का प्रणयन किया। संस्कृत में ही नहीं हिन्दी में पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, सूरसागर, रामचरितमानस, साकेत, कामायनी आदि उच्च कोटि के काव्यों की रचना हुई है जिनमें आत्मज्ञान, त्याग, तप, बलिदान, सहिष्णुता, परोपकार, करुणा, क्षमा, सत्य, व्रत पालनादि के एक से एक बढ़कर चित्रण मिलते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय वाङ्मय में जब एक से एक बढ़कर उपयोगी काव्य-ग्रंथ उपलब्ध थे तो उनके लक्षण निर्धारण का मार्ग भी प्रशस्त हो गया था। इन लक्ष्य ग्रंथों के आधार पर ही प्राचीन काल से अब तक निरन्तर काव्य के विविध लक्षणों की उद्भावना की जाती रही है।

आचार्यों ने काव्य को एक पुरुष शरीर की भाँति माना है। जिस प्रकार शरीर के दो पक्ष होते हैं। 1. आन्तरिक पक्ष, जिसे 'आत्मा' या 'प्राण' कहा जाता है। 2. बाह्य पक्ष, जिसे शरीर कहा जाता है। उसी प्रकार काव्य-पुरुष के भी दो ही पक्ष माने गये हैं–

1. **काव्य का अन्तर्पक्ष–अनुभूति पक्ष या आत्म पक्ष।**
2. **काव्य का बहिर्पक्ष–अभिव्यक्ति पक्ष या भाषा पक्ष।**

उपयोगिता दोनों ही पक्षों की कसौटी है जिसमें समस्त मानव-समाज ही नहीं प्राणिमात्र के कल्याण की आत्ममूलक धारणा निहित है। काव्य में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' बहुजनहिताय, 'बहुजनरताय' तथा 'सर्वभूतहितेरता' 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की धारणा को आदि काल से ही कवि-वर्ग वर्णित करता चला आ रहा है। यद्यपि काव्य एक कला (मनुष्य कृत निर्माण) है, परन्तु भारतीय आत्मा सदैव कला को गौण ही मान कर चली है। व्यक्ति की आत्मा महान् होनी चाहिए। शरीर तो आत्मा के ही प्रकाश से प्रकाशित होता है। इसीलिए यहाँ 'सूरति ज्ञान सों और कीरति दान सों' की ही अधिक पुष्टि

की जाती रही है और यही विचार काव्य को सर्वाधिक उपयोगी तथा जनकल्याण का आधार बनाता चला आ रहा है। काव्य के लक्षणों का निर्धारण करते समय आचार्यों ने इन सभी तत्त्वों को ध्यान में रक्खा है, किसी को अधिक और किसी को कम। अत: आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य लक्षणों का विवेचन इसी आधार पर करना उचित होगा।

संस्कृत आचार्यों के मत

भामह

भामह सबसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने प्रामाणिक रूप में काव्य-लक्षण का निरूपण किया। भामह ने काव्य का लक्षण सूत्र-रूप में किया परन्तु इनका लक्षण अत्यन्त सारगर्भित एवं महत्वपूर्ण है। भामह ने कहा है –

'शब्दार्थौसहितौ काव्यम्'[1]

अर्थात् ***'शब्द' और 'अर्थ'-युक्त रचना को 'काव्य' कहते हैं।*** 'शब्द' और 'अर्थ' का परस्पर 'चोलीदामन' का साथ है।[2] 'शब्द' के बिना 'अर्थ' का अस्तित्त्व ही ज्ञात न हो सकेगा और बिना अर्थ के शब्द निर्जीव होगा । शब्द और अर्थ दोनों ही जीवन में उपयोगी तथा आराध्य हैं। इन्हें भवानी-शंकर तथा सीता राम के समान अभिन्न एवं कल्याण-मूर्ति माना गया है।[3]

भामह ने इन्हीं 'शब्द' और 'अर्थ' को 'काव्य' का अनिवार्य तत्त्व घोषित करते हुए काव्य की पूर्ण एवं अत्यन्त सारगर्भित परिभाषा की है। 'अर्थ' से तात्पर्य काव्य के आन्तरिक पक्ष (उपयोगी भावादि) से है और 'शब्द' से तात्पर्य काव्य के बाह्य पक्ष (उपयुक्त भाषा के प्रयोग) से है। भामह की परिभाषा में शब्द और अर्थ के अतिरिक्त 'सहितौ' शब्द और है जो भामह की परिभाषा का मेरु-दण्ड है। 'सहितौं' के दो अर्थ ग्रहण किये जाते हैं– 1. सहित या युक्त 2. स+हित = हित सहित (उपयोगी)। इस आधार पर भामह के इस सूत्र का अर्थ यह होगा कि:- **'उपयोगी शब्द तथा अर्थ के सामञ्जस्य को काव्य कहते हैं।'**

महात्मा तुलसीदास ने उपयोगिता को कविता का आवश्यक तत्त्व माना है–

'कीरति भणिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।। **(मानस)**

इसके अतिरिक्त 'सहितयोर्भाव: साहित्यम्' से भी यही अर्थ निकलता है।

विद्वानों ने भामह के इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार नहीं की है जिस प्रकार हमने यहाँ प्रस्तुत की है। परम्परागत रूढ़ियों में आबद्ध विद्वान् इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं–

'शब्दालंकारों और अर्थालंकारों से क्रमश: शोभित शब्द और अर्थ का समन्वय काव्य कहाता है।'[4] यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि उपर्युक्त सूत्र का यह अर्थ भामह की भावना का पोषक नहीं है। सूत्र के इस प्रकार के अर्थ से तो काव्य

की परिभाषा से सम्बन्धित कोई भी तत्त्व स्पष्ट नहीं होता क्योंकि भामह स्वयं *'शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तुनः।'*[5] का व्यवहार करते हुए स्पष्ट रूप में कहते हैं कि हमें शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों में कोई भेद लक्षित नहीं होता फिर 'शब्द' को शब्दालंकार और 'अर्थ' को 'अर्थालंकार' निर्दिष्ट करना कभी उचित नहीं है। यह तो भामह की धारणा को उद्भ्रान्त करना है। अतः *'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'* अर्थात् ***काव्य तो उपयोगी शब्द तथा अर्थ पर आधारित रचना को ही माना जा सकता है,*** भामह की काव्य सम्बन्धी धारणा का आशय यही है। हो सकता है भामह के पश्चात् विद्वान् इस सूत्र का भ्रामक अर्थ समझते रहे हों और इसीलिए आगे चलकर दण्डी ने इस भ्रान्ति का निवारण करने के लिए यह कहा हो।

दण्डी

'इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।'[6]

अर्थात् ***'इष्ट (उपयोगी) अर्थ से युक्त पदावली ही काव्य है।'*** दण्डी ने भी यहाँ 'शब्द' तथा 'अर्थ' का ही प्रयोग किया है परन्तु अर्थ की उपयोगिता पर अधिक बल दिया है। इससे स्पष्ट है कि 'शब्द' तथा 'अर्थ' को दण्डी ने भी 'शब्दालंकार' तथा 'अर्थालंकार' के रूप में ग्रहण नहीं किया। यहाँ एक तथ्य यह अति गम्भीरता से विचारणीय है कि भामह तथा दण्डी यदि काव्य की परिभाषा शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों के ही आधार पर देते तो वे इसे इस प्रकार भी कह सकते थे। ***'शब्दार्थालंकारौ सहितौ काव्यम्'*** या ***'इष्टार्थालंकार व्यवच्छिन्ना पदावली।'*** परन्तु उन्होंने अपने लक्षणों में अलंकार शब्द का प्रयोग ही नहीं किया है। इसका स्पष्ट आशय यह है कि अलंकारों को इस रूप में भामह तथा दण्डी ने मान्यता नहीं दी जिस रूप में विद्वानों ने उसे समझा है और विवेचित किया है।[7] साथ ही भामह तथा दण्डी 'रसवत' तथा 'प्रेयस' अलंकारों के रूप में 'रस' को भी मानते तथा जानते थे। और वे गुणों के दस भेदों को भी मानते थे जिनका सम्बन्ध रसों से और भावों से है। इसके अतिरिक्त दण्डी तो **'काव्यशोभाकरान् धर्मालंकारान् प्रचक्षते'**[8] कहकर अलंकारों को काव्य के सौंदर्य को प्रदर्शित करने के कारण रूप में ही मानते हैं। यदि दण्डी का आशय काव्य के सम्बन्ध में यह होता कि ***'अलंकार जन्य आह्लाद से युक्त पदावली काव्य का शरीर है।'***[9] तो वे अलंकार को काव्य का गुण न मानकर उसे काव्य ही मानते। यदि हम इस अर्थ को इस प्रकार कर दें कि ***'आह्लाद जन्य उपयोगी अर्थ से युक्त पदावली काव्य का शरीर है', तो अर्थ का इतना अनर्थ न हो।*** इसके अतिरिक्त भामह तथा दण्डी के समक्ष भरत का 'रस-सिद्धान्त' था ही। उनके सामने 'रामायण' तथा 'महाभारत' जैसे उच्च कोटि के 'महाकाव्य' भी विद्यमान थे जिनमें नीति, शिक्षा, कर्मठता, उपदेश, त्याग, तप, बलिदान, सहिष्णुता, परोपकार, क्षमा तथा दया आदि के उदात्ततम भाव वर्णित थे। अतः इस स्थिति में उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि उन्होंने *'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'* को इस चलते तथा बाजारू अर्थ में प्रयोग

करके काव्य-लक्षण को उपहासास्पद रूप में गृहीत किया हो। अतः भामह तथा दण्डी की परिभाषाओं का यदि हम सही अर्थ में प्रयोग करें तो मम्मट तथा जगन्नाथ की परिभाषाओं में और भामह तथा दण्डी की परिभाषाओं में कोई अन्तर दिखाई नहीं देगा और यह तथ्य भी स्पष्ट हो जायेगा कि भामह की परिभाषा तो सभी लक्षणों का मूलाधार है। अन्य आचार्यों ने तो केवल प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण करके भामह के मत का स्पष्टीकरण मात्र ही किया है।

वामन

वामन ने भामह तथा दण्डी की भाँति काव्य की कोई सम्यक् परिभाषा नहीं की है। उन्होंने केवल काव्य के तत्वों को ही सुझाया है। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[10] कहकर 'रीति' को काव्य का मूल तत्त्व माना है। वे 'रीति' शब्द का विश्लेषण करते हुए कहते हैं– ***'विशिष्टापदरचना रीतिः.'*** अर्थात् विशिष्ट प्रकार की पद रचना को रीति कहते हैं। वे 'विशिष्ट' का अर्थ करते हुए कहते हैं ***'विशेषो गुणात्मा'***[11] अर्थात विशेषता गुणों में हैं। फिर उन्होंने भरत और दण्डी द्वारा गिनाये गये- श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि[12] इन दस गुणों को 'शब्द-गुण' और 'अर्थ-गुण' के भेद से '20' माना है। इसका तात्पर्य यह है कि वामन भी भामह तथा दण्डी की भाँति ही शब्द तथा अर्थ को काव्य का मूल तत्व मानते हुए उनमें निहित प्रसादादि गुणों को शब्द और अर्थ में आवश्यक मानते थे। वे गुणों की परिभाषा करते हुए कहते हैं – ***'काव्य शोभायाः कत्तारौ-धर्मा गुणाः।'***[13] अर्थात् काव्य की शोभा (सौन्दर्य) को प्रदर्शित करने के कारण गुण हैं।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि वामन की दृष्टि में काव्य सौंदर्य क्या है? इसे भी वे स्पष्ट करते हुए कहते हैं– ***'सौदंर्यमलंकारः***[14] अर्थात् सौंदर्य अलंकार है और काव्य अलंकार से ही ग्राह्य होता है।[15] वामन के अनुसार यह विशेषता गुणों में है और गुण युक्त रचना को 'रीति' कहते हैं। यही काव्य है। इसीलिए वामन ने काव्य की आत्मा 'रीति' को घोषित किया है।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वामन अलंकार का अर्थ व्यक्ति या वस्तु आदि के सर्वग्राह्य गुण को ही मानते हैं।[16] उदाहरणार्थ स्त्री का 'भूषण' लज्जा को माना गया है। अत्यन्त आकर्षक रूप धारण करके निर्लज्जतापूर्वक लक्ष्मण के सम्मुख जाने वाली शूर्पनखा की नाक काट ली गई थी। भारतीय नारी अपने प्राण त्याग सकती है परन्तु लज्जा को नहीं त्याग सकती। इसीलिए कहा गया है ***'लाज पर नारी यहाँ की ज्वाल जौहर की जलाती।'*** इसके अतिरिक्त नारी के सोलहश्रृंगारों का प्रावधान है परन्तुश्रृंगारादि धारण करने का उचित समय तथा स्थान भी होना चाहिए। यथा –

'विधवा है कैं पान चबावै, नैहर तिरिया करे सिंगार।
क्षत्री है कें रन ते लौटे ताके जीवत को धिक्कार।।

इसी प्रकार –

'पानी गये न ऊबरै मोती मानस चून।

आदि में भी 'पानी' को मोती-मानस और चून का सौन्दर्य कहा गया है। काव्य में यह सौन्दर्य कहाँ निहित है, अलंकार में। इसके अतिरिक्त वामन के समय तक रस तथा भावादि को भी अलंकार ही माना जाता था क्योंकि उस समय तक रस की स्वतन्त्र-रूप में स्थापना मान्य नहीं हो पाई थी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि वामन का अलंकार सम्बन्धी दृष्टिकोण वह नहीं था, जो आज है। उन्होंने व्यक्ति या वस्तु के सौंदर्य को ही अलंकार कहा है। वह सौंदर्य वस्तु या व्यक्ति का भाव, रूप, गुण तथा क्रिया आदि का सौंदर्य हो सकता है। वह सौंदर्य दोषों से मुक्त तथा गुणों से युक्त रचना में ही विद्यमान रहता है ***(स दोषगुणालंकारहानोपादाना भ्याम्)***[17] अतः वामन के मतानुसार –

'गुणालंकारयुत, दोष रहित रचना को ही काव्य कहते हैं।'

वामन की यह धारणा विश्वनाथ तक बराबर मान्य रही।

आनन्दवर्द्धन

आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि-सिद्धान्त' की स्थापना करते हुए घोषणा की– 'ध्वनिरात्माकाव्यस्य' अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है। इसका आशय यह हुआ कि ध्वनियुक्त रचना को ही काव्य कहते हैं। उन्होंने चमत्कारमूलक व्यंग्य को 'ध्वनि' की संज्ञा दी और उसके 'रस, वस्तु तथा अलंकार'– ध्वनि के रूप में तीन प्रमुख भेद किये। इस प्रकार काव्य में रस, वस्तु तथा अलंकारों को अनिवार्य रूप में स्वीकार किया गया। इससे स्पष्ट है कि वामन तथा आनन्दवर्द्धन के मतों में मूल-रूप में तो कोई भेद नही है। भेद केवल बाह्य रूप में ही परिलक्षित होता है। वामन 'रस तथा वस्तु सौन्दर्य' को अलंकारों में मानते हैं और आनन्दवर्द्धन 'रस तथा वस्तु-सौंदर्य का प्रदर्शनकारक धर्म अलंकार को मानते हैं। जबकि वामन ने इस स्थान पर गुणों को रखा था। अतः स्पष्ट है कि दोनों ही आचार्यों के कथन के मार्ग पृथक्-पृथक् हैं परन्तु लक्ष्य एक ही है; काव्य का स्वरूप निर्धारण। जैसे एक ही स्थान पर उपलब्ध काष्ठ, ईंट, चूना, लोहा, पत्थर आदि से कई व्यक्तियों से एक आकृति बनाने को कहा जाय तो उनमें कोई उससे रहने का घर, कोई सभा-भवन और कोई देवालय बनाकर तैयार करेगा जिसमें सामग्री एक ही प्रकार की लगी है परन्तु उसकी प्रयोग-प्रक्रिया में भेद है। इसी प्रकार सभी आचार्यों की परिभाषाओं में सामग्री एक ही लगी है। किसी ने अलंकार को पहले रख दिया है, किसी ने गुणों को और किसी ने वस्तु तथा रस को। उपर्युक्त आधार पर आनन्दवर्द्धन द्वारा निरूपित काव्य-लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है– ***वस्तु आदि में निहित सौंदर्य तथा रसादि के चमत्कार मूलक वर्णन को काव्य कहते हैं।***

कुन्तक

कुन्तक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त की रचना करते हुए ***'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्'***[18]

अर्थात् वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है, कहते हुए काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है–

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद कारिणि।।'[19]

अर्थात् 'वक्र-व्यापार-शालिनि (चमत्कार से युक्त) आह्लादकारक (आनन्द प्रदान करने वाली) उपयोगी शब्दार्थसंयुत व्यवस्थित (कवि कौशल से निबद्ध) रचना को काव्य कहते हैं।

कुन्तक काव्य में कोरी रमणीयता का पूर्ण निषेध करते हुए कहते हैं–

'न शब्दस्यैव रमणीयता विशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम् नाप्यर्थस्येति'[20]

अर्थात् केवल रमणीय शब्द और न केवल रमणीय अर्थ ही काव्य बन सकता है। यह तो शब्द तथा अर्थ के उचित (उपंयोगी) सामञ्जस्य से ही सम्भव है। कुन्तक ने अपनी इस परिभाषा में भामह के 'शब्दार्थौसहितौ' का प्रयोग ज्यों का त्यौं किया है परन्तु यहाँ इस का अर्थ विद्वानों ने वह नहीं किया जो कि भामह के द्वारा प्रयुक्त 'शब्दार्थौ सहितौ' का किया है।[21]

मम्मट

काव्य का लक्षण प्रस्तुत करने वालों में मम्मट का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है –

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'[22]

अर्थात् अलंकारों से रहित होने पर भी गुणयुत तथा दोष रहित किसी भी (शब्दार्थ) रचना को काव्य कहते हैं।

मम्मट ने काव्य के लक्षण सम्बन्धी अपनी इस स्थापना में निम्नलिखित तत्वों को सम्मिलित किया है।

1. **कविता का मूलाधार गुण हैं।**
2. **कविता दोषों से सर्वथा मुक्त रहनी चाहिये।**
3. **काव्य में अलंकारों का प्रयोग आवश्यक नहीं है।**
4. **शब्द तथा अर्थ का सामंजस्य ही काव्य है।**

मम्मट द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त काव्य लक्षण पर विचार करने से कुछ नवीन तथ्य भी उपलब्ध होते हैं। जैसे –

1. मम्मट तथा भामह ने अपने-अपने काव्य-लक्षणों में 'शब्दार्थौ' का प्रयोग किया है परन्तु भामह के शब्दार्थौ का अर्थ विद्वानों ने 'शब्दालंकार तथा अर्थालंकार' किया है और मम्मट के 'शब्दार्थौ' का अर्थ 'शब्दार्थ' किया है। परन्तु इन दोनों स्थानों पर प्रयुक्त 'शब्दार्थौ' का अर्थ भिन्न-भिन्न नहीं है जैसा कि विद्वानों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। मम्मट के 'शब्दार्थौ' प्रयोग से तथा उसके उपलब्ध अर्थ से इस भ्रम का सहज ही निवारण हो जाता है।

2. मम्मट की यह परिभाषा स्वतन्त्र या मौलिक नहीं है। वह तो प्राचीनकाल से

चले आ रहे मतों का सार तथा भावी संभावनाओं का संकेत है।

3. मम्मट ने अपनी परिभाषा में भामह का 'शब्दार्थौ' वामन का 'सगुणौ' तथा 'अदोषौ' ग्रहण किया है।[23] साथ ही कुछ दुराग्रही आचार्यों द्वारा अनावश्यक रूप से चली आ रही अलंकारों की परम्परागत धारणा का साग्रह खण्डन करते हुए रस को उसके 'रसवत्' तथा 'प्रेयस्' आदि विशेषणों से मुक्त करके रस की स्वतन्त्र रूप में स्थापना की।

4. मम्मट ने वामन द्वारा प्रतिपादित गुणों के स्वरूप 'काव्यशोभाया: कर्त्तारौ धर्मागुणा:।[24] के स्थान पर –

'ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादयइवात्मन:
उत्कर्ष हेत्वस्तस्युरचलस्थितयो गुणा:।।'[25]

का प्रयोग करके गुणों को 'काव्य-धर्म' के स्थान पर 'रस-धर्म' के रूप में मान्यता प्रदान की। अर्थात् गुणों का सम्बन्ध शब्दार्थ के स्थान पर 'रसों' से स्थापित करके काव्य में रस की महत्ता का प्रतिपादन किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मम्मट ने अलंकारों के सम्बन्ध में चली आ रही युगों पुरानी धारणा पर ऐसा सबल प्रहार किया कि आगे चलकर काव्य में अलंकार केवल 'कटक-कुण्डलादि' की भाँति काव्य सौंदर्य के बाह्य साधन-मात्र ही रह गये। यद्यपि मम्मट की इस धारणा का अलंकार धर्मी विद्वानों ने कड़ा विरोध भी किया[26] और वामन के आधार पर 'दोष रहित, गुण सहित सालंकार' रचना को पुन: काव्य-रूप में घोषित किया[27] परन्तु इन विद्वानों की यह पुनर्स्थापना फिर सफल न हो सकी क्योंकि मम्मट की इस घोषणा के पीछे ही पीछे भागीरथी की भाँति 'रस' की पुष्कल धारा प्रवाहित होती चली आ रही थी।

विश्वनाथ

विश्वनाथ रसवादी आचार्य थे। इन्होंने 'वेदान्त दर्शन' के आधार पर रस का सम्बन्ध 'आत्म-तत्त्व' से जोड़ते हुए, 'रस' को काव्य का मूल-तत्व स्वीकार करके प्रामाणिक एवं बहुमान्य काव्य लक्षण का निर्धारण इस रूप में किया है:–

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[28]

अर्थात *'रसमय वाक्य ही काव्य है।'* विश्वनाथ ने अपनी इस परिभाषा में तीन शब्दों का ही प्रयोग किया है– 1. रसात्मकं 2. वाक्यं 3. काव्यम्। इनमें प्रथम शब्द तो काव्य के अन्तर्पक्ष अर्थात् 'अनुभूति पक्ष' का द्योतक है और दूसरा शब्द उसके 'अभिव्यक्तिपक्ष' का। इन दोनों से ही मिलकर 'काव्य' बनता है। 'रसात्मकं' रस की ओर तथा 'वाक्यं' काव्य- भाषा, अलंकारों तथा छन्दादि की ओर संकेत करता है। विश्वनाथ ने एक लम्बी अवधि से तिरस्कृत-रूप में चले आ रहे 'रस-तत्त्व' को काव्यात्म-रूप में स्थापित करके काव्य को सर्वाधिक उपयोगी, सुन्दर एवं ग्राह्य बना दिया है। विश्वनाथ की इस स्थापना के कारण ही काव्य के मूल-तत्व को समझने में सहायता मिली है और काव्य में 'सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम्' की स्थापना सुलभ हो

सकी है। सत्त्वगुण पर आधारित होने के कारण काव्य में 'रस-तत्त्व' ही शरीर में स्थित आत्म-तत्त्व की भाँति 'सत् है, सुन्दर है और शिव है'

पं॰ विश्वनाथ द्वारा स्थापित इस काव्य लक्षण में परम्परागत चली आ रही धारणा से निम्नलिखित भेद दिखाई देता है।

1. विश्वनाथ से पूर्वमात्र 'शब्द' का ही काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष के रूप में प्रयोग किया जाता था जिसके स्थान पर विश्वनाथ ने 'वाक्य' का प्रयोग करके अभिव्यक्ति की पूर्णता को प्रदर्शित किया क्योंकि 'शब्द' मात्र के प्रयोग से अभिव्यक्ति तत्त्व का पूर्ण व स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पा रहा था।

2. पं॰ विश्वनाथ ने 'अर्थ' के स्थान पर केवल 'रस' का ही प्रयोग किया है जिससे अनुभूति-तत्त्व का ज्ञान अधिक सजीवता एवं स्पष्टता से किया जा सकता है।

3. विश्वनाथ ने 'रस' तथा 'वाक्य' के उन सभी विशेषणों को हटा दिया है जिनका प्रयोग मम्मटादि ने किया था। इसीलिये पं॰ विश्वनाथ की परिभाषा सर्वाधिक सरल, स्पष्ट, मार्मिक प्रामाणिक एवं उपयोगी है। अत: काव्य की समस्त परिभाषाओं में पं॰ विश्वनाथ की उक्त परिभाषा ही सर्वाधिक मान्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डित राज जगन्नाथ को संस्कृत काव्य-शास्त्रीय परम्परा का अन्तिम समर्थ आचार्य माना जाता है। इन्होंने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है–

'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द काव्यम्।'[29]

अर्थात्-***रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य कहलाता है।***

इस लक्षण के अवलोकन से यह लगता है कि पं॰ राज ने इस प्रकार का काव्य लक्षण अब तक चली आती हुई परम्परा का अवलोकन करके विश्वनाथ की सर्वमान्य परिभाषा का विरोध व्यक्त करने की दृष्टि से तथा निज-पाण्डित्य प्रदर्शनार्थ ही किया है जिससे उन्होंने आचार्यों के अब तक किये गये समस्त प्रयास पर पानी फेर दिया है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पं॰ राज का यह मत अब तक प्रदर्शित किये गये सभी मतों में अपूर्ण एवं भ्रामक है। पं॰ राज जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत लक्षण की तुलना यदि भामह तथा दण्डी से करें तो इसमें केवल यही अन्तर है कि :– भामह तथा दण्डी द्वारा प्रयुक्त 'सहितौ' तथा 'इष्टार्थ' के स्थान पर पं॰ राज ने 'रमणीय' शब्द का व्यवहार किया है जिससे न अर्थ गरिमा ही व्यक्त होती है और न शब्द गरिमा। कोरी रमणीयता का विरोध कुन्तक ने इस प्रकार किया है।–

न शब्दस्यैव रमणीयता विशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्येति॥

(व॰ जी॰ 17 (वृत्ति) पृ॰ 24)

''अर्थात' अर्थ और शब्द की कोरी रमणीयता को काव्य नहीं माना जा सकता। हो सकता है। कि कुन्तक की इस विवक्षा से पं॰ राज को रमणीय' शब्द की अशक्तता ज्ञात हो गई थी। अत: उन्होंने इसकी स्वयं व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है –

'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञानगोचरता'[30]

अर्थात लोकोत्तर अह्लाद जनक ज्ञान की गोचरता को रमणीयता कहते है।

इस आधार पर 'रमणीय' का अर्थ हुआ 'लोकोत्तर आह्लाद जनक ज्ञान को गोचर कराने वाला।' तब 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द काव्यम्' का अर्थ हुआ 'लोकोत्तर आह्लाद जनक ज्ञान को गोचर कराने वाला शब्द ही काव्य है। पं॰ राज इस व्याख्या से तो छब्बे बनने के स्थान पर दुब्बे ही रह जाते हैं। क्योंकि 'लोकोत्तर आह्लाद' को ही तो 'रस' माना जाता है और उसी की ज्ञान गोचरता है अनुभूति। इस प्रकार 'लोकोत्तराह्लाद जनक ज्ञान गोचरता' का अर्थ हुआ 'रसानुभूति'। और तब पण्डित राज द्वारा प्रतिपादित काव्य का लक्षण हुआ –

'रसानुभूति का प्रतिपादन करने वाली रचना को काव्य कहते हैं।'

यदि पं॰ राज अपनी काव्य सम्बन्धी धारणा को इस रूप में व्यक्त कर देते तो उनकी यह धारणा पं॰ विश्वनाथ के मत की ही भाँति अधिक ग्राह्य हो सकती थी। परन्तु पं॰ राज ने यहाँ चलते भाव से ही काम लिया है और सीधे-सादे विश्वनाथ के काव्य-सम्बन्धी लक्षण को न मानकर अकारण ही परम्परागत मान्यताओं को भी विकृत करके रख दिया है। हमें पं॰ राज की प्रवृत्ति यहाँ पाण्डित्य प्रदर्शन ही ज्ञात होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पं॰ राज जगन्नाथ का काव्य-लक्षण कोई मौलिक लक्षण न होकर पूर्ववर्ती रसेतर आचार्यों के मतों का विकृत-रूप में किया गया प्रस्तुतीकरण मात्र ही है।

निष्कर्ष : संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षणों का सम्यक् अवलोकन करने के पश्चात् निम्नलिखित तथ्य प्रकाश में आते हैं–

1. काव्य-लक्षण के प्रवर्त्तक भामह हैं।

2. भामह द्वारा निरूपित काव्य-लक्षण ***'शब्दार्थौ साहितौ काव्यम्'*** ही काव्य का मूल लक्षण है।

3. भामह के पश्चात् काव्य-लक्षण की धारा अनेक पंथों में विभाजित होकर 'गुणालंकार सहित तथा दोष रहित रचना' के रूप में प्रवाहित होती गई परन्तु मान्य न हो सकी।

4. पं॰ विश्वनाथ ने ***'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'*** की घोषणा करके काव्य की रसमूलक परिभाषा प्रस्तुत की जिसे सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लिया है।

5. संस्कृत आचार्यों के काव्य-लक्षण का निरूपण प्राय: 'सूत्र-रूप' में ही हुआ है जिससे उनकी व्याख्यायें करते समय विद्वानों में पर्याप्त भ्रान्तियाँ उद्‌भूत होती गई हैं।

6. संस्कृत आचार्यों की काव्य- सम्बन्धी धारणाओं में परस्पर पर्याप्त साम्प्रदायिक मत-भेद रहा है। इसीलिए कोई सर्वमान्य मत स्थापित नहीं किया जा सका।

7. आचार्यों ने अपने काव्य-लक्षण में 'छन्द' का कहीं उल्लेख नहीं किया है।

इससे स्पष्ट है कि वे काव्य-रूप में 'गद्य तथा पद्य' (कविता, उपन्यास, नाटकादि सभी) को समान मान कर चले हैं।

8. काव्य-लक्षण के क्षेत्र में मूल एवं प्रामाणिक विवेचन के रूप में तो संस्कृत आचार्यों का ही महान् योगदान माना जाना चाहिए।

फिर भी 'काव्य-लक्षण' एक विकासशील तत्त्व है उसे किसी काल-विशेष की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। अत: हिन्दी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षणों का भी अपना विशेष महत्व है क्योंकि हिन्दी का आधुनिक आचार्य दो दिशाओं से प्रभाव ग्रहण करके चला है–

1. संस्कृत काव्य-शास्त्र से।
2. पाश्चात्य काव्य-सम्बन्धी विचारों से।

अत: यहाँ हिन्दी-आचार्यों की काव्य सम्बन्धी धारण को भी व्यक्त किया जाना समीचीन प्रतीत होता है।

हिन्दी-आचार्यों के मत

रीतिकालीन आचार्य

केशवदास

केशवदास को रीति काल का प्रथम आचार्य माना जाता है। इन्होंने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है :–

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न विराजई कविता वनिता मित्त ॥ *(कविप्रिया 5.1)*

अर्थात सुजाति (सुन्दर विषय पर आधारित) शुभ लक्षणों वाली (दोषों से रहित और गुणों से युक्त), सुन्दर वर्णों वाली (आकर्षक पदावली से युक्त) सरस (रसों से युक्त) तथा सुवृत्त (सुन्दर तथा सरस छन्दों में निबद्ध) कविता भी भूषण (अलंकार या उचित सौंदर्य अवधारक तत्त्वों) के बिना समादृत नहीं हो सकती।

आचार्य केशवदास की इस धारणा को लेकर विद्वानों में बड़ा विवाद तथा मत-भेद रहा है। कुछ आचार्यों ने तो इसी दोहे को आधार बनाकर केशवदास को अलंकारवादी तथा चमत्कारवादी कवि घोषित कर दिया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिन्दी के आचार्यों में अलंकारवाद को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता। सभी विद्वान काव्य में 'रस' के ही पोषक हैं। अत: केशवदास के मन्तव्य का भी यदि गम्भीरता से अवलोकन तथा विवेचन किया जाय तो यह विदित हो जायेगा कि वे काव्य में मात्र अलंकारों के ही समर्थक नहीं हैं। वे रस के भी समर्थक हैं उनका रस के सम्बन्ध में विचार इस प्रकार है–

'ज्यौं बिनुदीठि न शोभिजै लोचन लोल विसाल।
तैसेई केसव सकल कवि बिनु बानी न रसाल॥' *(रसिक प्रिया-1-13)*

अर्थात् जैसे बड़े-बड़े नेत्र भी बिना दृष्टि के (अंधेपन में) शोभा नहीं देते उसी प्रकार कोई भी कवि बिना रसयुक्त वाणी के कवि कहलाने योग्य नहीं है।

केशवदास की 'रसप्रियता' का इससे प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है। इसके अतिरिक्त केशवदास ने ***'जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।'*** में भी **'सरस'** शब्द का प्रयोग किया है। इससे भी उनकी रसात्मकता स्वयं सिद्ध है।

केशवदास काव्य में दोषों के परिहार की घोषणा भी करते हैं –

'राजत रंच न दोष युत कविता बनिता मित्त।
बुन्दक हाला परत ज्यों गंगाघट अपवित्र॥' *(कविप्रिया 3-4)*

अर्थात 'कविता' और 'स्त्री' दोष-युक्त होने पर तनिक भी सुशोभित नहीं होतीं जैसे 'गंगाजल से भरे हुए घड़े में 'शराब' की एक बूँद भी पड़ जाने पर वह अपवित्र हो जाता है।

केशवदास की उपर्युक्त स्थापनाओं का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि केशवदास मात्र अलंकारवादी नहीं थे, वे काव्य में 'रस' के भी समर्थक थे। उनकी काव्य-सम्बन्धी धारणा में 'भूषण' शब्द का प्रयोग ठीक वामन द्वारा प्रयुक्त 'सौंदर्यमलंकार:' के रूप में ही हुआ है जिसका आशय सौंदर्य को उत्कृष्टतम बनाने वाले साधनों से है जिनमें अलंकार भी आ जाते हैं। 'भूषण' का उपयुक्त अर्थ क्या है? इस सम्बन्ध में हम अपनी धारणा वामन के काव्य सम्बन्धी मत का विवेचन करते समय व्यक्त कर चुके हैं। फिर भी प्रसंगवश कुछ प्रचलित मान्यताओं के आधार पर सौंदर्य के उपयुक्त भूषणों का अवलोकन कराया जाना समीचीन होगा।

समाज में कुछ मर्यादायें या धारणायें प्रचलित होती हैं, उन्हीं का पालन करना भूषण माना जाता है, जैसे नारी का भूषण 'लज्जा' है। पुरुष का भूषण 'वीरता'। इन्हें त्याग देने पर न नारी सुन्दर रह जाती है और न पुरुष। मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षियों के भी प्राकृतिक भूषण माने गये हैं। जैसे-बैल के सींग[31], मोर के पंख, हाथी की सूँड, तोते की चौंच तथा खंजन के नेत्र आदि। यदि इन प्राणियों के ये भूषण उतार लिये जायँ तो क्या इनका सौंदर्य शेष रहेगा? इसी प्रकार नारी हो या पुरुष उस के अंगों में ही सौंदर्य होता है, अलंकारादि का उचित प्रयोग तो उसके सौंदर्य में यदि आवश्यक हुआ तो कुछ अभिवृद्धि भर कर सकता है। कविकुलगुरु कालिदास ने इसी को ध्यान में रख कर कहा है –

'किमिव हि मधुराणां मण्डनंनाकृतीनाम्।' (अभिज्ञान शाकुन्तलम् 1-19)
अर्थात जो स्वयं सुन्दर है उसे अलंकारादि की आवश्यकता ही क्या है?

आचार्य केशव का भी दृष्टिकोण यही है। वे 'काव्य-भूषणता' का अर्थ सौंदर्य प्रसाधन के उपकरणों का समुचित प्रयोग ही मानते हैं। वे अलंकारों के अनावश्यक तथा अनुचित प्रयोग को 'दोष' मानकर 'रस' की अनिवार्यता पर बल देते हैं। इस विवक्षा के आधार पर केशवदास की काव्य सम्बन्धिनी धारणा का निर्धारण इस प्रकार करना

उचित होगा –

'दोषादि से रहित तथा गुणादि (सुन्दर लक्षणों) से युक्त, उचित शब्द – प्रयोग से विभूषित प्रेरणादायक, सुन्दर वृत्तों (छन्दों) में निबद्ध, सुजाति (उच्चकोटि) की रस युक्त रचना को ही काव्य कहते हैं।

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि केशवदास की काव्य-सम्बन्धी धारणा 'पूर्ण स्पष्ट एवं उपयुक्त' है। परन्तु मतवादी विद्वानों ने केशव के काव्य-लक्षण को अलंकारों की भट्टी में झौंककर एकदम राख ही कर दिया है और चारों और केशवदास के कट्टर अलंकारवादी होने की डुग्गीपीट रक्खी है, परन्तु केशवदास जैसे विद्वान् आचार्य के प्रति यह धारणा रखना उचित नहीं है। विद्वानों की प्राय: यह अभिरुचि रहती है कि किसी भी युग के प्रथम आचार्य की धारणा का भ्रामक अर्थ लगाकर उसे द्रौपदी का चीर बना डालते हैं। यही स्थिति भामह के काव्य लक्षण की भी हुई थी और यही केशवदास के काव्य लक्षण की भी। 'केशव' ने सर्वप्रथम अपने काव्य लक्षण में छन्दोबद्धता का भी उल्लेख किया है। अत: 'केशव' का काव्य लक्षण पूर्ण और प्रासंगिक माना जाना चाहिए।

अन्य रीतिकालीन आचार्यों ने भी काव्य लक्षण पर विचार किया है परन्तु उनके लक्षण विभिन्न संस्कृत आचार्यों तथा केशवदास के मतों का अनुवाद मात्र ही हैं। यहाँ कुछ लक्षण प्रस्तुत हैं–

चिन्तामणि

'सगुनालंकारन सहित दोष रहित जो होय।
शब्द अर्थ ताकों कवित कहत विदुध सब कोय।।' *(कविकुलकल्पतरु 1.5.7)*

श्रीपति

'शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान।
ताकों काव्य बखानिये श्री पति परम सुजान।। *(काव्य-सरोज)*

सोमनाथ

'सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध।।' *(रसपीयूष निधि 6.2)*

उपर्युक्त आचार्यों ने वामन, मम्मट, जयदेव, हेमचन्द्र आदि तथा 'केशव' का ही अनुसरण किया है।

आधुनिक आचार्य

रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों के अतिरिक्त आधुनिक काल के आचार्यों ने भी काव्य-लक्षणों का प्रतिपादन किया है। इनमें सबसे पहले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के मत को उद्धृत किया जाता है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी पाश्चात्य विद्वान् मिल्टन से अधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। इनके विचार से ***'कविता-सरल, प्रत्यक्षमूलक और रागात्मक होनी चाहिए।*** वे इन तत्वों को ***'सादगी, असलियत और जोश'*** कहते हुए लिखते हैं –

'सादगी असलियत और जोश (मिल्टन के बतलाए हुए तीनों गुण), यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक-आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं, कभी-कभी सादगी और जोश पाये जाते है, असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए। (रसज्ञ-रञ्जन पृ० 51)

द्विवेदी जी की यह परिभाषा आधुनिक हिन्दी-आचार्यों द्वारा की गई काव्य की परिभाषाओं में सब से पहली परिभाषा है। इस लक्षण के देखने से ज्ञात होता है कि द्विवेदी जी ने संस्कृत आचार्यों के लक्षणों का अध्ययन शायद नहीं किया था। उन्होंने अँग्रेजी विद्वानों के मतों का अवलोकन करके उनके द्वारा दिये गये काव्य लक्षणों में से मिल्टन के काव्य-लक्षण को उपयुक्त मानकर उसी को सरल भाषा में अपने ढंग से प्रस्तुत कर दिया है। यही कारण है कि द्विवेदी जी के विवेचन में चमत्कार अधिक है। प्रौढ़ता एंव विषय की गम्भीरता कम। द्विवेदी जी काव्य में पाण्डित्य के समावेश को स्वीकार करते हुए तज्जनित चमत्कार का भी समर्थन करते हैं–

'शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार का होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं- विलक्षणता नहीं - तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्षेमेन्द्र की राय है–

'नहिं चमत्कार-विरहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्।'[32]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के उपर्युक्त मतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे 'सादगी असलियत तथा जोश' को काव्य के आवश्यक तत्त्व मानते हैं, साथ ही द्विवेदी जी 'चमत्कार' को भी 'जोश' के ही पक्ष में स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि द्विवेदी जी के समय भारत पराधीन था और उस समय काँग्रेस के नेतृत्व में स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल रहा था। अतः 'देश-भक्ति' मूलक काव्य की उस समय आवश्यकता भी थी और इस प्रकार का प्रेरणादायक काव्य उस समय हिन्दी में धड़ा-धड़ प्रणीत भी हो रहा था। उस युग के काव्य में स्पष्ट-रूप से मार्मिकता, प्रेरणा, सरलता तथा सत्यता का ही निरूपण किया जा रहा था। इसीलिए द्विवेदी जी कविता के प्राचीन मान-दण्डों के स्थान पर नवीन मान-दण्डों की स्थापना करते हुए दिखाई देते हैं। द्विवेदी जी ने अपनी काव्य मूलक धारणा में काव्य के आन्तरिक तत्त्वों का ही निदर्शन किया है। संस्कृत आचार्यों की भाँति 'अनुभूति पक्ष' तथा 'अभिव्यक्ति

पक्ष' का सामञ्जस्य यहाँ प्राप्त नहीं होता। इसका कारण पाश्चात्य शैली का ही प्रभाव है जिसे द्विवेदी जी ने स्वयं ही स्वीकार किया है। द्विवेदी जी की यह धारणा शुक्ल जी की काव्य-सम्बन्धी धारणा के समान ही हिन्दी में सर्वाधिक ग्राह्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

द्विवेदी जी के पश्चात् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने निबन्ध **'कविता क्या है'** में 'काव्य' का लक्षण इस प्रकार किया है –

'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। (चिन्तामणि भाग 1 पृ॰ 192-93)

आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत किया गया काव्य का यह लक्षण पं॰ विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का व्याख्यात्मक अनुवाद ही समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में आचार्य शुक्ल, काव्य के रसवादी स्वरूप के ही समर्थक हैं। इनका यह लक्षण पूर्णतयया प्रासंगिक है।

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद ने काव्य-लक्षण देते हुए लिखा है–

'काव्य, आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है।' अर्थात् काव्य पाठकादि की आत्मा की रसात्मक (आनन्द मूलक) अनुभूति का माध्यम है। इस का आशय यह है कि काव्य से प्राप्त आनन्द (रस) विशुद्ध आत्मानन्द का द्योतक है।

प्रसाद जी का यह लक्षण काव्य की रसात्मकता से सम्बद्ध है परन्तु उसे हृदयानन्द का विषय न मानकर विशुद्ध आत्मानन्द का विषय माना है। इससे काव्यानुभूति रसात्मक प्रक्रिया न रहकर शुद्ध दार्शनिक प्रक्रिया रह जाती है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या काव्यादि का श्रोता या पाठक विशुद्ध आत्मानन्द की अनुभूति प्राप्त कर सकता है? इसका उत्तर यही है कि कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता। इन दोनों ही पक्षों को ध्यान में रखकर यदि 'प्रसाद' जी अपनी धारणा को इस रूप में व्यक्त करते–

'काव्य हृदय की संकल्पात्मक अनुभूति है।'

तो यह धारणा अधिक व्यावहारिक मानी जाती। दूसरी ओर इस परिभाषा में केवल अनुभूति तत्त्व का ही उल्लेख है। अभिव्यक्ति तत्त्व को इसमें कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। इससे प्रसाद जी की यह परिभाषा भी पूर्ण नहीं कही जा सकती। कुछ आचार्य प्रसाद जी की इस धारणा पर पाश्चात्य विद्वानों की काव्य सम्बन्धी धारणा का प्रभाव बताते हैं।[33] परन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। प्रसाद जी पर जो प्रभाव है वह दार्शनिक चिन्तन तथा छायावादी शैली का ही है। प्रसादजीं में पाश्चात्य प्रभाव खोजना तो 'चील के घोंसले में माँस' खोजने के समान ही है।

डॉ० नगेन्द्र

काव्य-लक्षण के स्वरूप-विवेचन में डॉ० नगेन्द्र पर भी पाश्चात्य प्रभाव ही अधिक परिलक्षित होता है। वे काव्य लक्षण का निरूपण करते हुए लिखते हैं –

'रमणीय अनुभूति, उक्तिवैचित्र्य और छन्द................. इन तीनों का समंजित रूप ही कविता है।'[34]

डा० नगेन्द्र का यह लक्षण पाश्चात्य विद्वानों-ड्राइडन तथा जानसन आदि से प्रभावित है। यहाँ नगेन्द्र जी ने छन्दोबद्ध रचना को ही काव्य माना है जिसमें उक्ति – वैचित्र्य (विचित्र तथा चमत्कार मूलक पदावली) तथा रमणीय अनुभूति (मनोरंजन की सामग्री) का समावेश हो। डॉ० नगेन्द्र की यह परिभाषा स्पष्ट रूप से छायावादी कविता की परिभाषा है। छायावादी काव्य में ही ये तीनों गुण अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। रमणीय अनुभूति तो छायावादी कवियों का अपना 'रडरोना' है। उक्तिवैचित्र्य प्रतीकों के माध्यम से बे सिरपैर की बातें हैं और छंदों में गेयता उनके छंदों का आकर्षण है। अत: डॉ० नगेन्द्र द्वारा किया गया काव्य का यह लक्षण सामयिक तथा एकांकी है जिसमें केवल छंदोबद्ध रचना को ही काव्य माना गया है परन्तु भारतीय काव्य परम्परा में तो गद्य-पद्य का भेद ही नहीं माना गया है, आचार्यों की दृष्टि में तो 'रसमय वाक्यावली' होनी चाहिये। चाहे वह 'गद्यमय' हो या 'पद्यमय', वही काव्य है। यदि नगेन्द्र जी के इस मत को मान लिया जाय तो हिन्दी का गद्य-साहित्य काव्यकोटि में नहीं आयेगा, परन्तु इस प्रकार की रचनायें प्रभावशलिता एवं उपयोगिता में छन्दोबद्ध काव्य से किसी भी दशा में कम नही हैं और क्लिष्ट प्रतीकों से बोझिल छायावादी काव्य से तो बहुत आगे हैं।

इस प्रकार नगेन्द्र जी का काव्य सम्बन्धी उपर्युक्त लक्षण न तो उपयुक्त ही है और न पूर्ण।

पाश्चात्य मत और उनकी उपादेयता

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय आचार्यों ने भामह के समय से लेकर आधुनिक काल तक काव्य के लक्षणों पर विशदता, गम्भीरता, मार्मिकता तथा विचारशीलता के साथ विचार किया है और पारस्परिक विवेचनों तथा मन्तव्यों के तुलनात्मक आधार पर एक से एक बढ़कर काव्य के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। हमारे हिन्दी-विद्वानों के समक्ष यद्यपि भारतीय काव्य-शास्त्र की काव्य-लक्षण-सम्बन्धी एक पुष्ट परम्परा थी परन्तु फिर भी उन्होंने न जाने किस ध्येय से पाश्चात्य मतों को भारतीय मतों में समविष्ट करने का प्रयास किया है। परन्तु हम यह पूर्ण आस्था के साथ कह सकते हैं कि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत काव्य के सभी लक्षण एकांगी एवं अपूर्ण हैं। वे भारतीय काव्य की 'रस-साधना' की पूर्ति किसी भी आधार पर नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य परम्परायें हमारी परम्पराओं से पूर्णरूपेण भिन्न हैं।

वहाँ की रीति-नीति, भाव-विचार सभी कुछ हम से भिन्न हैं। अतः वहाँ का काव्य और काव्य-लक्षण भी भिन्न हैं। भारतीय काव्य क्षेत्र में 'रस' की खोज एक परम आदर्श एवं उपयोगी उपलब्धि है, **जबकि पाश्चात्य विद्वान् 'रस' का नाम तक नहीं जानते।** इन्हीं सब विचारों से हमने काव्य-लक्षण पर विशुद्ध भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही विचार किया है क्योंकि पाश्चात्य लक्षण भारतीय-काव्य की कसौटी नहीं बन सकते। कतिपय उदाहरण देकर हम अपने मत की पुष्टि करना उचित ही समझते हैं।

वर्डस्वर्थ

वर्डस्वर्थ का कथन है कि – ***काव्य शांन्ति के समय के स्मरण किये हुए प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है।***[35] वर्डस्वर्थ ने अपनी इस मान्यता में तीन तत्वों पर बल दिया है।

1. कविता शान्ति के क्षणों में लिखी जाती है।
2. कविता में मनोवेगों की प्रधानता रहती है।
3. कवि स्वच्छन्द होता है।

परन्तु कविता का स्वच्छन्द प्रवाह तो क्रान्ति के क्षणों में ही अधिक बलवत्तर होता है जैसे चन्दवरदायी आदि वीरगाथा कालीन कवि। शांति के क्षणों में तो भाव विलासिता की गन्दी नालियों में गिरकर दूषित हो जाते हैं जैसे रीतिकालीन कवियों के भाव शांति के क्षणों की गंदगी का ज्वलन्त उदाहरण हैं। आधुनिक काव्य में छायावाद में अपना-अपना रोना भी शान्ति के क्षणों का ही स्वच्छन्द प्रवाह है जिसमें कोई 'नीर भरी दुख की बदली' बनकर बरसा है और कोई 'विरह का जलजात' बनकर शोक-समुद्र में डूबता रहा है। यहां एक बात और स्पष्ट कर देना हम आवश्यक समझते हैं कि कविता का सम्बन्ध मनोवेगों से नहीं है। मनोवेग तो मन के कुत्सित वेग होते हैं। जो क्षुद्र, वैयक्तिक, वासनाजन्य तथा अनुपयोगी माने जाते हैं। अतः भारतीय काव्य में ग्राह्य नहीं माने गये हैं। काव्य का सम्बन्ध तो हृदय तथा आत्म-गत उदात्त तत्त्व जैसे - सत्य, अहिंसा, त्याग, तप, बलिदान, सहिष्णुता, परोपकार, दया, आदि से है जो सूखी नसों में बिजली दौड़ाने तथा भीरु को वीर बनाने की क्षमता रखते हैं। वर्डस्वर्थ का तीसरा तत्त्व 'स्वच्छन्द प्रवाह' है। कविता आत्मा तथा हृदय के क्षेत्र से परिचालित होती है। अतः वह 'उपयोगिता' के सूत्र में सदैव आबद्ध रहती है। उसे स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि स्वच्छन्दता एक प्रकार का पागलपन है और अनुपयोगी है। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्डस्वर्थ की परिभाषा हमारे काम की नहीं है, केवल उन्हीं के काम की हो सकती है।

कॉलरिज

कॉलारिज कविता को ***'उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम विधान'*** मानता है। परन्तु यह मत तो बिल्कुल ही अस्पष्ट तथा भ्रामक है क्योंकि उत्तमोत्तम शब्दों का

कोई स्थिर स्वरूप नहीं है। उत्तमोत्तम शब्द और उत्तमोत्तम क्रम-विधान तो इतिहास, राजनीति, भूगोल, विज्ञान तथा अर्थशास्त्रादि सभी विषयों में उपलब्ध हो सकते हैं, परन्तु क्या इन विषयों को भी काव्य माना जा सकता है? हमारा उत्तर यही है कि कभी नहीं। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा में अनुभूति पक्ष का तो नामोनिशान ही नहीं है। अत: यह परिभाषा भी अपूर्ण एवं अनुपयोगी है।

मैथ्यू आर्नल्ड

मैथ्यू आर्नल्ड कविता को ***जीवन की आलोचना*** कहते है।[36] परन्तु कविता जीवन की आलोचना नहीं अनुभूति जन्य अभिव्यक्ति है। आलोचना का सम्बन्ध तो कोरी बौद्धिकता से है जबकि काव्य का सम्बन्ध हृदय पक्ष अर्थात् भाव से है। काव्य में जीवन की आलोचना सदसद्-विवेचन के रूप में ही उपलब्ध होती है जिसका सम्बन्ध काव्य में वर्णित नीति, उपदेश और शिक्षा से है। काव्य में नीति-निदर्शन का आधार भी भाव ही होता है। भावों, क्रियाओं, रूपों तथा विचारों का तुलनात्मक प्रदर्शन करके ही कवि पाठकों को शिक्षा, ज्ञान और प्रेरणा देता है। इसीलिए महात्मा तुलसीदास ने रामचरितमानस को ***'दोष रहित दूषण सहित'*** रचना कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि कला की दृष्टि से तो 'मानस' में कोई काव्य-दोष उपलब्ध नहीं होगा। हाँ कथा की दृष्टि से खर-दूषण तथा रावणदि के दूषित वृत्तों का निरूपण अवश्य मिलेगा। महात्मा तुलसीदास का यह संकेत 'मानस' की काव्यात्मक गरिमा का ही संकेत है। 'मानस' के खर-दूषणादि के चरित्र-वर्णनों को यदि दुष्ट जनों के जीवन की आलोचना कहें तो यह उपयुक्त नहीं है। यह तो जीवन के दोषपूर्ण पक्षों के कुत्सित परिणामों का प्रदर्शनमात्र है। आलोचना नहीं। साथ ही दुष्ट जनों से बचने की प्रेरणा भी है। दूसरी और रामादि सत्पात्रों के जीवन के त्याग, सहिष्णुता, शक्तिमत्ता, परोपकार, करुणा आदि गुणों का प्रदर्शन भी सद्परिणामी तथा सच्चरित्रता-ग्रहण का आग्रह है। भारतीय चिन्तन में प्रेरणादायकता कवि का मुख्य लक्ष्य होता है और मनोरंजन गौण, जबकि पाश्चात्य कवि मनोरंजन पर अधिक बल देता है। अत: आर्नल्ड का काव्य-सम्बन्धी उपर्युक्त मत भी भारतीय रस परिवेश पर खरा नहीं उतरता।

जॉनसन

जॉनसन का कथन है कि कविता ***'सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है।'***[37] जानसन ने अपनी इस मान्यता में सत्य, प्रसन्नता, बुद्धि तथा कल्पना, इन चार तत्वों को सम्मिलित किया है। परन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् सत्य का किस-किस रूप में ग्रहण करते हैं। भारतीय दृष्टिकोण में तो काव्य का सत्य केवल **'रस'** है जो **'ब्रह्मास्वाद सहोदर'**, वेद्यान्तर स्पर्श शून्य, लोकोत्तर चमत्कार प्राण, **'अखण्ड'**, **'चिन्मय'** और **'सत्त्व गुण मूलक'** है। परन्तु जॉनसन न तो **'रस-स्वरूप'** से ही परिचित

हैं और न 'रस' के गुणों से। अतः जॉनसन 'सत्य' का क्या अर्थ ग्रहण करते हैं, स्पष्ट नहीं है। हो सकता है जॉनसन 'सत्य' को 'जीवन का सत्य' या यथार्थ मानते हों परन्तु जीवन के पाश्चात्य यथार्थ और भारतीय यथार्थ में भी आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय मनीषा जीवन का यथार्थ 'त्याग, तप, करुणा, सत्य, अहिंसा, बलिदान, सहिष्णुता परोपकार, क्षमा तथा दया आदि उदात्त मानवीय गुणों को मानती है जबकि पाश्चात्य मनीषा भौतिक सुख-दुःख को ही जीवन का 'सत्य' स्वीकार करती है। इसके अतिरिक्त प्रसन्नता के अर्थ ग्रहण में भी भारतीय दृष्टिकोण 'आत्मानन्द' को मानकर चला है, जबकि पाश्चात्य दृष्टिकोण 'जीवन के भौतिक सुखों' को ही काव्य की प्रसन्नता घोषित करता है जिसका भारतीय दृष्टिकोण एक दम बहिष्कार कर देता है। अब रही 'कल्पना और बुद्धि' की बात। कल्पना का सम्बन्ध मन से है और बुद्धि का सम्बन्ध विचारों से। भारतीय परिवेश में इनका सीमित प्रयोग ही वांछित है। काव्य में विचारों और कल्पना की अनिवार्यता उपयोगी नहीं होती। इस प्रकार जॉनसन की उक्त परिभाषा भी हमारे अनुकूल नहीं है।

कारलायल

कारलायल ने कविता को *'संगीतमय विचार'* कहा है।[38] परन्तु 'कविता', संगीत तथा विचार तीनों ही पृथक तत्त्व हैं। कोरे कनफोड़ा संगीत को भारतीय मत में कभी काव्य नहीं माना गया है और न माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त विचारों की काव्य में स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। वे सद् भाव के नियंत्रण के साथ ही काव्य में स्थान पा सकते हैं। दूसरे काव्य का सम्बन्ध गम्भीर अनुभूति एवं प्रेरणादि उदात्त तत्त्वों से होता है जबकि संगीत का कनफोड़ा उद्देश्य मनोरंजन ही होता है। अतः कारलायल की काव्य सम्बन्धी परिभाषा भी हमारे लिए एक खोटा सिक्का ही है।

इसी प्रकार पाश्चात्य काव्य शास्त्र से और भी उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सभी एक ही खान के 'चट्टे-बट्टे' हैं। हम यह नहीं कहते हैं कि यूरोपिय विद्वानों की काव्य सम्बन्धिनी धारणाएँ उनके लिए भी उपयोगी नहीं हैं। हम यह मानते हैं कि उनकी मान्यताएँ उनके लिए अवश्य ही उपयोगी होंगी। परन्तु वे हमारे लिये उपयोगी नहीं हैं क्योंकि हमारी अपनी मान्यताएँ ही हमारे परिवेश एवं चिन्तन के अनुकूल हैं। जिस प्रकार भारतीय काव्य-लक्षण पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लाभदायक नहीं समझे जाते उसी प्रकार पाश्चात्य काव्य लक्षण हमारे लिए लाभदायक नहीं हो सकते परन्तु अँग्रेजी के चाटुकारों की प्रवृत्ति बार-बार अपनी *'खाँड को छोड़कर दूसरों के गुड़ की ओर जाती है।'*

अतः हम केवल भारतीय काव्य-सम्बन्धी धारणाओं पर ही विचार करने पर काव्य के वास्तविक स्वरूप को समझने में सफल हो सकेंगे। पाश्चात्य मतों से तो हमारे मन में विकृति एवं संदेह ही उत्पन्न होगा और विषय के स्पष्ट होने के स्थान पर विषय के उलझने की संभावना ही अधिक रहेगी जैसा कि अनेक विद्वानों के दुराग्रह से हुआ भी है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह के समय में उद्भूत होकर आधुनिक काल तक काव्य-लक्षण-निर्धारण सम्बन्धी विचारधारा निरन्तर प्रवाहित होती चली आ रही है और आशा तो यही है कि आगे भी प्रवाहित होती रहेगी। काव्य-रूप विमर्श की इस सहस्त्रों वर्षों की लम्बी अवधि में काव्य-लक्षण पर अनेक मार्मिक गम्भीर एवं मूल्यवान् विवक्षायें प्राप्त हुई हैं। यही नहीं इन विवक्षाओं के पृथक् सम्प्रदाय भी निर्मित हो गये हैं। यदि सम्यक् रूप से विचार किया जाय तो केवल दो धारायें ही अधिक पुष्ट एवं प्रबल रूप में निरन्तर प्रवाहित होती दिखाई देती है।

1. अलंकारवादी धारा 2. रसवादी धारा।

हिन्दी में रीतिकाल के अनन्तर अलंकारवादी धारा भी प्राय: विलीन हो गई और केवल रसवादी धारा ही शेष रह गई। हिन्दी-विद्वानों में रीतिकालीन आचार्यों तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि ने रसवाद की स्थापना करने में प्रमुख सहयोग प्रदान किया है जिससे विश्वनाथ की धारणा सर्वत्र मान्य हो सकी है।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'रस' के अतिरिक्त काव्य में ध्वनि, विचार, भाव तथा व्यंग्यादि तत्व भी होते हैं और भाषा के अतिरिक्त अलंकार तथा छन्दादि बाह्य तत्त्व भी विद्यमान रहते हैं परन्तु विश्वनाथ की परिभाषा में इन सबका समावेश नहीं है। अत: इन तत्त्वों के अभाव में विश्वनाथ की परिभाषा को क्या पूर्ण माना जा सकता है। इस शंका का बहुत कुछ समाधान तो आचार्य शुक्ल ने अपने **कविता क्या है** निबन्ध में कर दिया है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त एक बात और भी विचारणीय है कि शरीर में आत्मा, हृदय, बुद्धि तथा मन आदि अनेक तत्त्व विद्यमान रहते है। इनमें जहाँ आत्म-तत्त्व की प्रधानता रहती है उसे ज्ञान-दशा कहा जाता है और वह दर्शन का विषय होता है। जहाँ बुद्धि का प्राबल्य रहता है वहाँ विचार की प्रधानता रहती है और यह राजनीति, धर्म, विज्ञान, तथा ज्योतिषादि का क्षेत्र है। जहाँ मन की प्रधानता रहती है उसे कल्पना कहते हैं। काव्य में हृदय-पक्ष अर्थात् रस की प्रधानता रहती है और अन्य तत्त्व विचार तथा कल्पना गौण रूप में विद्यमान रहते हैं, इस प्रकार जहाँ हृदय पक्ष की प्रधानता रहती है वह 'रस' की स्थिति है और यह काव्य का विषय है। बिना हृदय पक्ष के कोरा बुद्धिवाद अत्यन्त शुष्कता तथा विरक्ति उत्पन्न करने वाला होगा। अत: कोरी बौद्धिकता काव्य का विषय नहीं बन सकती। यदि कोई दुराग्रह पूर्वक ऐसा करता भी है तो उस का काव्य कभी सहृदय समाज में ग्राह्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त मन का सम्बन्ध रजोगुण तथा तमोगुण से है और वह कुत्सित वृत्तियों का अधिक सजीव प्रेरक है परन्तु कुत्सित वृत्तियों का वर्णन भी समाज में ग्राह्य नहीं है जैसा कि व्यवहार में देखा जाता है। अत: 'काव्य' की सफलता एवं उपयोगिता के लिए उसे प्रधान रूप से 'रसनीय' बनाने पर ही बल दिया जाता

है जिससे सामाजिक मनोरंजन के साथ ही साथ हृदय में सत्त्वगुण मूलक आनन्द का अनुभव करते समय कुछ क्षणों के लिए सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर आत्मानन्द में लीन होने का सुयोग प्राप्त कर सके। साथ ही 'रस' के साथ नीति, शिक्षा, उपदेश, प्रेरणा आदि के समावेश से काव्य में सजीवता, प्रामाणिकता तथा सप्राणता भी आ जाती है और सत्त्वगुण की गोद में बैठ जाने पर मन भी अपनी स्वाभाविक चंचलता को त्यागकर शांत एवं निश्चल हो जाने से आत्मानन्द में लीन हो जाता है। काव्य का यह परिवेश पूर्णरूपेण अनूठा एवं अलौकिक होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'काव्य' का सच्चा एवं सम्यक रूप तो 'रस-रूप' ही है। अन्य रूप तो अपूर्ण एवं गौण ही हैं। इसीलिए काव्य में 'रस' की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है और विश्वनाथ द्वारा किये गये काव्य-लक्षण ***'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'*** को ही काव्य का परम उपयोगी लक्षण माना गया है।

काव्य-तत्त्व

भारतीय काव्य-शास्त्रीय परम्परा में काव्य को एक पुरुष-शरीर की भाँति माना गया है। यथा –

'शब्द अर्थ तनु वर्णिये जीवित रसजिय जानि।
अलंकार हारादि पै उपमादिक मन आनि।।
कवित पुरुष की साजु सब समुझ लोक की रीति।'[1]

अर्थात् शब्दार्थ (भाषा) जिस का शरीर है और 'रस' जिसकी आत्मा है तथा 'अंलकार' जिसके बाह्यंगों के हारादिवत् आभूषण हैं, यही लोक रीति को धारण करने वाली काव्य-पुरुष की साज-सज्जा है।

इसका आशय यह है कि काव्य के भी पुरुष-शरीर की भांति दो तत्त्व होते हैं– 1. आन्तरिक तत्त्व 2. बाह्य तत्त्व।

काव्य के आन्तरिक तत्त्वों में प्रधान तत्त्व 'रस' है और गौण रूप में 'ध्वनि' को काव्य का आन्तरिक तत्त्व माना जाता है। बाह्य तत्त्वों में भाषा, अलंकार, गुण, वृत्ति तथा छन्द आदि तत्त्वों को सम्मलित किया जाता है। इस काव्य-तत्त्व निर्धारण को अनुभूति पक्ष (भाव-पक्ष) तथा अभिव्यक्ति पक्ष (कलापक्ष) भी कहा जाता है। पाश्चात्य मतानुसार इन्हीं को चार भागों में विभक्त किया गया है। 1. भाव तत्व 2. विचार तत्व 3. कल्पना तत्व 4. शैली तत्त्व। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो काव्य-तत्त्व सम्बन्धी भारतीय विवेचन अधिक व्यापक एवं गरिमावान है। परन्तु अधिकांश भारतीय विद्वान् पाश्चात्य तत्त्वों पर ही बल देते देखे गये हैं। अतः यहाँ तुलनात्मक रूप में ही काव्य तत्त्वों पर विचार किया जाना उपादेय होगा:–

1. रस-तत्त्व

भारतीय काव्य परम्परा में 'रस-तत्त्व' को ही प्राथमिकता दी जाती रही है। इसी

आधार पर यह माना जाता है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट लक्षण है। रसात्मक काव्य ही सर्वोत्कृष्ट काव्य है और 'रस' ही काव्य की 'आत्मा' है। इसका कारण यह है कि 'रस' का सम्बन्ध केवल सत्त्वगुण से ही होने के कारण काव्य में 'रस' की विद्यमानता से उदात्त तत्त्वों का समावेश हो जाता है जिससे काव्य सर्वाधिक गरिमावान् तथा उपयोगी बन जाता है और वह पाठक-वृन्द के मन को अनुदात्त भावों की और से मोड़ कर उदात्त भावों की ओर उन्मुख कर देता है। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि रसपूर्ण रचना के लिए काव्य के अन्य तत्त्वों अलंकारादि की अनिवार्यता नहीं रहती। रसपूर्ण काव्य की भाषा सरल, स्वच्छ, आडम्बरहीन, प्रभावशाली, सरस, रोचक, सभी प्रकार के दोषों से मुक्त तथा गुणों से युक्त रहती है। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में महाकाव्य के लिए 'वीर', श्रृंगार' तथा 'शान्त' में से एक 'रस' प्रधान रूप में अर्थात् अंगीरूप में प्रयुक्त होना चाहिए। यदि इन रसों में से एक भी रस प्रधान रूप में विद्यमान नहीं होगा तो चाहे कितनी ही श्रेष्ठ रचना हो महाकाव्य की कोटि में नहीं आ सकती। इसके अतिरिक्त अन्य सभी रसों का 'मुख्य-रस' के सहायक (अंग) रूप में विद्यमान रहना भी आवश्यक है। इसी सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत में 'रामायण', 'महाभारत', 'रघुवंश', 'शिशुपालवध', आदि महाकाव्यों में 'वीर' रस अंगीरूप में और हिन्दी के 'पद्मावत', 'प्रिय प्रवास', 'साकेत', तथा 'कामायनी', मेंश्रृंगार रस का प्रयोग 'प्रधान रस' के रूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त 'रामचरित मानस' 'शांत रस' प्रधान महाकाव्य है।

'महाकाव्य' के अतिरिक्त 'नाटक' तथा खण्ड-काव्य में भी किसी एक 'रस' की प्रधानता रहनी चाहिए। बिना 'रस' के 'खण्डकाव्य' तथा 'नाटक' भी ग्राह्य नहीं हो सकते। यहाँ तक कि 'मुक्तक काव्य' में भी रस का प्रावधान उपयोगी रहता है परन्तु मुक्तक के लिए 'रस' अनिवार्य नहीं होता। 'मुक्तक रचना' भावादि पर भी आधारित रह सकती है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्रीय परम्परा में 'रस' का कहीं नाम तक नहीं आता। वहाँ के महाकाव्यों, खण्डकाव्यों तथा नाटकादि में 'रस' की अनिवार्यता का उल्लेख नहीं है। इसका कारण यही है कि पाश्चात्य काव्य 'रस' कोटि तक नहीं पहुँच पाता। वहाँ केवल भावाभिव्यंजना प्रधानता होती है। पाश्चात्य काव्य में 'त्रास' तथा 'करुणा' इन दो भावों को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। वहाँ के काव्य में इन दो भावों में से एक भाव किसी न किसी रूप में अवश्य उपलब्ध होगा। यूरोपिय मतानुसार रचना जितनी अधिक भयपूर्ण होगी उतनी ही अच्छी मानी जायेगी। ऐसी रचनाओं को वहाँ 'ट्रेजैडी' कहा जाता है जिसका हिन्दी रूपान्तर 'त्रासदी' है। यूरोपिय साहित्य में इतर रचनाओं को 'कामेंडी' (कामदी) कहा जाता है जिनमें केवल सामान्य हँसी-मजाक का भाव ही विद्यमान रहता है। परन्तु 'रस' संकल्पना न 'त्रासदी में उपलब्ध होती है और न कामदी में। अत: 'रस' तत्त्व केवल भारतीय काव्य-शास्त्र की ही महत्वपूर्ण देन है।

भारतीय साहित्य में कतिपय आचार्य भ्रमवश कुछ ऐसे स्थलों पर भी रस मान लेते हैं जहाँ 'रस' न होकर मात्र 'रसाभास' ही विद्यमान रहता है। इस प्रकार की स्थिति 'शृंगार' में सर्वाधिक देखने को मिलती है। हिन्दी का 'रीतिकालीन' साहित्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसी प्रकार समस्त पाश्चात्य काव्य में भी 'रसाभास' ही उपलब्ध होता है। वहाँ सर्वाधिक 'रसाभास' वीर रस में प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'भयानक', 'करुण', 'शृंगार', 'हास्य', 'शांत', 'रौद्र', 'बीभत्स', तथा 'अद्‌भुत' सभी रस अनुचित प्रयोगों के होने पर 'रसाभास' के रूप में ही प्रयुक्त माने जायेंगे क्योंकि वहाँ स्थायी भाव का 'साधारणीकरण' नहीं हो पाता। इसका आशय यह है कि यूरोपिय काव्य में 'भाव', सत्त्वगुण मूलकता को प्राप्त नहीं करता। वहाँ भाव 'रजोगुण' तथा 'तमोगुण' के आँचल से ही झाँक-झाँक कर देखता रहता है। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य कवि एवं आचार्य वर्ग का परिचय 'रस', साधारणीकरण तथा गुणादि जैसे उदात्त तत्त्वों से नहीं हो सका है। साथ ही उनका परिचय सतोगुण, रजोगुण, तथा तमोगुण से भी नहीं है। पाश्चात्य कवि, दर्शकों, पाठकों तथा श्रोतादि को केवल 'त्रस्त', चिन्तित एवं दु:खी बनाना चाहता है। इसीलिए पाश्चात्य काव्य में असत् पात्रों की सत् पात्रों पर, असत्य की सत्य पर, हिंसा की अहिंसा पर, क्रूरता की दयालुता पर, अधर्म की धर्म पर, असत् कर्म की सद्‌कर्म पर, असद् भाव की सद्‌भाव पर विजय दिखाई जाती है जिससे नाटकादि का प्रेक्षक त्रस्त होकर काँप उठे ओर उसके मुँह से मारे भय के अत्याचारियों के विरुद्ध एक शब्द भी न निकले। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य में भारतीय काव्य की अपेक्षा एक ध्यान देने योग्य बात यह होती है कि वहाँ के वातावरण के अनुसार हत्या, वध, मारकाट अग्निदाह, स्त्रीवध, बालवध, विषपान, आत्महत्या, सामूहिक हत्या, लोमहर्षक उत्पीड़न, पाशविक अत्याचार, लूट-डकैती, साहसिक मरण आदि का परम्परा प्रसूत प्रचलन है। अत: वहाँ के काव्य में इन सभी कार्यों को बुरा नहीं माना जाता।[40] इसलिए वहाँ का काव्य इन्हीं सब दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं से भरा हुआ है।[41] इन्हीं सब दुर्गुणों को देखकर प्लेटों ने काव्य को देश-धर्मादि के लिए घातक बताया था और समस्त काव्य को नष्ट कर देने तथा कवियों को देश से बाहर भगा देने की सलाह दी थी। प्लेटों का स्पष्ट मत था कि ऐसे काव्य से समाज के मन पर दूषित प्रभाव पड़ता है क्योंकि ये काव्य कहे जाने वाली रचनायें सत्य से तीन गुना दूर हैं। अत: काव्य ग्राह्य नहीं है।[42] परन्तु अरस्तू ने 'विरेचन सिद्धान्त' का प्रतिपादन करके काव्य को सर्वश्रेष्ठ कला घोषित किया और उसे पूर्ण ग्राह्य बताया।[43]

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय काव्य तथा पाश्चात्य काव्य में पर्याप्त अन्तर है क्योंकि भारतीय कवि तथा काव्य मन और बुद्धि की कक्षा से ऊपर उठकर आत्मा की कक्षा में विचरण करके रसास्वादन करने का पक्षपाती है जबकि पाश्चात्य कवि तथा काव्य केवल मनोविकारों तथा बुद्धि-विकारों तक ही सीमित रहना चाहता है और मात्र रजोगुण व तमोगुण मूलक भावों का ही अनुभव कराना चाहता है। चाहे पाश्चात्य

कवि 'आत्मा-आत्मा' चिल्लाता रहे परन्तु वह आत्मा की उस स्थिति एवं स्वरूप को नहीं जानता जिसे भारतीय कवि जानता और मानता है। पाश्चात्य कवि तो केवल मन को ही आत्मा समझ लेता है और मन के सन्तुष्ट होने को ही आत्म-तुष्टि कह कर सन्तोष कर लेता है तथा बुद्धि की तुष्टि को ही वह मोक्ष कहने लग जाता है। वहाँ की प्रेम कहानियों में तथा देश-भक्ति परक कथाओं में जो अभूतपूर्व साहस, त्याग एवं बलिदान देखा जाता है वह अवश्य ही सत्त्वगुणमूलक एवं रसात्मक होता है परन्तु उस भाव से वहाँ के 'सामाजिक' का तादात्म्य नहीं हो पाता। यूरोपिय 'सामाजिक' केवल उस विपरीत भाव को ही ग्रहण करता है जिसका सम्बन्ध असद् पात्र की असद् विजय से होता है। जेसे 'एन्टोनी और किलोपेट्रा' में या 'आलफॉर लव' में पाश्चात्य कवि 'एन्टोनी तथा किलोपेट्रा' के प्रेम को विशुद्ध अध्यात्म प्रेम की कोटि तक न ले जाकर उसे मनोभावों तक ही सीमित रखता है और 'आगस्ट्स सीजर' के द्वारा 'एन्टोनी'को परास्त दिखाकर दोनों की 'आत्महत्या' का चित्र प्रस्तुत कर देता है। इससे सद् पात्रों का पराभव और असद् पात्रों का उत्थान वहाँ के प्रेक्षकों के मन को त्रास तथा करुणा से भर देता है। यदि भारतीय कवि की भाँति यूरोपिय कवि भी 'एन्टोनी तथा किलोपेट्रा' के प्रेम को 'बलिदान' की वेदी पर चढ़ा देता। अर्थात् यदि 'एन्टोनी' 'सीजर' के साथ युद्ध में बहादुरी से लड़कर मर जाता और तब किलोपेट्रा उसके 'शव' को मँगवाकर उसके साथ सती हो जाती, तो यह प्रेम अवश्य ही अमर हो जाता परन्तु वहाँ ऐसा नहीं हुआ। 'एन्टोनी' अपनी हार देखकर अपनी ही तलवार पर गिरकर आत्म हत्या कर लेता है और 'किलोपेट्रा' सीजर के भय से 'सर्पो' से अपने को कटवाकर आत्महत्या कर लेती है। यद्यपि 'एन्टोनी और किलोपेट्रा' के जीवन का अन्त उन दोनों के प्रेम के कारण ही होता है परन्तु यदि 'एन्टोनी और किलोपेट्रा' को 'सीजर' का भय न होता तो दोनों में एक के मर जाने पर दूसरा आत्महत्या न करता। कहने का आशय यह है कि पाश्चात्य काव्य में जब कथा रसास्वादन की ओर बढ़ने लगती है तभी अनौचित्य की विजय और औचित्य का पराभव दिखाकर उसे 'रसाभास' के गर्त में ढकेल दिया जाता है। इसीलिए पाश्चात्य काव्य में मनोरंजन का अंश प्रधान रहता है और आत्मानन्द का अंश गौण। जबकि भारतीय काव्य में आत्मानन्द प्रधान रहता है और मनोरंजन गौण। भारतीय कवि इसी विशेषता के कारण रससिद्ध-कवि कहलाता है और उसका काव्य बुद्धि तथा मन से परे आत्मानुभूति मूलक अलौकिक आनन्द का अनुभव कराता है। यही 'रसास्वाद' कहलाता है जो भारतीय काव्य का प्राण तत्त्व है।

भाव-तत्त्व

पहले कहा जा चुका है कि भारतीय काव्य-परम्परा में क्षुद्र एवं छिछले भाव को महत्व नहीं दिया जाता क्योंकि जब यहाँ रस की सरस धारा प्रवाहित करने में कवि समर्थ हो जाता है तो फिर वह क्षुद्र एवं छिछले भाव बिन्दुओं से तृप्त नहीं होता। एक कहावत है– ***'जिनके घर गंग तरंग बहै तिन कूप का नीर पिया न पिया।'***

भारतीय कवि इसी परम्परा का अवलम्बन लेकर चलता है परन्तु काव्य में सर्वत्र तो 'रस' नहीं होता। जिस प्रकार गंगा जल सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता। फिर वहाँ के लोग जियेंगे कैसे ? उन्हें तो कूप का जल पीना ही पड़ेगा चाहे वह खारा हो या मीठा। इसी प्रकार काव्य में भी सभी कवि 'रस-सिद्ध' रचना करने में समर्थ नहीं होते। अत: फिर कवि अपनी सामर्थ्य के अनुसार जैसी रचना करता है वही ग्राह्य होगी, क्योंकि *'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते'* की स्थिति भी होती है। अत: इसी को स्वीकार करना पड़ेगा। अत: प्रधान रूप से भारतीय सिद्धान्तनुसार काव्य लक्षण में जहाँ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को मान्यता दी गई है वहीं 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' तथा 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द काव्यम्' भी माना गया है। केवल भेद इतना ही है कि 'रसात्मक' काव्य को 'उत्तम' काव्य माना जाता है और 'रसेतर' भावादि प्रधान काव्य को 'मध्यम' काव्य की श्रेणी में रक्खा जाता है। भारतीय परम्परा में इसे 'ध्वनि-काव्य' कहा जाता है परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि पाश्चात्य परम्परा का भाव तत्त्व और भारतीय परम्परा का 'ध्वनि-तत्त्व' एक ही है। भारतीय ध्वनि तत्त्व और पाश्चात्य भाव-तत्त्व पूर्णरूपेण पृथक् तत्त्व हैं। इसका आधार यह है कि ध्वनि-तत्त्व का सम्बन्ध आत्म भाव तथा आत्म सौंदर्य से होता है जबकि भाव का सम्बन्ध मनोभावों से ही होता है। इसी कारण से ध्वनि के तीन रूप माने गये हैं। 1. रस-ध्वनि 2. वस्तु-ध्वनि 3. अलंकार-ध्वनि। ध्वनि मत की स्थापना के पश्चात् जब 'रस' की स्वतन्त्र स्थापना हो गई तब 'रस ध्वनि' को 'ध्वनि' कोटि से पृथक् कर उसे 'रस' घोषित कर दिया गया और उसके स्थान पर 'व्यंग्य' को ध्वनि मानकर उसे 'भाव-ध्वनि' के रूप में स्वीकार किया गया। परन्तु भारतीय मतानुसार काव्य में 'भाव' का स्थान प्रधान न होकर गौण माना जाता है क्योंकि प्रथम स्थान यहाँ 'रस' का है। यही कारण है कि ध्वनि मूलक काव्य को मध्यम कोटि का काव्य स्वीकार किया जाता है और रसमूलक काव्य को प्रथम कोटि का, यथा :–

सो कवित्त है तीन विधि उत्तम मध्यम और।
जीव सरस पुनि देह सम दैहै बलि जेहि ठौर॥
व्यंग अर्थ सम सुखद जहँ मध्यम कहिये सोइ।
शब्द अर्थ है चित्र जहँ व्यंग्य न अवरसु होइ॥[44]

इसके विपरीत पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भाव को प्रमुख स्थान दिया जाता है। इसका कारण केवल यही है कि पाश्चात्य आचार्य 'रस-प्रक्रिया' से परिचित नहीं हैं। साथ ही उनकी परम्परायें भारतीय परम्पराओं के एकदम प्रतिकूल हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य काव्य में भाव आत्मानुभूति की कोटि तक नहीं पहुँच पाता। वह केवल 'मन' तक ही सीमित रह जाता है। इसीलिए पाश्चात्य काव्य में भाव की सार्वभौमिकता का स्वरूप भी स्पष्ट नहीं हो पाता। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि काव्यशास्त्र के हिन्दी-व्याख्याता बिना सोचे समझे ही बात-बात में हिन्दी-काव्य-शास्त्र अथवा

भारतीय काव्य-सिद्धान्तों में पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों का आरोप करने लग जाते हैं। उन्हें उस समय तक संतोष नहीं होता जब तक वे पाश्चात्य काव्य या काव्य-शास्त्र के अनुरूप भारतीय काव्य या काव्य-शास्त्र को घोषित नहीं कर देते। इसे ही वे अपने पाण्डित्य की कसौटी मानते हैं। क्या रस, क्या साधारणीकरण, क्या काव्य का सत्य तथा प्रेरणादि सभी तत्त्वों को पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों में खोजने का प्रयास किया जाता है और किसी न किसी रूप में खींचतानकर उनकी स्थापना करके ही हमारे आलोचक महोदय गर्व का अनुभव करते हैं। हमको इस बात का बड़ा खेद है कि जब भारतीय काव्य-शास्त्र इतना सम्पन्न एवं प्रामाणिक है कि उसकी टक्कर का काव्य और काव्य-सिद्धान्त दूसरा है ही नहीं तो फिर हम अपने को न समझकर दूसरों की शरण मे जाकर ही संतोष लाभ करने के अभ्यस्त क्यों हो गये हैं? इसका कारण हमारे मन की परवशता है। हमको सब कुछ यूरोप में ही पुष्कल दिखाई देता है। इसीलिए हम अपने महान् सिद्धान्तों की भी हत्या करते चले जा रहे हैं।

भाव के दो रूप होते हैं। 1. उदात्त 2. अनुदात्त। काव्य में ये दोनों ही प्रकार के भाव मिलते हैं। परन्तु अनुदात्त भावों का समावेश तुलनात्मक रूप में उदात्त भावों की गरिमा तथा अनुकूलता का प्रदर्शन करने के लिए ही होता है। इसी लिए महात्मा तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' के प्रारम्भ में लिखा है *'दोष रहित दूषन सहित'*। इसका आशय यही है कि 'रामचरितमानस' में जो असत्यवादी, हिंसक क्रूर, स्वार्थी, विलासी, अत्याचारी, विधर्मी, जनत्रासक, शोषक तथा नरभक्षी राक्षसों का वर्णन हुआ है वह सत्यवादी, अहिंसक, दयालु, धर्मात्मा, परोपकारी, त्यागी, जनरक्षक, श्रीराम से उनकी तुलना करके राम के चरित्र की अपरिमित महत्ता का प्रतिपादन करने में पूर्णतया सफल हो सका है। अत: 'रामचरितमानस' की ही भाँति अन्य भारतीय महाकाव्यों तथा खण्डकाव्यादि में भी तुलनात्मक रूप से उदात्त भावों के प्रतिलोम भावों का दिग्दर्शन किया जाता रहा है और 'असद्कार्य' का परिणाम 'असद्' तथा 'सद्कार्य' का परिणाम 'सद्' दिखाया जाता रहा है जिससे समाज में 'असत्' के प्रति घृणा, विक्षोम आदि निवृति मूलक भावों का उदय हो और 'सत्' के प्रति श्रद्धा, विश्वास आदि प्रवृत्ति मूलक सद्भावों का उत्थान हो। इसीलिए भारतीय मनीषा ***'सत्यमेव जयते नानृतम्'*** आदि के 'वेद-वाक्यम्' को प्रमाण मानकर चलती है। इसका मूलाधार सुष्ठु एवं सुदृढ़ भारतीय सांस्कृतिक परम्परायें तथा भारत-भूमि पर महान् चरित्रों का अभ्युदय ही है। यही कारण है कि भारतीय काव्य में उदात्त भावों को ही मुख्य-रूप से चित्रित किया जाता है। साथ ही ऐसे महान् पुरुषों के चरित्रों का वर्णन किया जाता है जिन्होंने सत्य, अहिंसा, त्याग, तप, दया, बलिदान, सहिष्णुता, परोपकरादि के लिए अपने प्राण तक न्यौछावर कर दिये तथा देश-धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिए अपने सर्वस्व का त्याग कर दिया। दूसरी और भारतीय काव्य में सर्वत्र असत्य, हिंसा, क्रूरता, स्वार्थपरता, विलासिता, शोषण आदि की घातक प्रवृत्ति का परिचय कराकर उसके ग्रहण का विरोध किया जाता रहा

है और स्वार्थी लोगों की भर्त्सना की जाती रही है। महात्मा तुलसीदास ने तो इसी प्रवृत्ति के कारण देवगणों तक को स्वार्थी तथा ढोंगी कह डाला है। यथा– **'आये देव सदा स्वारथी। वचन कहैं जनु परमारथी।।'** (मानस) मैथिली शरण गुप्त ने त्यागी तथा बलिदानी वीरों का उल्लेख करते हुए स्वार्थी मनुष्यों की निन्दा की है और परोपकार की महत्ता का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है :–

'क्षुधार्त्त रन्तिदेव ने दिया करस्थ थाल भी।
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थि जाल भी।
उशीनरः क्षितीश ने स्वमाँस दान भी किया।
सहर्ष वीर कर्ण ने स्वदेह चर्म भी दिया।
यही पशु प्रवृत्ति है कि आप-आप ही चरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे। *(भारत भारती)*

इसी प्रकार कबीर ने भी अनुदार लोगों की भर्त्सना करते हुए हिंसा के त्याग का उपदेश दिया है :–

'बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं तिनकों कौन हवाल।।'

सत्यव्रत-पालन, मर्यादापालन, स्वतन्त्रता, स्वदेश-प्रेम, समाज-प्रेम, स्वधर्म-प्रेम आदि भावों के वर्णन भारतीय काव्य में यत्र-तत्र और सर्वत्र भरे पड़े हैं। अतः भारतीय काव्य परम्परा में 'भाव' का निरूपण भी सदैव 'सार्वभौम सत्य' के रूप में ही होता रहा है जो देश कालादि की सीमाओं से मुक्त रहकर 'सर्वजनहिताय', बहुजन रताय', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'आत्मत्सर्वभूतेषु' की भावना को व्यक्त करता चला आ रहा है।

भारतीय काव्य में वर्णित 'भाव' की तुलना में पाश्चात्य काव्य में वर्णित 'भाव' वैयक्तिक तथा हिंसक-वृत्ति को बढ़ावा देने वाला, धार्मिक विद्वेष उत्पन्न वाला, दानवी साहस का प्रदर्शन करने वाला, क्रूरता तथा पशुवृत्ति का पोषण करने वाला होता है।[45] यही कारण है कि पाश्चात्य 'भाव-तत्त्व' देश कालादि की सीमाओं से आबद्ध रहने के कारण संकीर्ण एवं अनुदात्त होता है चाहे पाश्चात्य कवि या काव्यशास्त्री उसकी 'उदात्तता' की दुहाई देते रहें परन्तु उनकी 'उदात्तता' भी देश कालादि की सीमा में आबद्ध होती हैं क्योंकि 'उदात्तता' को वे लोग संकीर्ण अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार सामान्यतः हमारे यहाँ व्यक्ति कहते सुने जाते हैं कि हमारी 'आत्मा' बहुत दुःखी है परन्तु 'आत्मा' तो सुख-दुःख से परे है। दुःख का आधार या तो 'मन' है या 'बुद्धि'। स्पष्ट है कि पाश्चात्य देशों में 'अध्यात्मवाद' का तो केवल नाम ही नाम है, वहाँ विशुद्ध रूप में 'बुद्धिवाद' (भूतवाद) तथा मनोवाद (ऐन्द्रिक सुखवाद) ही है। अतः भारतीय कवि जिस तत्त्व को 'भाव-तत्त्व' के रूप में ग्रहण करता है वह पाश्चात्य 'भाव-तत्त्व' (बौद्धिक तथा मनोवैज्ञानिक भाव) से बिल्कुल भिन्न (आध्यात्मिक भाव-तत्त्व) होता है जो पूर्ण रूपेण आत्मभाव पर आधारित होता है। इसी को भारतीय भाषा में 'ध्वनि'

कहा जाता है।

भारतीय काव्य में भी कहीं-कहीं भाव का निरूपण अनुदात्त या अनुचित रूप में हुआ है जैसे– रीतिकालीन कवियों का 'प्रेमभाव'। इन कवियों के प्रेम-निरूपण में उदात्तता का अभाव है। अत: इन स्थलों पर 'भावाभास' माना जाता है। इसी प्रकार का काव्य आधुनिक युग में आंशिक रूप से छायावादी तथा पूर्णरूपेण प्रयोगवादी काव्य है जो वैयक्तिक कुण्ठाओं, ग्रंथियों, हीनभावनाओं, पलायनवादी धारणाओं, मानसिक चिन्ताओं, व्यथाओं, अन्तर्वेदनाओं आदि संकीर्ण भावों एवं क्लिष्ट विचार बिन्दुओं से भरा हुआ है। इस काव्य में स्पष्ट रूप से पाश्चात्य भाव निरूपण की छाप है। दूसरी और मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव भी इस प्रकार के काव्य पर पड़ा है और इस धारा का कवि अपने आत्मबल तथा आत्मगौरव को भूल कर स्वार्थ में आर्त्त होकर रोने लग गया है। जबकि यह भावना एक सच्चे भारतीय कवि की भावना नहीं है यह भावना तो आर्थिक विषमताओं में आबद्ध, हिंसा-क्रूरता तथा अत्याचारों से त्रस्त, भौतिक सुखों से आक्रान्त, मशीनी-दुनियाँ में पलने वाले पाश्चात्य कवि को ही शोभा देती है। भारतीय कवि का आदर्श तो भौतिक-विलास के दूषित गर्त से बाहर निकलकर 'सर्वभूतहितेरता' की बात सोचना व कहना है। वह ***'सर्वेभवन्तु सुखिन: सर्वेसन्तु निरामया'*** की कामना से ही अपनी लेखनी को 'पूत' बनाता रहा है। उसकी आत्मा सदैव अपने आँसुओं के स्थान पर दूसरों के आँसुओं को देखकार ही द्रवित होती है। भारतीय कवि कभी अपने लिए नहीं रोता परन्तु दूसरों की आँखों में आँसू देखकर वह रोये बिना भी नहीं रह सकता। उसकी लेखनी दीनों के आँसू सुखाने के लिए नृसिंहावतार धारण कर लेती है। खम्भे से नृसिंह और जटाओं से वीरभद्र उत्पन्न कर देती है, जो क्षणमात्र में दुष्टों का विनाश करके सज्जनों को सुख प्रदान करने का कार्य करती है। पाश्चात्य दु:खवाद की दलदल में फँसे हुए इन्हीं आधुनिक कवियों की ओर सुभद्रा कुमारी चौहान की ये पंक्तियाँ संकेत कर रही हैं :–

'भूषण अथवा कवि चन्द नहीं।
बिजली भर दे वह छन्द नहीं॥'

स्पष्ट है कि छायावादी तथा प्रयोगवादी कवि का अपना 'रड़रोना ही' हमारी कवि परम्पराओं के अनुकूल नहीं है।

विचार-तत्त्व

भारतीय काव्य में कोरे विचार का महत्त्व स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि भारतीय कवि बुद्धि के स्तर से ऊँचा उठ कर 'आत्मा' के स्तर पर पहुँचकर ही विश्राम लेता है। यही कारण है कि पाश्चात्य विचारधारा से पोषित विचार-तत्त्व भारतीय सहृदय के मन में संवेदनशीलता उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि विचार एक क्लिष्ट चिन्तन का नाम है जिसमें बौद्धिक उलझनें, तर्क-वितर्क, शुष्कता, नीरसता, तथा मस्तिष्क की कसरत सम्मलित होती है। जबकि काव्य का मूल उद्देश्य 'रसास्वादन' कराना होता है।

अत: कोरा विचार-तत्त्व जो रसास्वादन का विरोधी है, काव्य के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। भारतीय कवि भी विचार का प्रयोग करता अवश्य है परन्तु उसे भावों के नियंत्रण में ही रखकर। भारतीय कवि जानता है कि विचार का स्वतंत्र रूप में प्रयोग कभी लाभकारी नहीं होता क्योंकि काव्य का सम्बन्ध आत्मानुभूति मूलक रसास्वादन से है अत: 'विचारानुभूति' मात्र काव्य का उद्देश्य नहीं होती। भारतीय मतानुसार कोरा 'विचार' केवल शास्त्रीय विवेचन का ही आधार है। अत: लक्षणग्रंथों में काव्य तत्त्वों व सिद्धान्तों के निर्धारण एवं निरूपण में 'विचार-तत्त्व' की अनिवार्यता रहती है। इसीलिये काव्य-शास्त्र का अध्ययन सभी लोग नहीं करते। केवल विद्वान् या आकांक्षी लोग ही कर पाते हैं। केशवदास ने काव्य-नियमों की दुरूहता को ध्यान में रखते हुए कविप्रिया की रचना केवल पद्य में ही करके उसे सर्वसुलभ बनाने का प्रयास किया था।

'समुझें बाला बालकनि बरनन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी क्षमिजो बुध अपराध॥' *(केशवदास)*

इस आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि कोरा विचार तत्त्व काव्य का विषय नहीं है। वह केवल काव्य शास्त्र का ही विषय है। इसी लिए विचार-तत्त्व का प्रयोग काव्य-शास्त्रीय विवेचन में तथा विचारात्मक (शास्त्रीय) निबन्धों में किया जाता है। उपन्यासों तथा कहानियों में भी 'बुद्धि-तत्त्व' का समावेश होता है परन्तु वहाँ विचार भावों का पोषक बनकर ही आता है। 'चित्रलेखा' उपन्यास में 'चित्रलेखा', कुमारगिरि तथा चाणक्य के 'दर्शन' एवं 'राजनीति' सम्बन्धी कथनों में तथा 'गोदान' में प्रयुक्त मेहता, रायसाहब आदि के पारस्परिक वाद-विवादों में यत्र-तत्र दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक विवेचन प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार 'तत्सत्' तथा 'शत्रु' कहानिथों में भी विचारात्मकता मिलती है परन्तु यह विचारात्मकता न तो स्वतंत्र है और न स्वाभाविक क्योंकि उपन्यास का मूल उद्देश्य होता है मनोरंजन और जहाँ बौद्धिक बल लगा हुआ होता है वहाँ मनोरंजन कहाँ? अत: 'चित्रलेखा' और 'गोदान' आदि उपन्यासों के विचार-पूर्ण स्थलों में भी सत्य, अहिंसा, त्याग, तप, बलिदान, साधना, आराधना, प्रेम, सहानुभूति, परोपकारादि के भावों को ही व्यंग्य-रूप में चित्रित किया गया है। प्रेमचन्द्र तथा भगवतीचरण वर्मा का शास्त्रीय विवेचन भी भावुकता से युक्त है। वह कोरा शास्त्र नहीं है। 'जीवनी', रेखाचित्र 'स्मृति चित्र' तथा 'रिपोर्ताज' आदि में भी भावात्मक वर्णन एवं विवरण सन्निहित रहते हैं। केवल विचारात्मक निबंधों में विचार प्रधान होता है और भाव गौण। परन्तु इस प्रकार के निबन्धों को शास्त्रीय विवेचन की कोटि में ही रक्खा जाता है, काव्य की कोटि में नहीं।

कविता में भी यत्र-तत्र विचारों का समावेश मिलता है परन्तु वह गौण रूप में ही भावों का पोषक बनकर अवतरित होता है। उदाहरणार्थ– भक्तिकालीन कवियों की सम्पूर्ण कविता में विचार-तत्त्व व्याप्त है परन्तु उसे शांत रस में पाग कर इतना मिष्ट बना दिया है कि जिधर से देखो उधर ही उसमें सरसता दृष्टिगोचर होती है।

इसके विपरीत पाश्चात्य काव्य में क्लिष्ट 'विचार-तत्त्व' को प्रधानता दी जाती है। वहाँ 'भाव-तत्त्व' के साथ ही साथ 'विचार-तत्त्व भी काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। परन्तु पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों तथा कवियों के लिए विचार का महत्त्व इस कारण है कि उनका समस्त काव्य केवल मन तथा बुद्धि के धरातल पर ही स्थित है। अत: पाश्चात्य कवि या लेखक विचारों (बौद्धिक उपकरणों) के द्वारा ही काव्य को नैतिकता का बाना पहनाता है। यदि वह ऐसा न करे तो वहाँ का काव्य 'प्लेटो' के कथानुसार पूर्ण अग्राह्य हो जायेगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या भारतीय कवि काव्य में औचित्य-निर्वाह के लिए (आदर्श स्थापना के रूप में) विचार-तत्त्व का प्रयोग नहीं करता। इस सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि उदात्त विचार का सम्बन्ध औचित्य से है। इसीलिए क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को काव्य की 'आत्मा' के रूप में चित्रित किया था। परन्तु उनका यह सिद्धान्त इस रूप में मान्य न हो सका। इसका कारण यही है कि सामान्य औचित्य का सम्बन्ध बुद्धि से होने के कारण वह देश-कालादि की सीमाओं में आबद्ध रहता है। अत: सामान्य औचित्य 'रस' की सार्वभौमिकता को प्राप्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि लौकिक औचित्य 'रस' के समक्ष हेय पड़ जाता है परन्तु भारतीय कवि भी आधुनिक सामान्य साहित्य में 'विचार' को महत्त्व देने लगा है क्योंकि हिन्दी पद्य तथा गद्य में मनोवैज्ञानिकता, वैज्ञानिकता, मार्क्सवाद आादि विचारपूर्ण तत्त्वों का शोरगुल सुनाई देने लगा है। इसी कारण मार्क्सवाद से पूँजीवाद, मनोविश्लेषणवाद आदि के रूप में अनेक वाद-विवादों का जन्म हिन्दी-साहित्य में हो चला है। इस समस्त 'विचार-मरीचिका' का कारण पाश्चात्य 'विचारवाद' है। काव्य-क्षेत्र में और विशेषकर कथा-साहित्य में 'यथार्थ' और 'आदर्श' का कुहराम भी मचा हुआ है। यह समस्त वात्याचक्र 'विचार-तत्त्व' से ही सम्बन्धित है। आधुनिक काल में 'विचार-तत्व' जिस संकीर्ण-स्वरूप में पनप रहा है उससे भारतीय मनीषा सन्तुष्ट नहीं हो सकती क्योंकि भारतीय प्रज्ञा सदैव काव्य को 'बुद्धि' तथा 'मन' की कक्षा से परे आत्मानुभूति का विषय मानती रही है और बुद्धि तथा मन की हेयता की घोषणा करती रही है–

'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय।' *(कामायनी इड़ा सर्ग)*

'फैली अलकें ज्यों तर्क जाल।' *(कामायनी इड़ा सर्ग)*

आदि में बुद्धि के कुटिल कलेवर की भर्त्सना की गई है। आधुनिक हवा को देखते हुए यह तो मानना पड़ेगा कि हिन्दी-लेखकों की आधुनिक पीढ़ी पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण करके काव्य में शुष्क विचारात्मकता को महत्त्व प्रदान करने लगी है परन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि कोरा 'बौद्धिक चिन्तन' काव्य के लिए कभी लाभप्रद सिद्ध नहीं होगा।

कल्पना-तत्त्व

पाश्चात्य काव्य-शास्त्री, कल्पना को काव्य का मूल हेतु मानते हैं। इन के मतानुसार

बिना कल्पना के कवि, काव्य-रचना कर ही नहीं सकता। परन्तु भारतीय काव्य शास्त्र में कल्पना का नाम तक नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि कल्पना का सम्बन्ध मन की उड़ान से है और मन की उडान ही संसार में नाश की निशानी है। यही मानवता का काल-सूत्र है। 'मन न समुद्र समाय' की उक्ति इसी ओर संकेत करती है। संस्कृत आचार्यों ने काव्य का मूल हेतु 'प्रतिभा' को माना है। कवि अध्ययन तथा अभ्यास आदि के द्वारा अपनी प्रतिभा को प्रखरतर बना सकता है या सोई हुई प्रतिभा को जगा सकता है परन्तु प्रतिभा के अभाव में उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। यहाँ यह कहना भी अनुचित न होगा कि 'कवि-प्रतिभा' काव्य रचना की एक विशिष्ट शक्ति होती है और जिस व्यक्ति में यह शक्ति विद्यमान रहती है केवल वही काव्य रचना कर सकता है। प्रतिभा अर्जित न होकर संस्कारगत होती है। इसी कारण से तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सोलह वर्ष की उम्र में ही कविता का प्रणयन प्रारम्भ कर दिया था –

'लै ब्यौंढ़ा ठाढे भये श्री अनिरूद्ध सुजान।
बाणासुर की सैन को हनन लगे भगवान॥'

कहा जाता है कि यह भारतेन्दु का अल्पायु में रचा गया दोहा था। उनके पिताजी ने इस दोहे को पढ़कर ही यह समझ लिया था कि इस बालक में एक उच्च कोटि के कवि की प्रतिभा है और यह एक दिन प्रसिद्ध कवि बनेगा। आगे चलकर यही हुआ भी। लोकव्यवहार में इसी प्रकार के उदाहरणों के उपलब्ध होने के कारण प्रतिभा के सम्बन्ध में अनेक उक्तियाँ प्रचलित होती रहीं हैं। यथा, **होनहार विरवान के होत चीकने पात', 'लाल गुदड़ी में नहीं छिपते', 'पूत के पाँव तो पालने में ही दिखाई दे जाते हैं'** आदि। इन सभी उक्तियों से इसी धारणा की पुष्टि होती है कि काव्य रचना का मूल-तत्त्व 'प्रतिभा' है, 'कल्पना' नहीं क्योंकि कल्पना का सम्बन्ध बुद्धि तथा मन से है और कवि प्रतिभा का सम्बन्ध कवि की आत्मानुभूति से। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रतिभा कवि की 'आत्म-शक्ति' है। इसके विपरीत कल्पना 'बुद्धि-शक्ति' तथा मन: शक्ति है जो केवल वैज्ञानिक अविष्कार तथा कलात्मक चमत्कार का ही विषय है, काव्य का नहीं। इस प्रकार कल्पना आविष्कार एवं कलात्मक निर्माण की शक्ति है और प्रतिभा अनुभूति जन्य आत्माह्लाद की। बुद्धिगत कल्पना का प्रयोग केवल भौतिक अविष्कार में ही होता है और मन: गत कल्पना का प्रयोग केवल मनोरंजन में। पाश्चात्य विद्वान् उपर्युक्त दोनों ही कार्यों को 'विज्ञान' तथा 'कला' इन दो रूपों में ही देखते हैं। उनकी दृष्टि में 'काव्य' भी एक कला है और उसका आधार मात्र मनोरंजन है। इसीलिए ये लोग काव्य को मन: कल्पना का परिणाम मानते हैं और आत्मानुभूति को नकारते हुए अभिव्यक्ति-तत्त्व या 'कला' को ही महत्त्व प्रदान करते हैं। जहाँ भारतीय कवि काव्य का सम्बन्ध 'रस' (आत्मानन्द) से मानता है, वहाँ पाश्चात्य कवि काव्य का सम्बन्ध केवल मनाह्लाद से ही मान कर चलता है। इसीलिए पाश्चात्य कविता में कला पर बल दिया जाता है और आचार या नीति का तिरस्कार करते हुए

उसे अधिकाधिक स्वच्छन्द बनाने का प्रयास किया जाता है। यही कारण है कि पाश्चात्य काव्य में 'रस' के स्थान पर 'रसाभास' ही उपलब्ध होता है। 'नीति' की अवहेलना होने के कारण हिन्दी का रीतिकालीन शृंगारी काव्य भी इसी कोटि में आता है। यह समस्त काव्य रसाभास जन्य है। रस-युक्त काव्य की भाँति इसमें सार्वजनीन उपयोगिता (प्रेरणा, आदर्श, शिक्षा, उदात्त भावों की अनुभूति) आदि का अभाव ही है। यदि वास्तविकता तक पहुँचने का प्रयास किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ आत्मानुभूति की तीव्रता होती है, वहां कल्पना नहीं ठहर पाती क्योंकि आत्मानुभूति के क्षणों में मन तथा बुद्धि भी अपनी वक्रगति का परित्याग करके ऋजुरूप हो जाते हैं जिससे कवि बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होकर ही काव्य-रचना करता है। दूसरे शब्दों में काव्यरचना के समय कवि के बुद्धि तथा मनगत विकार (रजोगुण तथा तमोगुण) निष्प्रभ हो जाते हैं और आत्म गत सौन्दर्य (सत्त्व गुण मूलकता) ही शेष रह जाती है। यही कारण है कि संस्कृत तथा हिन्दी का काव्य अधिकांशत: 'रससिद्ध' काव्य है। इसीलिये इस प्रकार के काव्य को 'प्रथम कोटि' का काव्य माना जाता है। साथ ही जहाँ काव्य में नैतिक मूल्यों की अवहेलना देखी जाती है, वह 'रसाभास पूर्ण' काव्य होता है और इस प्रकार का काव्य निकृष्ट कोटि का माना जाता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत तथा हिन्दी में जहाँ अलंकारों आदि चमत्कार मूलक तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है, वह कवि की 'मध्यम कोटि' की रचना होती है क्योंकि ऐसी रचनाओं में पाण्डित्य का पुट अधिक रहता है जिससे वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य विच्छिन्न हो जाता है। तीसरे प्रकार की रचना वह होती है जहाँ न रसानुभूति है और न पाण्डित्य, कोरा वाग्जाल होता है। इस प्रकार का काव्य 'शब्दचित्र' या 'चित्र-काव्य' माना जाता है। हिन्दी की 'प्रयोगवादी' कविता इसी कोटि में आती है। इन तीनों ही प्रकार की रचनाओं में उत्तम, मध्यम तथा अधम कोटि की प्रतिभा का ही समावेश रहता है, जिसे पाश्चात्य आचार्य कल्पना के नाम से अभिहित करते हैं। यदि हम प्रतिभा को भी कल्पना मान लें तो फिर प्रत्येक कवि वैज्ञानिक होना चाहिये और प्रत्येक वैज्ञानिक कवि, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। भारतीय मनीषा कल्पना का प्रयोग केवल उपमान योजना अर्थात् अलंकारों के सृजन में ही करती है जिन्हें काव्य-भूषण कहा जाता हैं। अत: हमारी राय में पाश्चात्य कल्पना-तत्त्व भारतीय अलंकार-तत्त्व का ही सहजीवी है।

शैली-तत्त्व

'शैली' शब्द भी पाश्चात्य काव्य शास्त्र की ही देन है। भारतीय काव्य शास्त्र में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता। भारतीय भाषा में इसे 'रीति' नाम दिया गया है जिसका मूलाधार 'शब्द' तथा 'अर्थ' की विशिष्ट संरचना है। 'रीति' के प्रमुख आचार्य वामन ने 'शब्द' को काव्य का बाह्य तत्त्व और 'अर्थ' को उसका आन्तरिक तत्त्व माना है, इसीलिए उन्होंने गुणों के भी 'शब्द-गुण' तथा 'अर्थगुण' ये दो भेद करके गुणों को रीति का मूल तत्त्व घोषित किया है। भारतीय मतानुसार शैली (रीति) के दस बाह्य तथा

दस आन्तरिक भेद हैं और कुल मिलाकर काव्य शैली बीस प्रकार की होती है। इस आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि 'शैली' का इतना व्यापक एवं सारगर्भित विवेचन पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में नहीं हुआ है जितना कि भारतीय काव्य-शास्त्र में हुआ है। वहाँ काव्य-शैली को केवल अभिव्यक्ति मात्र से सम्बद्ध माना है और शब्द, वाक्य तथा प्रतीकादि की संयोजना को 'शैली' से अभिदिष्ट किया है। वामन का यह 'रीति सिद्धान्त' 'शैली निरूपण' के रूप में ही अधिक उपादेय तथा मान्य है। भारतीय मतानुसार काव्य के तीन रूप माने जाते हैं। 1. पद्यमूलक 2. गद्य मूलक 3. मिश्रित। पद्यमूलक काव्य के अन्तर्गत महाकाव्यादि को रखा गया है जो छंदोबद्ध रचनाएँ होती हैं। गद्यमूलक काव्य के अंतर्गत कथा-साहित्य आदि गद्ययुत रचना आती हैं। मिश्रित काव्य के रूप में वह काव्य आता है जो छन्द तथा गद्य दोनों में रचा गया है। इसे 'चम्पू' नाम दिया गया है। भारतीय परम्परा में शैली-रूप में 'छन्द' का अधिक विस्तार से निरूपण हुआ है। संस्कृत आचार्यों ने छन्द को दो भागों में विभक्त किया है - 1. वर्णवृत्त 2. मात्रिक वृत्त। संस्कृत में वर्णवृत्तों का बोल बाला रहा; तो हिन्दी में मात्रिक छन्दों का अधिक प्रयोग किया गया है। दोहा, चौपाई, सोरठा, छप्पय, कुण्डलिया, आल्हा, सरसी, झूलना, बरवै, उल्लाला आदि 'मात्रिक' छन्द केवल हिन्दी में ही प्राप्त होते हैं। संस्कृत में ये छन्द नहीं मिलते। संस्कृत में मात्रिक छन्दों में गीतिका, हरिगीतिका, त्रोटक, ताटंक, त्रिभंगी आदि छन्द ही उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में संस्कृत के वर्णवृत्तों जैसे, मालिनी वसन्ततिलका, आर्या, शार्दूलविक्रीडित आदि का प्रयोग बहुत कम हुआ है। सवैया तथा कवित्त हिन्दी के सर्वाधिक उपादेय वर्णवृत्त हैं। इन छन्दों का प्रयोग हिन्दी की अपनी विशेषता है। दोहा, चौपाई, सवैया और कवित्त ये चार छन्द हिन्दी कविता का मेरुदण्ड हैं। हिन्दी में इन चार छन्दों के अतिरिक्त एक छन्द और विशेष महत्वपूर्ण है - 'पद' - जिसे 'गीति-छन्द' भी कहा जाता है।

इस समस्त विवेचन में यह स्पष्ट है कि संस्कृत तथा हिन्दी में छन्दों की एक विशाल संख्या है। इन भाषाओं में छन्दों का निर्माण भाषा की प्रवृत्ति, भाव की प्रवृत्ति तथा परिस्थिति के अनुकूल निरन्तर होता रहा है। भारतीय काव्य की यही शैली है जिसमें सरसता, भावुकता, प्रेरणादायकता, सजीवता, रोचकता, गेयता, स्वरात्मकता, लयात्मकता तथा तालादि का अभूतपूर्व सौन्दर्य एवं सामञ्जस्य उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी कविता भी शैली की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की है। 'गद्य शैली' के रूप में भारतीय लेखक संवादात्मकता, वर्णनात्मकता, विवरणात्मकता आदि प्राणालियों को अपनाकर चला है और इन्हीं प्रयोगों को शैली नाम दिया गया है। गद्य-शैली के क्षेत्र में हिन्दी आचार्यों का आधार हिन्दी में उपलब्ध उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि गद्य -विधायें ही हैं। भारतीय मतानुसार गद्य तथा पद्य दोनों ही रूपों के लिए 'रीति' (गुणों), अलंकारों, वक्रोक्ति तथा औचित्य को काव्य शैली के अन्तर्गत ही माना जाना चाहिये जिसे अभिव्यक्ति (बाह्य) तत्त्व भी कहा जाता है। साथ ही 'रस' तथा 'ध्वनि'

को काव्य का अन्तर्पक्ष (भावपक्ष) माना जाना ही उचित है। भारतीय काव्यतत्त्वों में पाश्चात्य तत्त्वों को सम्मलित करना अनुचित है और भारतीय भावना पर कुठाराघात है। पाश्चात्य शैली-तत्त्व भारतीय छन्द-तत्त्व से बहुत अधिक पिछड़ा हुआ है क्योंकि अलंकारों की भाँति भारतीय काव्य में छन्दों का विश्वस्तर पर सर्वाधिक विस्तार, गाम्भीर्य, औचित्य तथा उपयोग परिलक्षित होता है। यहाँ तो प्राय: गद्य भी स्वर, लय तथा ताल संयत होकर ही आनन्दावधारिणी धारा बनकर प्रवाहित हुई है। 'बाण' तथा महादेवी का गद्य इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। 'छन्द' में स्वर-ताल और लय का उन्मुक्त प्रवाह होता है जिसका प्रारम्भ 'वेदों' से हुआ है। वेदों को इसीलिए 'छांदस्' भी कहा जाता है। अत: शैली तथा शिल्प दोनों ही रूपों में भारतीय सिद्धान्त अद्वितीय है।

काव्य की आत्मा

भारतीय मनीषा काव्य के दो पक्ष मान कर चली है। 1. आत्मपक्ष 2. शरीर पक्ष। प्राचीनकाल से इन्हीं दोनों पक्षों को आधार बनाकर आचार्यों ने जहाँ एक ओर काव्य-लक्षण का निर्धारण किया है वहीं दूसरी और काव्य के आत्मपक्ष का भी विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है। परन्तु सभी आचार्य काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में एक मत नहीं हैं, उनमें इस विषय पर पर्याप्त विवाद परिलक्षित होता है। अत: काव्य-सिद्धान्त के क्षेत्र में काव्यात्म विवेचन की एक लम्बी परम्परा रही है, जिसमें अपने-अपने मतों की स्थापना करते हुए आचार्यों ने पृथक् सम्प्रदायों का निर्माण भी किया है। काव्यात्म पर अत्यन्त गहन एवं तर्क पूर्ण विचार करते हुए आचार्यगण शनै:-शनै: रस की ओर अग्रसर होते गये और अन्त में काव्यात्म-रूप में 'रस' की सर्वमान्य स्थापना का गौरव प्राप्त कर सके। काव्यात्मविवेचन- सम्बन्धी सम्प्रदाय निम्नलिखित माने जाते हैं–

1. अलंकार सम्प्रदाय
2. रीति सम्प्रदाय
3. ध्वनि सम्प्रदाय
4. वक्रोक्ति सम्प्रदाय
5. रस सम्प्रदाय
6. औचित्य सम्प्रदाय।

इन सभी सम्प्रदायों के काव्यात्म सम्बन्धी दृष्टिकोणों का तुलनात्मक विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

अलंकार - सम्प्रदाय

भामह

अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य भामह माने जाते हैं। इन्होंने सर्वप्रथम काव्य के मूल तत्त्व की घोषणा करते हुए कहा था :–

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।'[46]

अर्थात सुन्दर होने पर भी स्त्री का मुख बिना आभूषणों के सुशोभित नहीं होता। भामह कविता को भी एक स्त्री का ही रूप मानते हैं। इस आधार पर उक्त घोषणा का तात्पर्य यह लगाया जा सकता है कि 'बिना अलंकारों के काव्य सुन्दर नहीं बन सकता।' परन्तु विचरणीय यह है कि भामह ने अपनी इस घोषणा में यह कहाँ कहा कि अलंकार काव्य की आत्मा है? उन्होंने तो स्त्री के मुख से कविता की तुलना करके यह बताया है कि स्त्री का गोरा रंग, सुडौल एवं स्वस्थ शरीर उसके बाह्य सौंदर्य के ही द्योतक होते है परन्तु स्त्री का वास्तविक (आन्तरिक) सौन्दर्य तो उसमें विद्यमान 'गुण' ही हैं जो स्त्री का 'आभूषण' माने जाते हैं। इसी प्रकार कविता के उज्ज्वल, सरल तथा चमत्कार मूलक वर्ण, प्रौढ़ प्राञ्जल एवं सुगठित पदावली उसके बाह्याकर्षण का ही प्रतीक हैं। परन्तु कविता का वास्तविक सौंदर्य उसकी 'गुणवत्ता' में ही है जिसे काव्य में अलंकार कहते हैं।

अब यहाँ विचारणीय यह है कि भामह का 'भूषण' से क्या तात्पर्य है। हमारी राय में इसके दो तात्पर्य हो सकते हैं।

1. वस्त्राभूषण (कटक, कुण्डलादि)

2. लोक प्रचलित मर्यादादि से सम्बद्ध आन्तरिक गुण।

समाज में स्त्री को वीरवंश की लाज माना जाता रहा है –

'वीरवंश की लाज यही है फिर क्यों वीर न हो प्रहरी।
विजन देश है निशा शेष है निशाचरी माया ठहरी।।' *(पञ्चवटी)*

'गुप्त' जी की यह उक्ति त्रेतायुग की नारी-सम्बन्धी धारण की द्योतक है जिसका सविस्तार वर्णन भामह के समय में प्रचलित 'रामायण' और 'महाभारत' – जैसे महाकाव्यों में उपलब्ध था। प्रसाद ने भी सतयुगीन नारी के भूषणों का 'लज्जा' तथा श्रद्धा सर्गो में इस प्रकार वर्णन किया है–

'उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।
मैं उसी चपल की धात्री हूँ गौरव महिमा हूँ सिखलाती।।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠

ठोकर जो लगने वाली है उसको धीरे से समझाती।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष-श्रोत-सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।। *(कामायनी)*

महात्मा तुलसीदास कहते हैं–

'सहज अपावन नारि पति सेवत सुभ गति लहहिं।
जसु गावत श्रुति चारि अजहु तुलसिका हरिप्रिया।। *(मानस)*

'पतिभरता मैली भली काली कुटिल कुरूप।
प्रतिभरता के रूप पर वारों कोटि सरूप।। *(कबीर)*

उपर्युक्त सभी पंक्तियों में 'वनिता के भूषणों' का ही उल्लेख किया गया है। वास्तव में वनिता के भूषण हैं लज्जा, श्रद्धा, प्रेम, सेवाभावना, दया, पतिव्रतपालन आदि। इन भूषणों के धारण करने से ही वनिता का मुख आकर्षक लगता है। यदि स्त्री इन आभूषणों का त्याग कर देती है तो वह कुलटा, वैश्या, कुल-कंलकिनी आदि गर्हित नामों से पुकारी जाती है चाहे उसने कितने ही आकर्षक एवं मूल्यावान् वस्त्राभूषण ही धारण क्यों न कर रक्खे हों। वस्त्राभूषणों के धारण करने की एक निश्चित मर्यादा भी समाज में अति प्राचीन काल से चली आ रही थी –

'विधवा होके पान चबाबै नैहर तिरिया करे सिंगार।
छत्री होके रन ते लौटै ताके जीवत को धिक्कार।।

यह भी स्त्री के भूषणों का ही निरूपण है। इसी लिए तो मीरा ने माला, तिलक, गेरुए रंग की साड़ी आदि साधुवेश की सामग्री को आभूषण रूप में धारण किया था और उन्हीं को अपनाश्रृंगार बताया था–

मीरा लागो रंग हरी, और न अटक परी।
चूड़ो म्हारे तिलक अरु माला सील बरत सिंगारो।
और सिंगार म्हारे दाय न आवै यों गुरुग्यान हमारो।। *(मीरा की पदावली)*

इस प्रकार यहाँ 'वनिता-भूषणों' का दिग्दर्शन तो हो चुका है। अब कविता भूषणों का दिग्दर्शन करना आवश्यक है।

भामह के समय में काव्य-क्षेत्र में अलंकारों का इतना अधिक प्रचार इस अर्थ में नहीं था जिस अर्थ में वह पीछे होने लगा था। भामह के समय में रूपकादि सादृश्यमूलक अलंकारों के स्थान पर प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त अन्योक्ति, दीपक अर्थान्तरन्यास आदि प्रेरणा मूलक अलंकारों को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था क्योंकि उस समय के काव्य में इन्हीं अलंकारों का बोलबाला था। इसके अतिरिक्त भामह से पूर्व 'रस' की स्थापना भरत द्वारा की जा चुकी थी और 'दस गुणों' को काव्य में स्थान मिल चुका था। साथ ही 'रसवत्' 'प्रेयस' आदि अलंकारों के रूप में अलंकारों में भी 'रस', 'ध्वनि', 'भाव', उक्ति वैचित्र्य आदि काव्य के सभी आवश्यक गुण विद्यमान थे। काव्य के इन्हीं सब गुणों का समवेत रूप 'अलंकार' या 'काव्यभूषण' कहलाता था जिसे भामह ने काव्य में आवश्यक बताया है। अत: भामह की दृष्टि में 'न कान्तमपि' आदि का तात्पर्य यह था कि 'जिस प्रकार स्त्री का मुख सुन्दर होते हुए भी बिना स्त्री-सुलभ गुणों के आकर्षक नहीं लगता उसी प्रकार कविता सुन्दर शब्दादि में वर्णित होते हुए भी बिना अलंकारों (समाजोपयोगी रस, भाव, गुणादि) के प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। भामह के इस दृष्टिकोण में और आलोचकों के दृष्टिकोण में केवल इतना ही अन्तर है कि भामह 'भूषण' (अलंकार) शब्द का अर्थ उपमादि के साथ अन्योक्ति, दृष्टान्तादि प्रेरणामूलक

अलंकारों, रसवत्, प्रेयस आदि भावमूलक अलंकारों तथा माधुर्यादि दस गुणों के समवेत एवं व्यापक रूप को मान कर चले हैं और आलोचक अलंकार शब्द का अर्थ उपमा, श्लेष, रूपकादि कल्पनाप्रसूत अलंकारों को ही मानते हैं। इसीलिए भामह तथा आलोचकों के मतों में मूल में ही अन्तराल हो गया था। यही कारण है कि भामह का मत काव्यशास्त्र में अधिक समादर प्राप्त न कर सका।

दण्डी

दूसरे अलंकारवादी आचार्य दण्डी हैं। इन्होंने भामह द्वारा प्रातपादत अलंकारों के व्यापक अर्थ को अपनी इस विवक्षा में स्पष्ट करने का प्रयास किया है–

'काव्य शोभाकरान्धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।'[47]

काव्य सौन्दर्य के अवधारक धर्म अर्थात् कारणों को अलंकार कहते हैं। दण्डी की अलंकार सम्बन्धी इस विवक्षा में हमें दो पक्ष स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। 1. कारण-पक्ष जिसे अलंकार कहा जाता है। 2. कार्य-पक्ष जिसे काव्य सौन्दर्य कहा गया है। इस आधार पर अलंकार और सौन्दर्य में 'धर्म' तथा 'धर्मी' (अलंकार-अलंकार्य) सम्बन्ध है। 'सौंदर्य' से दण्डी का आशय भी भामह की भाँति काव्यस्थ (रस, भाव, प्रेरणा तथा गुणादि) से ही है जो रसवदादि अलंकारों में विद्यमान रहते हैं। इस आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि काव्य का मूलाधार अलंकार हैं।

भामह तथा दण्डी आदि के द्वारा स्थापित अलंकार के व्यापक अर्थ को आगे चलकर आचार्यों ने विकृत करना प्रारम्भ कर दिया। वामन ने अलंकार को भामह तथा दण्डी की भांति सौंदर्य तो माना[48] परन्तु उन्हें (अलंकारों को) काव्य के मूल तत्त्व से तीसरे स्थान पर रख दिया। इस प्रकार वामन ने रस तथा भावादि के धारक रसवत-प्रेयस आदि अलंकारों को अलंकारों की कोटि से निकालकर और रस को गुणों में समाहित करके गुणों को काव्य का मूलाधार बना दिया।[49] ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने अलंकार को ध्वनि के एक भेद रूप में स्थिर करके उसके अखण्ड, व्यापक तथा समंजित स्वरूप को ही नष्ट कर डाला। मम्मट ने आगे चलकर वामन का ही अनुसरण करते हुए काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता को समाप्त करके उनहें वैकल्पिक बना दिया।[50]

उपर्युक्त आचार्यों द्वारा अलंकारों के साथ किए गये अन्याय से क्षुब्ध होकर जयदेव पीयूष वर्ष ने अलंकारविरोधी आचार्यों को इन शब्दों में डॉटते हुए अलंकार को पुनः अपनी पूर्व प्रतिष्ठा पर ले जाने का प्रयास किया है:–

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ *(चन्द्रलोक 1-12)*

अर्थात् जो विद्वान् काव्य को शब्द, अर्थ तथा अलंकारों से रहित रूप में स्वीकार करते हैं वे यह क्यों नहीं स्वीकार कर लेते कि अग्नि में उष्णता नहीं है। इसका आशय यह है कि भामह तथा दण्डी द्वारा प्रतिपादित काव्य के तीनों तत्त्व शब्द, अर्थ तथा अलंकार (काव्य-सौंदर्य-रसभावादि) के अवधारक तत्त्वों का समंजित रूप ही काव्य कहला

सकता है। इससे इतर काव्य की कल्पना करना भ्रामक है। जयदेव का यह आक्रोश रीति तथा ध्वनिवादी आचार्यों के प्रति है जिन्होंने अलंकारों की अखण्ड सत्ता को खण्ड-खण्ड कर दिया था।

जयदेव द्वारा अलंकारों को पुनः प्राचीन प्रतिष्ठा पर लौटा ले जाने का प्रयास करने पर भी अलंकारों की अखण्डता स्थिर न रह सकी और अलंकारों के क्षेत्र से गुण, रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास आदि तत्त्व निकल कर वे मात्र 'शब्दालंकार' तथा 'अर्थालंकार' (कल्पना प्रसूत अप्रस्तुतादि) ही रह गये हैं। इस प्रकार भामह तथा दण्डी आदि द्वारा 'काव्य-भूषण' के रूप में प्रतिष्ठित अलंकार कालान्तर में मात्र काव्य के बाह्य सौंदर्य का उसी प्रकार साधन मात्र बनकर रह गये जिस प्रकार स्त्री के लज्जादि भूषणों के स्थान पर कटक-कुण्डलादि ही उस के सौंदर्य के अवधारक तत्त्व रह गये। इसका स्पष्ट आशय यह भी है कि अलंकार से उसका चेतन-तत्त्व (रस भावादि) पृथक् करके उसे मात्र जड़-तत्त्व ही बना दिया गया।

केशवदासादि रीतिकालीन आचार्य

ऊपर हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि समय के फेर से काव्य में अलंकार अपना अखण्ड साम्राज्य खोकर मात्र जड़वत् रह गये थे परन्तु अलंकारों के सौभाग्य ने एक बार फिर पलटा खाया और रीति काल के प्रथम आचार्य केशवदास ने फिर एक बार अलंकार को भामह आदि द्वारा प्रतिष्ठित काव्य के मूल तत्व के स्थान पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया:-

'जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजई कविता बनिता मित्त।। *(कविप्रिया)*

अर्थात् जिस प्रकार सुजाति (उच्च जाति वाली), सुलच्छनी (सौभाग्यशालिनी) सुवर्णा (आकर्षक रंग वाली), सुवृत्ता (उज्ज्वल चरित्र वाली) वनिता (स्त्री) बिना आभूषणों (स्त्री सुलभ लज्जा, मर्यादापालनादि गुणों) के विराजई न (समाज के हृदय में विराजित (समादृत) नहीं होती।) उसी प्रकार कविता भी हे मित्र! कितनी ही उच्च कोटि की हो, महाकाव्यादि मूलक उच्च जाति की हो, आकर्षक वर्णों से युक्त भाषा वाली हो, सरस (सभी रसों से युक्त) हो तथा सुवृत्ता (सुन्दर और आकर्षक छन्दों में निबद्ध हो) परन्तु बिना, समस्त काव्य भूषणों (रस, भाव, गुणादि, नीति शिक्षा, उपदेशादि प्रेरणामूलक वर्णनों तथा तद्मूलक अलंकारों) के 'सामाजिकों के हृदयों में नहीं विराज सकती अर्थात् उपयोगी नहीं बन सकती।

उपर्युक्त दोहे में केशवदास ने भामह की 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।' की स्थापना की पुनः प्रतिष्ठा करनी चाही परन्तु केशवदास की यह प्रतिष्ठापना भी परवर्ती विद्वानों को मान्य न हो सकी। उल्टे इस मत के आधार पर ही केशवदास को विद्वानों ने चमत्कारवादी, अलंकारवादी घोषित करके अपनी बिरादरी से ही बहिष्कृत कर दिया और समस्त रीति काल तथा आधुनिक काल केशवदास की लीक से हटकर

ही चलता रहा। किसी ने भी केशवदास की वास्तविक धारणा को न समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि अलंकारवादी परम्परा जो एक समय काव्य पर अपना एकाधिकार किए हुए थी धीरे-धीरे विलुप्त प्राय: सी हो गई और वह मात्र श्लेष उपमादि शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों के रूप में ही ग्राह्य रेह गई। परन्तु फिर भी यह कहना असंगत न होगा कि अलंकार-तत्त्व काव्य का एक मुख्य तत्त्व है और 'रस' के पश्चात् अलंकार को स्थान आज भी दिया जाता है।

अलंकार के पतन के कारण

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से ही उठ खड़ा होता है कि प्रारम्भिक काल में काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला 'अलंकार-तत्त्व' अपने गौरव से च्युत कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप हम यही कहेंगे कि अलंकार के पतन के कुछ विशिष्ट कारण थे जो इस प्रकार हैं –

1. भामह तथा दण्डी आदि ने 'अलंकार' शब्द को लाक्षणिक (कलात्मक) अर्थ (रस, भाव, गुण तथा अन्य प्रेरणामूलक तत्त्वों के अवधारक के रूप) में ही प्रयुक्त किया था, जबकि उसका अमिधेयार्थ (कटक कुण्डलादि) ही विद्वानों के मन में अधिक रमा हुआ था।

2. भामह आदि के द्वारा कविता की तुलना स्त्री से करते हुए अलंकार को उसका 'भूषण' बताने से अलंकार का लक्ष्यार्थ (व्यापक अर्थ) गौण होकर अभिधेयार्थ ही प्रधान होता चला गया क्योंकि कालान्तर में समाज में भी स्त्री की आभूषण प्रियता एवं उसके श्रृंगारादि का ही बोलबाला हो गया था।

3. आगे चलकर काव्य में 'रस' की स्वतन्त्र रूप में स्थापना हो गई थी और 'रसवत् तथा प्रेयस अलंकार', अलंकार कोटि से निकल गये थे। फिर कोई भी, उसे (रस को) 'रसवत्, प्रेयस या 'उर्जस्वित अलंकार के रूप में मानने को तैयार न हुआ और इस मान्यता के पश्चात् अलंकार काव्य का मूल-तत्त्व न रहकर उसके बाह्य सौंदर्य के प्रतीक (कटकादि) के रूप में ही शेष रह गया। निष्कर्ष रूप में यह कहना असंगत न होगा कि काव्य की आत्मा के रूप में अलंकार का लक्ष्यार्थ ग्रहण करना अप्राकृतिक ही था, इसीलिए वह स्थिर न रह सका।

अलंकारों की परिहार्यता तथा अपरिहार्यता

समाज में आभूषणों की अनिवार्यता का सदैव विरोध किया जाता रहा है और आभूषणों के स्थान पर मूल सौंदर्य को ही अधिक महत्व दिया जाता रहा है। इसका कारण तो यह है कि वस्त्राभूषण तो जड़-तत्त्व हैं और शरीर चेतन-तत्त्व। अत: वास्तविक सौंदर्य तो व्यक्ति का शरीरिक सौंदर्य है जिसमें उसका आत्मिक सौंदर्य भी जिसे पुरुषार्थ, लज्जा, शील, ज्ञानादि नामों से पुकारा जाता है विद्यमान रहता है। महाकवि भूषण ने विविध भूषणों का उल्लेख इस प्रकार किया है –

'कामिनी कन्त सों जामिनी चन्द सों, दामिनी पावस मेघ घटासों।
सूरति ज्ञान सों कीरति दान सों प्रीति बढ़ी सनमान महासों।
भूषन-भूषन सों तरुनी नलिनी नव पूषन देव प्रभासों।
जाहिर चारिहु ओर जहान लसै हिंदुआन खुमान सिवासों।।

(भूषण ग्रंथावली)

स्पष्ट है कि चमत्कृत करने वाले वस्त्राभूषण सर्वत्र ही आवश्यक नहीं हैं। कहीं-कहीं तो ये मूल सौदंर्य को दबा कर ही बैठ जाते हैं। महात्मा तुलसीदास इसी ओर इंगित करके कहते हैं–

'कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई।।

(कवितावली)

अर्थात् वन को जाते समय राम ने अपने सुन्दर श्यामल-शरीर से राजसी वस्त्राभूषणों को उतार दिया तो उनका आभूषण रहित शरीर ऐसा सुशोभित हो रहा था जिस प्रकार पानी 'काई' के हट जाने पर स्वच्छ, सुन्दर तथा आकर्षक लगता है। स्पष्ट है कि राम के सौन्दर्य को राजसी वस्त्रों ने इस प्रकार आच्छादित कर रक्खा था जिस प्रकार काई जल को आच्छादित कर लेती है। कुछ ऐसी ही स्थिति को ध्यान में रखकर बिहारी ने नायिका के वस्त्राभूषणों को दूषित दृष्टि के पोंछने के पायंदाज कहा है:–

'मानहु विधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिबे काज।
दृग-पग पोंछन को कियो भूषन पायंदाज। *(बिहारी सतसई)*

कवि कुलगुरु कालिदास ने तो यह स्पष्ट रूप से ही घोषित कर दिया था कि स्वतः सुन्दर आकृतियों के लिए आभूषणों की आवश्यकता ही नहीं है:–

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापिरम्यम्।
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मी तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा बल्कलेनापितन्वी।
किमिव हि मधुराणां मण्डनां नामाकृतीनाम्।। *(अभिज्ञान शाकुन्तलम्)*

अर्थात् जिस प्रकार कमल, शैवालिनी घास (काई की भाँति की सेवार घास) में लिपटा हुआ होने पर भी सुन्दर लगता है और मलिन (काला धब्बा) होने पर भी चन्द्रमा की किरणें प्रकाश विकीर्ण करती हैं, उसी प्रकार यह तन्वी (पतली कमर वाली) शकुन्तला बल्कल (वन्य) वस्त्रों में भी अत्यधिक मनोज्ञा (आकर्षक) लग रही है। यह सच ही है कि जो स्वयं सुन्दर हैं उन्हें अलंकारों की आवश्यकता नहीं होती।

आनन्दवर्द्धन 'भूषण' शब्द का वास्तविक अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं:–

'मुख्या महाकवि गिरामलंकृतिमृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्।।[51]

अर्थात जिस प्रकार स्त्रियों का मुख्य आभूषण केवल लज्जा ही है। (कटक कुण्डलादि) आभूषण नहीं हैं। उसी प्रकार महाकवियों की अलंकृतवाणी के होते हुए

भी उससे झांकता हुआ व्यंग्यार्थ ही कविता-कामिनी का वास्तविक सौन्दर्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकार काव्य के अपरिहार्य अङ्ग नहीं हैं। वे तो काव्य सौंदर्य में अभिवृद्धि के साधन मात्र ही हैं और वह भी एक निश्चित सीमा तक। यदि लकड़ी को अलंकार पहना देंगे तो वह सुन्दर नहीं बन जायेगी। इस प्रकार सौन्दर्य अलंकारों से बिल्कुल पृथक् तत्त्व है। मम्मट ने भी इसी ओर संकेत किया था। साथ ही अलंकार का जो वास्तविक अर्थ है (प्राकृतिक सौन्दर्य) वह अपनी लाक्षणिकता के कारण समाज में ग्राह्य न हो सका क्योंकि आत्मा या आन्तरिक तत्त्व के रूप में अलंकार के लाक्षणिक अर्थ को समझना कबीर की 'उलटवासियों' और सूर के 'कूट पदों' की भाँति कठिन था। अलंकार को 'आत्मा' कहते ही लोग चौंक जाते हैं। सामान्य रूप से सभी उन्हें रमणी के वस्त्राभूषणों की भाँति सौंदर्य के ब्राह्य प्रसाधन ही मानते रहे हैं आगे चलकर आनन्दवर्द्धन ने भी अपनी विवक्षा में उन्हें (कटक कुण्डलादिवत्) घोषित करके रही-सही कसर पूरी कर दी।

रीति-सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय के पश्चात् वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' अर्थात् 'रीति' काव्य की आत्मा है, कहकर 'रीति' को काव्य की 'आत्मा' घोषित किया। यहाँ एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार के लिए कहीं भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इस प्रकार का प्रयोग सर्वप्रथम वामन द्वारा ही किया गया है। इसका आशय यह है कि वामन काव्य में 'जड़ तत्त्व' और 'चेतन-तत्त्व' इन दो तत्त्वों को शरीर-तत्त्वों की भाँति ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'रीति' ही काव्य का 'चेतन-तत्त्व' है। 'रीति' का आशय स्पष्ट करते हुए वामन ने कहा है–

'विशिष्टा पद रचना रीतिः।'[52]

अर्थात विशिष्ट प्रकार की पद-रचना को 'रीति' कहते हैं और **'विशेषोगुणात्मा'**[53] अर्थात् वह विशिष्टता गुणों में होती है। इस प्रकार वामन के मतानुसार 'काव्य शोभायाः कत्तारो धर्मागुणाः'[54] अर्थात् काव्य सौंदर्य के धारण करने वाले धर्म गुण ही होते हैं और 'तद्तिशय हेत्वस्त्वलंकारः'[55] अर्थात इन गुणों का कारण अलंकार होते हैं। इस आधार पर हमें वामन के मत में एक नवीन तथ्य दिखाई देता है कि वामन काव्य में चेतन-तत्त्व का आरोपण करके, अलंकारों को पीछे ढकेल कर; गुणों को अलंकार के स्थान पर (काव्य के मूल तत्त्व के रूप में) प्रतिष्ठित करके एक कदम रस की ओर बढ़ गये हैं और इस प्रकार दूर से ही रस-स्वरूप तथा उसकी गरिमा का संकेत उन्होंने कर दिया है। यद्यपि वामन गुणों की रस-धर्मिता को छिपाकर चले हैं और वे गुणों को 'रस' का धर्म न मानकर 'रीति' (रचना प्रक्रिया) का धर्म मानते हैं। परन्तु यहाँ यह कहना तो असंगत न होगा कि वामन के इस प्रयास से 'गुण' तथा 'रस' का सम्बन्ध चाहे प्रत्यक्ष न हुआ हो परन्तु अभिव्यक्त अ[illegible]था। उस अकस्मात् ही काव्यात्मा तक पहुँचने में एक ही पग का अन्तर रह गया थर्य हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार नहीं

प्रकार पूर्ण कर दिया–

'ये रसस्याङि्गनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचल स्थितयो गुणाः।।[56]

इसी आधार पर मम्मट ने कहा कि 'शूरता' (शौर्यआदि) आत्मा का धर्म हैं, शरीर का नहीं। यदि हम शरीर की विशालता देखकर किसी को 'शूर' कहें तो यह केवल औपचारिक ही माना जाएगा। इसी प्रकार गुण भी रस के धर्म हैं। शब्द के धर्म नहीं। शब्द मधुर है, रचना ओजस्वी है इत्यादि प्रयोग केवल व्यावहारिक या औपचारिक ही हैं।[57]

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य में वामन 'रीति' की स्थापना करके अलंकार वादियों से कुछ आगे बढ़ते दिखाई देते हैं क्योंकि वे एक ओर तो अलंकार को एक पग पीछे हटाकर उसके स्थान पर अलंकार के पीछे खड़े हुए गुणों की स्थापना अलंकार के स्थान पर अर्थात् काव्य के मूल-तत्त्व के स्थान पर करते हैं, दूसरी ओर 'रस' को अलंकारों की जमात से निकालकर गुणों के झीने आँचल में छिपा देते हैं जिससे 'रस' अब गुणों से झाँक-झाँक कर प्रतीयमान होकर अपने को स्पष्ट करने की बाट जोहता दिखाई देने लगता है और इसीलिए मम्मट की दृष्टि पड़ते ही वह गुणों की गोद में सब से पहले आकर बैठ जाता है, जिससे 'रीति' आदि पीछे हो जाते हैं।

यद्यपि वामन अलंकारों के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं और उन्हें सौंदर्य मानते हुए उसके बिना काव्य को अग्राह्य मानने की घोषणा भी करते हुए चले हैं[58] परन्तु उन्होंने अंत में अलंकारों को गुणों का कारण बताकर उनसे काव्य का मूल तत्त्व छीन कर, उनके स्थान पर गुणों की प्रतिष्ठापना करके, 'रीति' (गुणयुत्त रचना) को 'काव्य की आत्मा' घोषित कर दिया। जहाँ अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकारों का विशद् विवेचन किया है और उनके शताधिक भेद किये हैं तथा अलंकारों की जमात में रस, भाव, गुणादि को भी मिला दिया है उसी प्रकार वामन ने भी गुणों का व्यापक रूप में विवेचन किया है और उनके दस के स्थान पर बीस भेद किये हैं।

वामन 'रीति-सिद्धान्त' में जहाँ एक ओर गुणों की अपरिहार्यता पर बल देते हैं वहाँ वे दूसरी ओर दोषों को पूर्णतया परिहार्य मानते हैं।

'स दोष गुणालंकार हानो पादानाभ्याम्'[59]

उपर्युक्त आधार पर हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार अलंकार वादी आचार्य काव्य के 'मूल-तत्त्व' को 'अलंकार' कहते थे। उसी प्रकार वामन उसे 'रीति' कहते थे। दोनों ने ही अपने-अपने मतो में 'अलंकार' तथा 'रीति' का लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग किया है परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दोनों के विचारों में कोई [illegible] शब्दों की हेराफेरी मात्र है। निम्न विवेचन से यह स्पष्ट

प्रतीयमानच्छायैषा भूषा

अर्थात जिस प्रकार स्त्रियों व

कुण्डलादि) आभूषण नहीं हैं। उसी [illegible]त में अलंकार का लाक्षणिक अर्थ है 'काव्य-भूषण'

(रस, भाव, गुणादि)।

2. वामन के मत से 'रीति' का लाक्षणिक अर्थ है– काव्य-गुण (रस, भाव, अलंकारादि)।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रथम पक्ष अलंकारों में काव्य के सभी मूल-तत्त्वों का आरोप करके चला है तो द्वितीय गुणों में। फिर भी अलंकारवादियों की तुलना में वामन की छलाँग 'रस' के अधिक निकट पहुँचती दिखाई देती है।

'रीति' के पतन के कारण

वामन ने यद्यपि अपने मत की स्थापना में 'एड़ीचोटी का पसीना एक कर दिया है' परन्तु फिर भी उसका मत मान्य न हो सका। इस के भी बहुत कुछ वही कारण हैं जो अलंकार के पतन के थे। इनका विवेचन इस प्रकार है।

1. वामन ने 'रीति' का अभिधेयार्थ न लेकर उसको लाक्षणिक (कलात्मक) अर्थ में ही ग्रहण किया है जिससे उसके रूप में बनावट का अंश ही प्रधान हो गया और वामन द्वारा प्रस्तावित 'रीति' का अर्थ कोरा ढोंग ही सिद्ध हुआ क्योंकि 'रीति' को 'आत्मा' कहना उपहासास्पद लगता है।

2. 'रीति' अपने वास्तविक रूप में एक विशिष्ट प्रकार की शैली है। यद्यपि शैली को भी काव्य का मूल-तत्त्व माना तो जा सकता है क्योंकि शैली ही किसी रचना के सौंदर्य की द्योतक है, जैसे-ताजमहल आदि के सौंदर्य का आधार उसकी विशिष्ट रचना-शैली ही है; परन्तु 'शैली' को 'आत्मा' नहीं माना जा सकता, उसे केवल सुंदर शरीर के 'निर्माण का ढंग' कहा जा सकता है। ताजमहल में भी शैली तत्व की प्रधानता होते हुए भी महत्त्व तो उसमें निहित शाहजहां तथा मुमताज महल के अटूट प्रेम-सम्बन्ध का ही है। अत: शैली-शिल्प पृथक् तत्त्व है और आत्म-तत्त्व पृथक्। यद्यपि शरीर और आत्मा दोनों ही महत्वपूर्ण हैं फिर भी दोनों में आत्मा का महत्त्व की सर्वाधिक है। यदि कोई 'आत्मा-आत्मा' कह कर शरीर की विशेषतायें बताने लगे तो यह उपयुक्त नहीं होगा। यदि वामन थोड़ा सा आगे और बढ़ते और वे शरीर को आत्मा कहने का ढोंग न रचते तो वे अवश्य ही काव्य की आत्मा 'रस' तक पहुँच गये होते। यद्यपि वे अलंकार को पीछे ढकेलकर आगे बढ़ते हुए गुणों तक पहुँच तो गये परन्तु वहाँ से फिर पीछे की ओर (अलंकारों की ओर) मुड़कर देखने लग गये ओर आगे जाने वाले 'रस' की ओर से उन्होंने मुँह फेर लिया। इस प्रकार वामन काव्यात्मा की खोज में निकले हैं परन्तु मध्य से ही लौट आये और आत्मा की खोज पूर्ण होने की घोषणा कर दी जिसकी वास्तविकता परवर्ती आचार्यों से छिपी न रह सकी और वामन का मत रद्दी की टोकरी का ही भूषण बन कर रह गया।

3. काव्य शास्त्र में 'रीति' एक नया प्रयोग था। उसे अकस्मात् ही 'काव्यात्मा' के रूप में उद्‌भूत देखकर विद्वानों को आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया।

4. काव्यात्मा के रूप में उसी को स्वीकार किया जा सकता था जिसमें आत्मतत्त्ववत् अखण्डता तथा चिन्मयता आदि तत्त्व विद्यमान हों जो 'रीति' शब्द से अभिव्यक्त नहीं होते।

ध्वनि-सम्प्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धन माने जाते हैं। यद्यपि उन्होंने अपने से पूर्व चली आ रही ध्वनि परम्परा का उल्लेख भी किया है परन्तु प्रामाणिक रूप से ध्वनि का सविस्तार विवेचन आनन्दवर्द्धन ने ही अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में किया है। आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि' को काव्य की 'आत्मा' के रूप में घोषित करते हुए कहा है-

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति'[60]

अर्थात काव्य की आत्मा 'ध्वनि' है।

आनन्दवर्द्धन का कथन है कि पूर्व आचार्यों की भी यही सम्मति है (बुधैर्य: समामान्तपूर्व:)।[61]

'ध्वनि' की स्थापना इससे पूर्व नहीं हो सकी थी। काव्य-शास्त्र में चाहे यह मौखिक रूप से प्रचलित रही हो परन्तु प्रामाणिक रूप में इसका प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। इससे पूर्व रस, अलंकार तथा गुणादि का ही बोलबाला था। इसीलिए आनन्दवर्द्धन ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है-

'तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये'[62]

अर्थात कुछ भक्त(अलंकारवादी आदि) ध्वनि का अभाव बताते हैं। उन्होंने इसका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है और किसी ने इसे 'गुण-वृत्ति' आदि के अन्तर्गत रक्खा है। आनन्दवर्द्धन के इस मत का आशय स्पष्ट है कि पूर्व से चली आती हुई अलंकारवादी तथा रीतिवादी धारा में कही भी 'ध्वनि' का उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण उन्होंने उक्त आचार्यों की ध्वनि विरोधी धारणा को ही बताया है। अत: इन्होंने 'ध्वनि' को 'काव्य की आत्मा' घोषित करके तथा पूर्व प्रचलित अलंकार आदि का खण्डन करते हुए ध्वनि मत की स्थापना की। आनन्दवर्द्धन के इस कार्य में 'अलंकार' तथा 'रीति' के लाक्षणिक अर्थों की अशक्तता ही अधिक सहायक सिद्ध हुई और उन्होंने इन दोनों ही मतों के मर्म स्थल पर ऐसा करारा आघात किया कि युगों का बना-बनाया अलंकार और रीति का विशाल भवन ढह कर चूर-चूर हो गया। यद्यपि अलंकार रूपी भवन की कुछ लीपा-पोती भी होती रही परन्तु 'ध्वनि' के आघात से वह केवल उसी रूप में शेष रहा जिस रूप में उसे 'ध्वनि' ने छोड़ा था। 'अलंकार' तथा 'रीति' पर आनन्दवर्द्धन ने इन रूपों में प्रहार किया।

1. भामह आदि द्वारा प्रयुक्त अलंकार के व्यापक लाक्षणिक अर्थ रस, भाव, गुणादि के स्थान पर आनन्दवर्द्धन ने उन्हें मात्र 'कटक' कुण्डलादि' वत् घोषित करके उनकी लाक्षाणिकता के आवरण को नष्ट करते हुए उन्हें अभिधा के सामान्य धरातल

पर ही स्थिर कर दिया।

'अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्'[63]

अर्थात अलंकार तो केवल कटककुण्डलादिवत् अंगाश्रित रहने वाले बाह्य उपकरण ही माने जाने चाहिये।

2. रीति के सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन ने कहा है :–

'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान्....।'[64]

अर्थात रीति गुणों पर आश्रित रहकर 'रसों' की अभिव्यक्ति में सहायक होती है।

3. उपर्युक्त मतों के आधार पर आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को अंगी (काव्य का आन्तरिक तत्त्व) और अलंकार तथा रीति को अंग (काव्य के बाह्य तत्व अलंकार तथा शैली) के रूप में ही मान्यता प्रदान की।

इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्द्धन ने अलंकार और रीति को 'लक्ष्यार्थ' (कलात्मक अर्थ) के स्थान पर अभिधेयार्थ (सामान्य अर्थ) के रूप में ही ग्रहण किया और इस प्रकार अलंकारों को शब्दार्थालंकार मात्र और रीति को शैली मात्र सिद्ध कर दिया। तभी से ये दोनों तत्त्व इसी रूप में काव्य में प्रतिष्ठित चले आ रहे हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि आनन्दवर्द्धन ने 'अंलकार' और 'रीति' का खण्डन क्यों किया? इसके दो कारण थे। प्रथम तो अलंकार तथा रीति अपने (आरोपित) लाक्षणिक अर्थों को संभाल नहीं पा रहे थे। दूसरे उनका अभिधेयार्थ (व्यावहारिक अर्थ) समाज की रुचि के अनुकूल पड़ता था। आनन्दवर्द्धन ने इस स्थिति का लाभ उठाया और उसका इन पर प्रहार करना अचूक सिद्ध हुआ। अलंकार की बहुत कुछ लाक्षणिकता तो वामन ने उसे गुणों का कारण घोषित करके सिद्ध कर दी थी परन्तु वह प्रहार इतना घातक नहीं था जितना कि आनन्दवर्द्धन का।

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने 'अलंकार' और 'रीति' को काव्य के मूल-तत्त्व (आत्मा) के रूप में अशक्त घोषित करके 'ध्वनि' के रूप गुणादि का विस्तृत विवेचन करते हुए उसकी काव्यात्म रूप में प्रतिष्ठा की। आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि' का रूप इस प्रकार व्यक्त किया।

यत्रार्थ : शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।[65]

अर्थात **जहाँ शब्द या अर्थ अपने अर्थ (अभिधेयार्थ) को गौण बनाकर काव्य-सम्मत विशिष्टार्थ (व्यंग्यार्थ) को व्यक्त करे उसे 'ध्वनि' कहते हैं।** दूसरे शब्दों में **अभिधेयार्थ के गौण हो जाने और व्यंग्यार्थ के प्रधान होकर चमत्कृत होने को 'ध्वनि' कहते हैं।** आनन्दवर्द्धन की इस स्थापना के अनुसार ध्वनि शब्द या अर्थ में छिपे हुए व्यंग्य (काव्य सौन्दर्य) का व्यक्त (व्यंजित) रूप है। अर्थात् **अभिधेयार्थ की गौणता और व्यंग्यार्थ की प्रधानता ही 'ध्वनि' है।**

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्य) कहा है और वह वाच्यार्थ

से इस प्रकार भिन्न होता है जिस प्रकार कि स्त्रियों का लावण्य उनके अवधारक अंगों से भिन्न होता है। अत: काव्य में भी सौन्दर्य के अवधारक अंग; रीति-अलंकारादि सौन्दर्य नहीं हैं। सौन्दर्य तो इन अंगों में निहित मूल गुण हैं।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।।[66]

अर्थात् जिस प्रकार नारियों का सौन्दर्य उनके अंग (नेत्रादि) न होकर उनसे भिन्न होता है उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान (झाँकता हुआ) अर्थ (व्यंग्य) उसके वाच्यार्थ से कुछ और ही प्रकार का होता है।

अत: 'अलंकार' 'रीति' आदि केवल काव्य के बाह्य तत्त्वों का ही प्रदर्शन करने वाले हैं, वे काव्य के आन्तरिक तत्त्व (काव्य सौन्दर्य या आत्मा) का प्रदर्शन कराने में असमर्थ थे तभी रीति आदि को परिवर्तित करके 'ध्वनि' की स्थापना की गई है–

'अस्फुट स्फुटितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतय: सम्प्रवर्तिता:।।[67]

निष्कर्ष–उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्द्धन ने वस्तुस्थिति को पहचाना और अलंकारवादी तथा रीतिवादी आचार्यों के लाक्षणिक अर्थों को सामान्य (व्यंग्य) रूप में ग्रहण करके यह सिद्ध कर दिया कि जड़ को छोड़कर 'पात-पात' पर घूमते हुए पत्तों व शाखादि को ही जड़ (मूल-तत्व) घोषित करने वाली प्रवृत्ति कभी लाभदायक सिद्ध नहीं होती क्योंकि पत्तों को जड़ कहने से जड़ का भाव स्पष्ट नहीं होता, वह तो जड़ के कथन से ही स्पष्ट होगा। अत: अलंकार को 'भूषण' कहने से या 'रीति' को 'गुण' कहने से काव्य में छिपे हुए आन्तरिक तत्त्व (व्यंगय) का भान नहीं होता। वह तो उन तत्त्वों के वास्तविक रूप का ही वर्णन करने पर ही प्रदर्शित होगा। यद्यपि आनन्दवर्द्धन भी अलंकारवादियों की इस धारणा को मानते हैं कि जिस प्रकार नारियों का 'भूषण' लज्जा है, कटक कुण्डलादि नहीं। उसी प्रकार कविता का 'भूषण' (मूल तत्त्व) व्यंग्य ही है, अलंकारादि नहीं। अलंकारवादियों की धारणा भी ठीक यही थी परन्तु वे इसे स्पष्ट नहीं कर पाये। उन्होंने सोचा होगा कि आगे आने वाला समाज भी उनके द्वारा प्रयुक्त 'भूषण' (अलंकार) तथा 'रीति' (गुणादि) का यही अर्थ समझता रहेगा जो वे समझे हुए हैं और उसी प्रकार अलंकार तथा रीति को काव्य का मूल-तत्त्व (आत्मा) मानता रहेगा जिस प्रकार वे मानते चले जा रहे हैं। परन्तु किसी तत्त्व का रहस्यात्मक अर्थ बहुत दिन नहीं टिकता। अभिधा के साथ किया गया बलात्कार सभी को खलता है। यही हुआ और आनन्दवर्द्धन ने 'अलंकार' तथा 'रीति' अप्राकृतिक रूप में गृहीत लक्ष्यार्थ को उठाकर दूर फेंक दिया और उसके वास्तविक अर्थ (अभिधेयार्थ) को स्थापित किया जो उपयुक्त ही कहा जा सकता है।

आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि' के अनेक भेदोपभेद भी किये हैं। इन्हें मुख्य-रूप से तीन कोटियों में रखा जा सकता है। 1. रस-ध्वनि 2. अलंकार-ध्वनि, 3. वस्तु ध्वनि।

यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि आनन्दवर्द्धन ने 'रस' तथा 'भाव' को स्वतन्त्र रूप में न मानकर उसे 'रसध्वनि' के रूप में माना है। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाए तो 'रस-ध्वनि' को 'भाव-ध्वनि' कहना ही अधिक संगत होगा क्योंकि व्यंग्य (एक गुप्त) भाव ही होता है जो कभी अलंकार और कभी वस्तु से इस प्रकार झाँकता (प्रतीयमान) रहता है जिस प्रकार एक सुन्दर रमणी के मुख का सौदंर्य उसके झीने अवगुण्ठन से झाँकता (प्रतीयमान) होता रहता है। व्यंग्य (शब्दार्थ में गुप्त रूप से विद्यमान भाव) जब परिपक्वावस्था को पहुँच जाता है तो वह छिपाये नहीं छिपता और व्यक्त होकर सभी को पीछे ढकेलता हुआ चमत्कार के साथ उद्भूत हो जाता है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए –

नैन दुराये नहिं दुरैं पर घूँघट की ओट।
चतुर नारि अरु सूरमा करैं लाख में चोट॥

ठीक इसी प्रकार अपनी अनुक्तावस्था से उद्भूत होकर 'व्यंग्य' जब व्यक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है तो वह सद्य चमत्कारी होने के कारण 'ध्वनि' कहलाता है। शब्दार्थ में 'व्यंग्य' इसी प्रकार विद्यमान रहता है जिस प्रकार घंटे में ध्वनि, मेंहदी में लाली, बत्ती में प्रकाश। और जिस प्रकार घंटे की ध्वनि, मेंहदी की लाली और बत्ती का प्रकाश अपनी अव्यवक्तावस्था से व्यक्त होकर चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं उसी प्रकार शब्दार्थ में **अव्यक्त व्यंग्य जब चमत्कार के साथ प्रकट हो जाता है तो वही 'ध्वनि' कहलाता है।**

आनन्दवर्द्धन के विचार से 'ध्वनि' का प्राण है 'व्यंग्य' (शब्दार्थ में निहित भाव)। यह व्यंग्य 'रस' में वस्तु में, तथा अलंकारों में भी रहता है। रस में पूर्ण व्यक्तावस्था में, वस्तु में अर्द्धव्यक्तावस्था में तथा अलंकारों में अस्फुट व्यक्तावस्था में।[68] यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि'-तत्त्व की स्थापना बड़े विचार के साथ की थी परन्तु इसमें भी कुछ ऐसी त्रुटियाँ थीं जिससे यह मत भी काव्य की आत्मा के रूप में मान्य न हो सका परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि 'अलंकार' तथा 'रीति' की तुलना में 'ध्वनि' को काव्य के आन्तरिक तत्त्व के रूप में अधिक मान्यता मिली है और 'रस' के पश्चात् इसका स्थान स्वीकार किया गया है।

ध्वनि की अमान्यता का कारण

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि 'ध्वनि' की 'आत्मा-सम्बंधी' मान्यता कुछ अंशों में तो स्वीकार की गई है परन्तु इसे सर्वांश में स्वीकार नहीं किया जा सका है। इसका मूल कारण 'ध्वनि' को तीन विरोधी तत्त्वों में विभाजित किया जाना है। 1. रस ध्वनि 2. अलंकार ध्वनि 3. वस्तु ध्वनि। इससे स्पष्ट है कि वे जहाँ एक ओर 'अलंकार' तथा 'रीति' का खण्डन करते हैं वहाँ दूसरी और उन्हें अलंकार ध्वनि तथा वस्तुध्वनि के रूप में स्वीकार भी करते हैं। साथ ही अलंकार तथा गुणों से रस को पृथक् करके उसे भी 'ध्वनि' ही नाम देते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन का यह कार्य तो मान्य है कि उन्होंने रस, अलंकार ओर रीति को रस ध्वनि, अलंकार-ध्वनि तथा वस्तुध्वनि के

रूप में पृथक्-पृथक् करके उनकी स्थिति को स्पष्ट कर दिया है परन्तु 'रस' को ध्वनि कहने से उसकी (रस की) स्वतंत्र सत्ता का हरण हो गया है। साथ ही जब अभिनवगुप्त द्वारा 'रस-सिद्धान्त' में प्रामाणिक रूप से सामाजिक के आनन्द की समस्या का हल ढूंढ कर 'रस' की स्वतंत्र-रूप में स्थापना कर दी तो उसी को 'आत्मतत्त्व' के रूप में विश्वनाथ ने प्रतिष्ठित करके 'रस' को आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिपादित 'ध्वनि' के चंगुल से पृथक् कर दिया। इसलिए 'ध्वनि' का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। वह केवल व्यंग्य (भाव ध्वनि) के रूप में ही शेष रह गई जिसे काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता था क्योंकि भाव काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित होने की योग्यता नहीं रखता और वस्तुध्वनि की 'रीति' के रूप में तथा अलंकार ध्वनि की अलंकारों के रूप में (आत्मा सम्बन्धी) अशक्तता पहले ही सिद्ध हो चुकी थी।

वक्रोक्ति – सम्प्रदाय

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक माने जाते हैं। इन्हें कुन्तल भी कहा जाता है। भारतीय काव्य शास्त्र में इन दोनों ही नामों का व्यवहार देखा जाता है। हम यहाँ 'कुन्तक' नाम का ही व्यवहार करेंगे क्योंकि अधिक प्रयोग इसी नाम का हुआ है। कुन्तक ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' में विशद् रूप से 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' का निरूपण किया है। इन्होंने 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' कहकर 'वक्रोक्ति' को काव्य का प्राण कहा है। कुन्तक के समय तक अनेक काव्य सम्प्रदाय उद्भूत हो चुके थे। कुन्तक से पूर्व अंलकार, रीति तथा ध्वनि सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हो चुका था। इनमें अलंकार तथा रीति सम्प्रदायों की धारा अपने क्षीण कलेवर में ही प्रवाहित हो रही थी और 'ध्वनि' का काव्य क्षेत्र में बोलवाला था। कुन्तक ने सम्पूर्ण वस्तु स्थिति का अवलोकन किया और सब का निचोड़ लेकर 'वक्रान्ति को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना आनन्दवर्द्धन के 'ध्वनि-सिद्धान्त' की प्रतिक्रिया स्वरूप ही की थी जिसमें अलंकार को पुन: पूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त करने की उसी प्रकार माहकता परिव्याप्त थी जिस प्रकार कि वामन में दिखाई देती है।

कुन्तक ने 'अलंकार-सिद्धान्त' पर सर्वप्रथम दृष्टि डाली। उन्होंने देखा कि अलंकार सिद्धान्त दो धाराओं में विभाजित हो चुका है। भामह ने 'वक्रोक्ति' को सभी अलंकारों का मूल माना था।[69] परन्तु 'वक्रोक्ति कालान्तर में एक अलंकार मात्र ही रह गई थी। ठीक यही स्थिति उस समय अलंकारों की हो चली थी। कुन्तक ने भामह द्वारा प्रतिपादित 'वक्रोक्ति को अपने सिद्धान्त का मूल-तत्त्व माना और अलंकारों को वक्रोक्ति के भेद-रूप में स्वीकार कर लिया। इसका स्पष्ट आशय यह है कि कुन्तक ने अलंकारों के सामान्य (अभिधेयार्थ) तथा विशिष्ट (लाक्षणिक) दोनों ही रूपों को स्वीकार कर लिया है। वे अलंकार-अलंकार्य का स्पष्ट भेद भी स्वीकार करके चले थे :–

(1) **शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुतेऽपरम्।**

आत्मैवनात्मानः स्कन्ध क्वचिदप्याधिरोहति।' (व. जी. 12-13)

अर्थात यदि शरीर को ही अलंकार मान लिया जाय तो वह किसी दूसरे का अलंकरण कैसे कर सकता है क्योंकि वह तो अलंकार्य है। क्या कोई स्वयं ही अपने कन्धे पर चढ़ सकेगा।

(2) **'अलंकृतिरलंकार्यमयोदधृत्य विवेच्यते।**

तदुपाय तथा तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता।। (व॰ जी॰ 1/6)

अर्थात अलंकार और अलंकार्यका भेद व्यवहारिक रूप से मानना पड़ेगा परन्तु वास्तव में अलंकार के द्वारा ही काव्य अपनी वास्तविक गरिमा (काव्यता) को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्तक ने अलंकार को वक्रोक्ति का मूल कारण मानते हुए सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। यह भामह तथा कुन्तक का पारस्परिक आदान-प्रदान ही माना जायेगा क्योंकि भामह वक्रोन्ति को सभी अलंकारों का मूल-तत्त्व घोषित कर चुके थे 'कोऽलंकारोऽनया बिना' (काव्यालंकार 2.85) 'रीति' को तो कुन्तक ने 'तद्मलनेन निस्सार वस्तु परिमल व्यसनेन'[70] कह कर उसका उल्लेख करना भी उचित नहीं माना है। कुन्तक ने 'ध्वनि' या व्यंजकता के स्थान पर वक्रोक्ति का प्रयोग किया है और उसे 'विचित्र-अभिधा'[71] कहकर ध्वनि से पार्थक्य व्यक्त किया है। 'रस' के समबन्ध में कुन्तक उदासीन प्रतीत होते हैं। यहाँ यह भी एकविचारणीय तथ्य है कि यदि कुन्तक 'वक्रोक्ति का पहाड़ बीच में खड़ा न करते तो रस की धारा ध्वनि के पश्चात् ही 'पूर्ण मंदाकिनी' बनकर प्रवाहित होने लगती परन्तु 'वक्रोक्ति' के अवरोधक ने उसे फिर अलक्ष्यवत् बना दिया।

कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' के लक्षण निर्धारण में भी भामह का ही अवलम्ब ग्रहण किया है।–

'शब्दार्थौ सहितौ वक्र कविव्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाल्हादकारिणी।। (व.जी.1/8)

इस उक्ति में भामह द्वारा निर्धारित काव्य लक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ' को कुन्तक ने वक्रोक्ति का आधार माना है। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक, भामह की परम्परा को ही कुछ सामान्य परिवर्तन के साथ पुनः स्थापित करना चाहते थे।

कुन्तक, 'वक्रोक्ति' का प्राण 'वक्रता' को मानते हैं। यही वक्रता काव्य में वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक विद्यमान रहती है। इस वक्रता का आधार 'कवि कौशल' है जो पानी में आग लगाने, आकाश के तारे तोड़ने, पत्थर पर घास जमाने तथा बालू की भीत बनाने का काम करता है। वक्रोक्ति के द्वारा ही सोते को जगाया जा सकता है। रोते को हँसाया जा सकता है। डूबते को उबारा जा सकता है। यहाँ तक कि मूक को वाचाल ओर पंगु को गहन गिरिवर की चोटी पर चढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार वक्रोक्ति

निर्जीव में प्राण डालने की अचूक औषधि और कार्य सिद्धि का अमोध अस्त्र है। यह वक्रोक्ति लौकिक चमत्कार भी उत्पन्न करती है और लोकोत्तर चमत्कार भी। 'लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्यसिद्धये।' इस का आशय यह है कि वक्रोक्ति दो कार्य करती है। 1. मनोरंजन या हास्यविनोद 2. लोक जीवन से सम्बद्ध सार्वभौम सत्य के उद्घाटन द्वारा सत्य की स्थापना। हास्य-विनोद मूलक वक्रोक्तियाँ समाज में बहुचर्चित हैं। अकबर तथा बीरबल वक्रोक्तियों के द्वारा ही विनोद किया करते थे। जीवन-सत्य का उद्घाटन करने वाली वक्रोक्ति 'लोकोक्ति' कही जा सकती है। यह क्षमता अन्योक्ति आदि अलंकारों में भी अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है। अत: वक्रोक्ति, लोकोक्ति तथा कुछ प्रेरणादायक अलंकारों में कोई भेद नहीं है। यही कारण है कि लोक-प्रेरणा तथा उपयोगिता को दृष्टि में रखकर सार्वभौम सत्य का उद्घाटन करने वाली उक्ति को 'वक्रोक्ति' नाम देकर ही कुन्तक ने उसे काव्य का प्राण घोषित किया है।

'वक्रोक्ति', 'लोकोक्ति', तथा 'अलंकार' एक ही तत्त्व हैं और ये तीनों ही लोक जीवन के सार्वभौम सत्य का उद्घाटन करते हैं। इस तथ्य को कुछ उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है :-

(1) **'नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।**
अली कली ही सौं बंध्यो आगे कौन हवाल।। *(बिहारी)*

यह दोहा वक्रोक्ति, अन्योक्ति तथा लोकोक्ति इन तीनों ही तत्वों से सम्बद्ध है।

(2) **'फूलै फलै न बेत जदपि सुधा वरसहिं जलद।**
मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहि विरंचि सम।। *(तुलसी)*

इस दोहे में भी वक्रोक्ति, दृष्टान्त तथा लोकोक्ति का समावेश है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'लोकोक्ति' जिसे 'वक्रोक्ति' औार कुछ विशिष्ट अलंकारों से अभिदिष्ट किया जाता है, लोकजीवन के सार्वभौम सत्य का उद्घाटन करती हैं। इसी लिए वक्रोक्ति को कुन्तक ने 'काव्य की आत्मा' कहा है। यदि कुन्तक 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' न कहकर 'लोकोक्ति काव्यजीवितम्' कह देते तो विद्वानों को यह कथन अवश्य ही स्वीकार होता। इस का कारण यह है कि इसी 'लोकोक्ति के कारण कालिदास, भवभूति, माघ, बाण आदि ने संस्कृत में और चन्द, कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि ने हिन्दी में ख्याति प्राप्त की है। यदि इन के काव्य से 'लोकोक्तियों' को निकाल दें तो लगता है कि इन कवियों के प्राणों का ही हरण कर लिया गया है। इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को काव्य का प्राण कहा है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति लोक-जीवन से सम्बद्ध सार्वभौम सत्य का उद्घाटन करने वाली प्रेरणादायक उक्ति होती है। अत: वक्रोक्ति को कुन्तक द्वारा काव्य की आत्मा घोषित करना अनुचित भी नहीं जान पड़ता परन्तु फिर भी वक्रोक्ति काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित न हो सकी ।

वक्रोक्ति की अमान्यता का आधार

उपर्युक्त सभी विशेषताओं के होते हुए भी वक्रोक्ति, काव्य की आत्मा के रूप में मान्य न हो सकी। इस का मूल कारण यह है कि कुन्तक ने भामह, वामन तथा आनन्दवर्द्धन की भाँति 'वक्रोक्ति' का भी लाक्षणिक अर्थ में ही प्रयोग किया है। साथ ही कुन्तक ने वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक वक्रोक्ति के प्रसार की बात भी लाक्षणिक रूप में ही कही है, जबकि समाज में 'वक्रोक्ति' हँसी-मजाक, उत्तर-प्रत्युत्तर आदि मनोरंजक साधनों के रूप में प्रचलित है। अत: 'वक्रोक्ति' की लाक्षणिकता भी उसी प्रकार लोगों की समझ में न आ सकी जिस प्रकार 'अलंकार', 'रीति' और 'ध्वनि' अपने लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा काव्यात्म रूप में समादृत न हो सके। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो काव्यात्म सम्बन्धी आचार्यों की निरन्तर असफलता का कारण उनके द्वारा अपने मतों का खींच-तान कर जबर्दस्ती निर्धारण करना ही था जिसमें सत्यता का अंश बहुत कम था और आरोपण अधिक था। फिर 'काठ की हाँडी तो केवल एक बार ही चढ़ सकती है।' अत: कुछ समय तक मान्य होकर सभी मत एक के बाद एक धाराशायी होते गये।

रस-सम्प्रदाय

काव्य में रस ही एक ऐसा तत्त्व है जिसका काव्यात्म रूप में प्रयोग लाक्षणिक न होकर अभिधा के धारातल पर ही हुआ है। इसीलिए 'रस' को काव्य की 'आत्मा' कहना अन्य तत्वों को काव्य की आत्मा कहने की अपेक्षा अधिक सत्य है और समझ में आने योग्य है। इसी को ध्यान में रखकर विद्वानों ने पं० विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया। विश्वनाथ का यह कथन यद्यपि 'काव्यस्वरूप' निर्धारण के समबन्ध में ही कहा गया है परन्तु फिर भी इसमें 'रस' की आत्ममूलक धारणा निहित है। इसी कारण यह 'सूत्र-वाक्य' जहां एक ओर काव्य के स्वरूप-संबंधी लम्बे विवाद को हल करने में सफल हुआ वहाँ दूसरी ओर काव्यात्म सम्बन्धी विवाद भी इसी सूत्र द्वारा हल किया गया और सभी ने एक मत से 'रस' को ही 'काव्य की आत्मा' स्वीकार कर लिया। कुछ विद्वानों का आग्रह 'ध्वनि' की ओर भी दिखाई देता है[72], किन्तु हम इसे उनका वैयक्तिक मोह ही कहेंगे, क्योंकि सूर्य को दीपक दिखाना कभी बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। 'लाल कभी गुदड़ी में नहीं छिपते' अत: कतिपय प्रतिवादों के होने से 'रस' को 'काव्यात्मकोटि' से गिराया नहीं जा सकता। एक कहावत है **'पैनी तो पटपड़ में भी पैनी।'** अर्थात 'सत्य' तो सर्वत्र 'सत्य' है। वह कभी कुंठित नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'रस' काव्य का एक सार्वभौम रूप 'सत्य' है। वह कभी विकृत नहीं हो सकता। उसे असत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि वस्तुस्थिति पर प्रारम्भ से ही विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि रस की गंगा भरत-रूपी भगीरथ के प्रयत्नों से प्रारम्भ काल में ही अपने पूर्ण वेग से अद्‌भूत होकर भामह रूपी शंकर की जटाओं में समा

गई परन्तु फिर भी अपने क्षीण कलेवर में यह धारा प्रवाहित होती रही क्योंकि अलंकारों में 'रसवत्' तथा 'प्रेयस' आदि अलंकारों के रूप में सभी अलंकारवादियों ने 'रस' को मान्यता दी है। रीतिकार वामन ने 'गुणों' के रूप में रस की महत्ता का प्रतिपादन किया। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धक ने 'रसध्वनि' के रूप में इस की एक पृथक धारा का अवलोकन कराया। कुन्तक ने उसे 'सार्वभौम सत्य' के रूप में आदर्श की कक्षा में प्रविष्ट कराकर प्रवाहित होने दिया। अंत में भरत-भगीरथ की तपस्या सफल हुई और विश्वनाथ ने काव्यजगत में 'काव्यात्म' के रूप में 'रस' की स्थापना की।

आत्मा और रस

रस से पूर्व की काव्यात्म सम्बन्धी धारणाओं में सब से बड़ी यह त्रुटि थी कि 'अलंकार' 'रीति', 'ध्वनि' तथा 'वक्रोक्ति' को 'काव्य की आत्मा' तो घोषित किया गया परन्तु यह विचार नहीं किया गया था कि इन तत्वों का आत्मा के स्वरूप सम्बन्धी गुणों से कुछ साम्य भी है या नहीं। आत्मा के स्वरूप का निरूपण इस रूप में उपलब्ध है।

'ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।। (तुलसी)

अर्थात् आत्मा-ईश्वर का अंश (सत् चित् तथा आनन्द स्वरूप) है। वह अविनाशी अर्थात् अखण्ड है। वह चेतन अर्थात् सजीव है। अमल अर्थात् सभी विकारों सत्, रज् तथा तम् के प्रभाव से मुक्त है और सहज सुखरासी अर्थात् स्वभाव से ही आनन्दरूपिणी है।

जब हम काव्य पक्ष में इस तथ्य पर विचार करते हैं तो हमें सर्वप्रथम यह देखना होगा कि क्या काव्य में भी कोई ऐसा तत्त्व है जिसमें उक्त सभी गुण कुछ न्यूनाधिक्य के साथ उपलब्ध होते हों। इस पर विचार करने का प्रयास किए बिना ही आचार्यों ने उतावलेपन में अलंकर, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति आदि की घोषणा काव्य की आत्मा के रूप में इस प्रकार कर दी जिस प्रकार भौतिकवादियों ने बुद्धि तथा मन को ही आत्मा घोषित करके आत्म-दर्शन का आरोपण कर लिया है। परन्तु इन आचार्यों ने यह नहीं देखा कि अलंकार, रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति में 'आत्मा' का पूर्ण (सच्चिदानन्द) रूप विद्यमान नहीं है। कहीं केवल 'सत्' है-जैसे अलंकार तथा वक्रोंक्ति में । कहीं सत्-चित्त् है जैसे गुणों तथा ध्वनि में परन्तु पूर्ण 'सच्चिदानन्द' रूप तो केवल 'रस' में ही है। अत: 'रस' ही आत्म-तत्त्व के स्वरूप गुणादि का धारक है और काव्य की आत्मा माने जाने योग्य है।

रस के आत्म-रूप की स्थापना विश्वनाथ ने इस प्रकार की है –

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय:।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर:।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण: कैश्चित्प्रमातृभि:।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनऽयमास्वाद्यते रस:।। (सा.द. 3/2-3)

अर्थात रस का उद्रेक सत्व गुण से होता है। रस-अखण्ड, स्वयंप्रकाशवान् आनन्दमूल, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य (लौकिक मोहादि से रहित), ब्रह्मास्वादवत्

(आत्मानुभूतिजन्य आनन्द से युक्त) तथा लोकोत्तर चमत्कार प्राण (आत्म साक्षात्कार की जिज्ञासा का आधार) है।

इस आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि अलंकारादि की अपेक्षा 'रस' ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जिसमें 'आत्मा' के सभी गुण विद्यमान हैं। अत: रस को ही काव्य की आत्मा मानना समीचीन होगा।

काव्य का सत्य, सौन्दर्य और आनन्द

काव्य एक आनन्दमयी चेतना है। अत: उसे 'सत्य, सुन्दर तथा आनन्द युत बताया जाता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि काव्य में ये तत्त्व कहाँ और किस रूप में विद्यमान रहते हैं? इस सम्बन्ध में यदि अलंकार, रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति पर विचार करें तो तत्त्वों की वास्तविकता स्वत: ही स्पष्ट हो जायगी। जहाँ केवल सत्-तत्व का अविर्भाव होता है तथा चेतन और आनन्द का तिरोभाव होता है उसे 'दर्शन' की भाषा में 'जगत्' की संज्ञा दी जाती है। यह सृष्टि का जड़-तत्त्व है। शरीर में इसे पञ्च तत्व के रूप में माना जाता है: –

'छिति, जल, पावक, गगन समीरा। पंचरचित यह अधम सरीरा।। (मानस)

काव्य में अलंकारादि ही इस कोटि में आते हैं। सौंदर्य में 'सत् तथा चित्' का आविर्भाव और 'आनन्द' का तिरोभाव रहता है। इसे दार्शनिक भाषा में चेतन' या 'जीव' की संज्ञा दी जाती है जो माया में लिप्त होने के कारण आनन्द तत्व से वंचित रह जाता है। काव्य में लोकोक्ति मूलक अलंकार (अर्थान्तरन्यासादि), वक्रोक्ति (लोक प्रेरणा दायक उक्तियाँ) तथा माधुर्यादि गुण और ध्वनियाँ ही इस कोटि में आते हैं। 'सत्-चित् तथा आनन्द' इन तीनों ही तत्वों से युक्त शुद्ध चैतन्य 'आत्मा' को ही माना जाता है जो सांसारिक (मायादि) के बन्धनों से मुक्त होकर, 'निराकार तथा निर्विकार' होकर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाती है। काव्य में इन तीनों ही तत्त्वों को धारण करने वाला एक मात्र तत्त्व 'रस' ही है जिसे 'काव्यानन्द' भी कहते हैं। अत: 'सत्यं, शिवं और सुन्दरम्' स्वरूप का द्योतक 'रस' ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित होने की योग्यता रखता है। अलंकारादि 'आत्मा' के समीपी तो हैं परन्तु ये 'लौकिक आनन्द के द्योतक होने के कारण शरीरस्थ बुद्धि और मन की कोटि में ही आ सकते हैं जिन्हें हम भ्रम से आत्मा समझ बैठते हैं। परन्तु ये वास्तव में 'काव्य की आत्मा' नहीं हैं आत्माभास हैं क्योंकि इनमें भी लौकिक आनन्द और चमत्कार विद्यमान रहता है जो किसी-किसी को अत्यधिक आनन्द प्रदान करता है और किसी को वही उपहासास्पद लगता है। संसार में अच्छे और बुरे पदार्थों को कुछ लोग ग्रहण करते हैं और कुछ ग्रहण नहीं करते। यही स्थिति काव्य में भी है। जो सर्वग्राह्य (साधारणीकृत) भाव है वही तत्त्व 'रस' है। जिन्हें कुछ ग्रहण करते हैं तथा कुछ ग्रहण नहीं करते (वही असाधारणीकृत) 'ध्वनि अलंकारादि' हैं। अत: जिस प्रकार लोक-जीवन में सर्वग्राह्य चेतन तत्व (आत्मा) का प्रतीक है उसी प्रकार काव्य का सर्वग्राह्य चेतन तत्त्व (रस)

'काव्यात्मा' का प्रतीक है। अत: 'रस' निर्विवाद रूप से काव्य की 'आत्मा' है। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि– **'रसेव काव्यस्यात्मा इति'**

औचित्य-सम्प्रदाय

'रस' की काव्यात्म रूप में स्थापना हो जाने के पश्चात् काव्यात्म सम्बन्धी समस्या पूर्णरूपेण हल हो गई थी। परन्तु क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को पुन: अलंकारादि की भाँति लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त करके 'काव्य की आत्मा' घोषित कर दिया।

'औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।'[73]

अर्थात 'रस-सिद्ध' काव्य का, 'औचित्य' ही स्थिर प्राण है। इसका तात्पर्य यह है कि काव्य में चाहे रस हो, चाहे अलंकार, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति जब तक इनमें औचित्य न होगा, तब तक काव्यानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। क्षेमेन्द्र ने यहाँ काव्य के उसी 'सत्य' का 'औचित्य' के रूप में प्रयोग किया है जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। औचित्य एक सार्वभौम सत्य होता है जो अलंकारादि सभी तत्वों में उसी प्रकार विद्यमान रहता है जिस प्रकार ब्रह्म का 'सत्' स्वरूप पञ्चमहाभूतादि के रूप में समस्त जड़-चेतन में विद्यमान रहता है। ब्रह्म का 'सत्' स्वरूप (जहाँ चेतन और आनन्द का तिरोभाव रहता है) 'जड़-सृष्टि' कहलाता है। उसका 'चेतन-स्वरूप' (जिसमें 'सत् तथा चित् का आविर्भाव और 'आनन्द' का तिरोभाव रहता है) 'चेतन-तत्त्व' कहलाता है। ब्रह्म के इस रूप में 'सत्, रज् तथा तम्' गुणों की व्याप्ति रहती है और आत्मानन्द आभासित ही रहता है। परन्तु ब्रह्म का 'सच्चिदानन्द' रूप शुद्ध चैतन्य स्वरूप 'आत्मा' है जिसमें सत्, रज्, तम् का ह्रास हो जाता है। 'रजस्' तथा 'तमस्' की स्थिति में 'आत्मानन्द' पूर्णरूपेण तिरोभूत रहता है। वह 'सत्त्वगुण' की स्थिति में शुद्ध 'ब्रह्मानन्द' न होकर 'ब्रह्मानन्दवत्' अनुभूत होता है। काव्य में 'रस' की यही स्थिति है। इसीलिए रस को काव्य की 'आत्मा' माना गया है।

औचित्य की परिभाषा क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार की है –

'उचितं प्राहुराचार्या: सदृशं किल यस्य यत्
उचितस्य हि यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।। (औचित्य विचार चर्चा)

अर्थात् आचार्यों ने औचित्य का निरूपण करते हुए कहा है कि जो जिसका सादृश्य अर्थात् समान रूप, गुण, क्रिया स्वभावादिवाला है, यही उचित का भाव है जो औचित्य कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि क्षेमेन्द्र ने गुण, भाव, क्रिया तथा रूप की सादृश्यता दिखाने के कारण अलंकारों को, भाव की सादृश्यता दिखाने के कारण असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य-ध्वनि को, प्रेरणा की सादृश्यता दिखाने के कारण 'वक्रोक्ति' को और आनन्द की सादृश्यता दिखाने के कारण 'रस' को औचित्य के अन्तर्गत माना है। दूसरे शब्दों में अलंकारादि में जो उचित है वही काव्य का मूल तत्त्व है। बिना औचित्य के न 'अलंकार' ही ग्राह्य होते हैं और न 'रस'। रस औचित्य के अभाव में 'रसाभास' मात्र रह जाता है। बिना औचित्य के न रस स्थिर रह सकता है और न 'ध्वनि' आदि। जहाँ 'औचित्य'

है वहीं काव्य है और जहाँ औचित्य नहीं है वहीं काव्य नहीं है। अत: 'औचित्य' ही काव्य की आत्मा है।

क्षेमेन्द्र का कथन बहुत कुछ अंशों में सही लगता है क्योंकि 'औचित्य' को काव्य का मूल-तत्त्व मान लेने पर प्रथम तो अलंकारादि का आत्मा सम्बन्धी विवाद समाप्त हो जाता है और दूसरे औचित्य जो आत्म-तत्त्व की भाँति काव्य के हर पक्ष में व्याप्त है, सरलता से काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। तीसरे औचित्य में आत्मा का गुण भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है ही परन्तु फिर भी औचित्य काव्य की आत्मा के रूपमें मान्य न हो सका। इसके कारण निम्न प्रकार हैं।

औचित्य की अमान्यता के कारण

1. क्षेमेन्द्र ने भी काव्य में 'औचित्य' का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में ही किया है। यदि अभिधा के धरातल पर औचित्य का अर्थ लिया जाय तो वह देश कालादि की सीमाओं में आबद्ध होने के कारण किसी स्थिर अर्थ का प्रदर्शन नहीं करता। उदाहरणार्थ– भारत वर्ष में स्त्रियों का 'भूषण' लज्जा माना जाता है परन्तु यूरोप में इसे पिछड़ापन समझा जाता है। यूरोप में स्त्रियों द्वारा ताश खेलना, अर्द्धनग्नावस्था में घूमना, सिगरेट तथा शराब पीना, मर्दों के साथ खुले आम नाचना, गाना तथा गुलछर्रे उड़ाना उचित माना जाता है जबकि भारत में यह अनुचित एवं वर्जित है। अत: यूरोप के काव्य में उपर्युक्त चित्रण को काव्य का उत्कृष्टतम पक्ष माना जायेगा जबकि भारत में इसे अनुचित और अग्राह्य माना जायेगा। अत: औचित्य का रूप देश-कालादि की सीमाओं में आबद्ध होने के कारण सार्वजनीन एवं स्थिर नहीं है। ऐसी स्थिति में वह काव्य की आत्मा (काव्य के सार्वभौम सत्य) का वाचक नहीं है। डॉ० प्रेम स्वरूप गुप्त ने इसी ओर संकेत करते हुए कहा है–

औचित्य' देश-काल-प्रकृति सापेक्ष शब्द है, जो बात एक देश में, एक समय, एक व्यक्ति के लिए उचित है, वही बात उससे भिन्न परिस्थितियों में कभी अनुचित प्रतीत होती है।'[74]

2. औचित्य के काव्यात्म रूप में अमान्य होने का दूसरा कारण यह है कि औचित्य काव्य का कोई स्वीकृत तत्व नहीं है। यह एक सामान्य प्रचलित शब्द है जिसको जन सामान्य अपने अपने ढंग से प्रयोग में लाता है।

3. 'औचित्य' को रस की आत्मा मान लेने पर आत्म रूप का समानार्थी' तथा आत्मानन्द की अनुभूति कराने वाला 'रस' जो काव्यानन्द का स्थाथी धर्म है, का त्याग करना होगा परन्तु यह स्थिति तो–

'चिन्तामनि मंजुल पँवारि धूरि धारनि में,
काँच मन मुकुर सुधारि रखिबौ कहौ।' (रत्नाकर)

तथा

'मूरी के पातन के बदले को मुकुताहल दै है' (सूर)

के समान ही होगी।

4. औचित्य के भी दो रूप होते हैं। 1. लौकिक औचित्य। अर्थात् जो देश-कालादि की सीमाओं में आबद्ध रहता है जिसे कोई ग्रहण करता है और कोई ग्रहण नहीं करता। इसका निरूपण ऊपर सोदाहरण किया जा चुका है। 2. अलौकिक औचित्य, जो देशकालादि की सीमाओं से मुक्त 'रस' ही है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यों की एक सुदीर्घ परम्परा काव्य के मूल-तत्त्व (आत्मा) के सम्बन्ध में अपने मत-मतान्तरों का आदान-प्रदान करती रही है। सर्व प्रथम अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्य का मूल तत्त्व निर्धारित किया परन्तु अलंकार, सौन्दर्य-उद्बोधन का साधन-मात्र होने के कारण साध्यरूप 'आत्म-तत्त्व' के रूप में प्रतिष्ठित न हो सके। इसी प्रकार 'रीति' तथा 'वक्रोक्ति' सम्प्रदाय भी अपने लाक्षणिक अर्थ के कारण मान्य न हो सके। आनन्दवर्द्धन का 'ध्वनि-सिद्धान्त प्रारम्भ में अवश्य कुछ प्रभाव उद्भूत कर सका परन्तु 'ध्वनि' के अन्तर्गत 'रस, अलंकार तथा वस्तु' आदि को समाहित कर देने के कारण यह सिद्धान्त भी अपने उथले विवेचन तथा लाक्षणिक प्रयोग के कारण मान्य न हो सका। **अतः उक्त सभी सम्प्रदायों के आदि से (भरत के समय से) अपने क्षीण कलेवर में प्रवाहित होने वाली रस-धारा को जब अभिनव-विश्वनाथ आदि ने सांख्य-वेदान्तादि में निरूपित 'आत्मा' की ही भाँति शुद्ध, सात्त्विक तथा चैतन्य रूप में स्थापित कर दिया तो आत्मा सम्बन्धी सभी प्रतिबन्धों को पूर्ण करने की योग्यता रखने के कारण 'रस' 'काव्य की आत्मा' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। चूँकि काव्यस्थ 'रस' में शरीरस्थ 'आत्मा' के सभी गुण विद्यमान हैं, अतः सभी आचार्य 'रस' को ही 'काव्य की आत्मा' मानते चले आ रहे हैं** इसी आधार पर हिन्दी का आधुनिक आचार्य वर्ग भी 'रस' को ही काव्य की आत्मा' मानता है।

काव्य-हेतु

कार्य-कारण का नित्य सम्बन्ध है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। काव्य भी एक कार्य है। अतः काव्य का भी कारण होता है जिसे 'काव्य-हेतु' कहा जाता है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने जहाँ काव्य सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों की स्थापना की है वहाँ काव्य हेतुओं पर भी व्यापक रूप से प्रकाश डाला है। भामह से लेकर पं० राज जगन्नाथ तक आचार्यों ने काव्य हेतुओं पर जो विचार व्यक्त किये हैं उनका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

संस्कृत आचार्यों के मत

भामह

सर्वप्रथम भामह ने काव्य हेतुओं का प्रतिपादन इस प्रकार किया है।

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित प्रतिभावतः

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुवासनम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्य क्रिया दरः।।[75]

अर्थात काव्य का प्रणयन तो प्रतिभा द्वारा ही किया जा सकता है। शास्त्र-ज्ञान तथा अन्य रचनाओं का अध्ययन करके निरन्तर अभ्यास द्वारा की गई काव्य रचना अधिक उपयोगी हो सकती है। इस आधार यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह ने काव्य के तीन हेतुओं प्रतिभा, अध्ययन तथा अभ्यास का निर्धारण किया है परन्तु सब का मूल 'प्रतिभा' को ही माना है। अतः 'प्रतिभा' कवि की मूलशक्ति होती है। बिना 'प्रतिभा' के काव्य रचना कभी संभव नहीं है। यदि ऐंसा सम्भव हो तो हर एक व्यक्ति कवि बन जाय और घर-घर में कवि दिखाई देने लगें। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। 'जिस प्रकार हर पर्वत में मणियाँ नहीं होतीं, हर वन में चन्दन नहीं होता, हर स्थान पर साधु उपलब्ध नहीं होते तथा हर हाथी के मस्तक में गज मुक्ता नहीं होता उसी प्रकार हर स्थान पर और हर युग में कवि भी जन्म नहीं लेता।'[76] इस का तात्पर्य यह है कि 'प्रतिभा' एक विशेष प्रकार की शक्ति है जो जन्मजात होती है। यह विरले लोगों में ही मिलती है और जिनमें यह मिलती है केवल वे ही काव्य की रचना करने में समर्थ हो सकते हैं। अब रही शास्त्र ज्ञानादि की बात उसके लिए भी 'प्रतिभा' आवश्यक है। बिना 'प्रतिभा' के शास्त्र-ज्ञानादि भी प्राप्त नहीं होगा क्योंकि वह तो 'सरस्वती का अमर वैभव है जो केवल गुरु की कृपा से किसी कवि को ही प्राप्त हो सकता है उसे हठ पूर्वक व्यर्थ ही पाठ की प्रतिष्ठा करने वाला दुराग्रही कभी प्राप्त नहीं कर सकता जैसे तालाब में दिनभर पड़ा रहने वाला भैंसा अपने खुरों की कीचड़ से तालाब के पानी को गदला ही करेगा वह तालाब में विकसित कमल पुष्पों की सुगन्धि को कभी प्राप्त नही कर सकता।'[77] इसका आशय यह है कि जब तक कोई व्यक्ति प्रतिभावन् नहीं होगा तब तक वह कवित्व सम्बन्धी काव्य-शास्त्रादि के ज्ञान को भी प्राप्त नहीं कर सकेगा क्योंकि –

'फूलै फलै न बैंत जदपि सुधा बरसै जलद।
मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहि बिरंचि सम।। (तुलसी)

अतः बिना 'प्रतिभा' के न तो काव्य रचना ही की जा सकती है और न काव्य-शास्त्रादि का ज्ञान ही प्राप्त किया जा सकता है चाहे उस पर गुरु की कितनी ही अधिक कृपा हो और वह अभ्यास करते-करते प्राण ही क्यों न दे दे। भामह भी इस का समर्थन इस पंक्ति में करते हैं–

'गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।'[78]

अर्थात गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन करने पर जड़-बुद्धि भी पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं। इसका आशय यह है कि यदि प्रतिभा किसी परिस्थिति वश कुण्ठित

हो गई है तो उसे गुरु, शास्त्रादि के अध्ययन आदि के द्वारा पुनः जाग्रत कर सकता है। परन्तु उस व्यक्ति के हृदय में प्रतिभा बीज-रूप में विद्यमान होनी चाहिए, जैसे कालिदास आदि में प्रतिभा तो विद्यमान थी परन्तु परिस्थितियों के कारण वह उस प्रकार कुण्ठित पड़ी थी जिस प्रकार माया का पर्दा पड़ा रहने पर आत्मा कुण्ठित (सुप्त) पड़ी रहती है और जब कालिदासादि की प्रतिभा को जागने का अवसर मिला तो उसकी प्रतिभा का दबा हुआ श्रोत इस प्रकार फूट पड़ा जिस प्रकार अर्जुन के बाण से महाभारत के युद्ध-क्षेत्र में बाण-गंगा प्रवाहित होने लगी थी। इसी प्रकार जब गुरु आदि के द्वारा प्रतिभा को जगाया जाता है तो इसमें सफलता केवल उसी को मिलती है जिसमें प्रतिभा पहले से ही विद्यमान रहती है। परन्तु जिसमें प्रतिभा होगी ही नहीं वह उत्पन्न कैसे हो सकेगी क्योंकि उत्पत्ति का अर्थ तो किसी का प्रकट होना ही है, नव निर्माण नहीं। महात्मा तुलसीदास का यह कथन इसी ओर संकेत करता है।

'अतिसय रगड़ करे जो कोई। अनल प्रकट चन्दन ते होई॥'

अर्थात यदि अतिशय संघर्षण किया जाय तो चन्दन से भी अग्नि उत्पन्न हो सकती है। परन्तु क्यों? इस का उत्तर स्पष्ट है कि चन्दन ईंधन है और उसमें अग्नि मूल रूप में अलक्षित रहती है। यदि चन्दन में अग्नि पहले से विद्यमान न होती तो रगड़-रगड़ कर मर जाते, परन्तु अग्नि उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जायसी भी इसी का समर्थन करते हैं।

'गुरू विरह चिनगी जो मेला। वह सुलगाइ लेइ सो चेला॥

इसका आशय यही है कि बीजरूप में भूल वस्तु यदि किसी के हृदय में विद्यमान है और वह परिस्थितिवश विपरीत तत्त्वों से आच्छादित हो गई है। (जैसे सूर्य बादल से) तो उस विपरीत तत्त्व के पृथक हो जाने पर वह स्वयं ही उद्भूत हो जायेगी। यही स्थिति 'प्रतिभा' की है। दबी हुई प्रतिभा को गुरु जगा सकता है परन्तु यदि प्रतिभा बीजरूप में नहीं है तो गुरु 'प्रतिभा' की स्थापना कभी नहीं कर सकता क्योंकि बालू से तेल नहीं निकल सकता और बन्ध्या के कभी पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः भामह ने सर्वप्रथम यही घोषणा की कि प्रतिभावान् व्यक्ति (कवि) ही काव्य रचना कर सकता है और वह अध्ययन तथा अभ्यासादि के द्वारा गुरु की सेवा करते हुए अपनी दबी हुई प्रतिभा को उजागर कर सकता है। इसे प्रतिभा का विकास भी कह सकते हैं।

प्रतिभा के विकास की भी एक सीमा होती है। वह उसी अनुपात में विकसित हो सकती है जिस अनुपात में वह व्यक्ति के हृदय में विद्यमान है। इसी लिए तो कौरवों को धनुर्वेद की शिक्षा देते हुए द्रोणाचार्य द्वारा अभ्यास सभी को कराया गया था, शिक्षा सब को दी गई थी परन्तु धनुर्वेद में निरन्तर अभ्यास और शिक्षा के द्वारा प्रतिभा का जो विकास अर्जुन ने किया था उसे दूसरा न कर सका। इसका आशय यह ही है कि प्रतिभा का विकास भी उसके परिमाण के आधार पर ही किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यहाँ यह तथ्य भी प्रकाश में आता है कि 'प्रतिभा' भी एक

कोटि की नहीं होती। उसमें भी कोटि-भेद होता है। यही कारण है कि सभी कवियों की कवितायें भी एक समान नहीं होतीं।

उनमें भी उत्तम, मध्यम, अधमादि का अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। इसीलिए तो कहा गया है–

'सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशव दास ।
अब के कवि खद्योत सम जहँ जहँ करहिं प्रकास॥'

दण्डी

दण्डी ने भामह के मत का ही सम्पादन करते हुए कहा है–

'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य सम्पदः॥'[79]

अर्थात प्रतिभा नैसर्गिकी (जन्म जात) होते हुए भी निर्मल काव्य शास्त्रादि के श्रवणादि से और निरन्तर अभ्यास से उत्तम काव्य रचना का कारण बन जाती है। दण्डी के इस कथन से स्पष्ट है कि प्रतिभा का विकास अध्ययन और अभ्यास द्वारा किया जा सकता है। दण्डी यह भी मानते हैं कि प्रतिभा कभी-कभी वासनादि के बन्धन में पड़कर कुण्ठित भी हो जाती है और वह बिल्कुल परिलक्षित नहीं होती परन्तु जब यत्नपूर्वक सरस्वती देवी की उपासना की जाती है तो कभी-कभी सोई हुई प्रतिभा को जगाया जा सकता है।[80] इस प्रकार के उदाहरण समाज में पर्याप्त मिलते हैं। चन्दवरदायी की प्रतिभा 'दुर्गा' की आराधना करने पर उत्कृष्टता को पहुँच गई थी। सूरदास तथा तुलसीदास की प्रतिभायें भी आकस्मिक रूप में जीवन के धक्कों से जाग्रत हुई थीं। दण्डी ने भी अपने मत में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है और यह स्पष्ट किया है कि प्रतिभा नैसर्गिक होती है। वह अर्जित नहीं की जा सकती। केवल वासनादि से आच्छादित होने की स्थिति में उसे जगाया जा सकता है। इसका आशय यह है कि प्रतिभा बाजार में नहीं बिकती। न किसी बूटी के रूप में किसी खेत में ही उत्पन्न होती है और न वह घोट कर ही पिलाई जा सकती है। वह तो कवि के जन्म के साथ ही उसके पुरातन संस्कारों के कारण जन्म लेती है।

वामन

वामन ने भी काव्य-हेतुओं का विवेचन तो किया है परन्तु कोई नवीन मत स्थापित न करके केवल भामह द्वारा प्रतिपादित तत्वों के नाम बदल दिये हैं। सर्वप्रथम उन्होंने काव्य के तीन अङ्ग माने हैं। 1. लोक 2. विद्या 3. प्रकीर्ण। प्रथम में लोक-जीवन का ज्ञान आता है। द्वितीय में शास्त्र-ज्ञान (काव्य-शास्त्रादि का ज्ञान) आता है और तृतीय में निम्नलिखित छः तत्व आते हैं–

1. लक्ष्यत्व ज्ञान (अन्य काव्य-कृतियों का परिचय)
2. अभियोग (अभ्यास)

3. वृद्ध सेवा (गुरु सेवा)

4. अवक्षेप (उचित शब्दादि प्रयोग का अभ्यासादि)

5. प्रतिभान (प्रतिभा)

6. अवधान (चित्त की एकाग्रता)[81]

वामन के इस मत का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने भामह द्वारा प्रतिपादित प्रतिभा के मानदण्ड को शिथिल करने का प्रयास किया है और इसीलिये प्रतिभा को 'प्रकीर्ण' के अंतर्गत रखा है तथा मुख्यता अध्ययन और अभ्यास को दी है इसी त्रुटि के कारण वामन का यह मत मान्य न हो सका।

रुद्रट

रुद्रट ने 'प्रतिभा' के दो रूप माने हैं। **1. सहजा 2. उत्पाद्या।** 'सहजा' से रुद्रट का आशय जन्मजात (संस्कार गत) प्रतिभा से है और उत्पाद्या का तात्पर्य अध्ययन आदि से प्राप्त की गई 'प्रतिभा' से है। रुद्रट यह भी मानते हैं कि 'सहजा' प्रतिभा ही श्रेयस्कर होती है। वही काव्य का मूल हेतु है। 'उत्पाधा' 'सहजा' का संस्कार करती है क्योंकि सहजा को संस्कार की अपेक्षा रहती है इसके साथ ही अभ्यास भी काव्य रचना में लाभदायक होता है।[82]

रुद्रट के इस मत के आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि रुद्रट ने भी भामह का ही पिष्टपेषण किया है। केवल 'व्युत्पत्ति के स्थान पर 'प्रतिभा' का दूसरा रूप 'उत्पाद्या' मान कर कुछ मतिभ्रम उपस्थित कर दिया है। परन्तु 'प्रतिभा' को उत्पन्न नहीं किया जा सकता उसे अध्ययन तथा अभ्यास के द्वारा केवल इस प्रकार तीव्र किया जा सकता है जिस प्रकार एक जंग लगे हुए हथियार पर शान रखकर उसे चमकाया जा सकता है क्योंकि कभी-कभी परिस्थिति के कारण प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि प्रतिभा 'आत्मतत्त्व' की भाँति 'चिन्मय' तथा 'अखण्ड' सत्ता है उसके न तो खण्ड ही किये जा सकते हैं ओर न उसे दूसरे रूप में उगाया ही जा सकता है क्योंकि 'प्रतिभा' कोई अन्य वस्तु नहीं 'आत्मा' का ही प्रकाश है।

राजशेखर

राजशेखर ने भी काव्य हेतुओं पर विशद्ता से विचार किया है परन्तु इन्होंने भी रुद्रट की भाँति प्रतिभा के दो भेद किये हैं। **1. कारयित्री 2. भावयित्री।**[83]

इनके मतानुसार 'कारयित्री प्रतिभा' का सम्बन्ध कवि से है और 'भावयित्री प्रतिभा' का सम्बन्ध सहृदय से। अर्थात आलोचक से। राजशेखर 'भावयित्री प्रतिभा' का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि भावक (श्रोता, दर्शक, आलोचक आदि) की 'प्रतिभा' के बिना कवि के परिश्रम एवं अभिप्राय का मूल्याङ्कन कौन करेगा।

राजशेखर की इस स्थापना में केवल एक बात नवीन मिली है कि प्रतिभा केवल

कवि में ही नहीं होती वह आलोचक या पाठकादि में भी होती है जो काव्य की आलोचना करके उसके गुणावगुणों का निर्णय करता है। यद्यपि राजशेखर ने इसे भावुक (सहृदय) की प्रतिभा कहा है परन्तु सहृदय तो मात्र दर्शक या श्रोता ही होता है उसे कृति के विवेचन से कोई सरोकार नहीं होता। अत: भावक का अर्थ यहाँ आलोचक या समालोचक करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

राजशेखर ने कारयित्री प्रतिभा के तीन भेद माने हैं। 1. सहजा (पूर्व जन्म के संस्कारों से प्राप्त) 2. आहार्या (यह इसी जन्म में संस्कारों से उदबुद्ध होती है) 3. औपदेशिकी (मंत्र तंत्र, देवता गुरु आदि के उपदेश से उत्पन्न होती है।[84]

यदि गंभीरता से विचार किया जाय तो राजशेखर ने कोई नई बात नहीं कही है। केवल भामह के ही मत को घुमा-फिराकर तथा तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया है। 'सहजा' को तो सभी मानते है। 'आहार्या' तथा 'औपदेशिकी प्रतिभा' न होकर 'अध्ययन' तथा 'अभ्यासादि' के द्वारा किया गया प्रतिभा का विकास है अर्थात उसके वासनाच्छादित रूप का अनावरण है। राजशेखर काव्य में प्रतिभा के साथ व्युत्पति को भी लाभदायक मानते हैं। 'प्रतिभा-व्युत्पत्ती मिथ:समवेते श्रेयस्यौ'[85] परन्तु वे काव्य का मूल 'हेतु' प्रतिभा को ही स्वीकार करते हैं।

'साशक्ति: केवल काव्य हेतु:।'[86] राजशेखर ने 'प्रतिभा' तथा 'व्युत्पति' का आधार कवि के हृदय में निहित शक्ति को बताया है। 'शक्तस्य प्रतिभाति, शक्तस्य व्युत्पद्यते' अर्थात शक्तिवान् में ही प्रतिभा आती है और शक्तिशाली ही अध्ययनादि कर सकता है। यहाँ राजशेखर वास्तविकता से कुछ परे चले गये हैं क्योंकि जिसे वे 'शक्ति' कहते हैं, वह तो 'प्रतिभा' ही है। जिसे वे 'प्रतिभा' कहते हैं वह है 'लगन' और जिसे कवि के चित्त की 'एकाग्रता' कहते है वह है कवि की 'एकाग्र साधना' तथा व्युत्पत्ति (शास्त्रादि) का अध्ययन व काव्य का सृजन आदि जो लगन का ही परिणाम है।

मम्मट

मम्मट ने उपर्युक्त सभी मतों का सार लेकर काव्य के तीन हेतु माने हैं–

'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।'[87]

अर्थात शक्ति (प्रतिभा), लोकानुभव, काव्य-शास्त्रादि के अध्ययनादि के द्वारा प्राप्त निपुणता और कवि शिक्षा तथा काव्य-रचनादि का निरन्तर अभ्यास ये तीनों ही काव्य के हेतु हैं। यहाँ मम्मट ने पूर्वकाल से चले आनेवाले विवाद को समाप्त करने के लिए तथा काव्य हेतुओं की सरल विवक्षा प्रस्तुत करने की दृष्टि से एक सीधा-सादा मत व्यक्त कर दिया है। उन्होंने राजशेखर द्वारा संकेतित 'शक्ति' को 'शक्ति' एवं 'प्रतिभा' के समवेतरूप में स्वीकार कर के उस विवाद को समाप्त कर दिया है और कहा है कि 'प्रतिभा' एवं 'शक्ति' एक ही होती हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। मम्मट के विचार से काव्य-सामग्री उपलब्ध कराने के लिए तथा काव्य-रीति आदि का ज्ञान

कराने के लिए अपने से पूर्व-प्रचलित काव्य-ग्रंथों, शास्त्र-पुराण-इतिहासादि तथा काव्य - शास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन करना आवयश्यक है जिससे काव्य-सामग्री तथा काव्य-रीति (सिद्धान्त एवं शैली) का ज्ञान हो सके। इसके पश्चात् काव्य रचना के निरन्तर अभ्यास से दक्षता बढ़ती है और कृतियों में निरन्तर सुधार होता जाता है।

मम्मट के उपर्युक्त मत को रीतिकालीन तथा आधुनिक हिन्दी-आचार्यों ने अधिक मान्यता प्रदान की है। इसका कारण यह है कि हिन्दी-आचार्यों को मम्मट का उपर्युक्त मत ही अधिक उपयोगी लगता है। हम देखते हैं कि मम्मट का प्रादुर्भाव एक ऐसे समय में हुआ था जब 'काव्यशास्त्र' के अधिकांश विवाद फैलकर और फूलकर अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गये थे जिसे समाप्त करने के लिये किसी सबल आचार्य के निर्णय की आवश्यकता थी और यह कार्य मम्मट द्वारा सम्पादित किया गया। अत: मम्मट को भारतीय काव्य-शास्त्र का एक सुविज्ञ तथा कुशल न्यायाधीश कहा जा सकता है। काव्य-हेतुओं के सम्बन्ध में भी हिन्दी-आचार्यों में उनका निर्णय अधिक सफल सिद्ध हुआ और तभी से हिन्दी-काव्य-शास्त्र में काव्य के प्राय: तीन ही हेतु माने जाते रहे हैं। परन्तु व्यवहार में यह देखने में आता है कि बिना 'प्रतिभा' के कोरे अध्ययनादि से तो कोई कवि बनते नहीं देखा जा सका है। जबकि बिना अध्ययनादि के अनेक कवि उपलब्ध हुए हैं जो अध्ययनादि करने वालों से कहीं अधिक मान्य एवं दक्ष सिद्ध हुए हैं।

उदाहरणार्थ वाल्मीकि तथा व्यास को ही लीजिए न तो इन्होंने कोई शास्त्र ही पढ़ा था और न कोई अभ्यास ही किया था। बिना किसी शिक्षा-दीक्षा के स्वयं ही विश्व के दो मूर्द्धन्य महाकाव्य उनकी वाणी से निकल पड़े जिनका संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक महत्व है। कहा जाता है कि वाल्मीकि तो दस्यु थे। वे बिना पढ़े लिखे असहिष्णु एवं हिंसक व्यक्ति थे। व्यास लिखना नहीं जानते थे उन्होंने 'महाभारत' गणेश से लिखवाया था। यही कबीर, दादू, सूर मीरा आदि के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। इन सब ने कविता कैसे की? केवल प्रतिभा के बल पर। बिना प्रतिभा के पोथी पढ़-पढ़ कर मर जाओ परन्तु पण्डित नहीं हो सकते। इसीलिए संसार में ऐसे असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं जहाँ प्रयास करने पर भी लोग कवि नहीं हुए और बिना प्रयास के अनेक कवि संसार में अपना नाम अमर कर गये। आजकल हर शिक्षित व्यक्ति कवि तथा लेखक बनने के चक्कर में घूमता है परन्तु क्या उन्हें कवि माना जा सकता है? और उनके द्वारा काव्य कहे जाने वाले कूड़े के ढेर से सरस्वती काश्रृंगार हो सकेगा। यह सब क्यों है? प्रतिभा के अभाव के कारण। कभी-कभी यह भी देखने को मिलता है कि लोक-शास्त्रादि का अध्ययन करने से कवि की प्रतिभा में निखार आ जाता है और उनकी उत्तरोत्तर रचनायें अधिक प्रौढ़ एवं प्राञ्जल बनती चली जाती हैं। परन्तु बारीकी से देखने पर यह भी ज्ञात हो जाता है कि कवि जैसे-जैसे अध्ययन तथा अभ्यास के द्वारा पाण्डित्य की ओर बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे वह समाज से दूर हटता जाता है

जैसे रामचरित मानस ओर विनय-पत्रिका का अन्तर इसे स्पष्ट कर देता है, अत: निरन्तर अध्ययन एवं अभ्यास से कवि अवश्य ही दक्षता प्राप्त कर लेतां है परन्तु उसकी वाणी में वह सौरस्य नहीं रह जाता जो प्रारम्भ में उसकी प्रतिभा के स्वाभाविक श्रोत से उद्भूत हुआ था। यह केवल बाह्य रूप से ही सत्य है कि कवि अध्ययन तथा अभ्यास से दक्षता प्राप्त करके उत्तम काव्य की रचना कर लेता है। 'उत्तमता' के भी दो रूप हैं। 1. लोकोपयोगिता 2. साहित्यिक दक्षता। इन दोनों में लोकोपयोगिता अधिक उत्तम है क्योंकि उसमें साहित्यिक दक्षता भी विद्यमान रहती है। परन्तु पाण्डित्य कविता के लिए कभी लाभप्रद सिद्ध नहीं होता, जैसे केशवदास अपने पण्डित्य के कारण ही कठिन काव्य के 'प्रेत' कहे जाते हैं। छायावादी काव्य पाण्डित्य के कारण ही केवल उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों के लिए उपयुक्त है। प्रसाद के नाटक आदि पाण्डित्य प्रदर्शन के कारण ही मञ्चीय योग्यता से च्युत हो गये हैं। दिनकर ने चाहे 'उर्वशी' के निर्माण में कितना ही परिश्रम किया हो परन्तु पाण्डित्य के कारण ही वह 'कुरुक्षेत्र' की गरिमा को प्राप्त नहीं कर सकती। अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अध्ययन तथा अभ्यास से 'प्रतिभा' की स्वाभाविकता का ह्रास ही होता है चाहे उसमें पण्डित्य की चमक उत्पन्न हो जाये। अध्ययन तथा अभ्यास वहाँ ही 'प्रतिभा' का विकास कर सकते है जहाँ 'प्रतिभा' का कोई कोना या सर्वाङ्ग वासना के गर्त में फँस कर अप्रभावी बन गया हो। जैसे कालिदास, तुलसीदास तथा सूरदास की दबी हुई प्रतिभाओं को जीवन में होने वाली आकस्मिक घटनाओं ने ही उजागर किया था। इस आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि काव्य का मूल हेतु तो 'प्रतिभा' ही है। अध्ययन तथा अभ्यास उसके विकास में सहायक हेतु ही हैं। जहाँ प्रतिभा अपने पूर्ण विकास पर होती है वहाँ न अध्ययन की आवश्यकता है और न अभ्यास की।

यद्यपि हिन्दी आचार्य काव्य हेतुओं के सम्बन्ध में मम्मट की ही परम्परा पर चले हैं परन्तु संस्कृत-आचार्य उनके मत से सहमत नहीं हैं। वे प्रतिभा को मूल हेतु मानकर चले हैं। अध्यन और अभ्यासादि तो प्रतिभा के सुधारक हेतु हैं।

वाग्भट

वाग्भट द्वितीय ने निम्नालिखित पंक्तियों में प्रतिभा को ही काव्य का हेतु घोषित किया है।

'प्रतिभैव च कवीनां काव्य करण कारणम्।
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ।।[88]

अर्थात् कवि की प्रतिभा ही एक मात्र काव्य का हेतु है। व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तो उसके (प्रतिभा के) ही संस्कारक हेतु हैं।

केशव मिश्र

केशव मिश्र ने भी यही मत व्यक्त किया है–

'प्रतिभाकारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृद्भ्यासः काव्यस्यैषा व्यवस्थितिः।।[89]

अर्थात प्रतिभा काव्य का कारण है। व्युत्पत्ति तथा निरन्तर काव्य प्रणयन मूलक अभ्यास उसके (प्रतिभा के) स्वरूप को अधिक उज्जवल बनाने वाले विभूषण हैं।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र ने भी प्रतिभा को ही काव्य का मूल हेतु माना है। उन्होंने उसके **सहजा** तथा **औपाधिकी** दो भेद किये है।[90] परन्तु प्रतिभा अखण्ड होती हैं उसके भेद नहीं किये जा सकते। इसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्रतिभा को ही काव्य का मूल हेतु माना है।[91]

रीतिकालीन आचार्य

संस्कृत-आचार्यों की मान्यता ही रीतिकालीन आचार्यों में कुछ न्यूनाधिक्य के साथ मान्य होती गई रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशवदास ने कवि शिक्षा पर बल देते हुए कहा है–

समुझें बाला बालकनि बरनन पंथ अगाध।
कविप्रिया केसव करी क्षमिजो बुध अपराध।।[92]

भिखारीदास; मम्मट के अनुसार प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों को ही काव्य का हेतु मानते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में उन्होंने अपने मत को इसी आधार पर व्यक्त किया है–

'सक्ति कवित्त बनाइवे की जेहि जन्म नक्षत्र तें दीन्हि बिधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकबीन औ देखी-सुनी बहुलोक की बातैं।।
दास हैं जामें इकत्र ये तीनि बनै कविता मन रोचक तातैं।
एक बिना न चलै रथ जैसें धुरन्धर सूत की चक्र निपातैं।[93]

हिन्दी-आचार्यों ने काव्य हेतुओं पर कोई स्वतन्त्र विचार व्यक्त नहीं किये हैं। अपने काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में प्रायः सभी विद्वान् संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्धारित काव्य हेतुओं की व्याख्यायें ही प्रस्तुत करते रहे हैं।

विवेचन

उपर्युक्त विवरण से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं–

1. काव्य हेतुओं के मूल संस्थापक भामह थे। उन्होंने प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु मानते हुए गुरु आदि की कृपा से व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को उसके विकास तथा उद्बोधन का आधार माना है।

2. दण्डी से लेकर राजशेखर तक भामह के ही मत की व्याख्या करते रहे और कुछ न्यूनाधिक्य के साथ उन्होंने भामह के ही मत को स्वीकार किया। केवल 'प्रतिभा' के भेदादि का विवेचन ही उनके द्वारा मुख्य रूप से किया गया।

3. मम्मट ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास इन तीनों को ही काव्य का हेतु समवेत रूप में माना और भामह की मान्यता में थोड़ा हेर-फेर कर दिया। मम्मट की यह मान्यता अधिक व्यावहारिक तथा स्पष्ट तो थी परन्तु वह वास्तविकता पर पर्दा डालकर उसके आभासित रूप के ही प्रदर्शन का प्रयास था। अत: जन सामान्य में तो यह धारणा ग्राह्य हो गई। विशेषकर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में; परन्तु संस्कृत के मम्मट परवर्ती आचार्यों में यह धारणा मान्य न हो सकी और वाग्भट, केशव मिश्र, हेमचन्द्र तथा पं॰ राज जगन्नाथ आदि सभी ने प्रतिभा को ही काव्य का मूल हेतु मानते हुए व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा के संस्कारक हेतुओं के रूप में ही स्वीकार किया। इस प्रकार मम्मट परवर्ती आचार्यों की परम्परा भी भामह के ही मत का अनुसरण करती रही है।

प्रतिभा की महत्ता

यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो हम घूम फिर कर इसी तथ्य पर पहुँच जाते हैं कि काव्य रचना का मूल हेतु तो प्रतिभा ही है। बिना 'प्रतिभा' के काव्य रचना होने लगे तो हर व्यक्ति कवि बन कर नाम ऊँचा कर ले परन्तु समाज में ऐसा नहीं देखा जाता। हर व्यक्ति न तो कभी कवि बन सका है और न कभी बन सकेगा। अत: प्रतिभा काव्य का मूल हेतु है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रतिभा के विकास कारक साधन हैं।

प्रतिभा और कल्पना

हिन्दी के आधुनिक आचार्यों में एक भ्रम और उत्पन्न हो गया है कि वे कल्पना और प्रतिभा को एक मानने लगे हैं,[95] परन्तु हमारी राय में कल्पना और प्रतिभा कभी एक नहीं हो सकती क्योंकि कल्पना का सम्बन्ध मन की उड़ान से है। मन की उड़ान की कोई सीमा नहीं है, मन आकाश-पाताल एक कर सकता है। वह स्वर्ग को नरक और नरक को स्वर्ग में बदलने की डींग मार सकता है। उसी से सम्बद्ध कल्पना केवल कुतूहल और चमत्कार उत्पन्न करती है। अत: वह केवल मनोरंजन की सामग्री तैयार करने का ही साधन मात्र है, इसीलिये कल्पना का सर्वाधिक प्राबल्य 'प्रहेलिकादि' में देखा जाता है जहाँ कल्पना के द्वारा केवल मनोरंजन एवं बुद्धि परीक्षण किया जाता है। परन्तु काव्य केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं है। काव्य एक 'चैतन्य' प्रेरणा है। काव्य में हृदय पक्ष की प्रधानता रहती है और मार्मिकता तथा गम्भीरता उसका मूल तत्त्व है। काव्य में मार्मिकता और गम्भीरता कल्पना के अभाव में ही संभव होती है। यदि कहीं बेसिर-पैर की उड़ाना शुरू किया कि मार्मिकता गायब। कल्पना पाण्डित्य का प्रतीक है। वह क्लिष्ट रूपकातिशयोक्ति मूलक प्रतीकों तथा अन्य अलंकारों में निहित रहती है। अत: कोरी कल्पना से काव्य में 'क्लिष्टत्व' दोष' आये बिना नहीं रहता और जहाँ यह दोष विद्यमान रहता है वहीं काव्य ग्राह्य नही हो पाता। जैसे सूर के द्रष्टकूट उनके सरल, स्वाभाविक कल्पना रहित पदों की तुलना में कम महत्व प्राप्त कर सके

हैं।छायावादी कवियों का काव्य क्लिष्ट सर्वनाम मूलक प्रतीकों के कारण सार्वजनीन नहीं बन सका है। इसके अतिरिक्त कल्पना पाण्डित्य को भी प्रोत्साहन देती हैं। काव्य में इसे एक अप्राकृतिक व्यवस्था माना जाता है जबकि काव्य हृदय की सहज सुलभ अभिव्यक्ति है उसमें यत्किंचित् अप्राकृतिकता आ जाने पर ही 'बुन्दक हाला परत ज्यों गंगाजल अपवित्र' की भाँति उसका सम्पूर्ण 'रस', 'विरस' हो जाता है।

व्यावहारिक रूप में भी यही देखा जाता है कि जिन कवियों ने कल्पना की अधिक उड़ान भरी है उनकी कृतियाँ इतनी अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सकीं जितनी कि सरल स्वाभाविक रूप में लिखी गई कवितायें उपयोगी सिद्ध हुईं।

उदाहरणार्थ –

'मैया मैं नहिं माखन खायौ।
भोर भयो गैयन के पीछे मधुवन मोहि पठायौ।
चारि पहर वंशीवट भटक्यो साँझ परे घर आयौ।
ये ग्वालिनि छींके पर भाजन ऊँचे करि लटकायौ।
मैं बालक बहिंयन को छोटौ छींकौ केहि विधि पायौ। (सूरदास)

इस कविता में कल्पना का पूर्ण अभाव है परन्तु यह कविता 'संयोग वात्सल्य' का उत्कृष्टतम उदाहरण है और साहित्य की अमूल्य निधि है। इस पद में कल्पना का कमाल नहीं 'प्रतिभा' का कमाल है क्योंकि समाज में बालक द्वारा किये गये खाने-पीने सम्बन्धी अपराधों को हम सभी रात-दिन देखते हैं तथा बच्चों द्वारा अपने अपराध को स्वीकार न करने व उसके विपक्ष में तर्क उपस्थित करके अपने को निरपराध सिद्ध करने तथा अपना दोष दूसरों के मत्थे मढ़ने की प्रवृत्ति भी रात-दिन हर घर में प्राय: देखी जाती है परन्तु फिर भी कोई उसका वर्णन इस प्रकार न कर सका जिस प्रकार कि सूर ने किया। इसका क्या कारण है, कल्पना? हमारा उत्तर होगा कल्पना नहीं प्रतिभा। क्योंकि कल्पना का सबसे पहला काम होता है स्वाभाविकता पर पर्दा डालना और प्रतिभा का सबसे प्रथम कर्त्तव्य होता है बनावट को समझ करके स्वाभाविकता को खोज निकालना चाहे वह कितनी ही गहराई में जाकर क्यों न बैठ गई हो। कवि को गिद्ध-दृष्टि प्राप्त होती है– तभी तो कहा गया है–

'जहाँ न पहुँचे रवि। वहाँ पहुँचे कवि।'

अत: कवि सूक्ष्मातिसूक्ष्मदर्शी होता है। यह उसकी प्रतिभा का ही बल है।

काव्य का मूलाधार है लोकानुभव। इसका आशय यह है कि लोक में प्रचलित रीति-रिवाजों, खान-पानों, परम्परा तथा धर्मों का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करके उसका काव्य में चित्रण किया जाय। यह केवल प्रतिभा के ही द्वारा संभव है क्योंकि लोक में तो करोड़ों व्यक्ति रहते हैं और सभी लोकानुभव करते हैं। परन्तु उसे प्रभावशाली रूप में चित्रित कोई बिरला ही कर सकता है। क्योंकि जब तक किसी व्यक्ति के सूक्ष्म-तत्त्व विवेचन की शक्ति (प्रतिभा) नहीं होगी तब तक वह सरसता तथा मार्मिकता

के साथ लोकानुभव को चित्रित न कर सकेगा। इसीलिए तो प्रेमचन्द किसान के घर-बाहर की बातों का हू-बहू चित्र प्रस्तुत कर सके। जबकि स्वयं किसानों में से कोई भी अपनी यथार्थ स्थिति को चित्रित नहीं कर सका। अत: यह कहना उचित नहीं जान पड़ता कि 'कल्पना' काव्य का मूल हेतु है और वह 'प्रतिभा' का ही दूसरा नाम है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कल्पना काव्य का हेतु नहीं है। कल्पना काव्य के मनोरंजक पक्ष का हेतु है। वह भी आटे में नमक की भाँति चमत्कार उत्पन्न करने के लिये। जिस प्रकार आटे में नमक-मिर्च आदि सामग्री कभी-कभी भोजन को चटकीला करने के लिए आवश्यक मानी जाती है उसी प्रकार कभी-कभी कवि अपनी कृति में अधिक मनोरंजकता या चमत्कार लाने के लिए कल्पना का प्रयोग कर लेता है। इसका आशय यह नहीं है कि काव्य में कल्पना का प्रयोग अपरिहार्य है। हम तो यह भी नहीं देखते कि कल्पना का प्रयोग उपयोगी है। कल्पना के प्रयोग का स्पष्ट अर्थ है कि यथार्थ पर पर्दा डालकर अयथार्थ को चित्रित करना। इसीलिए क्या उपन्यास, क्या कहानी और क्या काव्य सब में कल्पना के प्रति विद्रोह की भावना बढ़ती चली जा रही है और कल्पना के स्थान पर यथार्थवाद का जोर बढ़ता चला जा रहा है, यहाँ तक कि आधुनिक आलोचक तो आदर्श को भी कोरी कल्पना मान कर उसका बहिष्कार करने लगा है।

अब यह देखना है कि काव्य में कल्पना का प्रयोग कितना होता है। क्या काव्य में मनगढ़ंत तथा वे सिर पैर की बातों को चित्रित किया जाता है? उत्तर होगा नहीं। काव्य में तो 'रस' या 'भाव' की प्रधानता रहती है, जहाँ वस्तु की स्वाभाविकता ही अनिवार्य रूप में विद्यमान रहती है। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या काव्य में व्यवहृत 'ध्वनि' कल्पना नहीं है। क्योंकि ध्वनि के तीन भेद होते हैं– 1. 'रस ध्वनि' 2. 'अलंकार ध्वनि' 3. 'वस्तु ध्वनि'। इन तीनों ध्वनियों में कल्पना को अवकाश ही नहीं है क्योंकि रस-ध्वनि तो रस ही है। अत: रस की सरस धारा में कल्पना रूपी बालू का टीला टिक ही नहीं सकता, वस्तुध्वनि में भी वस्तु का कल्पना मूलक चित्रण करने से उसका सौंदर्य खण्डित हो जायेगा और जहाँ अलंकार ध्वनि होगी वहाँ भी कल्पना नहीं होगी क्योंकि ध्वनि के रूप में अलंकार केवल सार्वभौम सत्य का ही उद्‌घाटन करते हैं जहाँ कल्पना फटक नहीं सकती। काव्य में कल्पना का मूल स्थान केवल वे अलंकार होते हैं जिनमें व्यंग्य का अभाव रहता है और कोरा चमत्कार ही निहित रहता है। आनन्दवर्द्धन ने ऐसे काव्य को 'चित्र-काव्य' की संज्ञा दी है। इसे आधुनिक विद्वान् बिम्बग्रहण भी कहते हैं। हमारी राय में बिम्ब भी कल्पना नहीं है क्योंकि बिम्ब का सम्बन्ध यथार्थ की प्रतिच्छाया से है। जबकि कल्पना का सम्बन्ध प्रतिच्छाया से न होकर बिल्कुल नवीन रूप गढ़ लेने से है। इसीलिए तो जहाँ अलंकारों में क्लिष्ट कल्पना का सहारा लिया जाता है वहीं पर काव्य-दोष उद्‌भूत हो जाता है। उदाहरणार्थ–

'वासर की सम्पत्ति उलूक ज्यौं न चितवत'

में केशवदास ने क्लिष्ट कल्पना के बल पर ही तो 'राम' को 'उलूक' कह डाला

है जिसमें मर्यादा का पूर्णरूपेण हनन हुआ है। केशवदास ने अपनी उपमान योजना में अन्यत्र भी इसी प्रकार के अनेक भ्रामक प्रयोग किये हैं। इसीलिये उन्हें 'हृदयहीन' कहा जाता है। केशवदास की इस हृदय हीनता का कारण उनकी क्लिष्ट कल्पना ही है। प्रतिभा नहीं। यही रोग छायावादी कवियों में और भी भयंकर रूप में व्याप्त है। अत: कल्पना एक क्षुद्र वृत्ति है जिसका सम्बन्ध मन की क्षुद्र उड़ान से है और 'प्रतिभा' एक पुष्कल शक्ति है जिसका सम्बन्ध हृदय की सरस-भाव-भूमि से है। अत: कल्पना और 'प्रतिभा' एक नहीं हैं और न कल्पना काव्य का हेतु ही है।

प्रतिभा और आलोचक

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रतिभा कवि में ही होती है ? आलोचक या काव्य शास्त्रीय आचार्यों में नहीं होती? इन प्रश्नों के समाधान पर भी विचार करना आवश्यक है। राजशेखर ने प्रतिभा के दो रूप बताये हैं।

1. कारयित्री प्रतिभा 2. भावयित्री प्रतिभा। वे कारयित्री प्रतिभा को तो कवित्व-शक्ति मानते हैं और भावयित्री को कवित्व के मूल्याङ्कन की शक्ति। अर्थात् भावक या सहृदय की शक्ति। राजशेखर की इस स्थापना से यह निश्चित हो जाता है कि आलोचक में भी प्रतिभा होती है जिसके आधार पर वह कवि-कृत, काव्य-कृति का मूल्याङ्कन करता है। आलोचक के भी दो कार्य होते हैं। 1. लक्ष्य ग्रंथों का अनुशीलन करना 2. अनुशीलन के पश्चात् कृति का मूल्यांकन करके नियम और निर्णय निर्धारित करना। जैसे–

'उपमा कालिदासस्य।'

'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।'

आदि संस्कृत में और 'सूर-सूर तुलसी ससी' आदि हिन्दी में इसी रूप में प्रचलित तत्त्व हैं। अत: यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि आलोचक या आचार्य नियमों का निर्धारण पूर्व प्रचलित कृतियों के आधार पर ही करता है। ऐसा नहीं होता कि पहले काव्य के नियम बना लिये जायें और तब उन्हीं नियमों पर काव्य रचा जाय। काव्यालोचन में 'आगमनात्मक' प्रणाली का ही प्रयोग किया जाता है। जैसे 'रामायण' तथा' महाभारत' जैसे ग्रंथों के आधार पर ही 'महाकाव्य' के लक्षण निर्धारित किये गये। इसीलिये काव्य के नियम देश-कालादि की सीमाओं से भी बँधे रहते हैं। यथा, 'भारतीय काव्य-शास्त्र' या 'पाश्चात्य-काव्य शास्त्र' आदि।

अब प्रश्न यह उठता है कि कवि तथा आलोचक की प्रतिभा में क्या कोई मौलिक अंतर होता है? इस प्रश्न पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **कवि की प्रतिभा का सम्बन्ध भावोन्मेषशालिनी शक्ति से है और आचार्यों की प्रतिभा का सम्बन्ध विचारोन्मेष शालिनी विमर्श शक्ति से है।** दूसरे शब्दों में जहाँ 'कवि की प्रतिभा' भावाभिव्यक्ति की शक्ति है वहाँ 'आलोचक की प्रतिभा' विचाराभिव्यक्ति की शक्ति है। इसे यों भी कह सकते हैं कि कवि में काव्य रचना की योग्यता होती है और आलोचक में आलोचना की। जहाँ कवि भावों को एकत्र

करके उन्हें छन्दसूत्र में पिरो-पिरो कर यथास्थान एकत्र करता है वहाँ आलोचक उन भावों को खोल-खोल कर पुनः पूर्वावस्था में पहुँचा देता है और उनके पृथक-पृथक गुणादि का विवेचन करता है। दूसरे शब्दों में कवि एक लम्बी यात्रा करके उसमें पड़ने वाली वस्तुओं का उचित चयन एवं प्रदर्शन करते हुए जहाँ आकर रुक जाता है। आलोचक या आचार्य उसी स्थान से यात्रा प्रारम्भ करके पीछे की ओर लोटते हुए कवि की यात्रा के विभिन्न पड़ावों का आकलन विकलन करता हुआ यात्रा की उपयोगिता को बताते चलने का कार्य करता है। इस प्रकार कवि तथा आलोचक की प्रतिभा पृथक्-पृथक होती है परन्तु **कवि की भाँति आलोचक या आचार्य में भी प्रतिभा अपरिहार्य रूप में विद्यमान रहती है।** अन्यथा सभी आचार्य बन जायें।

व्यवहार में तीन प्रकार के आलोचक (आचार्य) देखने को मिलते हैं। 1. केवल कवि 2. केवल आलोचक 3. कवि तथा आलोचक (उभयरूप)। इसका तात्पर्य यह है कि जो केवल कवि हैं उनमें केवल कवि की ही प्रतिभा है। जैसे - सूर, तुलसी, कबीर आदि। जो केवल आलोचक हैं उनमें केवल आलोचक की ही प्रतिभा है, जैसे पं॰ रामचन्द्र शुक्ल, पं॰ महावीर प्रसाद द्विवेदी, डा॰ श्यामसुन्दर दास, डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डा॰ नगेन्द्र आदि। तीसरे कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो लक्ष्य भी लिख सकते हैं और लक्षण भी। उनमें दोनों ही प्रकार की प्रतिभा विद्यमान रहती है, जैसे केशव, देव, पद्माकर, मतिराम आदि।

राजशेखर ने कवि के लिए 'कारयित्री' और आलोचक के लिए 'भावयित्री प्रतिभा' का प्रयोग किया है परन्तु हमें तो यह विपरीत ही लगता है क्योंकि कवि का सम्बन्ध भावों से होता है और आलोचक का सम्बन्ध विचारों से। अतः यह मानना चाहिये कि **कवि की प्रतिभा 'भावयित्री' होती है और आलोचक की प्रतिभा 'कारयित्री'।**

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतिभा काव्य का अनिवार्य हेतु है और प्रतिभा जन्मजात होती है।

व्युत्पत्ति अभ्यास तथा आलोचक

अब प्रश्न यह उठता है कि कवि की भाँति आलोचक के लिए अध्ययन तथा अभ्यास का महत्त्व किस सीमा तक है। आलोचक के लिए अध्ययन का सर्वाधिक महत्त्व है क्योंकि बिना लक्ष्य का अध्ययन किये वह उसकी सम्यक् आलोचना नहीं कर सकता। साथ ही उसे काव्य सम्बन्धी नियमों का अध्ययन भी करना पड़ता है। परन्तु विचारणीय यह है कि लक्ष्य का विवेचन तो आलोचक का कार्य है ही, उसे अध्ययन नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार एक चिकित्सक किसी रोग का परीक्षण एवं निवारण करने के लिए रोगी के शरीर का पूर्ण निरीक्षण एवं परीक्षण करता है उसी प्रकार आलोचक भी उचित मूल्याङ्कन करने के लिये ग्रंथ या ग्रंथों का निरीक्षण परीक्षण करता है। इसके अतिरिक्त जो आचार्य काव्य सम्बन्धी नियमों की व्याख्यादि करते हैं वे भी अपने से पूर्व नियमों का सम्यक् आकलन-विकलन करते ही हैं, तभी तो वे

किसी सिद्धान्तादि की पूर्ण विवक्षा करने में सफल होते हैं। परन्तु हम इसे अध्ययन नहीं कहेंगे। यह तो कार्य है। अभ्यास के सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि:–

'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।'

अत: कवि तथा आचार्य दोनों ही अभ्यास से कुछ दक्षता तो प्राप्त कर लेते हैं परन्तु वे पाण्डित्य की ओर बढ़ते हुए स्वाभाविकता से दूर हटते चले जाते हैं। इस प्रकार कृति की उपयोगिता का क्षेत्र सीमित होता चला जाता है।

काव्य-हेतु तथा सहृदय

राजशेखर ने कवि तथा भावक (सहृदय) की पृथक्-पृथक् प्रतिभा (क्रमश: कारयित्री तथाा भावयित्री) का उल्लेख किया है। परन्तु हम पहले इसका विवेचन कर चुके हैं कि कारयित्री तथा भावयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध कवि तथा आलोचक आचार्य से ही है। सहृदय से उसका सम्बन्ध नहीं है क्योंकि सहृदय केवल दर्शक या पाठक मात्र ही होता है। वह किसी कृति को केवल मनोरंजन, ज्ञानवर्द्धक, प्रेरणा या आनन्द आदि की प्राप्ति के लिए ही पढ़ता है सुनता है या नाटकादि के रूप में देखता है। 'प्रतिभा' की अपरिहार्यता केवल किसी कृति के निर्माण या सम्यक् विवेचन के लिए ही होती है। पठन, श्रवणादि तथा दर्शनादि के लिए प्रतिभा की आवश्यकता नहीं होती। इस कार्य के लिए केवल सम्बद्ध भाषा का ज्ञान-मात्र ही पर्याप्त है जिससे स्रोता तथा दर्शक कृति को समझ कर उसका रसास्वादन कर सके।

यदि सहृदय में भी प्रतिभा मान लें तो फिर सभी सहृदय या तो कवि होने चाहिये या आलोचक परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। कोई भी नाटकादि का दर्शकादि हो सकता है और काव्यादि का पठनादि करके आनन्द ले सकता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि 'प्रतिभा' कवि तथा आलोचक दोनों के लिए ही आवश्यक है। वह सहृदय के लिए आवश्यक नहीं। 'अध्ययन' तथा 'अभ्यास' भी कवि तथा आलोचक दोनों की ही प्रतिभा का विकास करते हैं परन्तु इनके अतिशय प्रयोग का दुष्परिणाम यह होता है कि प्रतिभा स्वाभाविकता से दूर हटती जाती है और उसकी उपयोगिता कम होती जाती है। अत: रससिद्ध कवियों द्वारा इन तत्त्वों की प्राय: उपेक्षा की जाती रही है। इसीलिए उनकी कृतियाँ स्वाभाविकता के अधिक निकट हैं और जहाँ अध्ययन या अभ्यास का समावेश अधिक हुआ है वहीं कृति में पाण्डित्य की दुर्गन्ध आने लगी है और काव्य क्लिष्टत्व आदि दोषों से युक्त हो गया है। कवि हो चाहे आलोचक वही सफल होता है जो केवल जनसामन्य की भाँति लोकानुभव मात्र करके उसी का विवेचन अपनी 'प्रतिभा' के बल पर करता है।

काव्य-प्रयोजन

काव्य-प्रयोजन को काव्य-प्रेरणा भी कहा जाता है क्योंकि कवि किसी प्रेरणा

से ही काव्य रचना करने को तत्पर होता है। कवि की प्रेरणा समय सापेक्ष्यता से भी जुड़ी रहती है क्योंकि कवि अपने युग की देन होता है। इसीलिए वह युगीन परिस्थितियों से प्रेरित हुए बिना नहीं रहता। हिन्दी का सम्पूर्ण साहित्य युग-प्रेरणा का ही परिणाम है। काव्य के प्रयोजनों पर प्राचीन काल से ही विचार विमर्श होता चला आ रहा है। कहीं-कहीं कवियों द्वारा स्वयं ही अपनी रचना के उद्देश्य को रचना के प्रारम्भ में प्रस्तुत कर दिया जाता है और कहीं काव्य-शास्त्रीय आचार्यों द्वारा लक्ष्य ग्रंथों के तत्त्वों, प्रभाव तथा कवियों के रहन-सहन, मनोवृत्तियों आदि का अवलोकन करके काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख अपने काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय काव्य शास्त्र तथा काव्य दोनों में ही काव्य प्रयोजनों पर चर्चा होती रही है। भरत से लेकर आधुनिक काल तक के आचार्यों द्वारा काव्य रचना की भिन्न-भिन्न प्रेरणाओं का दिग्दर्शन कराया जाता रहा है। इसी आधार पर विद्वानों द्वारा प्रस्तुत प्रमुख काव्य-प्रयोजनों का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

उपयोगितावादी प्रयोजनीयता

काव्य-प्रयोजनों को सामान्यतया उपयोगितावादी तथा कलावादी कोटियों में विभाजित किया गया है जिनमें भारतीय आचार्यो के मतों को उपयोगितावादी प्रयोजनों की कोटि में ही रक्खा जा सकता है क्योंकि भारतीय प्रयोजनशीलता नितान्त रूप में उपयोगिता की ही पक्षधर रही है। कालक्रमानुसार विवेचन द्रष्टव्य है।

भरत

सर्वप्रथम भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक रचना के प्रयोजनों का उल्लेख इस प्रकार किया है –

धर्म्यं, यशस्यमायुष्यं हितं, बुद्धि विवर्द्धनम्।
लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद् भविष्यति।। (नाट्यशास्त्र)

अर्थात नाटक की रचना, धर्म, यश, आयु, कल्याण, बुद्धि के विकास, लोकोपदेश (नीति, शिक्षा, उपदेशादि) के उद्देश्य से ही की जाती है।

भरत की इस कारिका में व्यापक रूप में नाटक के उपयोगी तत्त्वों का विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसका आशय यह है कि **नाटककार नाटक की रचना जन कल्याण की भावना से ही करता था जिसके लिए उसे तो केवल यश एवं धर्म की ही प्राप्ति होती थी और उसकी रचना से प्रेक्षकादि को धर्म, आयु (स्वास्थ्य एवं शक्ति) कल्याण, बुद्धिमत्ता, लोकोपकारादि की भावना, समाजोपयोगी शिक्षा आदि की उपलब्धि होती थी। भरत की इस स्थापना में नाटक-रचना का उद्देश्य केवल जन-कल्याण था जिसे नाटककार अपना धर्म समझता था।** यहाँ विचारणीय यह है कि **इस कारिका में अर्थ-प्राप्ति का उल्लेख नहीं है। इस धारणा से एक महान् तथ्य हमारे सामने सहज रूप से ही आ जाता है कि प्राचीन-भारत**

में कवि या नाटककार निर्लोभ (अर्थ-लालच से निवृत्त होकर) विशुद्ध त्याग-मय रूप में ही काव्य तथा नाटकादि की रचना करता था। उसका दृष्टिकोण विशुद्ध रूप से 'बहुजन हिताय' ही रहता था। ऐसे महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया परिश्रम अवश्य ही उन सुकृतिवान् कवियों के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति उत्पन्न करता है। इसी को दृष्टि में रखकर कहा गया है–

'जयन्तिते सुकृतिनो रसः सिद्धः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरा मरजंभयम्।।'

अर्थात् वे रससिद्ध कवीश्वर धन्य हैं जिन्होंने केवल लोककल्याण को ही ध्यान में रखकर बिना किसी लालच के अपनी अमर रचनायें निर्मित की हैं, इसीलिए उनके यश-रूपी शरीर को कभी भी वृद्धावस्था व मृत्यु का भय नहीं है। अर्थात् उनका यश सदैव संसार में अमर रहेगा। यहाँ एक बात और स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है कि **प्राचीन काल में काव्य रचना का प्रयोजन जनकल्याण मात्र ही था। यश की कामना भी नहीं थी।** वह तो उन्हें उनकी अमर कृतियों से स्वयं ही समाज के द्वारा प्रतिदान स्वरूप प्राप्त हो जाता था परन्तु वे यश की प्राप्ति के लिए रचना करते हो ऐसा उद्देश्य कभी भी रचनाकार का नहीं रहता था। धर्म की प्राप्ति भी उन्हें स्वयं हो जाती थी। काव्य रचना द्वारा जन-कल्याण करना ही उनका धर्म था। **उस समय का कवि पूर्ण त्यागी, विरागी, संत तथा परमार्थी पुरुष होता था। जैसे 'वाल्मीकि', 'व्यास' आदि। उन्होंने विशुद्ध जन कल्याण की भावना से ही 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे विश्व विश्रुत महाकाव्यों की रचनायें की थीं, जिनसे समाज सदैव धर्म-नीति- शिक्षा-उपदेश-ज्ञान-शान्ति-सुख-आनन्द और यहाँ तक कि किसी सीमातक मोक्ष भी प्राप्त करता चला आ रहा है। हिन्दी में इस कोटि के रचनाकार थे– कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा आदि।** यदि मूल रूप में देखा जाय तो इन रचनाकारों का जैसा महान् उद्देश्य था, उनकी कृतियाँ भी उतनी ही महान् एवं लोकोपयोगी सिद्ध हुई हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रचनाकार का उद्देश्य जितना पवित्र और महान् होगा उतनी ही महान् कृतियों का प्रणयन करने में वह सफल हो सकेगा क्योंकि निष्काम भावना से की गई उसकी रचनाओं में उसका तपस्वी हृदय ही पिघल-पिघल कर इस प्रकार बहता रहता है जिस प्रकार हिमालय से हिम पिघल-पिघल कर पवित्र मन्दाकिनी के रूप में जीवन को लाभान्वित और जन-मन को आनन्दित करता हुआ प्रवाहित होता रहता है। अतः यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि आचार्य भरत द्वारा निरूपित काव्य रचना के उद्देश्य उन महान् कृतियों एवं महान्कृतिकारों के उद्देश्यों का ही दिग्दर्शन है जो अपने युग की महान् देन होते हैं और उनकी रचनायें जग-जीवन की अमर थाती (धरोहर) होती हैं।

भामह

भरत के पश्चात् भामह ने कुछ न्यूनाधिक्य के साथ-साथ प्रयोजनों का निरूपण

किया जो इस प्रकार है :–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्य निबन्धनम्।।[95]

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए कलाओं में विलक्षणता लाने के लिये, यश प्राप्त करने के लिए तथा जनकल्याण करने की भावना से कवि काव्य का प्रणयन करता है।

भामह ने अपनी इस स्थापना में भरत द्वारा प्रदर्शित काव्य प्रयोजनों में से कुछ को तो छोड़ दिया है जैसे आयुष्यं बुद्धि विवर्द्धनम्। साथ ही 'हितं तथा लोकोपदेशजननम्' के लिए एक ही शब्द 'प्रीति' का प्रयोग किया है और 'अर्थ, काम, मोक्षेषुवैचक्षण्यंकलासु च' अर्थात् अर्थ (धन) की प्राप्ति, काम (शृंगार) की प्राप्ति, मोक्ष की प्राप्ति तथा कलाओं में विलक्षणता लाने को नये रूप में सम्मिलित किया गया है। भामह की इस उद्देश्य शृंखला का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि भामह ने लक्ष्यग्रंथों तथा तत्कालीन कवियों के रहन-सहन, रीति-नीति तथा विचारों का सम्यक् अवलोकन करके ही इन उद्देश्यों को व्यक्त किया है। भामह द्वारा सूचित उद्देश्य भी महान् काव्यकृतियों एवं महान् कवियों की ओर ही संकेत करते हैं।

भामह के पश्चात् **विश्वनाथ ने 'धमार्थकाममोक्षेषु'** अर्थात् चतुर्वर्गफल प्राप्ति को ही काव्य के प्रयोजनों में माना है। **अग्निपुराणकार ने मोक्ष को छोड़कर शेष तीन** अर्थात् 'धर्म अर्थ और काम' की प्राप्ति को काव्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है।[96] **वामन ने केवल 'प्रीति तथा कीर्ति'** को काव्य प्रयोजन माना है।[97] इन विद्वानों ने भामह के प्रयोजनों से ही 'त्यागन, गहन, उपेच्छनीय' का दृष्टिकोण अपनाकर अपने दृष्टिकोण व्यक्त किये हैं और किसी नवीन प्रयोजन की स्थापना नहीं की है परन्तु रुद्रट तथा कुन्तक ने भामह के प्रयोजनों के अतिरिक्त कुछ नए प्रयोजनों का निरूपण भी किया है। **रुद्रट** द्वारा प्रतिपादित भामह से इतर प्रयोजन हैं– **अनर्थ का उपशमन, विपत्ति-निवारण, रोग से मुक्ति तथा मनोवांक्षित फल की प्राप्ति।**[98] **कुन्तक** ने भी रुद्रट की भाँति **उचित व्यवहार का ज्ञान, तथा अन्तश्चमत्कार** इन दो नये प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है।[99]

मम्मट

उपर्युक्त सभी मतों का सार लेकर तथा तत्कालीन काव्य-ग्रंथों व काव्य-कारों की मनोदशा का अवलोकन करते हुए मम्मट ने काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया–

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे।। (का॰ प्र॰ 1.2)

अर्थात् काव्य की रचना यश प्राप्ति के लिए, धनोपार्जन के लिए, लोक-व्यवहार तथा रीति-नीति का ज्ञान कराने के लिए, लोक-संकट का निवारण करने के लिये,

सद्यः (तुरन्त) लौकिक प्रभाव से मुक्त होकर अलौकिक आनन्द की प्राप्ति कराने के लिए तथा मधुर-वाणी में उपदेश देकर आवश्यक ज्ञान कराने के लिए की जाती है।

मम्मट की उपर्युक्त स्थापना को अधिकांश आचार्यों ने मान लिया, अतः संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य प्रयोजनों पर कुछ विशिष्ट विवाद परिलक्षित नहीं होता। हिन्दी में आचार्यों द्वारा इस विषय पर कोई विशेष बल नहीं दिया गया है। रीति कालीन आचार्य भिखारीदास ने काव्य प्रयोजनों का उल्लेख इस प्रकार किया है –

एक लहैं तप-पुञ्जन्ह के फल,
ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहैं बहु सम्पत्ति केशव,
भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई॥
एकन कों जस ही सों प्रयोजन,
है रस खानि रहीम की नाईं।
दास कवित्तन की चरचा,
बुधिवन्तन कौ सुख दे सब ठाईं॥

(काव्य-निर्णय पृ॰ 4, छन्द 10)

भिखारीदास ने काव्य प्रयोजन सम्बधिनी अपनी इस अवधारणा में कवि द्वारा प्राप्त लाभों तथा सामाजिक द्वारा प्राप्त किये जाने वाले लाभों का समन्वित रूप में ही निरूपण किया है जैसे–

(1) तपस्या का फल अर्थात् धर्म तथा मोक्ष की प्राप्ति। इस प्रकार के कवि हैं– सूरदास, तुलसीदास आदि भक्त कवि तथा कबीरदासादि संत कवि।

(2) धन की प्राप्ति। इस प्रकार के कवियों में रीति कालीन दरबारी आचार्यों के नाम विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय हैं और आधुनिक कालीन आचार्यों में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् रचा गया काव्य इस प्रवृत्ति से ही अधिक प्रेरित है।

(3) यश की प्राप्ति। इस प्रकार के कवि हैं रसखान तथा रहीम आदि मुसलमान कवि।

(4) सामाजिक को काव्य से जो लाभ मिलता है वह है आनन्द की प्राप्ति, धर्म तथा मोक्ष की प्राप्ति। शिक्षा, प्रेरणा, उपदेश उत्साह, साहस, वीरता, देश-भक्ति, राष्ट्र-प्रेम, परोपकारादि से युक्त उदात्त मानवीय गुणों का विकास आदि जिसे काव्य रचना करते समय कवि ध्यान में रखता है।

विवेचन–उपर्युक्त काव्य-प्रयोजनों का सम्यक् अवलोकन करने से निम्नलिखित प्रयोजन सामने आते हैं।

धर्म

प्राचीन आचार्यों ने काव्य का प्रथम प्रयोजन 'धर्म' को माना है। यह धर्म क्या

है? कवि पक्ष में समाज-कल्याण के उत्तरदायित्व का निर्वहन। इसी को कवि का कर्तव्य भी कहा जा सकता है। काव्य रचना का यही लोकव्यापी प्रयोजन रहा है। इतिहास बताता है कि जब-जब किसी सामाजिक संकट का निवारण करने का समय आया है तभी कवि ने अपनी कलम सँभाल कर समाज में जागरण का शंखनाद किया है उदाहरणार्थ – वाल्मीकि ने सीता के उद्धार के लिए 'रामायण' रचकर उसका सामगान लव-कुश से राम के दरबार में कराकर महासती सीता के सम्बन्ध में समाज में फैली भ्रान्ति का निराकरण किया था। व्यास ने 'महाभारत' की रचना करके जहाँ एक ओर भारत के अमर गौरवपूर्ण इतिहास को अक्षुण्ण बनाया था वहीं दूसरी ओर आपसी फूट के कुपरिणाम से बचने का संकेत दिया था। 'गीता' का ज्ञान देकर काव्य को 'धर्म' तथा 'मोक्ष' का साधन बना दिया था और 'अर्थ' तथा 'काम' की कुरूपता का नग्न एंव भयानक रूप प्रदर्शित करके उसे न अपनाने का गुरूपदेश दिया था। 'रामायण' और 'महाभारत' युगीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिखे गये धर्म-संस्थापक ग्रंथ थे जिनकी रचना करके महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास ने अपने धर्म का पालन तो किया ही था साथ ही पाठकों को भी, धर्म पालन का मार्ग सुझाया था। हिन्दी कविता में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक कवियों ने काव्य की रचना अपने धर्म पालनार्थ ही की है। 'वीरगाथा कालं' में लिखा गया 'रासो-साहित्य' तत्कालीन जन जागरण की कथा है जहाँ एक ओर तो कवि युद्ध-भूमि में जाकर तलवार चलाता था और दूसरी ओर सोते हुए वीरों को अपने ओजस्वी वाक्वाणों से जगाता था। भक्तिकाल का सम्पूर्ण साहित्य, रीतिकालीन रीतिमुक्त साहित्य, भूषण की ललकार, आधुनिक काल का देश भक्तिपूर्ण साहित्य, धर्म पालनार्थ तथा समाज को कर्तव्य के प्रति सजग रखने के लिए ही प्रणीत हुआ था। अत: यह कहना असंगत न होगा कि कवि का सर्वप्रमुख प्रयोजन धर्म की प्राप्ति या देश, समाज तथा धर्म के प्रति कर्तव्य पालन ही है। बिहारी जैसेश्रृंगारी तथा दरवारी कवि ने भी समय पड़ने पर जयसिंह को जगाने का कार्य किया था –

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो आगे कौन हवाल।। (बिहारी सतसई)

अकबर के दरबार में रहने वाला बादशाह का आश्रित कवि पृथ्वीराज भी अपने धर्म के प्रति पूर्ण जागरूक था और उसने निम्नलिखित दोहे से महाराणा प्रताप को सजग करके हिन्दुत्व को बचा लिया था-

पटकूँ मूँछा पाण कै पटकूँ निज तण करद।
लिख दीजै दीवाण इन दो महली बात इक।। (पृथ्वीराज)

अर्थात हे एक लिङ्ग (शंकर) के दीवाण (उपासक) महाराणा प्रताप! यदि तुमने वास्तव में ही अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली हो तो मैं अपने तण (शरीर) में करद (कटारी) मार कर मर जाऊँ और यदि अधीनता स्वीकार न की हो और यह पत्र जाली हो तो लिख कर भेजो जिससे मैं (पृथ्वीराज) अपनी मूँछाँ (मूछों पर) पाण

पटकूँ (ताव दूँ) कि हिन्दुत्व का गौरव अभी शेष है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वही जगत् प्रसिद्ध दोहा है जिसने हिन्दुत्व की डूबती हुई नाव को बचा लिया था। इन आधारों पर यह कहना असंगत न होगा कि काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन कवि द्वारा धर्म का (समाज और देश के प्रति अपने कर्तव्य का) पालन करना ही रहा है। इसीलिए संस्कृत आचार्यों ने उसे सर्वप्रथम प्रयोजन घोषित किया है और इस प्रयोजन की सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक मान्यता है।

अर्थ

धनोपार्जन करना भी कवि का उद्देश्य रहा है परन्तु प्राचीन काल में इस उद्देश्य को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था। भरत ने तो 'अर्थ-प्राप्ति' को काव्य-प्रयोजन में स्थान ही नहीं दिया है परन्तु भरत के पश्चात् भामह तथा अन्य संस्कृत आचार्यों ने इस उद्देश्य की चर्चा की है। यह कुछ अंशों से सत्य भी है कि 'घोड़ी यदि घास से नाता रक्खेगी तो खाएगी क्या?' जीवनोपार्जन के लिए कुछ तो सहारा चाहिए। इसीलिए राजाओं की सभाओं में कवियों का सदैव जमघट बना रहता था। इन्द्र की सभा में गणेश आदि विद्वान् कवि थे और दैत्य राज बलि आदि की सभा में कवि श्रेष्ठ शुक्राचार्य रहा करते थे। विक्रमादित्य की सभा के नव रत्नों में से 'कालिदास' भी उनकी सभा के प्रतिष्ठित रत्न थे। राजाभोज की तो सभा में ही नहीं उनके सम्पूर्ण नगर में अकवि निवास ही नहीं कर सकता था और वहाँ का हर व्यक्ति काव्य का व्यवसायी था। उस समय कवि का बड़ा आदर था उसके सम्बन्ध में कहा जाता था–

आकारमात्रविज्ञान सम्पादित मनोरथा।
धन्यस्ति ये न शृणवन्ति दीनाः क्वाप्यर्थिनां गिरः।।[100]

कवि के राजा के यहाँ पहुँचने मात्र से ही उनके मनोरथ सफल हो जाते थे और उस समय के कवि इतने धन्य थे कि उन्हें किसी की भी दीन वाणी सुनाई नहीं देती थी अर्थात् कोई भी कवि अभावग्रस्त नहीं था। सभी कवियों को राजा से इतनी अधिक (जीविका) मिलती थी कि वे स्वयं भी दान देते रहते थे। दूसरे शब्दों में लक्ष्मी उनके चरणों में लोटती थी। इसीलिए कवि भी सदा अनुकूल स्वामी (राजा) की टोह में रहते थे। भोज के सम्बन्ध में एक कवि की उक्ति है –

क्षमीदाता गुणग्राही स्वामी पुण्येन लभ्यते।
अनुकूलः शुचिर्दक्षः कविर्विद्वान् सुदुर्लभः।।[101]

अर्थात् क्षमाशील, दानी, गुणग्राही, आश्रयदाता कवियों को बड़े पुण्यों के पश्चात प्राप्त होता है और अनुकूल प्रवृत्तिवाला, पवित्र हृदयवाला, कवि और विद्वान राजा मिलना अति दुर्लभ है। परन्तु राजाभोज में उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान थे। इसीलिए वह कवियों को अबाध रूप से आश्रय देता था। धनोपार्जन भामह के समय से काव्य रचना का मूल प्रयोजन बन गया था। केशव दास ने अपने समृद्धिशील होने का संकेत इन शब्दों मे किया है।

जुग-जुग जीवै ओड़छा नरेश इन्दजीत,
जाके राज केशोदास राज सो करतु है।। (केशव)

अत: अर्थ प्राप्त करना कवि का द्वितीय मुख्य उद्देश्य रहा है। मनुष्य कार्य करता है; किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए। कवि भी काव्य की रचना निष्प्रयोजन नहीं करता। कवि का कोई उद्देश्य अवश्य होता है। प्रचलित उद्देश्यों में प्रमुख उद्देश्य तो जीविकोपार्जन ही है। आधुनिक कवि हो या आलोचक एक लेख भी या एक छन्द की पंक्ति भी यदि लिखता है तो केवल दो ही उद्देश्य उसके समक्ष होते हैं। बिरादरी में नाम और खर्च के लिए दाम। आजकल प्रकाशन की सुविधा का लाभ लेखक और प्रकाशक दोनों ही भरपूर उठा रहे हैं और पाठकों की रुचि का पता लगा कर रातों रात पुस्तक छाप देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आजकल तो काव्य-रचना का मूल उद्देश्य पैसा कमाना ही रह गया है। इसमें 'एक पंथ दो काज' हो जाते हैं। अर्थात् नाम भी होता है और दाम भी मिल जाते हैं।

उर्दू की शेरो-शायरी ने एक प्रतिस्पर्धात्मक मनोरंजन की परम्परा 'मुशायरे' के नाम पर प्रारम्भ की थी। इस परम्परा का निर्माण भी उक्त दो दृष्टिकोणों से ही हुआ। परन्तु प्रारम्भ में इस पम्परा में नाम ही प्राप्त होता था और जब कोई शायर (कवि) मेहनत करके नाम प्राप्त करने में सफल हो जाता था तो उसे उस मेहनत का फल दाम (इनामादि) भी मिलते थे और वह धीरे-धीरे महंत बन जाता था। मुशायरों की नकल हिन्दी-कवियों में भी चल पड़ी और उन्होंने कवि-सम्मेलनों का आयोजन करना प्रारम्भ कर दिया जिससे अब कवि दाम लेकर सम्मेलनों में जाने लगा और वहीं से अपनी गाँठ में नाम और नामा बाँध कर लाने लगा। यहाँ यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि हिन्दी का रीतिकाल और आधुनिक काल (1947 ई० के पश्चात्) काव्य की खरीद व फरोख्त (क्रय-विक्रय) का काल है। इन दोनों ही युगों में रचनाएँ सरे आम बिकी हैं और बिक रही हैं। केशवदास ने कहा है–

'श्री फल को अभिलाष प्रगट कवि-कुल के जीमें।'
'सुबरन को खोजत फिरत कवि व्यभिचारी चोर'

इसका तात्पर्य यह है कि कविता बिकती है और कवि बेचता है। साथ ही कवि एक लालची प्राणी भी होता है। यह बात पूर्णतया नहीं तो पर्याप्त अंश में सत्य प्रतीत होती है क्योंकि इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जबकि कविता खुले आम बिकी है। कहते हैं महमूद गजनवी का एक दरबारी कवि था, उसका नाम था फिरदौसी। इस कवि ने महमूद गजनवी की प्रशस्ति में एक विशालग्रंथ 'शाहनामा' की रचना इसलिए की थी कि महमूद ने इसे एक 'शेर' (छन्द) पर एक अशर्फी (तत्कालीन स्वर्ण मुद्रा) देने का वायदा किया था। सुनते हैं कि अधिक से अधिक अशर्फियों के लालच में इस कवि ने बादशाह की सविस्तार जितनी अधिक से अधिक हो सकती थी प्रंशसा की और साठ हजार छन्द रचे। परन्तु बादशाह ने 'लोभी गुरू लालची चेला' की कहावत

को चरितार्थ करते हुए फिरदौसी को स्वर्ण मुद्राओं के स्थान पर साठ हजार रजत मुद्रायें (चांदी के सिक्के) ही दिये, जिसके सदमे में फिरदौसी ने अपने प्राण ही छोड़ दिये। यह कोई किंवदन्ती नहीं है। एक ऐतिहासिक सत्य है। फिरदौसी का लिखा हुआ 'शाहनामा' आज भी उपलब्ध है। अत: यह कहना असंगत न होगा कि जहाँ भी कविता खरीदी और बेची गई है वहीं काव्य, देश, समाज, तथा संस्कृति रसातल को चले जाने योग्य बन गए हैं। **अतः लालच कविता का प्रयोजन न होकर स्वार्थ साधना ही है। काव्य रचना का मूल प्रयोजन मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक अर्थोपार्जन मात्र ही रहा है।** हिन्दी का भक्तिकाल, रीतिकाल की स्वच्छन्द काव्य धारा तथा आधुनिक काल का स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व का जागरण मूलक साहित्य अवश्य इसका अपवाद है। यही अर्थोपार्जनहीन साहित्य स्वर्णकाल के नाम से जाना जाता है तथा यही साहित्य धर्म तथा मोक्ष की महती प्रयोजनीयता का साधक है।

काम

भामह ने काम की प्राप्ति को काव्य का तीसरा प्रयोजन बताया है। इसका सम्बन्ध कवि से नहीं है। इसका सम्बन्ध सामाजिक से ही है और कवि भी इस कोटि में एक इकाई बनकर आ सकता है। काम-संसार की अति विस्तृत तथा उत्कट भावना है। यह समस्त जड़-चेतन में व्याप्त बताई जाती है। अत: इस भावना का काव्य में सर्वाधिक प्रभाव देखा जाता है। काव्य में इसेश्रृंगार रस कहा जाता है और आदिकाल से लेकर अब तक निरन्तर नायक-नायिकाओं (पुरुष-स्त्रियों) के प्रेम, हाव-भाव, विलास-क्रीड़ायें, वियोग-वेदना आदि का वर्णन प्रत्येक कवि ने किसी न किसी रूप में किया है। वाल्मीकि व्यास, कालिदास, सूर, तुलसी, जायसी आदि सभी मूर्द्धन्य कवियों ने भी काम वृत्ति (श्रृंगार मूलक भावना) का चित्रण अपने काव्य-ग्रंथों में किया है जिससे पाठक श्रोता तथा दर्शकादि की वासना तृप्त होती रहती है और वह काव्यानन्द में लीन होता रहता है। इसीलिएश्रृंगार को रसों का राजा कहा गया है। इसी को ध्यान में रखकर भामह ने 'काम' की प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन कहा है जिसमें 'स्त्री व पुरुष' के पवित्र प्रेम सम्बन्धों का वर्णन करके कवि समाज को तृप्त करने का स्तुत्य कार्य करता है। कालिदास का 'कुमार संभव', 'मेघदूत' तो 'काम' की प्राप्ति के लिए ही लिखे गये थे। परन्तु भारतीय मनीषी कवियों ने काम को मर्यादित ही रक्खा है और स्त्रियों तथा पुरूषों के प्रेम में अपूर्व त्याग, कर्तव्यपरायणता, बलिदान, सहिष्णुता आदि उदात्त गुणों का निर्वाह सतत् दिखाया है। यह देश 'सतियों' और 'शूरमाओं' का देश रहा है। यहाँ सीता, शकुन्तला, सावित्री, दमयन्ती, अनुसूया, राधा, पद्मिनी, झाँसी की रानी जैसी असंख्य सतियाँ उद्भूत हुई हैं और राम, दुष्यन्त, कृष्ण, सत्यवान्, रत्नसेन जैसे शूरवीर योद्धाओं ने जन्म लिया है जिनकी प्रेम गाथाएँ अपार शौर्य की शिखा बनकर संसार को मर्यादामूलक काम का उपदेश दे रही हैं। अत: कवि काम साधना के लिए भी काव्य-निर्माण करता चला आ रहा है। नाटक तथा सिनेमादि का तो काम 'सेव्य' ही

बन गया है। सूफी कवियों ने भी इसे 'सेवक-सेव्य भाव' से अपनाया था। परन्तु मर्यादा एवं कर्त्तव्यपरायणता मूलक काम ही श्रेयस्कर सिद्ध हुआ है। कामोत्तेजक निरूपण से समाज में अनाचार फैलने लगता है जैसा कि आजकल सिनेमा तथा टी॰ वी॰ आदि से हो रहा है।

मोक्ष

कवि का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति करना और कराना भी होता है। इसीलिए व्यास ने महाभारत में 'गीता' की रचना की थी। साथ ही अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने प्रचार साधनों को काव्य में बाँधकर रख दिया है। भक्तिकाल का सम्पूर्ण काव्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है। महात्मा तुलसीदास का 'रामचरितमानस' मानो भक्त जनों के उद्धार की मंदाकिनी ही है जिसमें अवगाहन करके असंख्य भक्तजन भवसागर से पार होते रहते हैं। मोक्ष का आशय यह नहीं लगाना चाहिए कि सभी पाठक सूर-तुलसी-कबीर-मीरा आदि के भक्ति साहित्य को पढ़कर मुक्त ही हो जाते हों। ऐसा तो वेद-पाठ से भी संभव नहीं है। यहाँ केवल इस उद्देश्य के पालन का यही आशय है कि कवि आध्यात्म साधना का मार्ग ज्ञान तथा भक्ति आदि को काव्य में निरूपित करके स्वयं अपनी साधना एवं धारणा को व्यक्त करता है और भक्त-जन पाठकादि को उसी मार्ग का अवलम्ब लेकर भव-सागर से पार होने की प्रेरणा देता है जैसे महात्मा, तुलसीदास का यह कथन–

कलियुग केवल नाम अधारा। जनि लेहु जो जाननिहारा।।
वारि मथे बरु होइ घृत-सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल।।
उमा कहों में अनुभव अपना। सत् हरि भजन जगत सब सपना।।

(मानस)

तथा कबीर दास की यह चेतावनी
माया महा ठगिनि हम जानी
तिरगुन फाँस लिए कर डोलै बोलै मधुरीबानी। (कबीर ग्रंथावली)
और सूरदास की यह घोषणा:
तजो रे मन हरि विमुखन को संग।
जिनके संग कुबुधि उपजत है परत भजन में भंग।। (सूरसागर)

भावुक पाठक के लिए मुक्ति का द्वार खोल देते हैं। चाहे वह उसमें जा सके या नहीं, यह तो उसकी साधना और विश्वास पर निर्भर करता है। अत: मोक्ष प्रदान करने की धारणा से काव्य प्रणयन निरन्तर होता रहा है और इस प्रकार का काव्य अत्यत मूल्यवान् एवं जनकल्याणकारी सिद्ध हुआ है।

उपयोगिता (जन कल्याण)

काव्य तथा कवि की कसौटी उसकी उपयोगिता ही है। भारतवर्ष में एक से एक

बढ़कर लोक कल्याणकारी विभूतियाँ उत्पन्न हुई हैं। परब्रह्म स्वयं भी यहाँ लोक कल्याणार्थ ही उद्भूत होता है। कवि भी युग की ही देन होता है। वाल्मीकि, व्यास, सूर, तुलसी, कबीर का काव्य लोक-कल्याणार्थ ही रचा गया है। भारतीय मनीषा की यह प्रमुख विशेषता रही है कि वह विना लोक कल्याण के एक पग भी आगे बढ़ना नहीं चाहती। यहाँ जनकल्याण से रहित काव्य कोरी कल्पना माना जाता है। महात्मा तुलसीदास ने कविता के प्रयोजनों में लोकहित को ही सर्वोपरि माना है।

'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

(मानस)

अर्थात् जो काव्य-रचना गंगा की धारा के समान पवित्र एवं सब का कल्याण करने वाली होती है वही रचना सर्वोत्तम और कवि के यश को बढ़ाने वाली होती है। इससे स्पष्ट है कि महात्मा तुलसीदास काव्य में 'उपयोगिता' को अनिवार्य मानते हैं। वे काव्य में क्लिष्टकला के प्रयोग के विरोधी थे। उन्होंने केशवदास द्वारा 'रामचरित' पर लिखे गये महाकाव्य 'रामचन्द्रिका' की क्लिष्ट कलात्मकता को लक्ष्य करके कहा था–

'कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरालागि पछिताना।।

(मानस)

महात्मा तुलसीदास कवि को एक महान् त्यागी तपस्वी, निर्लोभ परोपकारी संत तथा धर्मात्मा मानते थे। अत: उनकी दृष्टि में कविता का प्रणयन केवल 'स्वान्त: सुखाय' ही होना चाहिए जो परिणाम में परान्त: सुखाय, बहुजन हिताय तथा 'सूर्वभूतहिते रता' का ही द्योतक है। इसीलिये 'रामचरित मानस' की रचना के प्रारम्भ में ही तुलसीदास ने अपना प्रयोजन इन शब्दों में व्यक्त किया है –

'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबन्ध मति मञ्जुलमातनोति।'

(मानस)

अर्थात् मैं तुलसीदास अपने अन्त: करण के सुख के लिए (श्री रामचरित) को (हिन्दी) में अपनी मञ्जुल मति के अनुसार प्रणीत कर रहा हूँ।

कुछ आलोचक तुलसी के 'स्वान्त: सुखाय' को विपरीत अर्थ में ग्रहण करके उनके मत को संकीर्ण स्वार्थवादी घोषित करते हैं परन्तु यह उनका भ्रम है। उन्हें तुलसी के इस मत की व्याख्या करने से पहले यह सोच लेना चाहिए कि जो तुलसीदास किसी भी रचना को उस रूप में ग्रहण करने को तैयार नहीं है जिसमें गंगा की भाँति पवित्रता अर्थात् उदात्त भावों, विचारों और परम्पराओं का चित्रण न हो, जो कला की क्लिष्टता (अलंकारादि के भार) से दबी हुई न हो और जो कवि के अन्त: करण को शांति एवं सुख प्रदान करने वाली न हो। इस आधार पर कोई तुलसी को संकीर्णतावादी एवं स्वार्थवादी कैसे कह सकता है। इसके अतिरिक्त भिखारीदास ने अपने काव्य प्रयोजन निर्धारण में (जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं) तुलसीदास को तपस्या का फल

प्राप्त करने वाले कवियों में माना है। यही महात्मा तुलसीदास का भी उद्देश्य था। वे चाहते थे कि उन्होंने जो भी ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, तपस्या आदि के अनुभव अपने जीवन में प्राप्त किये हैं और जो समाज के लिए अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, अपने उन्हीं अनुभवों और विचारों को जनता तक पहुँचाने पर ही उनके अन्त: करण को सच्चा सुख मिलेगा। इसीलिए वे रामचरितमानस की हिन्दी में (जनसामान्य की भाषा में) रचना कर रहे हैं। यही महात्मा तुलसीदास का 'स्वान्त: सुखाय' था जो मूलरूप में 'परान्त: सुखाय' का ही परिणाम था।

महात्मा तुलसीदास के समय तक हिन्दी में कोई ऐसा सार्वजनीन ग्रंथ नहीं रचा गया था जो अशिक्षित तथा सामान्य शिक्षित जनता को धर्म, कर्म, नीति, व्यवहार, ज्ञान, भक्ति आदि उत्कृष्ट जीवन मूल्यों की शिक्षा देकर उसके सांसारिक दुष्कर्मों में फँसे मन को निकालकर आध्यात्मिक परिवेश में प्रवेश करा सके। इसीलिए वे रामचरितमानस के विषय का उल्लेख करते हुए कहते हैं :-

'चारिहु वेद पुराण अष्ट दस।
छहों शास्त्र सब ग्रंथनि को रस।
सुर-नर-मुनि संतन को सरबस।
सार अंस सम्मति सबही की।।'
आरति श्री रामायणजी की।। (रामायण की आरती)

इसी संदेश को 'रामचरितमानस' के द्वारा जन-मन तक पहुँचा कर ही महात्मा तुलसीदास को सच्चा सुख मिला था। अत: उनका 'स्वान्त: सुखाय' 'लोक हिताय' ही था।

इसके अतिरिक्त महात्मा तुलसीदास सन्त थे और सन्त का परम कर्तव्य होता है- लोकोपकार। इसे उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है-

'तुलसी संत सु अम्बतरु फूल फलहिं परहेत।'

अर्थात् तुलसीदास के मत में सन्त आम के उन वृक्षों के समान होते हैं जो दूसरों के हित के लिए ही फूलते-फलते हैं। अत: महात्मा तुलसी का 'स्वान्त: सुखाय' कथन काव्य के 'लोकोपयोगी' प्रयोजन का ही समर्थक है। आधुनिक कवियों में उर्दू के प्रभाव से तथा पाश्चात्य प्रभाव से लोककल्याण के स्थान पर आत्मकल्याण या अपना रोना अधिक देखने को मिलता है जिसे आत्माभिव्यक्ति के नाम से पुकारा जाता है। यह आत्माभिव्यंजन का रोग छायावादी कवियों में बड़े पैमाने पर देखा जाता है। आधुनिक कवियों में पीड़ा, कुण्ठा, ग्रंथियाँ, विसंगतियाँ, असंगतियाँ और यहाँ तक कि कुसंगतियों का ऐसा ज्वार देखा जाता है जिसमें वे सिर से पैर तक लीन रहते हैं और उसे कविता में अभिव्यक्त करना अपना परम पवित्र कर्त्तव्य मानते हैं। इसीलिए इन कवियों में संकीर्ण वैयक्तिकता का प्राबल्य दिखाई देता है। कोई अपना रोना सीधे-सीधे तो रो नहीं सकता, वह सर्वनाममूलक प्रतीकों का सहारा लेता है। उर्दू का कवि तो पीड़ा के भार से इतना

दबा हुआ है कि कफन का बोझा भी नहीं सँभाल सकता। देखिये–

ग़मग़ीन हूँ इतना कि कफन भी हो हल्का।
डाल देना साया बस तू अपने आँचल का।।

इसी का अनुसरण आज का हिन्दी-कवि भी खूब जोर-शोर से कर रहा है–

आँसूँ हैं और रुदन है, मूर्छा है घोर जलन है।
मेरे नन्हें से मन में कितना उत्पीड़न है।।

स्पष्ट है कि आज का कवि पीड़ा के भार से दबकर मरा जा रहा है। इसी पीड़ा की अभिव्यक्ति उसका काव्य प्रयोजन है क्योंकि यह कहा जाता है कि जब कोई दु:खी व्यक्ति अपना रोना दूसरों के आगे जी भर कर रो लेता है तो उसका मन हल्का हो जाता है। जैसे बादलों के बरस जाने के पश्चात् आकाश साफ हो जाता है। इसीलिए 'प्रसाद' की मस्तक में छाई हुई घनीभूत पीड़ा आँसू बन कर बरस पड़ी है।

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।। (आँसू)

यही नहीं प्रसाद के 'आँसू' 'झरना' बन गये हैं और झरने की 'लहर' बन गई। पता नहीं यह लहर कहाँ जाकर रुकेगी। आजकल तो यह लहर इतनी विकराल हो गई है कि इसमें हिन्दी का हर आबालवृद्ध कवि बहता चला जा रहा है। परन्तु इससे पूर्व कवियों में ऐसी व्यथा की लहर कभी नहीं देखी गई थी। रहीम का तो यह कहना कि दूसरे के समक्ष अपना दु:ख रोने से दूसरे उपहास ही करते हैं, अत: अपना रोना दूसरों के सम्मुख नहीं रोना चाहिए –

'रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखौ गोय।
सुनि इठलैहैं लोग सब बाँटि न लैहै कोय।। (रहीम दोहावाली)

तुलसी भी इसी का समर्थन करते हैं –

तुलसी परघर जाय कें दुख न कहिये रोय।
भरम गँवावै आपनौ बाँटि सके नहिं कोय।। (तुलसी दोहावली)

परन्तु आधुनिक कवियों पर इस चेतावनी का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ रहा है। शायद ही कोई ऐसा कवि बचा हो जो इस 'स्वान्त: दु:खाय निवेदनम्' से बच रहा हो। अब तो कविता क्या मात्र 'रड़रोना' ही रह गया है।

कलाओं में विलक्षणता लाना

भामह ने कलाओं में विलक्षता लाने को भी काव्य-प्रयोजन कहा है। भामह की यह धारणा अलंकार, गुण, आदि के काव्य में उचित समावेश की ओर संकेत करती है क्योंकि प्रत्येक कविता में ये तत्त्व न्यूनाधिक्य रूप में अवश्य ही विद्यमान रहते हैं। इसीलिए इस परम्परा का निर्वाह भी कवि किसी न किसी रूप में करता ही रहा है। 'कला' के प्रयोजन की उपयोगिता बताते हुए श्री मैथीलीशरण गुप्त कहते हैं–

'जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है।' अर्थात् कला काव्य को पूर्णता प्रदान करती हैं। इसी को ध्यान में रखकर गुप्त जी 'कला' का स्वरूप इस प्रकार निरूपित करते हैं–

'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला।'

अर्थात अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति को ही 'कला' कहते हैं। इसका आशय यह है कि कला कवि की प्रतिभा का प्रकाशन है और कला का प्रयोग केवल उत्कृष्ट प्रतिभावन् कवि ही कर सकता है।

फिर भी भारतीय धारणानुसार कलाओं में विलक्षणता लाना कवि का मूल प्रयोजन नहीं माना गया है। 'रस-सिद्ध' कवि कभी भी कलात्मकता की ओर ध्यान नहीं देते, कला तो उनकी अभिव्यक्ति में स्वयं आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेती है। केवल वे ही कला-कला चिल्लाते हैं जो और कुछ कहना नहीं जानते। इसीलिए हिन्दी के रीति-काल में, आधुनिक युग के छायावादी काव्य में तथा नई कविता में केवल कला का ढोंग ही दिखाई देता है क्योंकि कला तो जड़-तत्त्व है विना रसात्मककता के वह निर्जीव शरीर की भाँति है। अत: कलाओं में विलक्षणता तो रस रूप आत्मा की विद्यमानता में ही काव्य में उदात्तता की पोषक है जो रस के साथ रहने से स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है इसे गुप्त जी इन शब्दों में और भी स्पष्ट कर देते है।

'हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा।
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा?
किन्तु होना चाहिये कब क्या कहाँ।।
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।। (साकेत)

इससे अधिक कला की उपयोगिता भारतीय कवि स्वीकार नहीं करता। यहाँ तो मान्यता 'उदात्त चरिताणाम्' की ही है। गुप्त जी इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं–

'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।। (साकेत)

अत: कला तो उदात्त भावों, विचारों एवं चरित्रों के साथ स्वयं ही इस प्रकार प्रकट हो जाती है जिस प्रकार यज्ञ-कुण्ड से मंगल घट लेकर अग्निदेव प्रकट हो जाते बताये जाते हैं।

कीर्ति या यश

इस तत्त्व की स्वीकृति सम्यक् रूप से भरत, भामह तथा मम्मट आदि सभी आचार्यों में समान रूप से मिलती है। इसका आशय यह है कि कवि, काव्य की रचना यश प्राप्त करने के लिए करता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रत्येक कवि का यह अनिवार्य धर्म है? हमारे विचार से तो सभी कवि मात्र यश की कामना से काव्य रचना

नहीं करते क्योंकि इस बात का निश्चय कैसे किया जाय कि अमुक काव्य-रचना से यश प्राप्त हो ही जायेगा, यह तो रचना-विशेष की ग्राह्यता पर ही निर्भर करता हैं। इससे यही प्रकट होता है कि कवि यश मात्र की इच्छा से काव्य रचना नहीं करता। वह तो अपने धर्म की प्रेरणा से, या जीविकोपार्जनादि के लिए ही काव्य-रचना करता है। परन्तु यदि उसकी रचना इतनी प्रभावशाली बन जाती है कि समाज में उसकी ग्राह्यता बढ़ जाती है तो उसे यश की प्राप्ति भी अवश्य ही हो जाती है। सूर, तुलसी, कबीर तथा जायसी आदि ने अपने ग्रंथो की रचना करते समय यह कब सोचा था कि उनकी रचनायें साहित्य-संसार की अमर-कृतियाँ बन जायेंगी। उन्हें तो अपने भक्ति-भावों का प्रचार काव्य के माध्यम से करना था। वे तो कवियों की कोटि में पीछे आना चाहते थे, पहले तो वे भक्तों की पंक्ति में ही खड़ा होना उचित समझते थे। इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'गीतांजलि' की रचना क्या 'नोबल पुरस्कार' प्राप्त करने के लिए की थी? परन्तु यदि उन्हें अपनी रचना पर 'नोबल पुरस्कार' मिल गया तो इसमें भी उन्हें कोई अभिमान नहीं हुआ। भारतीय कवि की यह प्रमुख विशेषता रही है कि वह सर्वप्रथम अंहकार का त्याग करता है। जायसी की ये पंक्तियाँ इसी ओर संकेत करती हैं–

'हौं सब कविन केर पछिलगा।' (पद्मावत)

अत: यह स्पष्ट है कि न तो हर कवि को ही यश प्राप्त होता है और न हर कवि यश के लिए काव्य रचना करता ही है। यश तो भाग्यशाली एवं प्रतिभाशाली कवियों को स्वत: ही अकाम्य रूप में प्राप्त हो जाता है। कभी चाटुकार एवं ढांगियों को घटिया करतब पर ही यश मिल जाता है और बढ़िया लेखक सर पटक कर रह जाते हैं, उन्हें कोई नहीं पूछता– न अखबार उन्हें छापते हैं और न टी॰ वी॰ उन्हें दिखाता है, इनाम की तो बात ही दूर है अब तो स्थिति यह है कि रासभ पुरोडाश खा रहे हैं। त्यागी जी सबसे बड़े धनी हैं। ब्रहमचारी जी के बच्चे खेल रहे है और मौनी जी भाषण सिद्ध बने हुए हैं। पण्डित वही है जो गाल बजाने में माहिर है।

यहाँ तक प्रमुख काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख किया जा चुका है। भरत, भामह तथा मम्मट में से हम भामह के प्रयोजनों को ही काव्य के मूल प्रयोजन मानकर चले हैं क्योंकि भामह ने न तो अतिशयोक्ति से ही काम लिया है और न संकीर्णता से। उन्होंने मध्यम-मार्ग अपनाया है और कवि की सभी धारणाओं का निरीक्षण करके विभिन्न कवियों की काव्य प्रेरणा का दिग्दर्शन कराया है। भामह के प्रयोजनों में भरत के सभी प्रयोजन अन्तर्भूत हो जाते हैं। केवल **'बुद्धि विवर्द्धनम्'** शेष रहता है। इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। काव्य हेतुओं में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रतिभा काव्य का मूल हेतु है और जहाँ प्रतिभा होगी वहीं काव्य रचना होगी। इसके अतिरिक्त प्रतिभा नैसर्गिक होती है। वह अध्ययन और अभ्यास से प्रखर होती रहती है परन्तु रससिद्ध कवियों के लिए अध्ययन व अभ्यासादि अनिवार्य नहीं होते। आशुकवि के मस्तिष्क में सब कुछ नैसर्गिक होता है। अत: ऐसा नहीं लगता कि कोई व्यक्ति केवल बुद्धि

के विकास के लिये ही काव्य रचना कर रहा है या काव्य रचना करके उसकी बुद्धि का विकास हो ही जायगा क्योंकि बिना बुद्धि के काव्य रचना कभी संभव नहीं होगी। अत: यह तो हो सकता है कि पहले बुद्धि का विकास किया जाय अर्थात् काव्य रचना की गुरु आदि से दीक्षा ली जाय और फिर काव्य रचना की जाय। परन्तु यह सम्भव नहीं है कि काव्य रचना करके कवि अपनी बुद्धि का विकास करे। इसका तात्पर्य यह है कि कवि अपनी रचना द्वारा सामाजिकों की बुद्धि का विकास करे। इस रूप में तो यह काव्य का अपरिहार्य प्रयोजन माना जा सकता है क्योंकि इस रूप में इसका सम्बन्ध लोक-कल्याण से है। सूर-तुलसी-कबीर तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि उच्च कोटि के कवियों की वाणियों में यह कमाल निरन्तर देखने को मिलता है। इसी को मम्मट ने **'व्यवहारविदे'** कहा है। लोक-व्यवहार का ज्ञान कराने के लिए अनेक कवियों ने स्वतन्त्र रूप से विशद रुप में नीति-साहित्य की रचनायें की हैं। 'सूक्तियों' तथा 'लोकोक्तियों' के रूप में इस प्रकार के सूत्र वाक्य सभी उच्च कोटि के कवियों की कृतियों में भरे पड़े हैं। 'रामचरितमानस' की असंख्य चौपाइयों में लोक-नीति, रीति, धर्म आदि की शिक्षा उपलब्ध होती है। साथ ही ज्ञान-भक्ति आदि की प्रेरणा और शिक्षा भी पाठकों को दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है, परन्तु इस प्रकार का प्रयोजन कवि के धर्म (कर्तव्य) के ही अन्तर्गत आ जाता है। इसके पृथक विवेचन की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार **'शिवेतरक्षतये'** का अन्तर्भाव भी 'लोक-कल्याण' या उपयोगिता में किया जा सकता है क्योंकि दूसरे के कष्टों का तथा अपने कष्टों का निवारण करना कवि का मूल उदेश्य होता है। इस प्रकार की कथायें कालिदास, केशवदास तथा तुलसीदास आदि के सम्बन्ध में प्रचलित हैं कि उन्होंने अपने रोगों के निवारण के लिए भी काव्य की रचनायें की थीं। जैसे तुलसी का 'हनुमानबाहुक', जो उन्होंने अपनी भुजा के दर्द को दूर करने के लिए लिखा था। इसका एक आशय और भी हो सकता है कि भक्त कवियों की सम्पूर्ण कविता अपने कष्टों के और संसार के कष्टों के निवारणार्थ ही लिखी गई हैं। जैसे

अब के राखि लेहु भगवान।
मैं अनाथ बैठ्यो द्रुम डरिया पारिधि साधेबान।। (सूर)

आदि में कवि तथा समाज के कष्टों के निवारण की बूटी संन्निहित है। अत: **'शिवेतरक्षतये'** का प्रयोग भी कवियों की काव्य-रचना सम्बन्धी प्रेरणा का हेतु बनता रहा है।

इसी प्रकार **'सद्य: पर निर्वृतये'** को लिया जा सकता है। यह तो काव्य का परिणाम है जो सभी उच्च कोटि की काव्य-रचनाओं में देखा जाता है। इसका हल्का रूप मनोरंजन है और गहन रूप सांसारिक प्रभाव से मुक्त होकर आत्मानन्द की प्राप्ति। आत्मानन्द तो जहाँ 'रस' होगा वहाँ सभी को प्राप्त होगा और जहाँ 'रसाभास' होगा वहाँ केवल मनोरंजन ही होगा। व्यावहारिक रूप से यह भी सत्य है कि समाज का

मनोरंजन करने की दृष्टि से भी साहित्य लिखा जाता है, जैसे देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यास तथा अन्य जासूसी उपन्यास व कहानियाँ आदि। यद्यपि इनका साहित्यिक मूल्य नहीं है। फिर भी इस प्रकार की रचनाओं का समाज में सदा बोलबाला रहा है। इससे कवि को 'दाम और नाम' आदि फलों की प्राप्ति एक साथ हो जाती है।

अन्त में **'कान्तासम्मिततयोपदेश युजे'** को लीजिए, यह काव्य-रचना का प्रयोजन नहीं माना जा सकता। यह गुण तो माधुर्य गुणों वाली रचनाओं में स्वयं विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त काव्य में ओज तथा प्रसादादि गुण भी विद्यमान रहते हैं। फिर अकेले माधुर्य गुण को ही काव्य-रचना का प्रयोजन कैसे माना जा सकता है?

निष्कर्ष—उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत से लेकर आधुनिक काल तक काव्य प्रयोजनों का सविस्तार विवेचन हुआ है। इससे कवि तथा काव्य की गरिमा का परिचय प्राप्त होने में सहायता मिलती है। यदि सभी प्रयोजनों पर विहंगम दृष्टि डाली जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि देश तथा समाज के प्रति कवि के उत्तरदायित्व निर्वाह की प्रेरणा ही कवि की सबसे महान् प्रेरणा है जो काव्य की उपयोगिता एवं जन-कल्याण से सम्बन्धित कवि का धर्म है। अर्थ ग्रहण तथा काम-साधना भी काव्य रचना की मुख्य प्रेरणाएँ हैं और इसका प्रभाव भी अधिक है परन्तु इनका सीमित ग्रहण ही लाभप्रद है। मोक्ष की साधना भी काव्य द्वारा कराई जा सकती है और 'यश' की प्राप्ति के लिए भी कवि काव्य रचना करता रहा है परन्तु भामह द्वारा प्रतिपादित **'धर्मार्थकाममोक्षेसु'** की प्रयोजनीयता ही सर्वाधिक उपयोगी और मूल्यवान् है।

कला और उपयोगितावाद (कला–कला के लिए)

पाश्चात्य प्रभाव से हिन्दी आलोचना में भी यह प्रवृत्ति प्रवेश पा गई है कि काव्य एक कला है और कला के प्रयोजन ही काव्य-प्रयोजन हैं। परन्तु भारतीय धारणा इसे सदैव नकारती रही है। भारतीय विद्वानों के मत में न तो काव्य कला है और न कला के प्रयोजन काव्य के प्रयोजन हैं। भारतीय विद्वान् काव्य और कला को पूर्णतया पृथक् मानते हैं, इसके प्रमाण स्वरूप यह उक्ति अवलोकनीय है –

''साहित्य संगीत कला विहीन।
साक्षात् पशु पुच्छ विषाणहीन।।''

इस कथन में कला और साहित्य पृथक दर्शाये गये हैं। इसके अतिरिक्त भारतवासियों ने कला के चौसठ भेद भी किये हैं, परन्तु उनमें काव्य का कहीं नाम नहीं है।

प्लेटों तो काव्य को निकृष्टतम कला मानता था और उसका आग्रह था कि काव्य और कवि को एथेंस से निकाल देना चाहिए क्योंकि काव्य; युवक-युवतियों तथा अन्य लोगों के मस्तिष्क पर कुप्रभाव डालता है।

पाश्चात्य विद्वान् काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख बिल्कुल नहीं करते। उनके मतानुसार कला के दो ही प्रयोजन हैं।

1. कला कला के लिए अर्थात् मनोरंजन के लिए।

2. कला जीवन के उपयोग के लिए।

और काव्य को वे केवल मनोरंजन का ही विषय मानते हैं। परन्तु गुप्त जी ने इस धारणा का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया है–

''केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।''

और इसीलिए–

''मानते हैं जो कला के अर्थ ही, स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।''

इससे स्पष्ट है कि भारतीय विद्वान कभी इस मत को स्वीकार नहीं करता कि काव्य-कला है और उसका प्रयोजन केवल मनोरंजन मात्र है।

अब एक दृष्टि हमें काव्य (लक्ष्य) पर भी डाल लेनी चाहिए। प्रायः हर एक महान् कवि ने अपने काव्य की प्रशस्ति करते हुए उसकी प्रयोजनीयता का प्रतिपादन किया है। चन्दवरदायी ने कहा है–

''नीति धर्म विशालस्य राजनीति नवम् रसाः।
षट्भाषा पुराणां च कुराणं कथितं मया॥''

अर्थात् इस 'पृथ्वीराज रासो' में विशालनीति और धर्म तत्त्वों का निरूपण है। इसमें राजनीति के उदात्त मान दण्डों का समावेश है और नौ रसों से यह काव्य सराबोर है। साथ ही छः भाषाओं अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश (पैशाची, शूरसैनी तथा मागधी) का भी इस महान ग्रंथ में प्रयोग किया गया है और यवनों के वृतान्तों में कुराण की भाषा अरबी-फारसी का भी पुट है। 'चन्द' के इस कथन से क्या 'रासो' केवल मनोरंजक ग्रन्थ सिद्ध होता है। नहीं वह पूर्णतया उपयोगी और महान् ग्रंथ है तथा वह कोरी कला से अधिक श्रेष्ठ है।

गोस्वामी तुलसीदास 'रामचरित मानस' के सम्बन्ध में अभिव्यक्त करते हैं–

''चारिहु वेद पुराण अष्टदस। छहौशास्त्र सब ग्रंथनि कौ रस।
सुरनर मुनि संतन को सरबस। सारअंस सम्मति सबही की॥
आरति श्री रामायन जी की॥''

और –

''कलिमल हरन विषय रस फीकी।
सुभग सिंगार मुक्ति जुबती की॥
हरन रोग भव मूरि अमी की।
तात मात सब बिधि तुलसी की।
आरति श्री रामायन जी की॥''

तथा –

''कलिमल हरनि मंगल करनि तुलसी कथा रघुनाथ की।।''

क्या इन प्रशस्तियों में 'मानस' को केवल मनोरंजक ग्रन्थ बताया गया है या 'धर्मेषु' और 'मोक्षेपु' के उदात्ततम प्रयोजनों का विधाता कहा गया है। गोस्वामी तलुसीदास ने तो काव्य की उपयोगिता बद्ध प्रयोजनीयता की स्पष्ट घोषणा की है।

''कीरति भनिति भूतिभल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।''

इस प्रकार भारतीय मत में काव्य, कला से कहीं अधिक उत्कृष्ट और उपयोगी कार्य है।

भारतीय विद्वानों ने काव्य की तीन कोटियाँ मानी हैं।

1. **उत्तम कोटि का रस-सिद्ध काव्य।**
2. **मध्यम कोटि का ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्यपूर्ण काव्य।**
3. **अधम कोटि का शुष्क-नीरस वैचारिक काव्य।**

अधम कोटि का काव्य हमारी राय में प्रयोगवादी काव्य है। उसमें कलात्मकता जन्य मनोरंजन भी प्राय: नहीं है। वह वैचारिक और यथार्थवादी काव्य है परन्तु उपयोगिता के अंश उसमें भी विद्यमान हैं।

काव्य में रस, अलंकार तथा गुणादि का समावेश रहता है, जिससे काव्य की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। 'केशव ने कहा है –

''ज्यों बिनुदीठि न सोभिजै लोचन लोल बिसाल।
तैसेई केसब सकल कवि बिनु बानी न रसाल।।''

अर्थात् बिना रसयुक्त वाणी के कोई भी कवि सुशोभित नहीं हो सकता और जहाँ 'रस' होता है वहाँ ब्रह्मानंद सहोदरता, लोकोत्तर चमत्कारप्राणता, वेद्यान्तरस्पर्श शून्यता, अखण्डता, चिन्मयता, स्वप्रकाशानन्दता, सत्त्वगुणमूलकता, चिन्तवृत्ति की शान्ति और निश्चलता आदि उदात्ततम मानवीय तत्त्वों का समावेश स्वयं ही रहता है और प्रमाता अपने आकार से अभिन्न होकर काव्यानंद में लीन हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि रस-सिद्ध काव्य' की महनीय उपयोगिता असंदिग्ध है और उसका मनोरंजन भी आत्मानन्द की कोटि का है।

ध्वन्यात्मक काव्य में रस (भाव) अलंकार और वस्तुगत सौंदर्य का आनन्द निहित रहता है। अलंकारों की उपादेयता को केसव ने इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है।

''जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त।।''

और अलंकार ही 'सौन्दर्य' माने गये हैं।[102] अत: काव्य सौंदर्य केवल मनोरंजन नहीं होता। वह आनन्दमूलक भी होता है।

काव्य में गुणात्मकता और दोष मुक्तता का रहना भी आवश्यक है। इस सम्बन्ध में मम्मट का कथन है--

''तददोषौ ...... सगुणाः''

और केशव ने कहा है –

**''राजत रंच न दोष जुत कबिता बनिता मित्त।
बुन्दक हाला परत ज्यों गंगा घट अपबित्र॥''**

इस प्रकार की रचना क्या कला मात्र है। काव्य क्या कवि की जड़ सृष्टि है। काव्य तो आत्मा की तरह चेतन रूप है। अतः उसका आनन्द आत्मानन्द है और वह सत्यं-शिवं-सुन्दरम, श्रेय-प्रेय तथा आदर्श और यथार्थ का परिचायक होता है। इन तत्त्वों का भी इस ग्रंथ में निरूपण किया गया है जिससे काव्य की उपयोगिता को भली प्रकार समझा जा सकता है। इसी आधार पर भरत, भामह तथा मम्मटादि ने काव्य के उपयोगितावादी प्रयोजनों का ही विवेचन किया है। इन का विशद विवेचन पहले किया जा चुका है। **उपयोगितावादी प्रयोजनों के प्रदर्शनार्थ यहाँ भरत से लेकर मम्मट तक के मतों का पूर्व विवरण एवं विश्लेषण किया जा सकता है।** अतः कला और उपयोगितावाद के सम्बन्ध में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि पाश्चात्य विद्वान काव्य को अन्य जड़ रूप कलाओं के ही अन्तर्गत मानते हैं और **'कला–कला के लिए'** कहकर काव्य का अन्य कलाओं की भाँति केवल मनोरंजक ही मानते हैं, जबकि भारतीय विद्वान् काव्य को कला न मानकर जड़ रूप कलाओं से पृथक चेतन विधा ही मानते हैं और काव्य की प्रयोजनीयता केवल उपयोगिता के रूप में ही उन्हें मान्य है। मनोरंजन भी एक प्रकार से उपयोगी ही होता है। अतः काव्य की प्रयोजनीयता में मनोरंजन का भी स्थान है। इस प्रकार काव्य प्रयोजन सम्बन्धी भारतीय मत ही श्रेष्ठ और ग्राह्य है।

हम यह अनेक बार स्पष्ट कर चुके हैं कि पाश्चात्य सिद्धान्तों को भारतीय मनीषा पर थोपना अन्याय है क्योंकि 'भारत-भारत' है और 'पश्चिम-पश्चिम'। भारत और अन्य देशों की– विशेष कर पश्चिम की सभ्यता तथा संस्कृति में आकाश-पाताल का अन्तर है। भारत सभ्यता एवं संस्कृति के शिखर पर बहुत पहले ही पहुँच चुका है जबकि पाश्चात्य देश व उनका साहित्य वहाँ तक अभी भी नहीं पहुँचा है जहाँ से भारत ने अपना साहित्य और तद्‌मूलशास्त्र प्रारम्भ किया था। इसका सबसे बड़ा प्रमााण यह है कि भारतवासियों ने साहित्य में आत्मा के रूप में जिस 'रस' तत्त्व की प्रारम्भ में ही स्थापना और प्रयोग कर लिए थे, उस 'रस' के स्वरूपादि का तो पाश्चात्य कवि-काव्य और काव्यशास्त्री नाम भी नहीं जानता। इसी प्रकार साधाररणीकरण जैसे महनीय सिद्धान्त के तो उन्हें स्वप्न में भी दर्शन नहीं हुए। साथ ही काव्य के धर्म-मूलक तथा मोक्ष-सम्बन्धी परमोपयोगी तत्त्वों; ज्ञान-भाक्ति, योग-साधना, वैराग्य तथा सदाचार आदि का तो पाश्चात्यसाहित्य और शास्त्र में नामोल्लेख तक नहीं हुआ है। **अतः भारतीय काव्य तथा उसकी प्रयोजनीयता पूर्णतया उपयोगितावादी है, कलावादी नहीं।**

टिप्पणियां

1. काव्यालंकार (भामह) 1/16
2. 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।' (तुलसीदास)
3. वागार्थाविव सम्पृक्तौ वागार्थप्रतिपत्तये।
   जगत: पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। (रघुवंश 1-1)
4. भारतीय काव्य शास्त्र पृ॰ 578 (सत्यदेव चौधरी)
5. काव्यालंकार (भामह) 1/1.
6. काव्यादर्श 1.10
7. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ. 24-26
8. काव्यादर्श 2.1
9. (क) दे. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ॰ 24-27
   (ख) भारतीय काव्य शास्त्र-सत्यदेव चौधरी पृ॰ 578

10-11. काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति 1,2,6, 1/2/6-8

12. श्लेष: प्रसाद: समता, माधुर्य, सुकुमारता।
    अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज: कान्ति समाधय:।। (काव्यादर्श 1/41)

13-14. काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति 3/1/1, 1/1/2

15. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् (काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति 1/1/1)
16. अलंकृतिरलंकार:। (काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति 1/1/2)
17. *वामन काव्यालंकार-सूत्र 1/1/2*

18-20. वक्रोक्ति जीवित, प्रथम उन्मेष-कारिका-7, 16 (वृत्ति) पृ॰ 24

21. (क) दे॰ भारतीय काव्य शास्त्र (डा॰ सत्यदेव चौधरी) प्र॰ 584
    (ख) रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ॰ 25
22. काव्य प्रकाश।

23-24. सदोषगुणालंकारहानो पादानाभ्याम्। का॰ अं॰ सू॰-वृ॰ 1-1-2

25. काव्यप्रकाश 8.66 पृ॰ 462
26. (क) अङ्गीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलकृती।
    असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।। (चन्द्रालोक, जयदेव)
    (ख) अदोषौ सगुणौं सालंकारौं च शब्दार्थौं काव्यम्।
    (हेमचन्द्र-काव्यानुशासन अ.1 सू॰-1 1)
    (ग) गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोष वर्जितो। (विद्यानाथ)
    (घ) शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्राय: सालंकारौकाव्यम्।।
27. निर्दोषालक्षणवती सरीतिरगुणभूषणा, (वाग्भट्, काव्यानुशासन पृ॰14)
    सालंकार रसानेकवृत्तिवक्किाव्यनामभाक्।। (जयदेव, चन्द्रालोक मयूख-1)

28. साहित्यदर्पण।
29-30. रस गंगाधर पृ॰ 4
31. मर्द मुछार्‌यौ। बर्ध सिंघार्‌यौ।।
32. 'रसज्ञ रंजन' पृ॰ 26
33. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ॰ 53
34. आस्था के चरण पृ. 122
35-38. सिद्धान्त और अध्ययन से उद्‌घृत।
39. कविकुल कल्पतरु (चिन्तामणि 1.9.12)
40. सोना और खून (आचार्य चतुर सेन)
41. पाश्चात्य 'त्रासदी' तथा 'कामदी' काव्य।
42-43. अरस्तू का काव्य शास्त्र – डा॰ नगेन्द्र।
44. रस रहस्य, कुलपति।
45. दे॰ 'सोना और खून (आचार्य चतुर सेन)
46-47. काव्यादर्श 1.13, 2/1
48. सौंदर्यमलकार : (काव्यालंकारसूत्र 2,1,2)
49. काव्यशोभाया : कर्त्तारो धर्मा गुणा: (वही 3,1,1)
50. तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि। (काव्य प्रकाश)
51. ध्वन्यालोक 3.38
52-55. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
56-57. काव्य प्रकाश। 8, 66 पृ॰ 462-464
58-59. सौंदर्यमलंकार :। काव्यंग्राह्यमलंकारात्।

(काव्यालंकार-सूत्र वृत्ति -1-1-1,2)

60-67. ध्वन्यालोक 1, 2, 6, 3
68. (क) ध्वनिरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात्।

न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदिस्यात् प्रतिभागुणा:।।(ध्वन्यालोक 4.6)

(ख) चित्रमिति गुणालंकारादयुक्तम्। (का॰ प्र॰ 1.15)

(ग) अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। (का॰ प्र॰ 1.4)

69. को ऽलंकारो ऽनया बिना (काव्यालंकार-भामह)

(क) रत्नरश्मि छटोत्सेक भासुरैर्भूषणो तथा।
कान्ताशरीरमाच्छाद्ये भूषायै परिकल्प्यते।।

(ख) यत्र तद् वदलंकारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना।।
स्वशोभातिशयान्त: स्थमलंकार्य: प्रकाश्य।। (व॰ जी॰ 1.36-37)

(ग) तत्त्वं, सालंकारस्य काव्यता। (वहीं 1-6)

(घ) काव्यस्यऽयमलंकार: कोऽप्यपूर्वोविधीयते।। वहीं 1.2।।

70. वक्रोकित जीवित 1.2.4 (वृत्ति)
71. विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। वही 1.10 (वृत्ति)
72. भारतीय काव्य शास्त्र (सत्यदेव चौधरी) पृ॰ 638
73. औचित्य विचार चर्चा, पृ॰ 115
74. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ॰ 326
75. काव्यालंकार (भामह)
76. 'शैले-शैले न माणिक्यं चन्दनं न वने-वने।
साधवो हि न सर्वत्र मौक्तिकं न गजे-गजे॥'
77. 'यत्सारस्वत वैभवं गुरु कृपा पीयूषपाकोद्‌भवं,
तल्लभ्यं कवि नैव नैव हठत: पाठ प्रतिष्ठा जुषाम्।
कासारे दिवसं वसन्नपि पय: पूरं परं पङ्किलं,
कुर्वाण: कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभ:। (भोज-प्रबन्ध)
78. काव्यालंकार 1/5
79. काव्यादर्श 1.103
80. न विद्यते यद्यपि पूर्व वासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्‌भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिताऽपि करोत्यंव कमप्यनुग्रहम्॥ (काव्यादर्श) दण्डी
81. लोकाविद्यां प्रकीर्णा च काव्यांगानि/लोकवृत्तं लोक:/शब्द स्मृत्य विधानकोच्छन्दी विचित्ति
कला कामशास्त्र दण्डनीतिर्वाविद्या:। लक्ष्यज्ञत्वमभियोगी वृद्धसंवा वेक्षणं प्रतिभानमवधानं
च प्रकीर्णम्। (काव्यालंकार सूत्र 1.3)
82. प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसां सहजातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा॥
खत्या सौ संस्कारै परम परं मृगयते हेतुम्।
उत्पाद्यातु कथं चित् व्युत्पत्त्या जन्यते परया॥
नक्तं दिनमभ्यस्येदभियुक्त: शक्तिमान् काव्यम्॥ –रुद्रट
(काव्यालंकार) 1/16-20
83. साच द्विधा। कारयित्री भावयित्री च।
84-86. 'कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपित्रिविधा। सहजा, आहार्या औपदेशिकी च। जन्मान्तर संस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्मसंस्कारयोनिराहार्या। मन्त्र तन्त्राद्युपदेशप्रभव औपदेशिकी।'(काव्य मीमांसा पृ॰ 29, 39, 26)
87. काव्य प्रकाश 3.3
88. अलंकार तिलक (वाग्भट) पृ॰ 2
89. केशव मिश्र (अलंकार शेखर) पृ॰ 4

90. हेमचन्द्र (काव्यानुशासन) पृ0 5-6
91. रसगंगाधर पृ॰ 8
92. कविप्रिया 3.1
93. काव्य निर्णय पृ॰ 5 छन्द 12
94. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ॰ 53-54
95. काव्यालंकार 1.2
96. त्रिवर्ग साधनं नाट्यमित्याहु: करणं च यत्। (अग्निपुराण 3.38.7)
97. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थ प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात्
(काव्यालंकारसूत्र वृत्ति 1.15)
98. अर्थमनर्थोपशमं शमसमथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिर सुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कवि:।।
नुत्वा तथा हि दुर्गां केचित्तीर्णा दुरुत्तरां विपदम्।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्यं लेभिरेऽभिमतत्।। (का॰अ॰(रु॰)1.8.9.)
99. दे॰ वक्रोक्ति-जीवित 1.3.4
100-101. भोज प्रबन्ध - कुविन्दस्य पाण्डित्यम्।
102. सौन्दर्यमलंकार: (वावन)

तृतीय अध्याय

रस की महत्ता

भारतीय काव्य-परम्परा में 'रस' को काव्य की आत्मा माना गया है। अत: इसकी प्रांसगिकता असंदिग्ध है। रस-विहीन काव्य, आत्मा-रहित शरीर की भाँति निष्पंद एवं अनुपयोगी होता है। जिस प्रकार आत्मोत्कर्ष सौंदर्योकर्ष का द्योतक है उसी प्रकार रसोत्कर्ष भी सौंदर्योत्कर्ष का ही द्योतक है। 'रस'का शाब्दिक अर्थ है 'आनन्द' और सौंदर्य में आनन्द के उद्‌बोधन की पूर्ण क्षमता विद्यमान रहती है। अत: काव्य का 'सत्यं शिवं और सुन्दरम्' परमानंद रूप रस ही होता है जो आत्मा के सत् चित्त् आनन्द स्वरूप का अनुमापक बन कर अवतरित होता है। लौकिक आनन्दवाद के साथ ही साथ 'रस' की परिणिति पारलौकिक आनंद में होती है। रस-दशा, ज्ञान-दशा कहलाती है और ज्ञानोदय की स्थिति में इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आत्मतेज में विलीन होकर रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्ति प्राप्त कर ईर्ष्या-द्वेष, छल, कपट असत्य, हिंसा आदि कुत्सित विकारों से रहित हो जाने से सत्य, अहिंसा, परोपकार, दया, करुणा, क्षमा आदि उत्कृष्ट कोटि के भावों के प्रभाव से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की कक्षा में विचरण करने लग जाते हैं और तब चित्तवृत्ति शांत एवं निश्चल होकर, आनन्द-समुद्र में गोते लगाने लगती है। यही कारण है कि 'रस' को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा गया है और उसे 'रसोवैस' की परम तत्त्वमय उपाधि से अभिभूषित किया जाता है।

काव्य-कृति सरस, प्रेरणादायक एवं मनोरंजक होती है। काव्यानुशीलन इसीलिये ग्राह्य होता है। नीरसता एवं शुष्कता के रेतीले कछारों से होकर बहती हुई रस की अविरल धारा ही काव्य को सुरुचिपूर्ण एवं आनन्दपूर्ण बनाती है। जैसे बिना दृष्टि के बड़े-बड़े एवं चंचल नेत्र भी सुंदर नही लगते, उसी प्रकार बिना रसमय वाणी के कोई भी कवि सुशोभित नहीं हो सकता।[1] यही कारण है कि सरस कथानक एवं चरित्रावलियाँ आदि ही काव्य का परमग्राह्य सत्य होती हैं जिनको संगठित करके एक सामान्य कलाकार भी अच्छा नाम प्राप्त कर लेता है। श्री राम के चरित्र की उदात्तता के कारण कितने ही भावज्ञ सहज रूप से कवि बन गये हैं।[2] इसी प्रकार काव्य, संगीत, नृत्य, उत्सव आदि में यत्र-तत्र-सर्वत्र रसिक शिरोमणि श्री कृष्ण का ही प्रभुत्व दिखाई देता है। फिल्म क्षेत्र से लेकर सामान्य जन जातियों के गीतों तक में ब्रह्म-व्याप्ति की भाँति 'लीला-विहारी' श्री कृष्ण के सरस क्रिया-कलापों का ही प्राधान्य है। 'रास-कला' पर तो कृष्ण-चरित्र का एकाधिकार ही है। महाभारत की कथाएँ, नल-दमयन्ती, सत्यवान-सावित्री,

ध्रुव-प्रहलाद गोपीचन्द तथा भर्तृहरि, ढोला-मारू, आल्हा-ऊदल की गाथाएँ तथा देशभक्तों का स्वतंत्रता के लिए किया गया संघर्ष एवं बलिदान लोक-जीवन में सदेव सरसता, त्याग एवं वीरता का अनूठा भाव भरता रहा है।

काव्य के अन्यगुण भी जैसे नाद, गीत, संगीत आदि भी रस सापेक्ष्य होते हैं। स्वर की मधुरता, लयात्मकता एवं एकतानता रस मय होकर ही बिखर पड़ती है। उनके छंदों की रसमय प्रवृत्ति ने ही उनकी ख्याति में चार चाँद लगा दिये हैं। राजस्थानी लोक-साहित्य में सोरठा तथा दोहा की एकमात्र प्रसिद्धि का कारण इन छंदो की रसात्मकता ही है।[3] हिन्दी-काव्य-साहित्य के अंतर्गत भी दोहा, सोरठा, कुंडलिया, छप्पय, सवैया, कवित्त, गीतिका तोटक आदि अपनी सरसता एवं प्रेरणादायकता के कारण ही सर्वग्राह्य बने हैं। इसके विपरीत अंग्रेजी की 'ब्लैंक वर्ज' तथा आधुनिक कविता की अछंदोबद्ध पंक्तियाँ शुष्क एवं नीरस होने के कारण अधिक आकर्षक एवं मनोहारी महीं बन सकी हैं। इससे यह पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि 'रस' काव्य की 'आत्मा' है और जिस प्रकार आत्मसौंदर्य के प्रकाश से सभी अंग प्रकाशित हो जाते हैं उसी प्रकार रस के प्रकाश से काव्य का चप्पा-चप्पा जगर-मगर करने लग जाता है। रस को 'काव्यामृत' भी कह सकते हैं; क्योंकि रस में अमरत्व का गुण है जो सूखी नसों मे बिजली की दीप्ति उत्पन्न कर देता है। मुर्दों में जान डाल देता है। भीरु एवं कायर को वीर बना देता है। रोते हुए को हँसा देता है। शोक के वातावरण को हटा कर उत्साह और उमंग उत्पन्न कर देता है। टूटे हुए हृदयों के तारों को जोड़ देता है। रस के प्रभाव से मन-मयूर नाचने लगते हैं। चित्त चिहुकने लगता है। इसी के प्रभाव से धर्म और संस्कृति की रक्षा होती है। यही स्वतंत्रता देवी का मन भावना पाहुना है। कविगण रसमय वाणी के अमर अस्त्र से ही देश, वेश, सम्मान एवं शालीनता की रक्षा करने में सफल हुए हैं। महात्मा तुलसीदास, सूरदास, कबीरदास, गंग, बिहारी आदि कवियों ने भक्ति एवं नीति-रस के प्रभाव से ही मर्यादा एवं धर्म की रक्षा की थी। चंदवरदायी[4] एवं पृथ्वीराज राठौर[5] के उत्साह वर्द्धक शब्दों ने ही पृथ्वीराज चौहान एवं महाराणाप्रताप को अपने प्रतिद्वन्दियों के समक्ष आत्म समर्पण करने से रोक कर देश का गौरव बढ़ाया था। अत: यह कहना अनुचित न होगा कि 'रस' काव्य का सर्वस्व है। रसहीन काव्य की कल्पना करना वास्तविकता की ओर से जानबूझकर आँखे बंद करना है।

रससिद्ध काव्य के लिए अलंकारादि की अनिवार्यता भी नहीं रहती। अलंकारादि ब्राह्य सौंदर्य के द्योतक होते हैं। ये सौंदर्य-उद्बोधन के साधन मात्र ही हैं। रस साध्य है। अत: अलंकारादि का प्रयोग रसानुभूति को अधिक तीव्र बनाने के लिए तो उपयुक्त है परन्तु बिना रस के मात्र अलंकारों का प्रयोग उपहासास्पद है। जिस प्रकार एक सूखी लकड़ी को आभूषण पहना देने से वह सुदर नहीं बन सकती उसी प्रकार कोरे अलंकारादि के द्वारा रसहीन रचना सप्राणता प्राप्त नहीं क़र सकती। वह केवल क्षणिक कौतूहल उत्पन्न कर सकती है। जो स्वत: सुंदर है उसे अलंकारों की क्या आवश्यकता है। कवि

कुलगुरु कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में शकुन्तला के सौंदर्य का इसी पक्ष को लेकर निरूपण किया है–

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापिरम्यं।
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति॥
इयमधिक मनोज्ञा बल्कलेनापि तन्वी।
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥'[6]

अर्थात् शैवालिनी घास में लिपटा हुआ होने पर भी कमल सुंदर लगता है। चन्द्रमा में काला धब्बा होने पर भी उसकी किरणें प्रकाश विकीर्ण करती हैं। इसी प्रकार यह तन्वंगी शकुन्तला बल्कल वस्त्रों से युक्त होने पर भी अत्यंत सुन्दर लग रही है। ठीक ही है कि जो स्वयं सुन्दर होता है उसके लिए अलंकारों की आवश्यकता नहीं होती। रस भी काव्य का वही स्वंयसिद्ध सौंदर्य है जिसके समक्ष सौंदर्य के अन्य उपकरण अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रख सकते। वे रस के सौन्दर्य-उद्‌बोधन को तीव्र करने में सहायक हो सकते हैं। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से ही समस्त पदार्थ ज्योतिर्मय होते हैं उसी प्रकार 'रस' से ही काव्य के सभी अंग सुरुचिपूर्ण बन जाते हैं।

विचारणीय बात यह है कि आत्म-तत्त्व जितना अधिक प्रकाशित होगा शरीर तत्त्व उतना ही तेजस्वी और प्रभावशाली बन जाएगा। काव्य के पक्ष में भी यह युक्ति 'बावन तोले पाव रत्ती' सही बैठती है। अर्थात काव्य में अनुभूति पक्ष (रस-तत्त्व) जितना अधिक प्रभावशाली होगा अभिव्यक्ति पक्ष (शरीर-तत्त्व) भी उतना ही उत्कृष्ट कोटि का बन जाएगा। यही कारण है कि रस सिद्ध कवि; सूर, तुलसी और जायसी आदि की कविता में अनायास ही अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता अवतरित हो गई है। सर्व विदित है कि कबीर आदि 'कुटिया' के संत थे। उन्हें दुनियादारी से कोई मतलब नहीं था। न तो वे कविरूप में ही प्रसिद्ध होना चाहते थे और न उन्हें कला के उत्कृष्टतम प्रतिमानों को सप्रयास खोजकर बिठाने और 'अभिव्यक्ति' की गरिमा बढ़ाने का ही हौसला था। वे अपने मत का प्रचार करना चाहते थे। अत: उन्होंने कविता को केवल अपने मत-प्रचार का उपयुक्त माध्यम चुना और अपने विचार व भाव समाज के समक्ष काव्य-रूप में प्रस्तुत किये जो अनायास ही काव्य का सुन्दरतम रूप बन गए। कहने का तात्पर्य यह है कि रस-सिद्ध काव्य में अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता स्वत: ही खिंची चली आती है जिसमें से 'रस-रूप आत्मा' का सौंदर्य परमार्थत: विकीर्ण होकर आनन्द की सृष्टि करने में स्वत: ही सफल हो जाता है। अत: निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है उत्कृष्टतम 'अनुभूति' ही 'उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति' का आधार होती है। यह सब 'रस' का ही व्यापार है।

काव्य जगत में कला और उपयोगितावाद का बड़ा कुहराम सा मचा हुआ है। जहाँ तुलसी की:-

'कीरति भणिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥'

की उक्ति काव्योपयोगिता की अनिवार्यता की उद्‌घोषणा करती है वहाँ:-

'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंध मतिमंजुल मातनोति।' के द्वारा व्यक्तिवाद का शंखनाद भी करती है। परन्तु महात्मा तुलसीदास का जो 'स्वान्तः सुखाय' है वही विकल्प से उनका 'परान्तः सुखाय' है क्योंकि वे संत थे और–

'तुलसी संत सु अम्बतरु फूल फलै पर हेत।' के आधार पर संत सदैव–

'परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्।' की प्राण प्रतिष्ठा करता हुआ चलता है। अतः तुलसी का **'रामचरितमानस'** एक संत् कवि की **'स्वान्तः सुखाय'** रचना होने के कारण ही 'बहुजन हिताय' रचना बन सकी है क्योंकि संत अहिंसक एवं दयालु होता है। क्रूर एवं हिसंक व्यक्ति कभी संत नहीं हो सकता। वैष्णव जन परपीड़न को सहन नहीं कर सकता। वह निरहंकार होता है और परोपकार ही उसका एक मात्र आधार होता है।[7] अतः हिंदी का समस्त भक्तिकालीन काव्य 'सर्वभूतहिते रता' ही रचा गया। जिसका मूल रहस्य हिंदी कविता में निरंतर प्रवाहित होने वाली 'रसधारा' ही है क्योंकि जहाँ 'रस' है वहीं 'सरस' है और जहाँ रस नहीं है वही नीरस है। जो सरस है वही आनन्दमूलक है और जो नीरस है वहीं आनन्द का अपकर्षक है। जहाँ आनन्द है वहीं जीवन है और जहाँ दुःख है वहीं जीवन श्रोत विश्रृंखल हो जाता है। अतः 'रस' ही काव्य का मूल तत्त्व है।

प्रभृति पाश्चात्य काव्य-शास्त्री और क्लिष्ट प्रतीकवाद के समर्थक छायावादी व प्रयोगवादी महानुभाव कविता को व्यक्ति का विषय मानते हैं। रीतिकालीन काव्य में भी अधिकांशतः यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है परन्तु व्यवहार में यही देखा जाता है कि जो काव्य जितना अधिक उपयोगी है उतना ही वह लोक-जीवन में प्रचलित है और प्रसिद्ध है। उसकी साहित्यिक गरिमा भी अपेक्षाकृत उतनी ही अधिक है। इसके विपरीत अनुपयोगी काव्य केवल चंद लोगों के प्रयोग का ही माध्यम है और मात्र चमत्कार तथा कौतूहल की सृष्टि करनेवाला सिद्ध हुआ है। अनुपयोगी काव्य कभी लोकानन्द का स्रष्टा नहीं हो सकता और न समाज का कल्याण करने में उसका कोई योगदान ही रहा है। अतः उपयोगिता काव्य का अनिवार्य तत्व है और वह विकल्प से 'रस' ही है।

काव्य में रस की महत्ता का समर्थन इस बात से भी होता है कि भारतीय आचार्यों ने एक मत से 'रस-युक्त' काव्य को ही प्रथम कोटि का काव्य माना है। 'रस-विहीन' काव्य का उनके यहाँ कोई स्थान ही नहीं है। ध्वनि आदि केवल कल्पना का व्यापार हैं जो चमत्कार उद्बोधन मात्र ही हैं। 'रस' 'सरस्वती' का अमर वैभव विलास है जिसे बिरले ही प्राप्त कर सकते हैं। निम्न पद से यह स्पष्ट हो जाता है–

'यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपा पीयूष पाकोद्भवं
तल्लभ्यं कवि नैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठा जुषाम्।
कासारे दिवसं वसन्नपि पय पूरं पूरं पङ्किलं
कुर्वाण न लभते कमलाकरस्य सौरभं सैरिभः।[8]

अर्थात् जो सरस्वती का अमर वैभव काव्य की आत्मा 'रस' है उसे तो केवल गुरु के कृपारूपी अमृत के द्वारा कोई रससिद्ध कवि ही प्राप्त कर सकता है। अन्य कोई इस गरिमा तक नहीं पहुँच सकता। जिस प्रकार भैंसा दिनभर तालाब में पड़े रहकर केवल पानी को अपने खुरों से गँदला ही करेगा वह तालाब में विकसित कमल पुष्पों की सुंगधि को प्राप्त नहीं कर सकता।

आश्चर्य की बात है कि आजकल हिन्दी में कवियों की बाढ़ आई हुई है। घर-घर में कवि दिखाई देते हैं। परन्तु यह सब कुत्सित व्यक्तिवाद का तरल स्वार्थमय रूप है जो असमर्थता को विरोधवाद के अंचल में छिपाकर इस प्रकार जमकर बैठ गया है जिस प्रकार 'हिरण्याक्ष' जल के भीतर पृथ्वी को लेकर बैठ गया था। इस उभरती हुई स्वार्थ भावना ने 'हिंदी' से कविता का नाता-सा तोड़ दिया है और हिन्दी में काव्य रचना के नाम पर कूड़े का ऐसा ढेर सा इकट्ठा हो गया है जो विरक्ति को उद्भूत किये बिना नहीं रहता। हमारे तथाकथित उदीयमान कविगण अखाड़े के पहलवान की भाँति 'नाम' और 'दाम' कमाने की चिंता में अपने साथ 'दग्ध', 'विकल' तथा 'संतप्त' आदि 'उपनाम' जोड़ते चले गये हैं परन्तु वे काव्य की आत्मा 'रस' से अवश्य ही नाता-सा तोड़ते प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार हर पर्वत में भणियाँ नहीं मिलती। हर वन में चंदन नहीं मिलता।[9] उसी प्रकार हर घर में कवि भी नहीं जन्म लेता। कवि तो सीपी-गृहीत स्वाति-बिन्दु का मोती होता है जो यदा-कदा अवतरित होकर अपनी रससिद्ध वाणी से अमृत की वर्षा करता हुआ अमरत्व का वरदान समाज को देता है। कवि की इस गरिमा का रहस्य काव्य का सुंदरतम पक्ष 'रस' है जो गंगा की पवित्र धारा बनकर लोक और परलोक में आत्मा के आनन्द का विधायक बनता है।

उपर्युक्त आधार पर 'रस' को काव्य की 'आत्मा' मानना समीचीन ही है। अलंकारादि काव्य सौंदर्य के उद्बोधक तत्त्व माने जा सकते हैं। काव्य में अलंकारादि का प्रयोग उसी सीमा तक लाभदायक कहा जा सकता है जिस सीमा तक वह रस अवरोधक न बने। रसादि की रक्षा भी अलंकारादि से संभव हो जाती है। बिहारी ने इसी को ध्यान में रखकर निम्न दोहे का निर्माण किया है –

'मानहु विधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिवे काज।
दृग पग पौंछन को कियो भूषन पायंदाज ?[10]

कुत्सित दृष्टि से सौंदर्य की सुरक्षा करने के लिए अलंकारादि का प्रयोग आवश्यक है। इसीलिए तो माताएँ सुन्दर बालक के मस्तक पर काजल का दिठौना लगा देती हैं जो कुदृष्टि की विद्युत-शक्ति का पान करके उसके दुष्परिणाम से सौंदर्य की रक्षा करने का कार्य करता है। अतः रस-रूप आत्मा के सौन्दर्य-वर्द्धन एवं रक्षणादि के लिए अलंकारादि भी आवश्यक एवं उपयोगी माने जा सकते हैं किन्तु ये तत्त्व काव्य की आत्मा नहीं बन सकते। काव्य की 'आत्मा' केवल 'रस' ही है।

रस-सिद्धान्त (रस-निष्पत्ति) और उसकी प्रासंगिकता

रस-सिद्धान्त अथवा रस-निष्पत्ति भारतीय काव्य-सिद्धान्त का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी अंग है, क्योंकि रस सिद्धान्त के विवेचन द्वारा ही आचार्यों ने 'रस' के स्वरूप एवं उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया है। 'रस' का सम्पूर्ण औचित्य अभिव्यंजना, संभाव्यता, उपयोगिता, प्रामाणिकता, प्रभाव एवं परिष्क्रमण रस-सिद्धान्त द्वारा ही प्राप्य हैं। साथ ही काव्य की विविध दशाएँ, कोटियाँ एवं विकसित दृष्टियां आदि तत्त्व भी रस-निष्पत्ति द्वारा रस के दार्शनिक रूप का निर्धारण हो जाने पर ही सम्भव हो सके हैं। रस-निष्पत्ति एक ऐसी रिफाइनरी के समान है जो भूगर्भ से प्राप्त अनेक सम-विषम तत्त्वों से संयुत तैलपदार्थ को परिष्कृत करके उसकी गुणावत्ता के आधार पर पृथक्-पृथक् प्रयोजनों की साधना हेतु श्रेणीबद्ध करके समाज के प्रयोगार्थ अर्पित कर देती है। उसी प्रकार रस सिद्धान्त भी स्थायी भाव रूपी 'रौ-मैटेरियल' को अनेक दार्शनिक कसौटियों पर लगाकर तथा विभावादि से प्रदीप्त चिन्तन की 'फर्नैश' में डालकर परिष्कृत करते हुए काव्यात्म रूप रसामृत के रूप में परिवर्तित करके साहित्यानन्द के मूल रहस्य को खोलकर रख देता है।

संक्षेप में रस का स्वरूप क्या है? रस की उपलब्धि पाठकादि को कैसे होती है? रस और रसाभास में क्या अन्तर है? रस और भाव का क्या सम्बन्ध है? रस-भाव और स्थायी भावों की क्या विशेषताएँ होती हैं।? रस प्रक्रिया में इनकी क्या भूमिकाएँ रहती हैं। साधारणीकरण का रस प्रक्रिया में क्या योगदान है, आदि प्रश्नों का सम्यक समाधान केवल रससिद्धान्त या रस निष्पत्ति के द्वारा ही हो सकता है। वास्तविकता तो यह है कि काव्य-सृजन, काव्य के मूल तत्त्व की खोज, काव्यानन्द का स्वरूप, काव्यानुभूति का औचित्य, रस की सुखात्मक तथा दु:खात्मक भूमियाँ आदि महत्वपूर्ण तथ्यों को स्पष्ट करते हुए कवि और काव्याध्येता की विविध स्थितियों, सम्बन्धों और सफलताओं के प्रश्नों को हल करने की वास्तविक कुंजी रस-सिद्धान्त या रस-निष्पत्ति ही है। अत: रस-सिद्धान्त अथवा रस-निष्पत्ति पूर्णतया प्रांसगिक है। इस प्रांसगिकता को प्राचीन काल से ही सभी आचार्य स्वीकार करते चले आ रहे हैं। रस सिद्धान्त के सम्यक् विवेचन से यह तथ्य स्वत: ही स्पष्ट हो जाएगा।

रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य भरत माने जाते हैं। रस के सम्बन्ध में उनका सूत्र है :-

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

अर्थात विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से 'रस' की निष्पत्ति होती है।

भरत के इस सूत्र में छ: तत्त्वों का उल्लेख है-

1. विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन)। 2. अनुभाव (आश्रय की क्रियाएँ व चेष्टाएँ आदि)। 3. व्यभिचारी भाव (हर्ष, चिन्ता, शंका, ग्लानि आदि)। 4. संयोग। 5. निष्पत्ति

तथा 6. रस।

इन छः तत्त्वों में से विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के सम्बन्ध में तो आचार्यों में कोई मत भेद नहीं दिखाई देता। 'रस' में इनकी स्थिति व स्वरूप को प्रायः सभी ने कुछ न्यूनाधिक्य के साथ स्वीकार कर लिया है। रस, स्थायी भाव का संस्कृत रूप है जिसका उल्लेख भरत ने अपनी इस विवक्षा में किया है।

जिस प्रकार गुडादि (गुड़ आदि) द्रव्यों (पदार्थों), व्यंजनों, (अन्नादि भोज्य सामग्रियों) और औषधियों (अनुपानादि) से 'षाडवादि' (खाँड़ आदि), मीठे, कड़वे, कसैले आदि रस (स्वाद) बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों के सहयोग से 'स्थायी-भाव' भी 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं।[11] तथा जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों से संस्कार किये हुए (उपभोग-योग्य बनाये हुए) अन्न का उपभोग करके, शुद्ध चित्त वाले पुरुष रसास्वादन करते हुए 'हर्षादि' भावों का अनुभव करते हैं उसी प्रकार 'वाचिक आांगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के सहयोग से व्यंजित 'स्थयिभावों' का आस्वादन (उपभोग) करते हुए शुद्ध चित्त वाले प्रेक्षकगण हर्षादि भावों का अनुभव करते हैं।[12]

भरत की उपर्युक्त विवक्षा से यह संकेत मिलता है कि लौकिक भोज्य पदार्थों की भाँति 'स्थायी भाव' ही उपभोग्य बनकर और अन्न के साथ मिले हुए खट्टे, मीठे, कडवे, कसैले आदि रसों (स्वादों) की भांति अन्य भावों (अनुभावादि) से व्यंजित होकर नाटक के अन्तर्गत शुद्ध चित्तवाले प्रेक्षकों को रसास्वाद (आनन्दानुभव) कराता है।

यद्यपि आचार्य भरत ने 'रस-सिद्धान्त' के सम्बन्ध में उक्त सूत्र का निर्माण करके व उसकी संक्षिप्त विवक्षा प्रस्तुत करके 'रसनिष्पत्ति' को सार-रूप में निरूपित कर दिया है परन्तु फिर भी 'रस-सूत्र' सम्बंधी विवक्षा के अन्तर्गत **'संयोग'** तथा **'निष्पत्ति'** शब्दों की विवक्षा स्पष्ट न होने के कारण भरत के परवर्ती आचार्यों ने उसकी विशद् व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। इन व्याख्याताओं में चार आचार्य मुख्य हैं। भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त। इनके मतों का पृथक्-पृथक् उल्लेख नीचे किया जाता है :-

भट्टलोल्लट का आरोपवाद

भरत के परवर्ती आचार्यों में भरत सूत्र के प्रथम प्रामाणिक व्याख्याकार भट्ट लोल्लट माने जाते हैं। इन्होंने 'रस-सूत्र' में प्रयुक्त **'संयोग'** तथा **'निष्पत्ति'** शब्दों की महत्वपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। परन्तु इस विवक्षा से सम्बंधित 'लोल्लट' का कोई पृथक् ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता। अभिनव गुप्त ने अपने ग्रंथ 'अभिनव भारती' में तथा 'ध्वन्यालोक' की टीका 'ध्वन्यालोक-लोचन' में लोल्लट' के मत को उद्धृत किया है। साथ ही मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' में भी रस-सूत्र की व्याख्या से सम्बंधित मत उद्धृत किया गया है। 'लोल्लट' के मत की उपलब्धि के ये तीन ही स्रोत प्राप्त हैं। इन तीनों ही ग्रंथों के विवेचन में कोई मौलिक भेद नहीं है मात्र विस्तारादि का ही भेद है।[13] 'काव्य प्रकाश' में उद्धृत लोल्लट का मत इस प्रकार है-

'विभावैर्ललनोद्यानादिआलम्बनोद्दीपनकारणौ इत्यादिको भावोजनितः,

अनुभावैः कटाक्ष भुजा क्षेप प्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्य कृतः; व्यभिचारिभिर्निवेदादिभिःसहका- रिभिरुपचितो; मुख्यया वृत्या रामादीवनुकार्ये; तद्रूपतानुसंधानान्नर्त्तके ऽपि प्रतीयमानोरस इति भट्टलोल्लट प्रभृतयः।
(काव्य प्रकाश चतुर्थ उल्लास)

अर्थात् ललना (सुन्दर रमणी) आदि आलम्बन तथा उद्यानादि उद्दीपन विभावों के द्वारा उत्पन्न होकर कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कार्यों (अनुभावों) से प्रतीत योग्य बनकर तथा निर्वेदादि व्यभिचारी भावों के सहयोग से पुष्ट होकर प्रधान रूप से रामादि अनुकार्यों और उनके रूप के अनुसंधानकर्त्ता नट में भी प्रतीयमान रत्यादि 'स्थायी भाव' ही 'रस' है। यही भट्टलोल्लट आदि का मत है।

लोल्लट के मत का विवेचन

भट्टलोल्लट के उपर्युक्त मत का विवेचन इस प्रकार है –

1. **स्थायी भाव**–आलम्बन व उद्दीपन विभावों के द्वारा मूल नायकादि में उत्पन्न होता है। उनके अनुभावों के द्वारा प्रतीत होता है तथा तज्जनित व्यभिचारी भावों के सहयोग से पुष्ट होता है। यह मूल नायकादि के जीवनकाल में ही होता है। अतः मूल नायकादि को 'रस' का अनुकार्य (उत्पत्ति कारक) माना गया है।

2. **मूल नायक-नायिका**–में उत्पन्न स्थायीभाव 'नट-नटी में अभिनय के समय प्रतीयमान होता है। अतः 'नट-नटी' मूलनायक-नायिका के स्वरूप के अनुसंधानक होने के कारण अनुकर्त्ता (अनुकरण-कर्त्ता) माने जाते हैं। प्रेक्षक इन्हीं 'नट-नटी' को मूल 'नायक-नायिका' के 'रत्यादि' भावों को अभिनय करते देखकर 'नट-नटी' में ही मूल नायक-नायिका का आरोप करके उनके द्वारा प्रदर्शित भावों से चमत्कृत होकर आनन्दित होता है। यद्यपि लोल्लट के मत में इसका उल्लेख नहीं हैं। यह मात्र लोल्लट के मत के व्याख्याताओं की ही सूझ है।[14]

3. 'विभाव', 'स्थायी भाव' को उत्पन्न करने के कारण **उत्पादक**, अनुभाव प्रतीति कराने के कारण **गमक** तथा व्यभिचारी भाव पुष्टि कारक होने के कारण **पोषक** माने गये हैं तथा स्थायी भाव **'उत्पाद्य, गम्य** तथा **पोष्य'** माना गया है।

4. मूल नायकादि का 'रस' ही 'मूल रस' होता है, क्योंकि रत्यादि स्थायी भाव' विभावादि के द्वारा मूल-रूप में तो रामादि (नायकादि) में ही उत्पन्न हुए थे। नट-नटी उसका अभिनय द्वारा प्रदर्शन करते हैं। अतः नट-नटी का रस मूल न होकर प्रतीयमान (गौण) ही होता है।

5. भट्टलोल्लट के अनुसार **'संयोग'** का अर्थ **'सम्बन्ध'** है जो तीन प्रकार का माना गया है।

(अ) उत्पाद्य (स्थायीभाव) उत्पादक भाव (विभाव) सम्बन्ध
(ब) गम्य (स्थायीभाव) गमक भाव (अनुभाव) सम्बन्ध
(स) पोष्य (स्थायीभाव) पोषक भाव (व्यभिचारी भाव) सम्बन्ध

6. 'निष्पत्ति' के भी लोल्लट के अनुसार तीन भेद माने गये हैं–

7. **(अ) उत्पत्ति (ब) अभिव्यक्ति (स) पुष्टि।**

भट्टलोल्लट ने भी भरत की भाँति 'कृति' को महत्त्व न देकर केवल 'अभिनय' को ही रस का आधार माना है।

(8) भट्टलोल्लट ने मूल नायकादि तथा 'नट-नटी' का तो उल्लेख किया है परन्तु 'सामाजिक' (प्रेक्षकादि) का व उनके द्वारा किये जाने वाले रसास्वाद की स्थिति का उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि लोल्लट 'नाट्य-रस' को 'रस' न मानकर केवल मूलनायकादि गत 'रस' को ही रस मानते हैं। यह तथ्य 'ध्वन्यालोकलोचन' में उद्धृत उनके मत से और भी स्पष्ट हो जाता है– **तथाहि पूर्वावस्थायां य स्थायी स एवं व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोअनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यामानत्वान्नाट्य रस इति केचित्।**[15]

अर्थात् पूर्वावस्था में अनुकार्यगत स्थायी भाव ही व्यभिचारी भावों के सहयोगादि के द्वारा परिपुष्ट होकर 'रस' हो जाता है। 'नाटक' में तो उसका प्रयोग होने के कारण ही उसे 'नाट्य रस' कहा जाता है।

लोल्लट के मत का दार्शनिक आधार

लोल्लट के 'रस-सूत्र' की व्याख्या के दार्शनिक आधार के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद पाया जाता है। इसका कारण यह है कि लोल्लट का अपना तो कोई ग्रंथ ही उपलब्ध नहीं है। साथ ही उनके मत के उद्धृता अभिनव गुप्त तथा मम्मटादि ने इस सम्बंध में कुछ भी नहीं कहा है। सर्वप्रथम 'काव्य-प्रकाश' के भाष्यकार वामन झलकीकर ने सन् 1747 ई॰ में अपनी 'बाल बोधिनी टीका' में लोल्लट को 'मीमांसक' कहा है।[16]

इसके पश्चात् आचार्य विश्वेश्वर ने भी काव्य प्रकाश की टीका में इन्हें **'उत्तर मीमांसा'** का अनुयायी माना है। आचार्य विश्वेश्वर का मत इस सम्बन्ध में इस प्रकार है–

''इस व्याख्या को टीकाकारों ने मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार की गई व्याख्या बतलाया है। 'मीमांसा' से यहाँ 'उत्तर मीमांसा' अर्थात् 'वेदान्त' को ग्रहण करना चाहिये। वेदान्त में जगत् की आध्यात्मिक प्रतीति मानी गई। जैसे-रज्जु में सर्प की आध्यात्मिक या आरोपित प्रतीति के समय सर्प के विद्यमान न होने पर भी सर्प की प्रतीति और उससे भयादि की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार अभिनयादि के समय रामादिगत सीता-विषयिनी अनुरागादिरूपा रति के विद्यमान न होने पर भी, नट में विद्यमान रूप से उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धान्त को 'मीमांसा' अर्थात् 'उत्तर मीमांसा' या वेदान्त का अनुगामी सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस व्याख्या के करने वाले भट्टलोल्लट मीमांसक पण्डित थे।' (काव्य प्रकाशटीका पृ॰ 101-102)

आचार्य विश्वेश्वर का यह मत ही आचार्यों को मान्य है। इस मत के समर्थकों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, डॉ॰ श्यामसुन्दर दास, डॉ॰ गुलाबराय तथा पं॰ रामदहिन मिश्र आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डॉ॰ प्रेमस्वरूप गुप्त तथा डॉ॰ नगेन्द्र उन्हें किसी भी दार्शनिक मत के अनुयायी नहीं मानते और मजे की बात यह है कि डॉ॰ कान्ति चन्द्र पाण्डेय ने इन्हें 'शैव' मतावलम्बी माना है।[17]

लोल्लट के मत का चाहे कोई उल्लखित आधार न हो परन्तु उनके सिद्धान्त का अवलोकन करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे **उत्तरमीमांसा (वेदान्त)** के पण्डित थे क्योंकि उन्होंने अपना 'आरोपवाद' वेदान्त के 'अध्यारोपवाद' के आधार पर ही निर्मित किया है और इसी को आधार मान कर आचार्य विश्वेश्वर ने उन्हें उत्तर मीमांसक माना है। वेदान्त में 'अध्यारोप' का लक्षण इस प्रकार है–

'................ **वस्त्वन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।**' (वेदान्तसार पृ॰ 14)

अर्थात् 'किसी वस्तु में उसी के समान अन्यवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते है।' ***'असप्रभूतायां रज्जौ सर्पारोपवत्'*** (वही) जैसे 'सर्प न होने पर भी रस्सी में सर्प की प्रतीति।' लोल्लट ने भी मूल नायकादि के अभाव में उन्हीं के समान वेशभूषादि तथा भावादि का प्रदर्शन करने वाले नटादि में मूल नायकादि की प्रतिति का उल्लेख किया है। यदि यह कहा जाय कि नटादि द्वारा मूल नायकादि की वेशभूषादि धारण करने का आधार क्या है? तो लोल्लट ने ही इसका उत्तर ***'तद्रूपतानुसन्धनाद्'*** करके पहले ही दे दिया है। अतः यह कहना असंगत न होगा कि लोल्लट की 'रस-सूत्र' की इस नवीन व्याख्या का आधार वेदान्त (उत्तरमीमांसा) का 'अध्यारोपवाद' है।

उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

कुछ आचार्यों ने भट्टलोल्लट के मत को मूलनायकादि में 'स्थायी भाव' की 'उत्पत्ति' मानने के कारण 'उत्पत्तिवाद' के नाम से अभिहित किया है और कुछ उसे 'नट-नटी' जन्य प्रतीति या आरोप पर आधारित होने के कारण 'आरोपवाद' भी कहते हैं। वैसे लोल्लट द्वारा निष्पत्ति को तीन अर्थों में व्यक्त किया गया है। 1. उत्पत्ति, 2. अभिव्यक्ति, 3. पुष्टि। इस आधार पर यह झमेला खड़ा हो जाता है कि लोल्लट के मत को 'उत्पत्तिवाद', 'अभिव्यक्तिवाद' या 'पुष्टिवाद' में से क्या माना जाय या तीनों ही माना जाय? मत के विवेचन से स्पष्ट है कि लोल्लट की व्याख्या का मूलाधार वेदान्त का अध्यारोपवाद ही है। अतः भट्टलोल्लट के उक्त मत को 'अध्यारोपवाद' या 'आरोपवाद' ही माना जाना अधिक समीचीन है। यहाँ यह कहना भी असंगत न होगा कि यदि लोल्लट के मत को 'अध्यारोपवाद' नाम से पुकारा जाया तो नाम के साथ ही 'रस-सूत्र की व्याख्या भी स्वतः स्पष्ट हो जायेगी और सामाजिक सम्बन्धी अभाव का भी परिहार हो जायेगा।

लोल्लट के मत की आलोचना

भट्टलोल्लट के मत के विरूद्ध शंकुक ने आठ आक्षेप किये हैं।[18] केवल इनमें

प्रथम आक्षेप ही अधिक महत्त्वपूर्ण है जो शंकुक के मत का आधार है–

'विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्ग.ागणभावेनावगत्यनुपपत्तेः।

(हिन्दी अभिनव भारती)

अर्थात् मूल विभावादि के अभाव में अनुमापक हेतु के न होने पर स्थायीभाव की प्रतीति नहीं हो सकती। इसका आशय यह हुआ कि 'नट-नटी' में मूल नायक-नायिका के भावों का 'आरोप' न करके केवल 'अनुमान' ही किया जा सकता है।

शंकुक का अनुमितिवाद

शंकुक ने भी 'रस-सूत्र' की व्याख्या प्रस्तुत की। इन्होंने लोल्लट के 'आरोपवाद' व उत्पत्तिवाद का खण्डन करते हुए कहा कि 'रस' की 'उत्पत्ति' नहीं होती। 'अनुमिति' हो सकती है। इसीलिए शंकुक का मत 'अनुमितिवाद' के नाम से जाना जाता है। लोल्लट की भाँति शंकुक का मत भी मूलरूप में पृथक ग्रंथ के रूप में उपलब्ध नहीं है और इसका आधार भी 'अभिनव' भारती, 'ध्वन्यालोक लोचन' तथा 'काव्य-प्रकाश' में उद्ध ृत अंश ही हैं। इन मतों के आधार पर शंकुक के मत को नीचे प्रस्तुत किया जाता है–

कारण रूप विभावों, कार्यरूप अनुभावों तथा सहचारी रूप व्यभिचारी भावों से (प्रयत्नजन्य होने के कारण कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न प्रतीत होने वाले) लिंग (विभावादि अनुमापकों) की सामर्थ्य से अनुकर्त्ता (नट) में स्थित रहने से प्रतीयमान, मुख्य रूप से रामादि (अनुकार्य) में रहने वाला स्थायीभाव अनुकरण-रूप होता है और अनुकरण मूलक होने के कारण ही उसे अन्यनाम अर्थात् 'रस' से सम्बोधित किया जाता है।......... और यहाँ 'नट' ही सुखी है यह प्रतीति नहीं होती। यही राम है इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती। यह सुखी नहीं है इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती। यह राम नहीं है इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती। किन्तु 'चित्रतुरगादिन्याय' से 'सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य-रूप' समस्त प्रतीतियों से भिन्न प्रकार की जैसा सुखी राम है ऐसा ही यह है, इस प्रकार की प्रतीति होती है।[19]

अभिनव भारती में उद्धृत मत के समकक्ष ही मम्मट का मत भी है। काव्य प्रकाशकार ने '............... **रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि समाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो** रस। इति श्री शंकुकः। अर्थात् रति आदि भाव वहाँ (अर्थात् नट में) वास्तव में न रहते हुए भी सामाजिकों के संस्कारों से आस्वाद्य (स्थायी भाव) रस कहलाता है। यह शंकुक का मत है।

शंकुक के मत का विवेचन

शंकुक के उपर्युक्त मत से निम्नलिखित तथ्यों की उपलब्धि होती है–

1. भट्टलोल्लट की भाँति ही शंकुक भी विभावों को कारण रूप, अनुभावों को कार्य रूप तथा व्यभिचारी भावों को स्थायीभाव के सहचारी रूप में मानते हुए 'स्थायीभाव'

की वास्तविक स्थिति तो मूल नायकादि में ही मानते हैं। अतः यहाँ तक तो लोल्लट और शंकुक के मतों में कोई विरोध नहीं है।

2. शंकुक का मत है कि मूल नायकादि में रहने वाला 'स्थायी भाव' नटादि में भी अनुकरण रूप में प्रतीयमान रहता है।

3. नटादि में भी अनुकरण रूप से विद्यमान रहने वाला तथा विभावादि अनुमापकों की सामर्थ्य से प्रतीत (अनुमित) होने वाला स्थायी भाव ही रस कहलाता है।

4. नटादि में अनुकृति होने पर भी रामादि (मूल नायकादि) की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य रूप समस्त प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है। इस प्रतीति का आधार 'चित्रतुंरग न्याय' है। अर्थात् जिस प्रकार चित्र में बने घोड़े को देखकर यह समझ लिया जाता है कि यह घोड़ा है। उसी प्रकार मूल नायकादि का वेश धारण करने वाले या उनके अनुभावादि का प्रदर्शन करने वाले नटादि को भी प्रेक्षकों द्वारा मूल नायकादि समझ लिया जाता है।

5. शंकुक ने 'विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों' को **'अनुमापक'** तथा 'स्थायी भाव' को **'अनुमाप्य'** रूप में माना है।

6. शंकुक ने 'संयोग' का अर्थ सम्बन्ध मानते हुए उसे अनुमाप्य (स्थायीभाव), अनुमापक (विभावादि) सम्बन्ध के रूप में अभिहित किया है।

7. शंकुक ने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' न मानते हुए **'अनुमिति'** माना है।

8. शंकुक ने 'संयोग तथा निष्पत्ति' के लोल्लट की भाँति तीन अर्थ न मानकर केवल एक अर्थ ही माना है।

9. शंकुक ने सामाजिक के रसास्वाद का भी उल्लेख किया है जो लोल्लट की व्याख्या में प्राप्त नहीं होता।

10. शंकुक के अनुसार विभाव, 'काव्य' की सामर्थ्य के द्वारा उपस्थित होते हैं, अनुभाव नट की शिक्षा-अभ्यासादि द्वारा और व्यभिचारी भाव अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन द्वारा उपस्थित होते हैं। इसका आशय यह है कि शंकुक विभाव पक्ष में काव्य-बल, अनुभाव पक्ष में शिक्षा-बल और व्यभिचारी-पक्ष में कृत्रिम अनुभावादि के बल को महत्त्व देते हैं।

11. शंकुक ने अपने मत में **अभिनय-कौशल, अनुकरण तथा अनुमान** को आवश्यक माना है।

12. शंकुक ने भी मात्र नाटक को ही ध्यान में रखकर अपने मत की स्थापना की है और वह भी सामाजिक को मात्र प्रेक्षक के रूप में ही स्वीकारते हैं। उसे श्रोता या पाठकादि के रूप में स्वीकार नहीं करते। इस पक्ष में वे भरत तथा लोल्लट का ही अनुसरण करते हैं।

शंकुक के मत का दार्शनिक आधार

शंकुक के मत का आधार **'न्याय-दर्शन'** है। **'न्याय-दर्शन'** में **'प्रमेय'** तक पहुँचने

के चार 'प्रमाण' (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) माने गये हैं। शंकुक का 'अनुमितिवाद' 'अनुमान' प्रमाण पर आधारित है जिसमें 'लिङ्ग' अनुमापकों (विभावादि) के द्वारा 'लिङ्गि.' अनुमाप्य (स्थायी भाव) को 'नट-नटी' (मूल नायकादि के वेशधर व (अनुकर्त्ता) में अनुमान कर लिया जाता है। यह अनुमान 'चित्रतुरग न्याय' से दर्शित किया गया है। शंकुक को 'नैयायिक' तो सब मानते हैं परन्तु कुछ उन्हें वैदिक नैयायिक मानकर चले हैं जैसे डॉ॰ नगेन्द्र। कुछ विद्वान शंकुक को 'बौद्ध नैयायिक' मानकर चले हैं जैसे- डा॰ प्रेमास्वरूप गुप्त।[20] परन्तु बाल की खाल निकालने वाली प्रवृत्ति का त्याग करने पर शंकुक के सिद्धान्त से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि शंकुक के 'अनुमितिवाद' का आधार 'वैदिक-न्याय' ही है, बौद्ध न्याय नहीं।

शंकुक के मत की आलोचना

अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत तथा अभिनव गुप्त ने **अनुकरण की असम्भाव्यता** का निर्देश करते हुए कहा है कि 'स्थायी भाव' का अनुकरण प्रेक्षक नट और तत्त्व विवेचक (कवि आदि) में से कोई नहीं कर सकता। अतः अनुकरण पर आधारित शंकुक का अनुमितिवाद व्यावहारिक नहीं है। भट्टनायक का कथन है कि 'रस' की न तो 'उत्पत्ति' ही हो सकती है और न 'प्रतीति'। ***(भट्टनायकस्त्तवाह रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यंज्यते)*** संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शंकुक के मत में निरूपित **अनुकरण, प्रतीति तथा अभिनय कौशल** आदि सभी तत्त्व 'रस' निष्पत्ति' के सम्बन्ध में **अव्यावहारिक तथा असम्भाव्यता के पोषक हैं।**

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भरत-सूत्र के तीसरे प्रमुख व्याख्याता **भट्टनायक** माने जाते हैं। अभिनव गुप्त ने 'अभिनव भारती' तथा 'ध्वन्यालोक लोचन' में और मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में भट्टनायक के मत को उद्‌घृत किया है जिसका सारांश इस प्रकार है:-

'...................................... काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादि साधारणीकरणात्मना, अभिधातो, द्वितीयांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसो, अनुभवस्मृत्यादि विलक्षेणन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकास लक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिज संविद्विश्रान्ति लक्षणेन परब्रह्मास्वाद सविधेन भोगेन परं भुज्यते इति।' (अभिनव भारती पृ॰ 465)

अर्थात् काव्य में दोषाभाव तथा गुणालंकार मयत्व रूप लक्षण के कारण और नाटक में (आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य) चार प्रकार के अभिनय के द्वारा (सामाजिक) के अपने हृदय में रहने वाले 'निविडनिजमोह-संकटता-निवारक' विभावादि के साधारणीकरण हो जाने पर (अभिधा के पश्चात होने वाले) भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान (साधारणीकृत) रस, (अनुभव,

समृति आदि से विलक्षण) रजोगुण तथा तमोगुण के मिश्रण के कारण द्रुति, विस्तार तथा विकास-रूप सत्व गुण के प्राधान्य से प्रकाशित आनन्द (निजपर) के अभाव से परमब्रह्म के आनन्द के समान 'भोजकत्व व्यापार' के द्वारा भोग (अनुभव) किया जाता है।

भट्टनायक के मत का विवेचन

भट्टनायक के मत का विवेचन इस प्रकार है –

1. भट्टनायक रस की न तो 'उत्पत्ति' मानते हैं, न 'प्रतीति' और न अनुमिति, वे रस की '**भुक्ति**' (भोग) मानते हैं।

2. भट्टनायक ने **विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों को 'भोजक' तथा स्थायी भाव को 'भोज्य' माना है।**

3. **भट्टनायक ने 'संयोग' का अर्थ सम्बन्ध तथा निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' माना है।**

4. भट्टनायक विभावादि तथा स्थायी भाव में '**भोज्य-भोजक**' भाव सम्बन्ध मानते हैं।

5. भट्टनायक ने काव्य के गुणादि का महत्व प्रतिपादित करते हुए 'रस' का भोग कराने वाली तीन क्रियाएँ मानी हैं–

(अ) अभिधा– जिसके द्वारा सर्वप्रथम सामाजिक को काव्यार्थ का ज्ञान होता है।

(ब) भावकत्व– जिसके द्वारा हृदय में रजोगुण व तमोगुण के प्रभाव के कम हो जाने तथा सत्वगुण के प्रभाव के प्रधान हो जाने के कारण चित्त की वृत्ति शान्त और निश्चल हो जाती है और सामाजिक (निज पर तटस्थ) की स्थिति से मुक्त होकर आनन्दानुभव की स्थिति में पहुँच जाता है।

(स) भोजकत्व– साधारणीकरण के पश्चात सामाजिक 'रस' का भोग (अनुभव) करने लग जाता है।

6. भट्टनायक ने प्रथम बार अपने मत में **नाटक के साथ ही साथ काव्य को भी रसास्वादन का आधार बनाया है** जिससे रस का क्षेत्र तो विस्तृत हुआ ही है साथ ही श्रोता तथा पाठकादि को भी रसानुभूति होने सम्बन्धी समस्या का समाधान निकल आया है।

7. भट्टनायक ने अपने मत में '**साधारणीकरण सिद्धान्त**' की स्थापना करके अत्यन्त स्तुत्य कार्य किया है। यही 'साधारणीकरण सिद्धान्त' भारतीय आलोचना-शास्त्र का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना गया। इस सिद्धान्त की स्थापना से 'रसास्वाद' की समस्या का प्रामाणिक आधार मिल गया और काव्य क्षेत्र में रस की उपादेयता तथा महत्ता सर्वोपरि रूप में स्थापित हो गई। इस सम्बन्ध में डॉ॰ नगेन्द्र का कथन है कि– 'भट्टनायक की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है साधारणीकरण सिद्धान्त। काव्यास्वादन का मौलिक प्रश्न यह है कि काव्य में अभिव्यक्त व्यक्ति के भाव, कवि के या कवि-निबद्ध पात्र

के, सहृदय के आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं, एक सहृदय के ही नहीं समस्त सहृदय समाज के? इसका समाधान सर्वप्रथम भट्टनायक ने 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' की उद्‌भावना द्वारा किया। यह प्रश्न वास्तव में साहित्यालोचन का मूल आधार है और भट्टनायक ने इसका समाधान प्रस्तुत कर आलोचना शास्त्र के इतिहास में अभूतपूर्व सिद्धि प्राप्त की। मेरी धारणा है कि विश्व के आलोचनाशास्त्र में भट्टनायक से पूर्व इस मूल प्रश्न का ऐसा प्रामाणिक समाधान किसी आचार्य ने प्रस्तुत नहीं किया।[21]

8. भट्टनायक ने अपने मत में यह तो संकेत कियाहै कि रस की 'उत्पत्ति', 'प्रतीति' या अनुमिति नहीं होती **परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि 'स्थायीभाव' की स्थिति किस में मानी जाए।** सामाजिक में, नट-नटी में या मूल नायकादि में।

भट्टनायक के मत का दार्शनिक आधार

भट्टनायक **सांख्यवादी** आचार्य थे। अतः उनका सिद्धान्त भी सांख्य-दर्शन पर आधृत है। इसका आधार यह है कि भट्टनायक ने रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुण के प्रयोग द्वारा 'रस' की आनन्दमयी अनुभूति की कल्पना सांख्य में वर्णित 'सत्, रज् तथा तम् के स्वरूप-परिणाम के आधार पर ही की है।

भट्टनायक के मत की आलोचना

भट्टनायक के मत में भी कुछ त्रुटियाँ विद्यमान थीं।

यह प्रश्न अब भी बना हुआ था कि 'स्थायीभाव' की वास्तविक स्थिति क्या है? और सामाजिक को आनन्द की उपलब्धि कैसे तथा किस रूप में होती है? इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर अभिनव गुप्त ने भट्टनायक के मत में विद्यमान त्रुटियों का निर्देश किया और अपने मत की स्थापना की। अभिनव ने भट्टनायक पर निम्नलिखित आक्षेप किये हैं:-

1. **अभिनव की दृष्टि से भावित (साधारणीकृत) स्थायीभाव ही रस है। अतः 'रस' और 'रस-भोग' का अन्तर करना व्यर्थ है।**

2. भट्टनायक द्वारा किया गया 'प्रतीति' तथा 'भुक्ति' का भेद मिथ्या है। ये दोनों तात्त्विक रूप से एक ही हैं।

3. अभिनव का मत है कि भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत 'भोग' की व्याख्या प्रामाणिक नहीं है क्योंकि रसों की संख्या के अनुसार ही रस-प्रतीतियों की संख्या भी हो सकती है। अतः रसास्वादन में 'द्रुति, विस्तार और विकास' की तीन ही दशायें क्यों मानी जायें।

4. **अभिनव का आक्षेप है कि 'रस' की 'अभिव्यक्ति' तथा 'उत्पत्ति' दोनों का ही निषेध करना उचित नहीं है। इन दोनों में से एक को तो मानना ही पड़ेगा नहीं तो रस की सत्ता का ही अभाव हो जायेगा।**

5. अभिनव का कथन है कि **'भावकत्व' और 'भोजकत्व'** की कल्पना का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है।'[22]

अभिनव गुप्त का अभिव्यक्ति वाद

अपने से पूर्ववर्त्ती सभी आचार्यों के मतों का सार लेकर अभिनव गुप्त ने अत्यधिक मान्य, प्रामाणिक, पुष्ट तथा उपयोगी रूप में 'रस-सूत्र' की निम्न प्रकार व्याख्या प्रस्तुत की।

यस्यां वस्तुस्तां काव्यार्पितानां च देशकालप्रभावादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्ध-बलादत्यन्तमपसारणो स एव साधारणीभाव; सुतरां पुष्यति। अतएव सर्वसामाजिकानामे-कघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविध्ना संवित् चमत्कारः। ....सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्न प्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृत्यः। (हिन्दी अभिनव भारती पृ० 470-73)

अर्थात् वास्तविक रुप में विद्यमान और काव्य में वर्णित देश, काल, प्रमाता आदि को नियामक हेतुओं के बन्धन से पूर्णरूपेण मुक्त कर देने पर वह 'साधारणीकरण' व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। अतः सभी प्रमाताओं को समान परिमाण में ही प्रतीति होती है जो 'रस-परिपोष' के लिए अति उत्तम है। अनन्त वासनाएं (सामाजिकों के) चित्त में (समान रूप से) विद्यमान रहती हैं और यही सामाजिक के हृदय में वासना या संस्कार रूप में विद्यमान रहने वाला भाव (स्थायीभाव) जब विघ्न (निज पर तटस्थ के भाव से) मुक्त हो जाता है तो चमत्कार रूप में परिणित हो जाता है। यही पूर्णरूपेण विघ्न रहित (रज्-तम् के प्रभाव से मुक्त तथा सत् के प्रभाव से युक्त) प्रतीति जन्य (अभिव्यक्ति) भाव (स्थायी भाव) ही रस रूप में परिणित हो जाता है। वहाँ विघ्नों को हटाने वाले विभावादि होते हैं।

अभिनवगुप्त के मत का विवेचन

अभिनव गुप्त ने **स्थायीभाव को व्यंग्य** और **विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी या संचारी भावों को व्यंजक** मानते हुए इनके संयोग अर्थात् सम्बन्ध का **व्यंग्य-व्यंजक** भाव सम्बन्ध मानते हुए एक लम्बी अवधि से चले आने वाले 'रस-निष्पति' सम्बन्धी विवाद को बड़ी बुद्धिमता से हल किया है। अभिनव की 'रस-सूत्र' संबंधिनी व्याख्या का सार इस प्रकार है –

1. अभिनव गुप्त का मत है कि अनन्त 'भाव' (स्थायी भाव) वासना या संस्कार रूप में सामाजिकों के हृदयों में ही समान रूप से विद्यमान रहते हैं।

2. काव्यादि में वर्णित या नाटकादि में प्रदर्शित इन भावों (स्थायीभावों) की, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी (संचारी) भावों के (वर्णनादि के पठन, श्रवण तथा प्रेक्षण आदि के) द्वारा **सामाजिकों के हृदयों में समान परिणाम में प्रतीति होती है।**

3. सामाजिकों को भावों की समान परिमाण में प्रतीति कराने का कारण विभावादि का काव्यात्मक (गुणालंकार मूलक) वर्णनादि ही होता है।

(काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्ति)[23]

4. सभी सामाजिकों को समानरूप से भाव की प्रतीति (अनुभूति) कराने का कारण भावों का **'साधारणीकृत व्यापार'** होता है (जिसका निरूपण भट्टनायक के मत में हो चुका है)

5. अभिनव गुप्त ने **'संयोग' का अर्थ 'सम्बन्ध'** और **'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' माना है।** अत: इनका सिद्धान्त **'अभिव्यक्तिवाद'** के नाम से जाना जाता है।

6. अभिनव गुप्त: विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी (संचारी) भावों को 'व्यंजक' और 'स्थायी भाव' को **'व्यंग्य'** मानते हुए इनका **'व्यंग्य-व्यंजक'** भाव या **'प्रकाश्य प्रकाशक भाव** सम्बन्ध मानते हैं।

7. अभिनव गुप्त भट्टनायक के **साधारणीकरण सिद्धान्त को मानते हुए** भी भावना के स्थान पर व्यंजना को मानते हैं। क्योंकि उनके मत में भावना का काम व्यंजना (व्यंग्य को प्रकाशित करने वाली शक्ति) से चल जाता है और इस का शास्त्रीय आधार भी है जबकि भावकत्त्व का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है।

8. **अभिनव गुप्त, भट्टनायक के 'भोजकत्व' व्यापार को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'भोजकत्व' तो स्वयं 'रस' ही है और उसका भोग न होकर 'चर्वणा' (आनन्द की अनुभूति) ही होती है।**

9. अभिनव गुप्त ने सामाजिक की स्थिति को भी अपने मत में पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दिया कि 'रसनिष्पन्नावस्था' में सामाजिक किस स्थिति का अनुभव करता है।

10. अभिनव गुप्त भी भट्टनायक की भाँति यह मानते हैं कि **'रस' का सम्बन्ध 'सत्त्वगुणमूलकता', से होने के कारण वह 'आत्मानन्द मूलक' या 'ब्रह्मानन्द वत्' होता है।**

अभिनव के मत का दार्शनिक आधार

डॉ॰ नगेन्द्र ने अभिनव गुप्त के इस मत को शैवाद्वैत पर आधारित बताया है 'अभिनव का आधारभूत दर्शन शैवाद्वैत था- इस विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है। वे प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रतिष्ठापकों में अग्रणी थे।' (रस सिद्धान्त पृ॰ 174) परन्तु अभिनवगुप्त का मत 'शैवाद्वैत' पर आधारित न होकर 'वेदान्त' पर आधारित था क्योंकि 'वेदान्त' में आत्म-रूप की जो आन्दमयी कल्पना की गई है वही 'रस-रूप' की भी परिकल्पना है जिसे आगे चलकर विश्वनाथ ने पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है।

अभिनव के मत की सार्थकता

आचार्यों ने अभिनव गुप्त के ही इस मत को पूर्ण एवं उपादेय माना है। इसका कारण यह है कि अभिनव गुप्त ने अपनी सूक्ष्म तत्त्व-विवेचिनी विवेक बुद्धि से 'रस-सिद्धान्त' की इस समस्या का पूर्ण समाधान उपस्थित कर दिया है कि काव्यादि के पठन, श्रवणादि तथा नाटकादि के प्रेक्षणादि द्वारा 'सामाजिक' को रस की प्रतीति और आनन्द की प्राप्ति किस प्रकार होती है।

डॉ॰ नगेन्द्र इस सम्बन्ध में कहते हैं:–'भारतीय काव्य-शास्त्र में अन्ततः अभिनव का मत ही मान्य हुआ- शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्दवाद के पुष्ट आधार पर उन्होंने जिस आत्मवाद-रूप रस की प्रकल्पना की थी उसने रस-सिद्धान्त को पूर्णतया आवेष्टित कर लिया। परिणाम यह हुआ कि भरत का मूल सिद्धान्त भी उससे आच्छन्न हो गया और परवर्ती आचार्य भरत को भूलकर या भरत के नाम से अभिनव के ही मत को उद्धृत करते रहे। इसमें संदेह नहीं कि अभिनव का विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ एवं पुष्ट है।' (रस सिद्धान्त पृ॰ 174)

अभिनव के मत की मान्यता

अभिनव गुप्त ने भरत द्वारा प्रणीत रस-सूत्र की सर्वमान्य व्यााख्या प्रस्तुत करके 'रस-सिद्धान्त' को दार्शनिक तथा व्यावहारिक रूप में प्रामाणिक सिद्ध कर दिखाया। अतः अभिनव परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं के सिद्धान्त को कुछ न्यूनाधिक्य के साथ स्वीकार लिया है। **धनंजय और धनिक ने** 'रस' की स्थिति सहृदय में ही मानते हुए यह स्वीकार किया है कि **सहृदयगत 'स्थायी भाव' ही रसत्व को प्राप्त होता है।**

'क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः॥
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छोतृणामर्जुनादिभिः॥' (दशरूपक 4/41.41)

अर्थात् मिट्टी के हाथी आदि से खेलने वाले बालकों की तरह, सामाजिक अर्जुनादि का वर्णन पढ़कर या अभिनय देखकर अपने ही उत्साहादि स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं।'

महिमभट्ट ने यह तो स्वीकार किया है कि 'रस' की स्थिति सहृदय में होती है और सहृदय ही 'स्थायी भाव' का 'रस-रूप' में आस्वादन करता है परन्तु ये 'स्थायीभाव वास्तविक और चित्त में वासना रूप से विद्यमान नहीं होते वरन् रंगमंच पर नट द्वारा प्रदर्शित स्थायीभावों के प्रतिबिम्बकल्प होते हैं। **महिम भट्ट 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' और संयोग का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापक' सम्बन्ध मानते हुए** एक ओर तो अभिनव गुप्त के समर्थक ज्ञात होते हैं तो दूसरी ओर वे शंकुक की ओर भी मुड़-मुड़ कर देखते दिखाई देते हैं। अन्त में **मम्मट** ने इन तर्कों का बड़े कौशल से उत्तर देते हुए अभिनव गुप्त के सिद्धान्त की ही प्रतिष्ठापना की है। आगे चलकर पं॰ विश्वनाथ ने भी अभिनव गुप्त के मत के प्रति ही अपनी सहमति व्यक्त की है। विश्वनाथ ने रस की परिभाषा देते हुए लिखा है:–

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥ (सा॰द॰)

अर्थात 'सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित रहने वाले रत्यादि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से व्यक्त होकर 'रस' रूप में परिणित हो जाते हैं।' पं॰ विश्वनाथ ने यहाँ 'व्यक्त' शब्द का अर्थ 'दूध से दही की भाँति दूसरे रूप में परिणित होना माना है। इसका आशय यही है कि साधारणीकरण कृत होने के पश्चात् स्थायीभाव

रजस् तथा तमस् की वृत्ति त्यागकर सत्त्वगुण-मूलक रूप धारण कर लेता है।

अन्त में **पं॰ राज जगन्नाथ** ने भी अभिनव गुप्त का ही अनुसरण किया है। पं॰ राज ने अपनी मान्यता में केवल इतना ही हेरफेर किया है कि अभिनव का मत अद्वैतवाद पर आधारित आनन्द परिणामी तो है परन्तु उस पर 'शांकर वेदान्त' का रंग चढ़ा हुआ है।

रस सिद्धान्त की प्रासंगिकता

उपर्युक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है। कि 'रस-सिद्धान्त की प्रासंगिकता के विवेचन में सहस्त्रों वर्षों का समय लगा है। तब कहीं जाकर 'वह' हमें अपने वर्तमान-स्वरूप में उपलब्ध होता है। विद्वानों की सामान्य धारणा तो यही है कि 'रस-सिद्धान्त और उसकी प्रासंगिकता के विवेचन का कार्य पूर्ण हो चुका है। परन्तु **'हरिअनंत हरि कथा अनंता'** की भाँति यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि **'रस अनंत रस कथा अनंता'**। अत: 'रस-सिद्धान्त' के विवेचन में विद्वानों द्वारा कोई नई कड़ी भी जोड़ी जा सकती है। यहाँ एक तथ्य को स्पष्ट कर देना और आवश्यक है कि 'रस-सिद्धान्त के मूल प्रामाणिक प्रणेता तो आचार्य भरत ही हैं। उनके अन्य समस्त परवर्ती आचार्य तो मात्र 'रस-सिद्धान्त' के विवेचक ही हैं जिन्होंने अपने गहन दार्शनिक विवेचन द्वारा रस सिद्धान्त को पूर्ण प्रासंगिक सिद्ध कर दिखाया है।

लोल्लट से लेकर अभिनव आदि ने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तानुसार 'रस-सिद्धान्त की प्रासंगिकता का विवेचन किया है। इन व्याख्याताओं में सर्वाधिक योगदान तो भट्टनायक का ही है क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम 'साधारणीकरण सिद्धान्त' की उद्भावना करके 'रस-निष्पत्ति' की प्रासंगिकता की समस्या को मूल रूप में सुलझाया है। **अत: भट्टनायक को भरत सूत्र का प्रमुख व्याख्याता तथा 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' का जनक माना जाता है।** अत: मूलरूप में तो 'रस-सिद्धान्त' की प्रामाणिक एवं उपयोगी व्याख्या भट्टनायक द्वारा ही प्रस्तुत की गई है परन्तु उस व्याख्या में संशोधन करके 'स्थायीभाव' की स्थिति का स्पष्टीकरण मात्र कर देने के कारण 'रस सूत्र' के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता होने का श्रेय अभिनव गुप्त को प्राप्त हुआ है। इस समस्त कार्य-प्रणाली से तो यही ज्ञात होता है कि 'गंगा का आना हुआ-भगीरथ के सिर पड़ी।' इसका आशय यह है कि भगीरथ से पूर्व अन्य सूर्यवंशी राजा तप द्वारा गंगा को लाने की प्रक्रिया को पूर्ण कर चुके थे। परन्तु उसका श्रेय भगीरथ को ही मिला था। इसी प्रकार भट्ट लोलल्ट से लेकर भट्टनायक तक 'रस-सिद्धान्त की प्रांसगिकता का विवेचन पूर्ण हो चुका था और भट्टनायक द्वारा 'साधारणीकरण सिद्धान्त' की उद्भावना से यह समस्या भी पूर्णरुपेण हल हो गई थी कि काव्यादि के पठनादि से तथा नाटकादि के प्रेक्षणादि से 'स्थायीभाव' का साधारणीकरण होने से 'सामाजिक' 'रस' (दिव्यकाव्यानन्द) का उपभोग करता है। अभिनव ने केवल इस व्याख्या में इतना ही स्पष्ट किया है कि 'स्थायीभाव' भी वासना या संस्कार' रूप में सामाजिकों' के ही हृदयों में विद्यमान रहता

है और विभावादि के वर्णनादि के पठनादि से उदभूत होकर और साधारणीकृत होकर रस-रूप में परिणित हो जाता है। इस प्रकार 'स्थायीभाव' का भोग न होकर उसकी केवल 'अभिव्यक्ति' ही सामाजिक की 'अनुभूति' (अलौकिक आनन्दानुभव) का कारण होती है। इस प्रकार समस्त आचार्य वर्ग के मतानुसार अभिनव गुप्त ही रस सूत्र के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार माने जाते हैं। परन्तु वास्तविक रूप में 'भरत-सूत्र' की परम उपयोगी व्याख्या करने का श्रेय भट्टनायक को ही है जिन्होंने रससिद्धान्त की प्रांसगिकता को साधारणीकरण के माध्यम से स्पष्ट कर दिया था। अभिनव गुप्त ने सामाजिक के आनन्द तत्व को पूर्णतया स्पष्ट करके और स्थायी भाव की स्थिति सहृय में ही संस्कार रूप में विद्यमान होने की विवक्षा करके रससिद्धान्त की प्रासंगिकता पूर्णतया स्पष्ट कर दी है।

साधारणीकरण सिद्धान्त और उसकी प्रासंगिकता

रस के स्वरूप निर्धारण में, उसकी सत्वगुण मूलक सत्ता के प्रमाणीकरण के रूप में तथा रस को रसाभास और भावाभास आदि से पृथक करने में साधारणीकरण सिद्धान्त पूर्णरूपेण प्रासंगिक है। जिस प्रकार बिना कसौटी के स्वर्ण की शुद्धता का निर्धारण नहीं होता, उसी प्रकार बिना साधारणीकरण के रस की शुद्धता को नहीं पहचाना जा सकता। उदाहरणार्थ– सम्पूर्ण रीतिकालीनश्रृंगारी साहित्य कोश्रृंगार रस मूलक माना जाता है, परन्तु जब इस युग केश्रृंगारवर्णन को साधारणीकरण की खराद पर चढ़ाकर उसकी शुद्धता की जाँच की जाती है तो परिणाम शून्य में आता है और समस्तश्रृंगारी वर्णन, जिनमें राधा और कृष्ण के अश्लील तथा मर्यादाहीन चित्र प्रस्तुत किये गये हैं, रस-कोटि से बाहर निकल कर रसाभास की कोटि में चले जाते हैं। इस प्रकार हर वर्णन को रसात्मक मान लेने वालों के लिए साधारणीकरण सिद्धान्त आपत्तिजनक हो सकता है। जैसे– आधुनिक युग में उपलब्ध नयी कविता, नयी कहानी, नये उपन्यास, नये नाटक आदि, जिनमें रसात्मकता का नितांत अभाव है और कोरी वैचारिकता से संपृक्त वाग्जाल मात्र है। इस श्रेणी के रचनाकार और समीक्षक यदि साधारणीकरण सिद्धान्त की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिन्ह लगायें तो इससे इस सिद्धान्त की गरिमा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि–

''सीतलतारु सुगंध की महिमा घटी न मूर।
पीनस वारे जो तज्यौ सोरा जानि कपूर।।

की यह उक्ति इसी बात की पुष्टि करती है कि कतिपय अज्ञ लोगों के द्वारा किसी वस्तु की गुणवत्ता को न समझ पाने के कारण यदि उसे अनुपयुक्त या अप्रासंगिक कह दिया जाय तो उनके कहने मात्र से ही कोई शाश्वत सत्य हेय नहीं हो जाता। इसी प्रकार साधारणीकरण सिद्धान्त की प्रासंगिकता; रस प्रक्रिया में उसके स्वरूप का सही निर्धारण करने वाली कसौटी के रूप में सदैव अक्षुण्ण रहेगी।

साधारणीकरण सिद्धान्त के विवेचन से उसकी प्रासंगिकता स्वत ही स्पष्ट हो जायेगी।

भारतीय काव्य-शास्त्र में साधारणीकरण सिद्धान्त का विशेष महत्व माना जाता है क्योंकि रस प्रक्रिया से इसका सीधा सम्बन्ध है। 'साधारणीकरण' के द्वारा 'रस सिद्धान्त' की इस समस्या का समाधान सहज ही हो जाता है कि काव्यादि में वर्णित तथा नाटकादि में वर्णित और दर्शित पात्रों के भावों का अस्वादन दर्शक, श्रोता व पाठक किस प्रकार समान परिमाण में कर पाते हैं। व्यवहार में यह देखा गया हैं कि नाटक तथा सिनेमा आदि को देखने के लिए एक साथ सहस्त्रों व्यक्ति जाते हैं और वे नाटकादि को देखते हुए कभी आँखों में आँसू भर लाते हैं; कभी एक साथ तालियाँ बजाते हैं; कभी सभी के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और कभी सभी मिलकर किसी गीत को गाने लग जाते हैं। यही नहीं कभी यह भी देखा जाता है कि सभी दर्शक एक साथ हो-हो-हा-हा भी करने लगते हैं। इसके अतिरिक्त वाह-वाह, शबाश आदि के शब्द भी समवेत रूप में सुनाई देते हैं। इसका आशय यह है कि अनेक पाठकों, दर्शकों या श्रोताओ को एक ही साथ किसी एक ही भाव से भावित होते हुए निरन्तर देखा जाता है। इस समस्त स्थिति को 'काव्य-शास्त्र' में 'साधारणीकरण' की संज्ञा दी गई है।

'साधारणीकरण' पर विचार करते हुए अनेक प्रश्न मन में उठ खड़े होते हैं। यथा- **साधारणीकरण क्या है? साधारणीकरण किसका होता है? साधारणीकरण क्यों होता है? साधारणीकरण कैसे होता है? साधारणीकरण की उपादेयता क्या है?** आदि। इन सभी प्रश्नों का समाधान करते हुए साधारणीकरण सिद्धान्त का विवेचन निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है।

1. साधारणीकरण क्या है?

साधारणीकरण का सर्वप्रथम प्रतिपादन अपने रस-सिद्धान्त सम्बन्धी विवेचन में भट्टनायक ने किया था। भट्टनायक का मत है–**'भावकत्वं साधारणीकरणम्'**[24]

अर्थात् 'भावकत्व' साधारणीकरण है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह 'भावकत्व' क्या है? भट्टनायक ने **'निविडनिजमोहसंकटतानिवारण- कारिणा'** अर्थात् सामाजिक के हृदय में व्याप्त गम्भीर मोह तथा निज-संकटता (निजी मोह तथा संकट) के निवारण के कारण को भावकत्व व्यापार कहा है। परन्तु सामाजिक के हृदय में व्याप्त 'निजमोह संकटता' क्या है? इसका समाधान यह है कि लोक व्यवहार में सामाजिक (श्रोता, पाठक या दर्शक) का हृदय सांसारिक मोहादि-भावों से आच्छादित रहता है। सामाजिक के हृदय में ये मोहादि भाव रजोगुण तथा तमोगुण की उपस्थिति के कारण सक्रिय रहते हैं क्योंकि सामान्य रूप से सांसारिक मोह में फँसे हुए व्यक्ति के हृदय में 'सत्वगुण' का तिरोभाव ही रहता है। 'रजोगुणादि' की अधिकता होने के कारण सामाजिक का हृदय अपने संकट की आशंका से सदैव आविर्भूत रहता है। परन्तु जब वह नाटक को देखता है या काव्यादि का श्रवण-पठन करता है तब काव्यादि की उत्कृष्टता के प्रभाव से उसके हृदय में 'रजोगुण तथा तमोगुण' का प्रभाव गौण हो जाता है और 'सत्त्वगुण' का प्रभाव प्रधान रूप में व्याप्त हो जाता है जिससे सामाजिक की चित्त-वृत्ति शान्त

एवं निश्चल हो जाती है और उसका हृदय **वेद्यान्तर स्पर्श शून्य**' (सांसारिक ज्ञान से शून्य) हो जाता है। यही 'निज-मोह संकटता निवारण' की स्थिति होती है। भट्टनायक के मत में यही साधारणीकरण है।[25]

साधारणीकरण के स्वरूप विवेचन में अभिनव गुप्त ने भी भट्टनायक के ही मत का समर्थन किया है। भयानक रस का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं – ' .... **भीतोऽयं भीतोऽहं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादि प्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृत-बुद्धयन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्य विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्य................ भयानकों रसः।**'

अर्थात् मैं भीत हूँ अथवा यह भीत है, अथवा यह शत्रु-मित्र या मध्यस्थ है इत्यादि सुख-दुःख आदि के कारण रूप विघ्नों के समाप्त हो जोने से ग्राह्य होने वाला भय रूप स्थायीभाव ही .... भयानक रस है।

अभिनव के इस कथन का आशय भी यही है कि सामाजिक को रस की अनुभूति तब होती है जब उसका हृदय शत्रु-मित्र या मध्यस्थ की प्रतीति जन्य लौकिक दुःख-सुखादि की भावना से रहित होकर शांत एवं निश्चल हो जाता है। यही स्थिति साधारणीकरण कहलाती है। इसी को मम्मट ने काव्य प्रकाश में इन शब्दों में व्यक्त किया है –

'मयैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैतेइति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात्साधारण्येनप्रतीतैरभिव्यक्तः।'

अर्थात् **मेरे तेरे, अपने पराये के भाव से सामाजिक का मुक्त हो जाना ही साधारणीकरण है।**

संस्कृत आचार्यों की उपर्युक्त धारणाओं का ही आश्रय लेकर हिन्दी के कतिपय आचार्यों ने साधारणीकरण का लक्षण करने का प्रयास किया है।

आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का मत–'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।' (चिन्तामणि भाग 1, पृ॰ 308)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस विवेचन में उस स्थिति को साधारणीकरण कहा गया है जिसमें नाटकादि देखने वाले या काव्यादि का श्रवणादि करने वाले सभी दर्शक, श्रोता तथा पाठकों के मन में काव्य नाटकादि में वर्णित भावों की एकतानता होने पर एक ही भाव समान रूप तथा परिमाण में एक साथ सभी के मन में व्याप्त हो जाता है।

डॉ॰ श्यामसुन्दर दास ने इस सम्बन्ध में कहा है :– 'साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।'

(साहित्यालोचन पृ॰ 289)

डॉ॰ 'दास' के इस कथन का आशय यह है कि साधारणीकरण में कवि तथा सामाजिक के चित्त की वृत्ति समान रूप से शांत एवं निश्चल हो जाने पर उन्हें सब कुछ साधारण (एक ही जैसा) लगने लगता है। 'दास' साहब के इस कथन में सामाजिक तथा कवि द्वारा एक ही भाव को सामान्य रूप में ग्रहण करने का संकेत दिया गया है।

हिन्दी के उपर्युक्त दोनों ही आचार्यों के मतों की तुलना यदि संस्कृत-आचार्यों के साधारणीकरण के स्वरूप-सम्बन्धी मतों से करें तो दोनों ही प्रवृत्तियों के आचार्यों के मतों में स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होता है। संस्कृत-आचार्यों ने तो केवल 'सामाजिक' के चित्त के 'निज मोह-संकटता निवारक कारण' को ही साधारणीकरण कहा है। जबकि हिन्दी आचार्यों ने आश्रय, सामाजिक और कवि के भावों की आलम्बन के प्रति एक रूपता को साधारणीकरण माना है। परन्तु सामाजिक व कवि के भावों की आश्रय के भावों से एकतानता तो 'रस' ही है और साधारणीकरण 'रस' का कारण। अत: हिन्दी-आचार्य साधारणीकरण के सम्बन्ध में मूल-मार्ग से हटकर कुछ आगे बढ़ कर बोल गये हैं। हिन्दी-आचार्यों की व्याख्याओं से साधारणीकरण का रूप स्पष्ट नहीं होता बल्कि उल्टे भ्रान्ति ही उत्पन्न होती है। साधारणीकरण का स्वरूप विवेचन सही रूप में संस्कृत आचार्यों की स्थापनाओं में ही मिलता है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारणीकरण के सम्बन्ध में संस्कृत आचार्यों के मत अधिक सारगर्भित, स्पष्ट तथा मौलिक हैं। संस्कृत आचार्यों ने लक्षण निर्धारण करके अभिनव गुप्त तथा मम्मट आदि ने 'भावकत्व' का रूप स्पष्ट करके साधारणीकरण के स्वरूप को अधिक स्पष्टता एवं पूर्णता प्रदान की है। जबकि हिन्दी-आचार्य उसके आलम्बनत्व धर्म के साथ सम्बन्ध को लेकर 'रस' को साधारणीकरण मान बैठे हैं और वे 'साधारणीकरण' तथा 'रस' में कोई भेद ही नहीं मानते जबकि इन दोनों में कारण-कार्य सम्बन्ध बिल्कुल स्पष्ट है।

निष्कर्षत: साधारणीकरण का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है।

काव्य (गद्य-पद्य मय कविता, उपन्यास तथा नाटकादि) में वर्णित विभावादि (आश्रय, आलम्बन उद्दीपन तथा अनुभावादि) के उदात्ततम कार्यादि के अवलोकन (पठन, श्रवण तथा प्रेक्षण) से सामाजिक (पाठक, श्रोता तथा प्रेक्षक) के हृदय से जब 'रजस्-तमस्' मूलक कुत्सित भावों का तिरोभाव हो जाता है और उनके स्थान पर शुद्ध सात्त्विक भावों से उसका हृदय भर जाता है, तब प्रमाता की चित्तवृत्ति समस्त बाह्य प्रभावों से मुक्त होकर शांत एवं निश्चल हो जाती है। सहृदय की चित्त-वृत्ति की इसी स्थिति को 'भारतीय काव्यशास्त्र' में 'साधारणीकरण' कहा गया है।

साधारणीकरण किसका होता है? (मूल प्रश्न)

आचार्यों की भ्रान्ति

साधारणीकरण के विषय-सम्बन्धी तथ्य पर विद्वानों में जितनी अधिक भ्रान्ति देखने को मिलती है उतनी और किसी विषय पर नहीं मिलती। सर्वप्रथम काव्य प्रकाश के टीकाकार **गोविन्द ठक्कुर** ने इस संबंध में विसंगति का सूत्रपात किया है। उन्होंने साधारणीकरण के विषय के सम्बन्ध में यह घोषणा की है कि –

'भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेनहिव्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते।' (काव्य प्रकाश निर्णय सागर प्रेस पृ. 66)

अर्थात् भावकत्व ही साधारणीकरण है और इसी के द्वारा विभावादि (आंश्रय, आलम्बन तथा उद्दीपन, अनुभाव और संचारी भावों) तथा स्थायी भावों का साधारणीकरण किया जाता है।

गोविन्द ठक्कुर की इस घोषणा से दो तथ्य प्रकाश में आये।

1. विभावादि (आश्रय-आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव तथा संचारी भावों) का साधारणीकरण होता है।

2. स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है।

गोविन्द ठक्कुर के इस मत का हिन्दी में खूब प्रचार हुआ और आचार्यो का एक विशाल समुदाय बिना कुछ विचार किये ही यह मान बैठा कि साधारणीकरण विभावादि तथा स्थायी भाव (रस के सभी अंगों) का होता है। इस भ्रांति का निराकरण करने से पूर्व यहाँ हिन्दी आचार्यों के मतों को उद्धृत करना आवश्यक है।

सर्वप्रथम **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** के साधारणीकरण के विषय- सम्बन्धी मत को प्रस्तुत किया जाता है। 'साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तुविशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का अलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन होती है।' (चिन्तामणि भाग-1)

इन पंक्तियों में 'शुक्ल जी' ने यह मत व्यक्त किया है कि साधारणीकरण की स्थिति में 'सामाजिक' तथा 'आश्रय' के भाव समान हो जाते हैं। यह तो 'साधारणीकरण का परिणाम अर्थात् 'रसानुभूति' है। इसे साधारणीकरण नहीं कहा जा सकता। इस कथन को हम स्थायी भाव के साधारणीकरण होने से सम्बंधित भी नहीं मान सकते, क्योंकि स्थायीभाव के साधारणीकरण की बात कहना तो रसानुभूति के कारण की ओर इंगित करना है परन्तु सामाजिक और आश्रय के भावों का तादात्म्य तो कार्य है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी की उपर्युक्त परिभाषा न तो साधारणीकरण की परिभाषा है और न उसके विषय से सम्बन्धित कथन ही। दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है :-

'व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती

है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। (चिन्तामणि भाग 1 साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद)

इस कथन में आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण की मान्यता को ही अस्वीकार कर दिया है और 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' की स्थापना में भी 'रस' की परम्परागत मान्यता को अस्वीकार करते हुए उन्होंने रसाभास को ही 'रस' मान लिया हैं। 'थोड़ा या बहुत' शब्द का प्रयोग उनकी इसी धारणा का परिचायक है क्योंकि बिना साधारणीकरण के 'रस' निष्पन्न ही नहीं हो सकता और रस-निष्पन्नता की स्थिति में 'थोड़ा या बहुत' के लिए स्थान ही नहीं रहता। वहाँ पूर्णरूपेण ही रहता है और जहाँ 'थोछ़ा-बहुत' रहता है वह तो 'रसाभास' ही होता है जिसमें कुछ लोग तो उस (दर्शित) भाव से प्रभावित होकर आनन्दित होते हैं और कुछ घृणा से मुँह फेर कर चले जाते हैं। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं:-

एक बार काशी में एक 'पारसी नाट्य कम्पनी' का नाटक हो रहा था जिसे अपने कुछ इष्ट मित्रों के साथ 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' भी देखने गये। वहां उन्होंने देखा कि 'शकुन्तला नाटक' खेला जा रहा है जिसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त कमर पर हाथ रख कर भाँडों की तरह नाच रहा है और दर्शक ताली बजा-बजा कर हँस रहे हैं। 'भारतेन्दु जी' व उनके मित्र इस अनौचित्य पूर्ण दृश्य को देखकर वहाँ से यह कहकर उठकर चले आये कि ये लोग तो कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। अत: भारतेन्दु तथा उनके मित्रों के भाव का बहुत तो क्या थोड़ा भी तादात्मय 'दुष्यन्त वेशधारी नायक' से नहीं हुआ और कुछ का तादात्म्य उस समय एवरेस्ट की चौटी को छू रहा था। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि उस प्रदर्शन से दर्शकों के हृदयों से 'रजस्' तथा 'तमस्' के कुत्सित भावों का तिरोभाव नहीं हो रहा था बल्कि कुछ प्रबुद्ध दर्शकों के सत्त्वगुण मूलक भावों की ओर भी 'रजस-तमस्' मूलक कुत्सित आनन्द का प्रवाह बढ़ना चाहता था जिससे वे वहाँ से उठकर चले आये। यदि बैठे भी रहते तो भी उन्हें वह अश्लील चित्रण आकर्षित नहीं करता। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय उदाहरण में आचार्य शुक्ल ने न तो साधारणीकरण को माना है और न रस को। वे जल्दी-जल्दी में 'रसाभास' को ही रस मान बैठे हैं। प्रथम प्रसंग में वे 'रस' को ही साधारणीकरण कह बैठे हैं। इससे निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल का साधारणीकरण के संबंध में व्यक्त किया गया उक्त मत असंगत एवं भ्रांति उत्पन्न करने वाला है।

पं. केशवप्रसाद मिश्र का मत है-'साधारणीकरण तो कवि अथवा भावक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकान्त और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।' (रस सिद्धान्त पृ. 201 से उद्धृत)

उपर्युक्त का आशय यह है कि मिश्र जी कवि और भावक को एक ही मानते हैं परन्तु कवि एक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति होता है, जबकि भावक (सामाजिक) के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रतिभा सम्पन्न ही हो। दूसरी बात यह है कि मिश्र

जी 'चित्त वृत्ति' का साधारणीकरण होना मानते हैं परन्तु यह भी साधारणीकरण का परिणाम या कार्य ही है, असल बात यह है कि इसका कारण क्या है? सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगने की बात कहना भी कार्य की ही ओर इशारा करना है, यहाँ भी साधारणीकरण का विषय विवक्षित नहीं है। यह तो साधारणीकरण का स्वरूप है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। परन्तु मिश्रजी ने कवि या भावक की चित्तवृति के साधारणीकृत होने पर उसे सब कुछ साधारण (समान) दिखाई देने की बात कहकर इस तथ्य की ही पुष्टि की है कि साधारणीकरण गुणों का ही होता है क्योंकि हृदय की सत्वगुण मूलकता ही साधारणीकरण है और इसी के पश्चात चित्त की वृति शांत और निश्चल होती है।

डॉ॰ नगेन्द्र का मत भी इन्हीं के मत से मिला जुला है–'अन्त में हम घूम फिर कर भट्टनायक के इस मन्तव्य पर लौट आते हैं कि साधारणीकरण वास्तव में सर्वांग का ही होता है।' (रससिद्धान्त पृ. 206)

आचार्य नगेन्द्र ने इस सर्वांग में आश्रय, आलम्बन-उद्दीपन, अनुभाव, संचारी भाव तथा स्थायीभाव सभी रसांगों को ले लिया है। यही नहीं वे तो एक स्थान पर यह भी कहते हैं कि 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है।'[26]

डा॰ नगेन्द्र ने प्रथम मत को अपनी स्थापना नहीं कहा है। वे उसे भट्टनायक का मत बताते हैं परन्तु यह मत भट्टनायक का नहीं है, भट्टनायक का मत तो सर्वाधिक तथ्यात्मक है। उन्होंने कहीं यह नहीं कहा कि सर्वांग का साधारणीकरण होता है। उनके 'विभावादयसाधारणी- करणात्मना ....' का यह अर्थ नहीं है, जो डॉ. नगेन्द्र द्वारा लगाया जा रहा है। इसके सही अर्थ का विवेचन हम आगे भट्टनायक के मत की विवक्षा के समय ही करेंगे। यहाँ केवल इतना ही संकेत करना पर्याप्त समझते हैं कि डॉ॰ नगेन्द्र ने जिसे भट्टनायक का मत कहा है वह तो गोविन्द ठक्कुर की भट्टनायक के परिप्रेक्ष्य में निजी भ्रान्ति है जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। अब रही कवि की अपनी अनुभूति के साधारणीकरण की बात। यहाँ हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि अनुभूति चाहे कवि की हो या भावक की वह तो 'रस' ही है जो साधारणीकरण के विषय की तीसरी सीढ़ी है। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि डॉ॰ नगेन्द्र का मत भी निर्भान्त नहीं है।

हिन्दी-आचार्यों के मतों का दिग्दर्शन ऊपर के विवेचन से हो जाता है और साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-आचार्यों ने गोविन्दठक्कुर के मत का अंधानुकरण करके साधारणीकरण का रूप ही विकृत कर दिया है और 'कार्य' को 'कारण' तथा 'कारण' को 'कार्य' मानकर 'साधारणीकरण' का असाधारणीकरण ही कर डाला है। यही नहीं मात्र 'ठक्कुर' साहब की व्याख्या को ही सभी संस्कृत-आचार्यों– भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त आदि के मतों की सही व्याख्या मानकर, उन्हें भी क्रमशः इस मत के प्रवर्त्तक तथा पोषकों में रख दिया है। नीचे भट्टनायक, अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथ

के साधारणीकरण के विषय से सम्बद्ध मतों का विवेचन किया जाता है–

भ्रान्ति का निराकरण

भट्टनायक का मत

भट्टनायक के मत के सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र कहते हैं कि साधारणीकरण विभावादि का होता है[27] परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि विभावादि को तो भट्टनायक ने साधारणीकरण का कारण माना है। भट्टनायक के मत के विवेचन से यह बात स्वत: ही स्पष्ट हो जायेगी। साधारणीकरण के सम्बन्ध में भट्टनायक का कथन है–

'काव्यं दोषाभावगुणलंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविड-निजमोहसंकतानिवारणकारिणा विभावादयसाधारणीकरणात्मना।'

(अभिनव भारती पृ. 465)

अर्थात् काव्य में दोषों के अभाव और (माधुर्यादि) गुणों तथा (उपमा रूपकादि) अलंकारों के द्वारा, नाटक में (आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक) इन चार प्रकार के अभिनयों के द्वारा **'निजमोह संकटता निवारण' के कारण-रूप विभावादि साधारणीकरण की आत्मा (मूलाधार) हैं। भट्टनायक के इस कथन का आशय यह है कि 'निविडनिजमोहसंकटतानिवारण' साधारणीकरण है और विभावादि इस मोहसंकटता निवारण के कारण हैं।** इसी लिये विभावादि पर ही साधारणीकरण आधारित है। अत: भट्टनायक के इस कथन का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि भट्टनायक विभावादि का साधारणीकरण मानते हैं। बल्कि इस का आशय तो यह है कि साधारणीकरण विभावादि के प्रदर्शन या वर्णन द्वारा ही होता है, यदि विभावादि का वर्णन या प्रदर्शन न होगा तो साधारणीकरण भी नहीं होगा। इससे स्पष्ट है कि भट्टनायक के मत से विभावादि का साधारणीकरण नहीं होता। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण आखिर होता किस का है? इसका उत्तर भट्टनायक के ही मत में विद्यमान है। भट्टनायक कहते हैं–

'रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् .... सत्त्वोदेक प्रकाशानन्दमय निजसंविद्विश्रान्ति लक्षणेन................।' (अभिनव भारती पृ. 465)

अर्थात् विषमबुद्धि परक अज्ञानमय 'रजस्-तमस्' के पराभूत होने पर और समबुद्धि परक ज्ञानानन्दमय सत्त्वगुण के उद्रेक होने पर मोहसंकटादि से मुक्त 'निजसंविद्' (सामाजिक की चित्तवृत्ति) 'विश्रान्त (शांत एवं निश्चल) हो जाती है।

इससे स्पष्ट है कि साधारणीकरण सामाजिक की उस स्थिति को माना गया है जिसमें उसके चित्त की वृत्ति सांसारिक अज्ञान का परित्याग करके शांत एवं निश्चल हो जाती है और यह स्थिति रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव तथा सत्त्वगुण के आविर्भाव की स्थिति है।

अत: भट्टनायक के मत से साधारणीकरण न तो विभावादि का ही होता है और

न स्थायीभाव का, वह केवल गुणों (सतोगुणादि) का ही होता है।

इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनायक के मतानुसार विभावादि का प्रदर्शन साधारणीकरण का कारण, स्थायी भाव की अनुभूति साधारणीकरण का परिणाम, चित्तवृत्ति में 'रजस्-तमस्' का ह्रास होकर सत्त्वगुण की व्याप्ति साधारणीकरण का विषय तथा चित्तवृत्ति का सांसारिक अज्ञान से मुक्त होकर शांत एवं निश्चल हो जाना साधारणीकरण है।

अभिनव गुप्त का मत

'रस सिद्धान्त' में अभिनव गुप्त की साधारणीकरण के विषय से सम्बंधित धारणा का सार इस प्रकार दिया हुआ है–

'साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता, स्थायीभाव का भी होता है। जिस प्रकार विभावादि स्थायीभाव के कारण होते हैं उसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायीभाव के साधारणीकरण का कररण होता है। अत: साधारणीकरण का सार है स्थायीभाव का साधारणीकरण।' (रस सिद्धान्त पृ. 194-95)

डॉ॰ नगेन्द्र के इस कथन से स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त भी भट्टनायक की भाँति सर्वांग का साधारणीकरण मानते हैं। विभावादि का साधारणीकरण होने सम्बन्धी भ्रान्ति का निराकरण तो पहले भट्टनायक के मत के विवेचन में किया जा चुका है। स्थायीभाव के साधारणीकरण के सम्बन्ध में हमारी धारणा है कि सामाजिक द्वारा अनुभूत तथा आश्रय द्वारा अभिव्यक्त स्थायीभाव में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि भाव तो 'सत्' होता है और 'कोटि-उपाधि' जन्य नहीं होता। जिस प्रकार भजन-सत्संग आदि के द्वारा 'रजस्-तमस्' के तिरोभाव होने और सत्त्वगुण के आविर्भाव से प्राप्त ज्ञान द्वारा अज्ञानाच्छादित आत्मा अभिव्यक्त होकर अनुभूत बन जाती है, उसी प्रकार काव्यादि के पठन श्रवणादि से सामाजिक के हृदय पर से 'रजस्-तमस्' जन्य 'निविड निज मोह संकटता' का आवरण हट जाता है और शुद्ध चैतन्य रूप स्थायीभाव अभिव्यक्त होकर अनुभूत बन जाता है। अत: स्थायीभाव साधारणीकृत नहीं होता, वह तो 'निज मोह संकटता' के निवारण हो जाने पर अभिव्यक्त होता है। अभिनवगुप्त का भी यही मत है क्योंकि अभिनव ने भी साधारणीकरण की स्थिति भट्टनायक के ही समान स्वीकार ही है। यथा **'अतएव सर्वसामाजिकाऩामेक घनतथैव प्रतिपत्तिः सुतरां रस परिपोषाय। सर्वेषामनादिवासना चित्रीकृत चेतसा वासना संवादात्। सा चा विध्ना संवित् चमत्कार:।'** (अभिनव भारती पृ॰473)

अर्थात 'रस' के उचित परिपोष होने पर सभी सामाजिकों को एक ही परिमाण में स्थायीभाव की प्रतीति होती है जिससे सभी के हृदयों में वासना रूप में स्थित स्थायी भाव विध्नों के शान्त हो जाने से चमत्कार (आनन्द) रूप रस बन जाता है।

अभिनव के इस कथन से यही स्पष्ट होता है कि विभावादि के उचित प्रदर्शन द्वारा स्थायीभाव अभिव्यक्त होता है और तब सामाजिक के हृदय से 'रजस्' -तमस'

का तिरोभाव होकर सत्वगुण की परिव्याप्ति के कारण चित्त-वृत्ति सभी सांसारिक विघ्नों से मुक्त होकर शांत एवं निश्चल हो जाती है और तब सामाजिक के हृदयं में स्थित 'स्थायीभाव' उद्भूत होकर अनुभूत होने लगता है। इस प्रकार सामाजिक के चित्त में सत्त्वगुण के प्रभाव से (मेरे-तेरे, अपने पराये) की भ्रान्ति के समाप्त हो जाने पर और **'वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता'** की स्थिति आ जाने पर सामाजिक को जो आनन्द प्राप्त होता है, वहीं 'रस' है। इससे स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त ने विभावादि तथा स्थायीभाव के साधारणीकरण का कहीं उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने साधारणीकरण के सम्बन्ध में तो भट्टनायक के मत को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। हेर-फेर केवल 'रस-सिद्धांत' में ही किया गया है।

अतः यह कहना संगत प्रतीत नहीं होता कि अभिनव गुप्त विभावादि तथा स्थायीभाव का साधारणीकरण मानते हैं।

अभिनव गुप्त ने **'तस्यांचयो मृगपोतकादिर्भाति ....।'** में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में वर्णित दुष्यन्त द्वारा मृगशावक का पीछा करने और मृगशावक का अपने प्राणों की रक्षा में भयभीत होकर (**ग्रीवाभंगाभिरामम् आदि के द्वारा**) भागने सम्बन्धी वर्णन में 'भयानक रस' माना है। परन्तु विचार करने पर ज्ञात हो जाता है कि यहाँ 'रस' नहीं है 'रसाभास' है क्योंकि हिंसा पर आधारित होने के कारण आखेटमूलक वर्णन अनौचित्य-वृत्ति' के परिपोषक हैं। इसीलिये इस प्रसंग में 'भयानक रस' न होकर भयानक 'रसाभास' है। क्योंकि इस वर्णन को देखकर या पढ़कर सामाजिकों के हृदयों से रजस्-तमस् का पूर्णरूपेण तिरोभाव नहीं होगा। कुछ शिकारी वृत्ति के लोग इसे पसन्द करेंगे और प्रसन्न होंगे तथा कुछ इसे जघन्य कृत्य समझ कर मुँह फेर लेंगे। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर धनञ्जय ने कहा है–

प्रीतिभक्त्यादयोभावा मृगयाक्षदयो रसाः
हषोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः'' (दशरूपक 4.83)

आखेट का एक दिलचस्प प्रसंग 'रामचरितमानस' में भी है। जब राम मारीचवेशधारी स्वर्णमृग के पीछे इसी प्रकार भागते हैं जैसे दुस्यन्त 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में भागे हैं। देखिये:–

'मृग विलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साँधा।।
प्रभुहि विलोकि चला मृगभाजी। धाये राम सरासन 'साजी।।
कबहु निकट पुनि दूरि पराई। कबहुँक प्रगेटसि कबहु छपाई।।
प्रगटत दुरत करत छल भूरी। यहि विधि प्रभुहि गयेउ लै दूरी।।
तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेऊ करि घोर चिकारा।।

(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड)

यहाँ भी दृश्य वही है जो 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में है। 'रामचरितमानस' में दृश्य और भी भयानक है क्योंकि यहाँ राम भागकर दबाये गये मृग का वध कर डालते हैं

और दुष्यन्त द्वारा दबाया गया मृग कण्व के आश्रम में छिपकर अपने प्राण बचा लेता है। परन्तु राम द्वारा स्वर्ण रूप मृग के वध में किसी ने भी भयानक रस नहीं माना है। वहाँ 'वीर' रस माना गया है, जिसके 'आश्रय' राम हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का वर्णन 'वीर रस' के अनुकूल भी नहीं जान पड़ता क्योंकि दुष्यन्त का उत्साह अन्त में जाकर ठण्डा पड़ जाता है। दूसरे वह अत्यन्त निर्बल तथा असहाय पशु का वध करना चाहता है जो दुष्यन्त से शत्रुभाव नहीं मानता। वह मात्र एक शिकारी है जो वास्तविक हिरण का वध करना चाहता है। इस आधार पर दुष्यन्त; सामाजिक की 'जुगुप्सा' का आलम्बन भी बन सकता है। साथ ही 'जीवों पर दया करो' तथा 'अहिंसा परमोधर्म' की नैतिक वृत्ति के जाग्रत होने पर सामाजिक दयार्द्र होकर द्रवित भी हो सकता है। अत: यह समस्त क्रिया वृत्ति 'रसाभास' की ही पोषक होगी, 'रस' की नहीं।

'भयानक' रस वहाँ होता है जहाँ भय का आश्रय सत्पात्र हो, जैसे–हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद के वध करने की तैयारी का दृश्य, कंस द्वारा देवकी की नवजात कन्या को प्रस्तर शिला पर निदर्यता पूर्वक पटककर मारने का दृश्य, अशोक-वाटिका में रावण के आने की सूचना पाकर सीता के हृदय के काँप उठने का दृश्य, द्रौपदी का दु:शासन द्वारा प्रासाद से केश खींच कर घसीट ले जाने का दृश्य, लाक्षाग्रह के जलने पर पाण्डवों के भय का दृश्य आदि ही 'भयानक रस' के उदाहरण हैं।

विश्वनाथ का मत

विश्वनाथ ने यद्यपि रस स्वरूप की 'वेदान्त' सम्मत व्याख्या प्रस्तुत की है जो प्राय: सर्वमान्य है परन्तु साधारणीकरण के सम्बध में वे भी भट्टनायक के मत को ही मानकर चले हैं –

'साधारण्येन इत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।
परस्य न परस्येति ममेति न ममेति् च।' (साहित्यदर्पण 3.12)
'तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते।।'(साहित्यदर्पण 3.13)

अर्थात साधारणीकरण के द्वारा रत्यादि स्थायीभाव भी चेतनवत् प्रतीत होने लगते हैं। अत: रसास्वादन होने पर सामाजिक के चित्त में ये विभावादि मेरे हैं या मेरे नहीं, अथवा अन्य के हैं या अन्य के नहीं हैं ऐसी संकल्प विकल्पात्मक स्थिति समाप्त होकर एकतानता आ जाती है।

विश्वनाथ ने साधारणीकरण के सम्बंध में आगे कहा है–

'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः। (सा. द. 3-9)

अर्थात् विभावादि का व्यापार (कार्य) साधारणीकरण के नाम से पुकारा जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि साधारणीकरण विभावादि का होता है। भट्टनायक के मत की भाँति यहाँ भी विभावादि साधारणीकरण के कारण रूप ही हैं। कार्यरूप नहीं। विभावादि का कार्य है सामाजिक के चित्त से रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव करके मात्र सत्त्वगुण की स्थापना जिससे सामाजिक की **'संविद्'** (चित्त-वृत्ति) 'वेद्यान्तर

स्पर्शशून्यता' या 'निजमोह संकटता निवारण' की स्थिति में **'विश्रान्त'** हो सके। **अतः विश्वनाथ के मत से भी 'गुणों' का ही साधारणीकरण होता है।**

साधारणीकरण क्यों होता है ?

जगन्नाथ का मत–साधारणीकरण के कारण पर हम ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं। साधारणीकरण का कारण विभावादि होते हैं जिनकी उत्कर्ष चारुता का प्रभावशाली वर्णन काव्यादि में किया जाता है। डॉ॰ प्रेमस्वरूप गुप्त ने इसी को काव्य-चारुत्व मानते हुए कहा है – एक बात यहाँ विशेष उल्लेखनीय है। पण्डितराज ने साधारणीकरण की सफलता का श्रेय काव्य-चारुत्व के प्रभाव से उदबुद्ध होने वाली सहृदय की भावना को दिया है।

इस सम्बन्ध में समुचित उत्तर यही है कि 'भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानोरसः।' (भट्टनायक का मत) अर्थात भावकत्व व्यापार (साधारणीकरण) के द्वारा ही रस भाव्यमान (प्रतीति योग्य) बनता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'साधारणीकरण' (काव्य -चारुत्व के द्वारा) रस की प्रतीति कराने के लिए होता हैं।

साधारणीकरण कैसे होता है?

साधारणीकरण प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए भट्टनायक का कथन है–

' .... काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, ...रजस्तमोऽनुबेध वैचित्र्यबलाद्............... सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिज संविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते इति।

(भट्टनायक का मत अभिनव भारती पृ. 492-95)

अर्थात् दोषों से मुक्त तथा गुण व अलंकारों से युक्त काव्य के पठन, श्रवणादि तथा नाटक में प्रदर्शित चार प्रकार के अभिनय के द्वारा विभावादि का प्रदर्शन होने से सामाजिक के हृदय से 'निजमोह संकटता' का निवारण हो जाने से 'रजस्-तमस्' का प्रभाव दब जाता है और 'सत्त्वगुण का प्रभाव व्याप्त हो जाता है तब सामाजिक की 'चित्त-वृत्ति' पूर्ण शांत एवं निश्चल हो जाती है। यही साधारणीकरण की प्रक्रिया है।

साधारणीकरण और औचित्य

साधारणीकरण और औचित्य के सम्बन्ध में डॉ॰ प्रेमस्वरूप गुप्त का मत द्रष्टव्य है–

'रसानुभूति में साधारणीकरण एक अनिवार्यतः अपेक्षणीय व्यापार है। उसकी सफलता के लिए कई प्रकार की पृष्ठ भूमियाँ अपेक्षित हैं, जैसे सन्निवेशोचित्य, सन्निवेश लालित्य आदि किन्तु विभावादि का औचित्य तो उसके लिये सर्वथा अपरिहार्य है।'

(रस गंगाधर का शा॰ अध्ययन पृ॰ 324)

डॉ॰ गुप्त के इस मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारणीकरण तब होगा जब कि विभावादि का तथा भाषाअलंकारादि का उचित रूप में प्रदर्शन किया जायेगा। इसका आशय यह भी हो सकता है कि उचित विभावादि का तथा भाषालंकारादि का प्रयोग किया जायेगा। यदि साधारणीकरण सम्बन्धी औचित्य पर विचार करें तो द्वितीय प्रकार का औचित्य ही अधिक ग्राह्य हो सकता है। इस प्रकार के औचित्य का ही संकेत 'सन्निवेश लालित्य' के रूप में भट्टनायक ने 'काव्यं दोषाभाव गुणलंकारमयत्व लक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण' के द्वारा किया है। इस आधार पर तो डॉ॰ गुप्त तथा भट्टनायक के मतों में कुछ कोटि-भेद दिखाई देता है क्योंकि डॉ॰ गुप्त विभावादि के औचित्य को साधारणीकरण के लिए अपरिहार्य मानते हैं और भट्टनायक कलात्मक औचित्य को। दोनों के ही मत अपने-अपने स्थान पर सही हैं। अत: हम दोनों (विभावादि तथा कला) के समन्वयौचित्य को ही साधारणीकरण के लिए अनिवार्य मानते हैं –क्योंकि भाव तथा कला के उचित समन्वय होने से ही चित्तवृत्ति प्रभावित हो सकती है किसी एक कारण से वह केवल 'रसाभास' तक ही पहुँच पायेगी।

उदाहरणार्थ–

कविवर मैथिली शरण गुप्त ने कहा है–

'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।।' (साकेत)

यह तो ठीक है और सभी को स्वीकार है परन्तु प्रतिभा का सामञ्जस्य भी यदि प्राप्त हो जाय जैसा कि तुलसी का, तो कृति की कोटि-गरिमा का घनत्व चोटी को छू जाता है। राम के चरित पर हिन्दी में तुलसी, केशव, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त तथा निराला आदि ने काव्य रचना की है परन्तु काव्य गरिमा में ये सभी समान नहीं हैं। इनमें स्पष्ट रूप में कोटि-भेद है और इस वर्गीकरण में केशव दास सबसे नीचे ही आयेंगे। इसी प्रकार कृष्णकाव्य के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। कृष्णभक्त कवियों के कृष्ण-काव्य और रीतिकालीन दरबारी कवियों के कृष्ण-काव्य में पर्याप्त अन्तर है। यहाँ विभावादि तो दोनों में ही समान हैं परन्तु कला के उचित प्रयोग से कृष्ण-भक्त कवियों का प्रेमवर्णन रस कोटि तक पहुँच गया है। परन्तु दरबारी कवि केवलश्रृंगाराभास तक ही रह गये हैं। इसका कारण कलौचित्य का अभाव ही है। साथ ही कला की करामात के बल पर सूफी कवियों द्वारा अपनाई गई सामान्य प्रेम कथाएँ भी रस का पूर्ण परिपाक करने में समर्थ हुई हैं। यहाँ तक कि जायसी द्वारा निरूपित 'पद्मावत' का पूर्वार्द्ध बिल्कुल कल्पित एवं मनगढ़ंत है फिर भी वह साहित्य की अमूल्य निधि बना हुआ है और 'पद्मावत' का उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक होते हुए भी उतना मूल्यावान् नहीं है, जितना कि पूर्वार्द्ध है। इसका कारण 'सन्निवेश लालित्य' ही है। अत: यह कहना असत्य न होगा कि काव्य में 'लालित्य ही औचित्य है, अर्थात भाषा, अलंकार और छंदादि का उचित प्रयोग ही साधारणीकरण का अपरिहार्य अंग

है क्योंकि अनुभावादि का निरूपण भाषा ही करती है। इसी का संकेत भट्टनायक ने किया है। एक और उदाहरण लीजिए - संगमरमर का प्रयोग तो अनेक इमारतों में किया गया है परन्तु ताजमहल केवल एक ही है। दूसरी ओर ऐलोरा व अजन्ता की गुफायें पर्वत की कटानमात्र होते हुए भी कला का अद्भुत नमूना हैं। लौकिक दृष्टि से भी यह सही है-कपड़ा कैसा भी हो उसकी कीमत तो दर्जी ही निकालता है। भोज्य सामग्री कैसी भी हो उसको स्वादिष्ट तो पकाने वाला ही बनाता है। हम यह नहीं कहते कि 'सन्निवेशौचित्य' का कोई महत्व ही नहीं है, अवश्य है परन्तु प्रथम स्थान 'सन्निवेश लालित्य' का ही है और यदि दोनों का सामञ्जस्य हो तो 'सोने में सुगन्धि' की कल्पना साकार हो उठती है।

कुछ विद्वान औचित्य को देश-काल की सीमाओं में आबद्ध मानते हैं परन्तु औचित्य देश-काल सापेक्ष नहीं होता। वह तो 'सार्वभौम सत्य' का ही रूप है – जैसे सत्य, त्याग, बलिदान, तप, सहिष्णुता, करुणा, क्षमा, सदाचार, अहिंसा, परोपकारादि। इसके विपरीत देश कालादि की सीमाओं में आबद्ध-ईर्ष्या, द्वेष, असत्य, हिंसा, संकीर्णता, क्रूरता, माया, मोह, लोभादि, औचित्य न होकर अनौचित्य हैं। अत: 'सार्वभौम सत्य' का रूप अर्थात् 'औचित्य' ही 'साधारणीकरण' का प्राण है। औचित्य के अनेक रूप हैं यथा नैतिकता, उदात्तता, यथार्थ, आदर्श आदि।

साधारणीकरण और रसाभास

जहाँ साधारणीकरण का सम्बन्ध औचित्य से है वहीं रसाभास का संबंध अनौचित्य से है। अत: इन दोनों में भावाभाव (अन्वयव्यतिरेकी) सम्बन्ध है। अर्थात् जहाँ औचित्य होगा वहीं साधारणीकरण होगा, वहाँ रसाभास न होकर रस होगा। इसके विपरीत जहाँ औचित्य नहीं होगा वहाँ 'रसाभास' होगा साधारणीकरण नहीं होगा। इस आधार पर साधारणीकरण और रसाभास परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। डॉ॰ प्रेमस्वरूप गुप्त रसाभास में अपूर्ण साधारणीकरण मानते हैं[28] परन्तु साधारणीकरण' भी एक : सार्वभौम सत्य' की ही स्थिति है। उसे पूर्णता-अपूर्णता की उपाधियों से विभूषित करना उचित नहीं है। डॉ॰ 'गुप्त' के इस दृष्टिकोण में लौकिक औचित्य' के ग्रहण की धारणा ही बलवती दिखाई देती है। परन्तु लौकिक औचित्य के निरूपण से रस-परिपाक नहीं होगा, वह तो सार्वभौम-औचित्य के निरूपण से ही होगा। अत: साधारणीकरण और रस-निष्पन्ति के लिए सार्वभौम औचित्य अपरिहार्य है।

साधारणीकरण की उपादेयता (प्रासंगिकता)

उपर्युक्त आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि रस-प्रक्रिया में 'साधारणीकरण-सिद्धान्त एक अत्यन्त, महत्वपूर्ण भूमिका का प्रतिपादन करता है। अत: वह परम उपयोगी और प्रांसगिक है। साधारणीकरण ही रस निष्पत्ति (रस सिंद्धान्त) का मूल आधार है। बिना साधारणीकरण के 'रस' निष्पन्न ही नहीं होगा क्योंकि विभावादि

के द्वारा अभिव्यक्त भाव (स्थायीभावादि) सामाजिक के हृदय में तभी अनुभूत होगें जब उसके हृदय से रजस्-तमस् के भावों का तिरोभाव होकर तज्जनित 'निजमोह संकटता' का निवारण हो जायेगा और उसकी चित्तवृत्ति शांत एवं निश्चल हो जायेगी। चित्तवृत्ति की बिना सत्त्वमूलक स्थिति के सामाजिक का मन सार्वभौम औचित्य से सम्बद्ध नहीं होगा और सार्वभौम औचित्य के अभाव में रस निष्पन्न न होकर 'रसाभास' का ही निर्वहन करेगा। रस सिद्धान्त के विवेचन में सर्वप्रथम इस आधार का प्रतिपादन भट्टनायक ने ही किया हैं। अत: इस सिद्धान्त का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार भट्टनायक का तद्विषयक मत ही है। अन्य आचार्यों ने तो मात्र उसकी अपने-अपने ढंग से व्याख्यायें ही की हैं। साधारणीकरण के क्षेत्र में भट्टनायक की देन अविस्मरणीय है।

इस समस्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **साधारणीकरण गुणों का होता है। सामाजिक के चित्त की सत्वगुणमूलकता ही साधारणीकरण है। यही 'भावकत्व' है जो प्रमाता की चित्तवृति को शान्त और निश्चल करके समरसता की कक्षा में स्थापित कर देता है और जहाँ से प्रमाता रसानुभूति (स्थायी भाव के अलौकिक-आत्मवत्) रुप के दर्शन द्वारा ब्रह्मास्वादवत् आनन्द की अनुभूति करता है।**

रस का स्वरूप

परिभाषा

''विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि:।
आनीयमान: स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रस: स्मृत:।।''[29]

अर्थात् विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), अनुभाव, सात्त्विक भाव एवं व्याभिचारी भाव या संचारी भावों के द्वारा जब (रति, उत्साह आदि) स्थायी भाव आस्वद्य अर्थात आनन्द का अनुभव कराने योग्य बना दिये जाते हैं तो काव्य में इसे 'रस' कहते हैं।

काव्य का रस लौकिक रस से भिन्न होता है क्योंकि लौकिक रस में व्यक्ति-ज्ञान की प्रधानता रहती है और 'काव्य-रस' में सामान्य ज्ञान प्रधान होता है। लौकिक ज्ञान भौतिक तत्त्व समन्वित रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से युक्त होता है और काव्य-ज्ञान रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त होकर सत्त्वगुण से प्रभावित होता है जिसमें चित्त की वृत्ति शांत हो जाती है और जो प्रमाता (सामाजिक या सहृदय) को निज पर और तटस्थ (अपने, पराये) के भाव से ऊपर उठाकर आनन्द की परिधि में पहुँचा देती है। मूल बात यह है कि 'स्थायी भाव' जब आस्वद्य बन जाता है तो वह रस का रूप धारण कर लेता है। 'स्थायी भाव' एक कच्चे फल की भाँति होता है जो सामाजिक के हृदय में संस्कार रूप में अव्यक्तावस्था में स्थित रहता है और जिस प्रकार एक कच्चा फल अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करके परिपक्व होकर सुस्वादु बन जाता है उसी प्रकार

हृदयस्थ स्थायी भाव भी अनुकूल परिस्थिति प्राप्त कर परिपक्व हो जाता है (पक जाता है) और सामाजिक के हृदय को आनन्दित करने लगता है, वही 'रस' कहलाता है। अर्थात **परिपक्व स्थायी भाव ही रस है।**

एक दूसरा उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार गौ आदि दुग्धप्रदायक प्राणियों के स्तनों में दूध, अव्यक्तावस्था में स्थित रहता है और अनुकूल परिस्थिति आने पर वह बाहर आकर भोक्ता को आनन्द प्रदान करता है और उसके अंगों को परिपुष्ट भी बनाता है, उसी प्रकार सामाजिक के हृदय में छिपे हुए (रत्यादि) स्थायी भाव आलम्बनादि के द्वारा अनुकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर उद्‌बुद्ध होकर सामाजिक या सहृदय को आनन्दित करते हैं और उसके अंगों को भी पुष्ट करते हैं। 'काव्य-रस', कोरा रस ही नहीं होता वह एक दैवीय चमत्कार होता है। जब उसका उद्रेक होता है तो समस्त शरीर में विद्युत् की लहर सी दौड़ जाती है, धमनियों के रक्त का प्रवाह तीव्र हो जाता है। मनुष्य का हृदय एक दैवीय प्रकाश से भर जाता है। वह लौकिक भावना से ऊपर उठकर दैवीय चिंतन में लीन हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं, जब 'काव्य रस' की अनुभूति होती है तो सामाजिक की स्थिति दैवीय और महान् बन जाती है। उस समय वह एक अलौकिक आनन्द से अभिभूत हो उठता है। काव्य रस का आनन्दवाद विक्रमादित्य के सिंहासनारूढ़ होने के समान है और सामाजिक उस गड़रिये के लड़के के समान जो सिंहासन के ऊपर बने चबूतरे पर बैठकर विक्रमादित्य बन जाता था। यही स्थिति सामाजिक की रसोद्रेक के समय होती है।

अत: **''आनन्दकर और पुष्टिकर स्थायी भाव रस कहलाता है।''**

साहित्यदर्पणाकार का भी यही मत है–

''विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्।।'' (सा. द.)

अर्थात सहृदय या सामाजिक के हृदय में स्थित रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं।

रस गंगाधर कार पं. जगन्नाथ ने मम्मटाचार्य, अभिनव गुप्त आदि के मतों का सार लेकर और वेदान्त दर्शन को आधार बनाकर 'रस' के सम्बन्ध में लिखा है कि मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है जो उसके हृदय में संस्कार बन कर अमिट रूप में स्थित हो जाते हैं। ये संस्कार ही स्थायी भाव कहलाते हैं और जब ये स्थायी भाव 'सत्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म' इत्यादि वेद-वाक्यानुसार सत्य तथा विज्ञान रूप होने से स्वत: प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं, तब वे (स्थायीभाव) ही 'रस' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। यहाँ यह बात भली भांति स्पष्ट कर दी गई है कि वासना या संस्कार रूप में हृदयस्थ स्थायी भाव जब व्यवत्तावस्था को प्राप्त होते हैं तो वे सत्-विज्ञान रूप अर्थात हृदय के कुत्सित विकारों से रहित हो जाते हैं और विशुद्ध

चेतनानन्द (आत्म) रूप में अनुभूत होते हैं। अतः रसोद्रेक की स्थिति में हृदय से अज्ञान का आवरण हट जाता है और स्वयं प्रकाशानन्द रूप ज्ञान का आविर्भाव हो जाता है जो सतोगुण के उद्रेक से होता है और सामाजिक का हृदय माया-मुक्त जीव की भाँति विशुद्ध निर्मल एवं प्रकाशित होकर आनन्दमय हो जाता है। यह कार्य एक लोकोत्तर उपाय 'भावकत्व व्यापार' अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के द्वारा संघटित किया जाता है। अतः–

''सत्य और विज्ञान रूप स्थायी भाव का विभावादि के द्वारा स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होना रस कहलाता है।''

रस के मूल तत्त्व

रस भावों पर आश्रित रहता है। भावहीन रस की कल्पना नहीं की जा सकती।[30] तात्पर्य यह है कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि भाव ही स्थायी भाव को जाग्रत कर रस रूप में परिणित करते हैं। अतः भावों का रस प्रक्रिया से घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्यदर्पणाकार ने रस के तत्त्वों का उल्लेख इस प्रकार किया है –

''सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥''[31]

अर्थात् चित्त में सतोगुण के उद्रेक होने से विशिष्ट संस्कारवान् सहृदयजन अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, लौकिक ज्ञान से शून्य, ब्रह्मास्वाद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार प्राण, 'रस' का अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में आस्वादन करते हैं।

अन्य आचार्यों ने भी काव्य-रस के तत्त्वों का विवेचन किया है। सब के मतों का सार इस प्रकार है–

1. **रस आस्वाद रूप है।** अर्थात् रस की अलौकिक रूप में आनन्दानुभूति होती है।

2. **रस का उद्रेक सामाजिक** के हृदय में रजोगुण तथा तमोगुण के तिरोभाव और सतोगुण के आविर्भाव की स्थिति में होता है।

3. **रस 'अखण्ड' होता है** अर्थात् स्थायी भाव किसी भी विरोधी या अविरोधी (शत्रु अथवा मित्र) भाव के प्रभाव से विच्छिन्न नहीं होता अर्थात् दबता नहीं है।

4. **रस के आविर्भाव के समय** सामाजिक रसानंद में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अन्य किसी स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। दूसरे शब्दों में **वह लौकिक ज्ञान से शून्य हो जाता है।**

5. **रस स्वप्रकाशानन्द होता है।** अर्थात रसोद्रेक के समय सामाजिक को पारलौकिक आनन्द (आत्मानन्द) का अनुभव होता है जो ज्ञानदशावत् है।

6. रस 'चिन्मय' होता है। तात्पर्य यह है कि रस चेतन रूप होता है। जड़ रूप नहीं क्योंकि रस का सम्बन्ध सत् स्वरूप 'आत्मा' से है जो एक मात्र चेतन तत्त्व की कोटि में आती है और स्थायी भाव चेतन के इस प्रकाश से इस प्रकार आलोकित होता है जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से प्रकाशहीन चन्द्र प्रकाशित होकर प्रकाशवान् दिखाई देता है। अत: इन्द्रियादि असत् हैं और 'आत्मा' सत्। इसी प्रकार लौकिक रस (इन्द्रिय ज्ञान जन्य रस) असत् होता है और काव्य-रस (विभावादि के प्रभाव से उद्‌भूत अनुभूति जन्य आनन्द) 'सत्' होता है।

7. 'रस' लोकोत्तर चमत्कारमय है। अर्थात् रस की स्थिति में सामाजिक का हृदय जागतिक (सांसारिक) बंधनों से मुक्त होकर एक ऐसे सहज आनंद के लोक में पहुँच जाता है जो अत्यधिक चमत्कारपूर्ण, दैवीय और स्फूर्तिमय होता है। मंच पर नृत्य करती हुई नर्तकी के नूपरों की एकतानता, उसका स्वरूपश्रृंगार, हाव-भाव एवं वाद्य-यंत्रों का स्वर-समायोजन आदि सहृदय को लौकिक परिवेश से ऊपर ले जाकर स्वर्गिक आनन्द के लोक में बिठा देते हैं। जहाँ वह आनन्द के दिव्य अश्व पर सवार होकर शहंशाह बम जाता है। एक दम मस्तमौला और फक्कड़। उस समय 'तुम्ही -तुम' का लोप होकर केवल 'हम्हीं-हम' शेष रहता है। दूसरे शब्दों में यह हृदय की पूर्ण मुक्तावस्था होती है, जिसमें सहृदय आनन्द के स्वप्नलोक में विचरण करता हुआ चमत्कृत और रोमांचित होता है।

8. 'रस' ब्रह्मास्वाद सहोदर होता है। अर्थात ब्रह्म-साक्षात्कार से उत्पन्न आनन्द के समान आनन्द प्रदान करने वाला। स्पष्ट ही है कि 'काव्य-रस' लौकिक (इन्द्रियजन्य) रस से भिन्न होता है क्योंकि इन्द्रिय जन्य आनंद की पैठ मन और बुद्धि तक ही सीमित है जबकि काव्य-रस आत्मानन्द का द्योतक है। रस निष्पन्नता की स्थिति में सामाजिक या सहृदय लौकिक भावना से ऊपर उठकर पारलौकिक या सहज भावना की कोटि में पहुँच जाता है और एक सच्चे योगी की भांति परमानंद का अनुभव करता है। रस की यही स्थिति ब्रह्मानंद सहोदरत्व की स्थिति है जो इन्द्रिय जन्य आनन्द से भिन्न और परे होती है।

9. 'रस' अनुभूति जन्य होता है। 'भावस्मरणं रस:' अर्थात् रस भावों की स्मृति है। इसका आशय यह है कि प्रमाता (सहृदय) किसी भी भाव या रस का प्रत्यक्ष उपभोग नहीं करता। वह केवल अनुभव करता है। प्रत्यक्ष रूप से मूल भाव तो मूल आश्रय तथा आलम्बन में रहते हैं। उदाहरणार्थ शकुन्तला एवं दुष्यंत के भावों का एवं तज्जनितश्रृंगार रस का मूल रूप में तो उक्त पात्रों द्वारा ही अनुपान किया गया था। प्रमाता तो केवल उनकी कल्पना द्वारा तद्‌नुरूप भाव का अनुभव करके आनन्दित होता है। कल्पना मन का भोजन है। इसे मन का मोदक भी कहा गया है। मन, काव्यादि के द्वारा आनन्दमयी कल्पना में लीन होकर आनन्द सिंधु में अवगाहन करता है। जिसका परिणाम रस है-जो अनुभूति जन्य है। लौकिक रस भोज्य है और काव्य रस आनुभूत्य।

अनुभूति सुखात्मक भी होती है और दुःखात्मक भी इसी आधार पर आचार्यों ने रस को **सुखात्मक** एवं **दुःखात्मक** दोनों ही प्रकार का माना है।

''योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख दुःख समन्वितः॥'' (भरत)

भरत के उपर्युक्त मत का विवेचन अभिनव गुप्त ने इस प्रकार किया है।

'' .... रति-हास-उत्साह विस्मयानां सुख स्वभावत्वम्।
क्रोध भय-शोक-जुगुप्सानां तु दुःख स्वरूपता।''

(हिन्दी अभिनव भारती पृ. 219-20)

अर्थात् रति, हास, उत्साह तथा विस्मय स्थायीभाव मूलक रस क्रमशः शृंगार, हास्य, वीर एवं अद्भुत स्वभाव से सुखात्मक होते हैं और क्रोध, शोक एवं जुगुप्सा मूलक रौद्र, करुण एवं बीभत्स रस क्रमशः दुखात्मक प्रकृति वाले होते हैं।

रस का सुखात्मक रूप तो सर्वमान्य है परन्तु करुण आदि का दुःखात्मक रूप विवादास्पद रहा है। **'सुख दुःखात्मकों रसः'** कहकर नाट्य दर्पणाकार रामचन्द्र गुणचन्द्र ने रस की सुखात्मकता को वैकल्पिक रूप में ही स्वीकार किया है। इसी आधार पर संस्कृत से लेकर हिन्दी आचार्यों तक ने रस के आनन्दवाद एवं दुःखवाद पर विस्तार से विचार विमर्श किया है परन्तु 'रस' को सुखमूलक मानने वालों का ही पक्ष अधिक सबल रहा है और 'रस' को निर्विवाद रूप से सुखात्मक मान लिया गया है। इसका मूल आधार 'प्रमाता' की निस्वार्थ भावना से की जाने वाली रसानुभूति है जिसके द्वारा सहृदय निजी अनिष्ट की आशंका से मुक्त रहता है। रस की यह स्थिति सत्त्वगुण की प्रधानता एवं रजोगुण तथा तमोगुण का ह्रास होने से उत्पन्न होती है। निम्न पंक्तियों में इसे स्पष्ट कर दिया गया है।

''काव्याध्ययन में पाठक का वैयक्तिक स्वार्थ जुड़ा नहीं रहता, अतः उसमें दुःख भी नहीं होता परन्तु इतने मात्र से यह समझना असम्भव है कि सहृदय की सारी रजोगुणी तमोगुणी वासनायें नष्ट होकर उसमें सत्त्वोद्रेक मात्र शेष रहता है। भावनाएँ जिस प्रकार की होंगी तदनुरूप रसोत्पत्ति भी त्रिगुणात्मक ही होगी। केवल पाठक का व्यक्तिगत स्वार्थ उसमें नहीं आता, इसलिए वह रजोगुण-तमोगुण का आविष्कार नहीं करता और ये गुण सुख की मर्यादा में ही रहते हैं।''[32]

उपभोग एवं अनुभूति में जो भेद लक्षित होता है वही रस के लौकिकत्व एवं अलौकिकत्व का भेद है। उपभोग स्थूल ऐन्द्रिक ज्ञान जन्य होता है जिसमें मन एवं इन्द्रियों की भौतिक भोग-जनित सत्ता ही प्रबल रहती हैं। उपभोग असद् परिणामी होता है, क्योंकि कर्म के बंधन से युक्त होने के कारण शोक, भय, जुगुप्सा एवं क्रोधादि की स्थिति में अनिष्ट की आशंका सहज भाव से उत्पन्न हो जाया करती है। उपभोग के सदसद् परिणाम का भोक्ता उसका कर्त्ता ही रहता है। इसलिये उपभोगजन्य अनिष्ट कारक क्रियाएँ स्थूल रूप में हानिप्रद एवं कष्टकारक होती हैं। ये क्रियाएँ त्याज्य एवं

उपेक्षणीय मानी जाती हैं। इन क्रियाओं का भोक्ता से सीधा सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ: लक्ष्मण का शक्ति लगने से मूर्छित होने की घटना का श्री राम से सीधा सम्बन्ध था। राम की करुणा लौकिक एवं उपभोग जन्य थी। उस समय उनके मन में चिंता आशंका एवं क्लेश का भाव स्थूल ऐन्द्रिक था। न उसमें कल्पना थी न अतीन्द्रियता। वह हृदय पर सीधा पड़ने वाला शोक का प्रभाव था। अत: उपभोग जन्य शोक होने से राम के लिए 'रस' नहीं था, विष था। आनन्द नहीं था क्लेश था।

इसी प्रसंग को अनुभूति के रूप में ग्रहण करने पर यह 'करुण रस' का आस्वाद बन जाता है। लक्ष्मण एक परमवीर यौद्धा थे। भाई की सहानुभूति एवं प्रेमवश वे वन में आये थे। लंका में वे वीरता पूर्वक राक्षसों से युद्ध करते हए धराशायी हुए। संकट के समय भाई का धराशायी होना भाई के हृदय पर वज्रपात था। अत: ऐसे विषम समय में भाई के लिए भाई का रोदन हृदय द्रावक था। यह समस्त क्रिया एवं व्यापार व्यष्टि मूलक न होकर समष्टि मूलक है। स्थूल ऐन्द्रिक न होकर अतीन्द्रिय है। जब काव्यादि में इस दृश्य को पढ़ते सुनते या नाटकादि में मंच पर देखते हैं तो केवल तत्सम्बन्धित भाव का अनुभव ही होता है। उपभोग नहीं। यहाँ न राम वास्तविक होते हैं और न लक्ष्मण। न यह लंका का रण क्षेत्र ही होता है और न वानरों की 'चमू'। सब कुछ आरोपित होता है। अनुकरणीय एवं वर्णनीय होता है जिसका अनुभव पाठक या सहृदय अपने हृदय में करता है और अनुभूति ज्ञान जन्य भाव से भावित होकर लक्ष्मण के त्याग-बलिदान शौर्य-पराक्रम एवं भ्रातृत्व भाव के सार्वभौम सत्य से प्रभावित होता है तथा राक्षसों के मायावी छल-कपटपूर्ण अनैतिक कर्म से क्षुब्ध होता है। भाई-भाई का यह प्रेम अलौकिकत्व का सृजेता होता है और सहानुभूति के अंचल से झाँकता हुआ शौर्य उसके हृदय के समस्त तंतुजाल को झँकझोरकर आनन्द-समुद्र में लीन कराने में सफल हो जाता है। इस दशा में प्रमाता के हृदय में सतोगुण का उद्दाम सागर तरंगायित होकर रजोगुण एवं तमोगुण के शुष्क कछारों को डुबोता हुआ तट बंध के पार निकलकर रसानन्द से समस्त शरीर को स्नात करके आनन्दित कर देता है। अत: निर्विवाद रूप से **काव्य-रस अनुभूति का विषय है उपभोग का नहीं।**

10. रस काव्य की आत्मा है– पर्याप्त वाद-विवाद एवं आलोचना प्रत्यालोचना के पश्चात आचार्यगण इस निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं कि रस काव्य की आत्मा है। काव्य में जो रोचकता, प्रभविष्णुता, चमत्कार, सप्राणता, सजीवता एवं मनोहारिता मिलती है वह सब 'रस-रूप आत्मा' का ही व्यापार है। बिना आत्मा के शरीर निष्पन्द एवं निर्जीव हो जाता है। शरीर का समस्त सौंदर्य क्षीण हो जाता है। वह ग्रहणीय न होकर उपेक्षणीय बन जाता है। उसे अलंकार भी शोभित नहीं करते। उसकी समस्त आकर्षक क्रियाएं भी बन्द हो जाती हैं। रस विहीन काव्य में न सजीवता रहती है न सप्राणता। वह प्रभावहीन, शुष्क, नीरस एवं मन को थका देने वाला बन जाता है। इसीलिए रसविहीन काव्य की कल्पना, आत्मा विहीन शरीर की कल्पना के समान है। जहाँ आत्मा का प्रकाश होगा

वहाँ अलंकारादि के बिना भी शरीर आकर्षक बन कर जन-मन-मानस को उत्कर्ष प्रदान करता रहेगा। इसी प्रकार रससिद्ध काव्य भी काव्य-जगत का मुकुट बनकर कला का सौंदर्य विकीर्ण करता है। रस-विहीन काव्य से दुर्गंध एवं अस्वास्थ्यकर तत्व ही विकसित होते हैं जो समाज के मस्तिष्क में गंदगी एवं बदबू उत्पन्न करके विषमता की ही स्थिति उत्पन्न करते हैं। अत: काव्य रसात्मक होता है।[33] **रस विहीन काव्य आत्मा विहीन शरीर की भाँति निर्जीव माना गया है।**

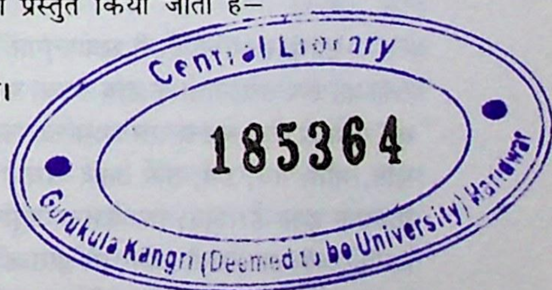
11. रस समूहात्मक होता है–रस परिपाक के समय उसके सभी तत्त्व विभावादि विद्यमान रहने चाहिये। अन्यथा रस-निष्पत्ति नहीं होगी। इसका आशय यह है कि रस समूहात्मक होता है। यद्यपि कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि अनुभाव और संचारी के बिना कहीं केवल विभाव से; विभाव और संचारी के बिना कहीं केवल अनुभाव से और कहीं विभाव एवं अनुभाव के बिना केवल संचारी भाव के वर्णन मात्र से ही रस परिपाक होता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। चाहे प्रत्यक्ष रूप में एक या दो ही भाव प्रदर्शित होते हों परन्तु परोक्ष में अन्य भाव भी अवश्य विद्यमान रहते हैं। यदि ऐसा न हो तो रस व्यंञ्जना नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ :–

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करैं, भौंहनि हँसैं, दैन कहैं नटि जाय ।। (बिहारी सतसई)

यह दोहा संयोगश्रृंगार का उदाहरण हैं। इस दोहे में सौगन्ध खाना, भौंहों में हँसना तथा नट जाना (मना कर देना) आदि अनुभावों का ही वर्णन किया गया है। अन्य भाव जैसे आलम्बन-उद्दीपन, आश्रय तथा संचारी यहाँ परिलक्षित नहीं होते। परन्तु परोक्ष रूप से आलम्बन रूप में श्रीकृष्ण, आश्रय रूप में ब्रजगोपियाँ या राधा, उद्दीपन रूप में मुरली तथा श्री कृष्ण द्वारा मुरली वापिस करने की मनुहार और हर्ष, गर्व, धृति, मति, तर्क, उत्सुकता आदि संचारी भाव भी विद्यमान हैं। अत: समस्त तत्त्वों के एक साथ उपस्थित होने से ही प्रस्तुत दोहा संयोगश्रृंगार की व्यंजना करने में समर्थ हो सका है।

केवल आलम्बन विभाव का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है–

नील परिधान बीच सुकुमार
खिल रहा अधिक अध खुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।''
''घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास। (कामायनी)



उपर्युक्त पंक्तियों में श्रद्धा मनु के रति स्थायी भाव के आलम्बन रूप में चित्रित की गई हैं। ये पंक्तियाँ भी संयोगश्रृंगार की ही हैं। इन पंक्तियों में श्रद्धा-रूप आलम्बन

का निरूपण तो प्रत्यक्ष रूप में हुआ ही है। उसके घुँघराले बाल, नील परिधान के द्वारा 'उद्दीपन विभाव' की भी झाँकी हो जाती है। परन्तु परोक्ष रूप में पर्वत का निर्जन एकान्तप्रान्त एवं श्रद्धा के हाव-भाव, हेला आदि उद्दीपन के रूप में; मनु आश्रय रूप में तथा मनु का श्रद्धा से वार्तालाप अनुभाव रूप में और हर्ष, गर्व, शंका, तर्क उत्सुकता आदि, संचारी भावों के रूप में परोक्ष रूप से विद्यमान हैं तभी संयोगशृंगार का परिपाक करने में उक्त पंक्तियाँ समर्थ हैं।

उद्दीपन का उदाहरण

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा।
दामिनि दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति जथा थिरनाहीं॥

(रामचरितमानस)

यहाँ आकाश में छाये हुए बादल, बादलों का गर्जन, बिजली का चमकना आदि परिदृश्य, वियोगी श्री राम के हृदय के 'रति' स्थायी भाव को जाग्रत करने में सफल हो रहे है। श्री राम का यह कहना कि ऐसी विषम परिस्थिति में मेरा मन बिना प्रिया (सीता) के डर रहा है, अनुभाव का प्रदर्शन है। यहाँ परोक्ष रूप में राम आश्रय हैं। अपहृत सीता आलम्बन हैं और शंका, चिंता, मोह, व्याधि, श्रम, स्मृति, त्रास, तर्क, वेग आदि संचारी भाव हैं।

रस का सांगोपांग उदाहरण भी प्रस्तुत किया जाता है:-

''बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कौन गाँव काकी है बेटी देखी नहीं कबहु ब्रज खोरी।
काहे कौ हम ब्रज-तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहत श्रवननि नँद-ढोटा, करत-फिरत दधि माखन चोरी।
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातनि भुरई राधिका भोरी॥''

(सू. सा.)

उपर्युक्त पंक्तियाँ भी संयोगशृंगार की हैं। इन में राधा आलम्बन, श्रीकृष्ण आश्रय, राधा का रूप तथा राधा के हाव-भाव, बातचीत एवं एकान्त वन प्रान्तर, उद्दीपन, श्रीकृष्ण को राधा से पता पूछना एवं साथ खेलने चलने का मनुहार करना अनुभाव तथा स्मृति, धृति, मति, गर्व, हर्ष, तर्क आदि संचारी भाव हैं। यहाँ रस के सभी अंगों के द्वारा रस परिपाक हुआ है। अत: यह कहना अनुचित न होगा कि रस 'समूहात्मक' होता है और उसकी व्यंज्जना सभी अंगों के द्वारा ही होती है चाहे वे अंग प्रत्यक्ष हों या परोक्ष।

12. रस-स्वरूप का निरूपण वेदान्त सापेक्ष है-रस स्वरूप की प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि रस-स्वरूप का विवेचन बिना दार्शनिक प्रक्रिया के स्पष्ट नहीं हो सकता। विद्वानों की यह मान्यता कि रस काव्य की आत्मा है, इस आधार पर खरी उतरती है कि रस का स्वरूप आत्मस्वरूपवत् है। जिस प्रकार

''वेदान्त'' में आत्मा का विवेचन निर्गुण, अखण्ड, तथा सत्-चित-आनन्द रूप में स्वीकार किया गया है और यह भी माना गया है कि आत्मा गुणों से बंधित नहीं है, वह पूर्णतया माया से मुक्त है परन्तु माया में लिप्त भासित होती है, ठीक यही स्थिति रस की भी है। रस भी लौकिक भाव से परे पूर्णतया अलौकिक भाव है। उसकी स्थिति रजोगुण तथा तमोगुण से मुक्त रहती है। सत्त्वगुण जो आत्मानुभूति का समीपी है, रस की स्थिति में उपादेय रहता है। रस का आधार स्थायी भाव होता है जो किसी भी शत्रु या मित्र भाव से विच्छिन्न नहीं होता और सभी भावों को आत्मसात् करके तद्रूप बना लेता है। इसीलिये रस आत्मा की भाँति अखण्ड, चेतनवत् तथा आनन्दमूलक माना गया है। रस-निष्पन्नता की स्थिति में सामाजिक सभी बाह्य एवं लौकिक प्रभावों से मुक्त रहता है और वह अलौकिक आनन्द की कक्षा में विचरण करता हुआ ब्रह्मानन्दवत् आत्मानन्द का अनुभव करता है। वेदान्त के अतिरिक्त सत्-रज-तम् इन गुणों से सम्बद्ध होने के कारण रस का संबंध 'सांख्य-दर्शन' से भी है। रस-प्रक्रिया को 'न्याय-दर्शन' के आधार पर भी सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। **परन्तु रस-स्वरूप का सम्यक् निर्धारण तब सम्भव हुआ जब उसे विभिन्न आचार्यों द्वारा 'वेदान्त' की खराद पर चढ़ाया गया।** भट्टलोल्लट, विश्वनाथ तथा पं॰ जगन्नाथ प्रभृति रसवादी आचार्यों ने रस का विवेचन वेदान्त दर्शन के आधार पर ही किया है। इसीलिए ये आचार्य ही अपने रस-विवेचन में सर्वाधिक सफल सिद्ध हुए हैं और रस-सिद्धान्त तथा स्वरूप निर्धारण सम्बन्धी इन्हीं का मत सर्वाधिक मान्य है। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना और आवश्यक है कि **जब तक रस को न्याय, शैव, सांख्य आदि दर्शनों के सिद्धान्तों से सम्बद्ध करके विवेचित किया जाता रहा, तब तक 'रस' का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट न हो सका। रस का स्वरूप तभी स्पष्ट हो सका जब उसे वेदान्त के सिद्धान्तों से सम्बद्ध करके देखा गया।** सांख्य मत में यद्यपि गुणों का (सत्, रज्, तम्) का व्यापक विवेचन उपलब्ध है परन्तु गुणों की सत्ता, स्वरूप तथा प्रभावादि को 'वेदान्त' में भी इसी रूप में स्वीकार किया गया है जिस रूप में 'सांख्य' मतावलम्बी स्वीकार करते हैं। **अधिकांश विद्वानों का मत यही है कि रस का स्वरूप, सिद्धान्त, प्रक्रिया आदि 'वेदान्त' दर्शन पर ही आधारित हैं। न्याय तथा शैव आदि दर्शनों के सिद्धान्तों के आधार पर रसस्वरूप का विवेचन करने से आत्म-स्वरूप की भांति 'रस' का स्वरूप भी पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं हो पाता। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रस का स्वरूप तथा सिद्धान्त आदि का मूल आधार 'वेदान्त' दर्शन ही है। अतः रस-स्वरूप का वास्तविक परिचय वेदान्त के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। इन दार्शनिक सिद्धान्तों से इतर देखने पर रस-स्वरूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि पं॰ विश्वनाथ तथा जगन्नाथ द्वारा वेदान्त पर आधारित रस स्वरूप आदि का विवेचन ही अधिक स्पष्ट, उपयुक्त एवं मान्य हुआ है।**

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'काव्य-रस' लौकिक 'रस' से भिन्न ब्रह्मानन्द के समान दिव्य आनन्दमयी चेतना है। कुछ विद्वान् रस के आनन्दत्व पर शंका व्यक्त करते हुए उसे सुख दु:खात्मक भी मानते हैं। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि यह काव्य-रस के प्रति उनका भौतिक दृष्टिकोण है जबकि 'काव्य-रस', भौतिक-रस से भिन्न होता है। उसका स्वरूप एवं परिवेश दिव्य होता है। ऐसी स्थिति में 'रस' के दु:खात्मक होने की गुंजाइश ही नहीं रहती, क्योंकि रसदशा सत्त्व गुण प्रधान, ज्ञान दशा होती है जो सुखात्मक है, दुखात्मक नहीं। यह स्थिति केवल उसी समय तक रहती है जब तक कि विचारक रसानुभव नहीं करता। रस-दशा में आने पर तो आलोचक का दु:खवाद का मोह भी नारद के मोह की भाँति स्वयं तिरोभूत हो जाता है। इसी तत्त्व को 'रस रहस्य' में इस प्रकार व्यक्त किया गया है।

''नृत्य, कवित देखत सुनत भए आवरन भंग।
आनन्द रूप प्रकाश है चेतन ही रस रंग ।
जैसो सुख है ब्रह्म को, मिले जगत सुधि जाति।
सोई गति रस में मगन भये सुरस नौ भाँति॥''

अर्थात् नृत्य देखने तथा कवित्त आदि के सुनते ही हृदय पर पड़ा हुआ वासना अर्थात् रजोगुण और तमोगुण का आवरण उठ जाता है और साधनामूलक सतोगुण का उद्रेक हृदय में हो जाता है जिससे हृदय के कुत्सित विकार लुप्त होकर दिव्य भावों का आलोक जगमगाने लगता है। अत: काव्यादि का अनुशीलन हृदय में आत्मानन्द का प्रकाश करता है। 'काव्य-रस' का सुख ब्रह्म के मिलन सुख के समान है जिसमें सांसारिक माया-मोह से उत्पन्न अज्ञान विस्मृत हो जाता है और विशुद्ध ज्ञान का आविर्भाव होता है।

रस का आनन्दवाद

रस में आनन्द-तत्त्व की अनिवार्यता की आलोचना भी हुई है परन्तु अंत में घुमा फिरा कर तोड़ आनन्दवाद के पक्ष में ही आता है। आलोचक जब तक रस की भौतिक कक्षा में विचरण करता है, तब तक तो वह लौकिकवाद (दु:ख सुखात्मवाद) के गीत गाता है परन्तु जब वह रस के अलौकिकत्व की ओर दृष्टिपात करता है तो उसे आनन्द की अनिवार्यता स्वीकार करनी ही पड़ती है। रस में आनन्दवाद के सम्बन्ध में डा. नगेन्द्र अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं –

''आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, पं. रामदहिन मिश्र, डॉ. भगवानदास, डॉ. श्यामसुन्दर दास, डॉ. गुलाबराय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सभी रस को आनन्द स्वरूप ही मानते हैं और इन्होंने नवीन-ज्ञान विज्ञान के प्रकाश में उसकी अलौकिकता एवं आनन्द रूपता का अपने-अपने ढंग से व्याख्यान किया है। इस प्रसंग में केवल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ही प्रबल अपवाद हैं--आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जो भारतीय शास्त्र परम्परा; विशेषत:

रसवाद के समर्थ पोषक होते हुए भी, रस की आनन्द रूपता का स्पष्ट विरोध करते हैं।।''[34]

आगे उन्होंने ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं जिनमें आचार्य शुक्ल ने रस की आनन्दवादिता के विरोध में अपने विचार व्यक्त किए हैं–

''मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हरकर उन्हें एक ही स्वरूप-सुख का दे देता है? क्या दुःख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं? क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन माँगना देख-सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं? क्या महमूद के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर यह जी में नहीं आता कि वह सामने आता तो उसे कच्चा खा जाते? क्या कोई दुःखान्त कथा पढ़कर देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती? चित्त का यह द्रुत होना क्या आनन्दगत है। इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है– उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।''[35] आगे डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं –

''मैं समझता हूँ कि आनन्द सिद्धान्त पर यह कदाचित सब से निर्मम प्रहार है जिसके सामने जैन आचार्यों का प्रतिवाद भी अपेक्षा कृत कोमल प्रतीत होता है।''[36]

परन्तु शुक्लजी का रस के सम्बन्ध में यह मत भी दृष्टव्य है–

''जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है।''

इस पर डॉ. नगेन्द्र अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं :–

''तात्पर्य यह है कि रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है, अर्थात काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्य समीक्षा पद्धति में अहं का विसर्जन और निस्संगता (प्उचमतेवदंसपजल - कमजंबीमउमदज) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तर या ब्रह्मानंद सहोदरत्व कहिये चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।''[37]

यही आधार लेकर डॉ॰ नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल को रस के आनन्दवाद के विरोधियों में मूर्द्धन्य स्थान पर अभिषिक्त कर दिया है। वे लिखते हैं– ''इस प्रकार आचार्य शुक्ल के मत से रस 1. आनन्दरूप नहीं है। 2. उसमें अस्मिता का भोग न होकर उसका विसर्जन है। वह प्रकृत भाव से मूलतः भिन्न न होते हुए भी परिणामतः भिन्न है। अर्थात्

प्रकृत भाव का सामान्य अनुभव जहाँ सुख दु:ख मय होता है वहाँ रस का अनुभवश्रृंगार तथा करुण दोनों रूपों में सुख और दु:ख दोनों से अधिक उदात्त और अवदात होता है।''[38]

आचार्य शुक्ल के मत का अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँच जाते हैं कि शुक्ल जी चाहे प्रत्यक्ष रूप से रस के आनन्दवाद का विरोध करते रहे हैं परन्तु परोक्ष रूप से उन्होंने रस के आनन्दवाद को स्वीकृति ही प्रदान की है। उन्होंने हृदय की मुक्तावस्था को रस-दशा माना है और आत्मा की मुक्तावस्था को ज्ञान-दशा। जब रसोद्रेक की स्थिति में हृदय अज्ञानावस्था से मुक्त होकर रस दशा को प्राप्त करेगा तो वह ज्ञान दशा नहीं तो क्या होगी? हृदय की मुक्ति तभी संभव है जब वह कुत्सित विकारों जैसे-स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, असत्य छल, कपट आदि से रिक्त होकर सत्य, अहिंसा, परोपकार, करुणा, सहानुभूति आदि के उत्कृष्टतम भावों से सिक्त हो जाए। यह स्थिति तभी संभव है जब हृदय से रजोगुण और तमोगुण का तिरोभाव होकर सतोगुण का आविर्भाव हो और जब हृदय में सत्वगुण का उद्रेक होगा, तो सांसारिक ज्ञान (अज्ञान) का ह्रास अवश्य होगा और जब अज्ञान का ह्रास हो जाएगा तो हृदय अवश्य ही माया के असत् बंधनों से छुटकारा प्राप्त कर मुक्त हो जाएगा। यह मुक्ति और कुछ नहीं आनन्दमयी आत्म चेतना का ही रूप होती है जिसे आत्मदर्शन की भाषा में ज्ञान कहा जाता है और भाव-दर्शन की भाषा में रस। अत: यह स्पष्ट ही है कि शुक्लजी चाहे रस के आनन्दवाद का कितना भी विरोध करते रहे हों परन्तु फिर भी रस के आनन्द-तत्व-प्रतिपादन पर उनकी स्वीकृति जाने या अनजाने में उपलब्ध हो ही जाती है। जैसे– तुलसी का 'स्वान्त : सुखाय' ही 'परान्त: सुखाय' है, उसी प्रकार शुक्ल जी का दुखा:त्मवाद ही सुखात्मवाद है।

दूसरी बात यहाँ यह भी विचारणीय है कि आचार्य शुक्ल ने रसास्वादन के प्रकृत स्वरूप को अनिर्वचनीय या लोकोत्तर रूप में नहीं माना है। काव्य-रस आस्वादन के प्रकृत स्वरूप से अवश्य ही भिन्न होता है। प्रकृत रूप में यदि हम किसी को रोता हुआ देखते हैं तो उसके दु:ख को सुनकर या देखकर हमको अवश्य ही दु:ख होता है और हमारी सहानुभूति व सहायता भी प्राप्त हो जाती है परन्तु फिर भी इस प्रक्रिया में स्वार्थ भावना का प्राधान्य रहता है। यदि हमारा स्वार्थ किसी दु:खी व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय से जुड़ा है तो हम उसके दु:ख से दु:खी होंगे और यदि हमारा उससे कोई स्वार्थ या सम्बन्ध नहीं है तो हम दु:खी नहीं होंगे। यदि किसी असम्बद्ध व्यक्ति के दु:ख का हमारे मन पर अधिक दबाब पड़ा भी तो सामान्य सा खेद प्रकट करके या उसकी कुछ सहायता आदि करके हम अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेंगे। उदाहरणार्थ:– यदि कोई घटना हो गई है और उसमें कुछ व्यक्तियों की मृत्यु हो गई है, यदि मृतकों में कोई हमारा सम्बन्धी होगा तो हम भी धाड़ मार-मार कर रोयेंगे। यदि उनमें हमारा कोई सम्बन्धी न हुआ तो हम केवल दर्शक मात्र होंगे और हमारा

शोक फोकटी होगा। इसके अतिरिक्त किसी अर्थी को देखकर और उसके पीछे धाड़ मार कर रोते हुए उसके सम्बन्धियों को देखकर हमारा ध्यान यदि उस ओर आकर्षित भी हुआ तो अधिक से अधिक हम यह कह देंगे कि कोई मर गया है। परन्तु काव्य पढ़ने या नाटक आदि देखने में वस्तु स्थिति इसके विपरीत ही होती है। शोक के आश्रय और आलंबन से हमारा अवश्य ही कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस वैयक्तिक सम्बन्ध के अभाव में हमारा हृदय एक साधारणत्व धर्म का आधार बन जाता है और वहाँ केवल बन्धु वियोग, पुत्र वियोग आदि की भावना शेष रह जाती है, जिससे हृदय में शोक का भाव जाग्रत तो होता है परन्तु यह दुष्परिणामी नहीं होता। रजोगुण और तमोगुण के तिरोभाव के पश्चात् सत्वगुण प्रधान होकर यह अलौकिक स्थिति में ही उद्भूत होता है। यह स्थिति भाव की अज्ञान और माया रहित स्थिति होती है। अज्ञान असत् तथा दु:खप्रद होता है परन्तु जब अज्ञान का लोप हो जाता है तो चित्तवृत्ति में दु:ख की स्थिति का नामोनिशान ही नहीं रहता और सत्त्वगुणमय स्वयं प्रकाशानन्द अखंड चिन्मय तथा ब्रह्मानन्द सहोदर रूप परिपक्व स्थायी भाव की अनुभूति होती है। अत: करुण आदि के समय काव्य-रस के अन्तर्गत शोक आदि भावों के अनुशीलन के समय भी सामाजिक का हृदय आनन्दित ही होता है क्योंकि शोक का भान केवल आरोपित होता है और आनंद का वास्तविक। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है– जब शैव्या मृत-पुत्र को श्मशान भूमि पर ले जाती है और रोती है, तो सामाजिक के मन में उसके शोक के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। वह विश्वामित्र के कुत्सित कार्य की भर्त्सना करता है। जब हरिश्चन्द्र स्वयं अपने पुत्र के शोक में दु:खी नहीं होता और वह कर्तव्य परायणता पर दृढ़ रहता है तो सामाजिक भी दम्पत्ति के सत्य-पालन रूप धर्म की प्रशंसा करता हुआ उनके असाधारण त्याग, बलिदान सहिष्णुता, बुद्धिमत्ता आदि के दिव्य गुणों से अभिभूत हो जाता है और मन ही मन उनकी प्रशंसा करने लगता है। जब हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा से प्रभावित होकर विश्वामित्र प्रकट होते हैं ओर उनको वरदान देते हैं तथा उनके पुत्र को पुनर्जीवित करते हैं तो सामाजिक का हृदय मारे आनन्द के फूला नहीं समाता। इस प्रकार यहाँ यह बात जान लेना आवश्यक है कि काव्य-रस में सब कुछ विशिष्ट ही होता है। काव्य का नायक जन साधारण की अपेक्षा अधिक गुणवान्-शक्तिवान् तथा आचरणवान् होता है। उसमें दिव्य मानवीय गुणों का प्रकाश; जैसे-त्याग, बलिदान, सहिष्णुता, साहस आदि का चरम रूप देखा जाता है जिसके द्वारा सामाजिक आह्लादित होता है। उन्हीं दिव्य गुणों के विकास को देखने और सुनने के लिए ही तो वह नाटक देखता है– काव्यादि सुनता है और तदुपरांत अपने हृदय में भी उन्हीं गुणों का विस्तार पाता है। जैसे हरिश्चन्द्र को कष्ट झेलते देखकर, वनवास में राम-सीता और लक्ष्मण को वन में भटकते देखकर, लक्ष्मण को मूर्छित और जीवित होते देखकर, दधीचि को हड्डियों का हँसते-हँसते दान देते देखकर, शिवि को अपना माँस स्वयं काट-काट कर चढ़ाते देखकर, महाराणा प्रताप को घास की रोटियाँ खाकर

धर्म का पालन करते देखकर, गुरु गोविन्द सिंह के बच्चों को जिंदा दीवार में चुनते देखकर सामाजिक का हृदय कर्तव्य निष्ठा, सत्य परायणता तथा धर्म परायणता के अलौकिक आदर्श पर निछावर हो जाता है। वह सोचता है कि यदि इस स्थिति में मैं होता तो यह सब हँसते-हँसते झेलता। धन्य हैं महाराणा प्रताप, धन्य है गुरुगोविन्द सिंह और उनके वे पुत्र जो हँसते-हँसते अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए बलि हो गये। काव्य-रस की यही स्थिति होती है जो अनिर्वचनीय, लोकोत्तर, प्रेरणादायक और आनन्दमयी होती है। मुँह लटकाकर रोने की स्थिति काव्य-रस में कभी नहीं आती। यदि आँसू भी आयेंगे तो वे सहानुभूति मूलक होंगे जो कुछ समय के लिए सामाजिक के हृदय को गंभीर और भारी बना सकते हैं परन्तु स्थिति के परिवर्तित होते ही उसका हृदय हल्का एवं प्रफुल्लित हुए बिना नहीं रहता और आदर्शोन्मुख हृदय कभी रोता नहीं। काव्य का दु:खवाद आदर्श जन्य सुख की ओर प्रेरित करने वाला होता है।

उपर्युक्त आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि भीषण कष्ट झेलते हुए काव्यादि के पात्रों में जब सामाजिक; सत्य-अहिंसा, परोपकार, क्षमा, दया आदि लोकोत्तर गुणों का विकास देखता है तो उसका शोक का भाव अवश्य ही आनन्दमयी चेतना का सहकारी बनकर आनन्दवाद की सृष्टि ही करता है। यदि ऐसा न होता तो सामाजिक काव्यानुशीलन तथा नाटकादि के प्रेक्षण में अपने समय और धन आदि का दुरुपयोग क्यों करता। वह छब्बे बनने जाकर दुब्बे बनकर आने को क्यों पसंद करता। डॉ. नगेन्द्र ने रस सिद्धान्त में यही मत व्यक्त किया है-

''माना कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' का प्रेक्षण सहृदय 'दांत निकालने के लिए' नहीं करता, पर क्या 'आँसू बहाने के लिए' वह समय और धन का व्यय कर रहा है? शुक्ल जी की दृष्टि एकांगी नहीं थी यह शंका उनके मन में थी, अत: अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए उन्होंने रस के स्वरूप की अपनी मान्यता के अनुकूल नवीन व्याख्या प्रस्तुत की।'' (रस सिद्धान्त पृ. 100)

कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी दु:ख के सुखात्मक पक्ष की ही पुष्टि की है-

''दु:ख की तीव्र उपलब्धि आनन्दकर है, क्योंकि वह निविड़ अस्मिता सूचक है; केवल अनिष्ट की आशंका आकर बाधा देती है। उस आशंका के न रहने पर दु:ख को मैं सुन्दर कहूँगा। दु:ख हमें स्पष्ट बना देता है। अपने पास अपने को अस्पष्ट नहीं होने देता। गंभीर दु:ख भूमा है, ट्रैजैडी में वह भूमा है, वह 'भूमैव सुखम्' है।'' (साहित्येरपथ की भूमिका)। धर्म और देश की रक्षादि के लिए कष्ट सहन करने की शक्ति एक अलौकिक गुण माना जाता है। कवि अपने रचना कौशल से इन अतिमानवीय गुणों का समावेशन काव्य या नाटक के पात्रों में विकसित होता हुआ दिखाता है जो नाटक के दिखने या काव्यादि के अनुशीलन से हृदय में एक दिव्य आलोक भर देते हैं। उदाहरणार्थ- जब महाराणा प्रताप की बच्ची के हाथ से वनविलाव घास की रोटी भी छीन कर ले गया और उन्होंने बच्ची को भूख से तड़पते देखकर अकबर की अधीनता

स्वीकार करने को पत्र भेजा। वह पत्र अकबर के दरबार में मौजूद कवि पृथ्वीराज को मिला तो उन्होंने महाराणा के दु:खों की परवाह न करके कौशल से[39] उस पत्र को जाली सिद्ध करा दिया तथा पुन: महाराणा को देश की आन पर मर मिटने के प्रण को पक्का कर दिया। इस समस्त प्रसंग में बच्ची की भूख से तड़पन को कोई महत्व नहीं देता। महाराणा के कष्ट सहन करने पर कोई आँसू नहीं बहाता। हाँ उनके देश-धर्म की आन पर अडिग रहने की दाद हर कोई देता है। रस का यही लोकोत्तर रूप होता है जो बाहर से शोकाभिभूत आभासित होते हुए भी मूल रूप में आनंद का प्रदाता होता है। जिस प्रकार जल अत्यधिक शीलत दिखाई देते हुए भी अपने अन्तरतम में वाड़वाग्नि की उष्णता संजोये रहता है उसी प्रकार करुण आदि रस भी काव्य में बाहर से शोक-संयुक्त दिखाई देते हुए अन्तरतम में शौर्य, पराक्रम, धर्म-परायणता, कष्ट-सहिष्णुता आदि का दिव्य आनंद छिपाये रहते हैं। यही कारण है कि दु:खान्त कृतियों को पढ़ने में भी मनुष्य उतना ही तन्मय हो जाता है जितना कि सुखान्त में। सामाजिक के आँसू शोक के नहीं होते वे आनन्दाश्रु ही होते हैं क्योंकि शोक के आँसू अनिष्ट कारक होते हैं जबकि काव्यादि का श्रवण और नाटकादि का दर्शन अनिष्ट कारक न होकर प्रेरणादायक होता है।

'करुण' के अतिरिक्त यही स्थिति 'बीभत्स', 'रौद्र', 'भयानक' 'रसों' की भी है। बीभत्स में घृणित वस्तुओं एवं कुत्सित वृत्तियों के त्याग का भाव रहता है जो आनन्द का कारण बनता है। रौद्र में क्रोध के प्रदर्शन द्वारा क्रोध के आश्रय के साहस एवं उत्साहादि पोषक भाव जागरित रहते हैं जो उत्साहवर्द्धक हैं। भयानक रस आश्रय की आत्म-रक्षक क्रियाओं-चेष्टाओं एवं विशाल सूझ-बूझ का प्रदर्शन करके सहृदय को संकट के समय तज्जनित भयानक स्थिति का सामना करने का बल प्रदान करता है। अँग्रेज शासकों द्वारा देश भक्तों का निर्ममता पूर्वक दमन करने का कार्य भयानक एवं आतंकवादी था जिस पर श्री राम प्रसाद बिस्मिल की मात्र दो पंक्तियाँ पानी फेर देती हैं–

'सर फरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है॥'

भयानक रस में परिणामत: शौर्य का अद्‌भुत प्रकाश छिपा रहता है। उच्च मानवीय गुण जैसे-सहिष्णुता, उत्साह, बलिदान आदि का विकास भी भय के आतंकवादी परिवेश से ही होता है। अत: भयानक रस भी शिक्षाप्रद एवं सद्‌गुणों का विकास करता है।

काव्य-रस में आनन्दवाद की प्रतिष्ठा संस्कृत तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध आचार्यों के अतिरिक्त बँगला तथा मराठी के आचार्यों ने भी की है –

'कवि जब अपनी प्रतिभा के माया बल से लौकिक शोक तथा लौकिक कारण का एक अलौकिक चित्र काव्य में प्रस्फुटित करता है, तभी पाठक के मन में, रस का उदय होता है। जिसका नाम 'करुण-रस' है। यह 'करुण रस' शोक का 'इमोशन' नहीं। शोक दु:खदायक होता है, किन्तु कवि का काव्य मन में जिस करुण रस का संचार

करता है, वह आँखों में अश्रु लाने पर भी मन को अपूर्व आनन्द प्रदान करता है। यह बात काव्य का आस्वाद जिसने किया है, वही जानता है............. ।'[40]

साहित्य दर्पण में भी करुण रस का परिणाम सुखात्मक माना है।

''करुणादावपि रसे जायते यत् परम सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥'' (साहित्य-दर्पण)

करुणादि का मानसिक उपादान 'भाव' दुःखमय होने पर भी परिणामतः 'रस' तो नित्य आनन्द का कारण है।'

इस विवेचन से भी रस के आनन्दवाद की सिद्धि होती है। काव्य के अन्तर्गत जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कवि अपने रचना कौशल से प्रयुक्त पात्रों में अलौकिकत्व के गुणों का आरोप करता है जिससे घोर दुःखवाद में भी वे कमल-पत्रवत् निर्वैयक्तिक रहते हैं। जैसे रामचरित मानस में महात्मा तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर राम और सीता में ब्रह्मत्व का आरोप करके असाधारणत्व का निर्वहन कर लिया है। राम और सीता पर जो दुखों का पहाड़ टूटा था उसे वे हँसते-हँसते सहन कर गये। जहाँ कहीं ''हा खग मृग हा मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी।'' या ''घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा।'' का प्रसंग उपस्थित हुआ है वहीं राम को एक 'प्राकृत नर की नाईं' लीला करते दिखाया गया है—अर्थात् यह उनका नाटक था वास्तविक विलाप नहीं था। साथ ही सीता का भी उन्होंने अग्निप्रवेश कराने के पश्चात् छाया रूप में ही लंका में जाना दिखाया है और इसीलिए अग्नि परीक्षा के समय न सीता को शोक था और न राम को। यही स्थिति 'सूरसागर' के नायक श्री कृष्ण की है। जायसी ने इसी प्रवृत्ति से अभिभूत होकर पद्मावती में ब्रह्म-तेज की स्थापना कर डाली है। यह काव्य में आनन्दवाद की भारतीय परम्परा की काव्य कुशलता का ही कमाल है जो पाश्चात्य ट्रेजैडी आदि से भिन्न है और लोकोत्तर है। भारतीय मनीषी लौकिक को कभी महत्त्व नहीं देता, उसका काव्य-पात्रांकन, रचना कौशल, आदर्श और मान्यताएँ सब कुछ लोकोत्तर ही होता है क्योंकि उसकी दृष्टि में लौकिक तो असत् है जो अस्तित्व हीन है। सत् तो केवल अलौकिक है जिस की सत्ता है। अतः तद्रचित काव्य का विषय-रस लौकिक कैसे हो सकता है, वह वास्तव में अलौकिक है और अलौकिक में सब कुछ आनन्दमय है।

डॉ. नगेन्द्र काव्य रस के आनन्दवाद के सम्बन्ध में मराठी के आलोचकों के मत की समीक्षा करते हुए लिखते हैं –

''मराठी के आलोचक भी काव्य शास्त्र के प्रति अत्यन्त प्रबुद्ध रहे हैं—उन्होंने रस सिद्धान्त के विविध पक्षों पर अत्यन्त गंभीर एवं स्वतंत्र शास्त्रचिंतन प्रस्तुत किया है। उनका भी बहुमत रस की आनन्दरूपता के ही पक्ष में है।''

(रस सिद्धान्त पृ. 100)

पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भी डॉ. नगेन्द्र का मत

इस प्रकार है –

"पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में रस के विवेचन का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यदि रस का अर्थ काव्यास्वाद है तो वहाँ भी कम से कम प्राचीन आचार्यों का बहुमत इसी पक्ष में रहा है कि काव्यास्वाद आनन्द रूप होता है।" (रस सिद्धान्त पृ. 103)

समस्त काव्य शास्त्रीय चर्चा का निचोड़ यह बैठता है कि करुणादि दु:खात्मक रस भी परिणामत: सुखात्मक ही होते हैं। यह बात व्यवहार में भी एक प्रकार से सत्य सिद्ध होती है। जिस प्रकार मिर्च का स्वाद कटु होता है परन्तु लोग फिर भी मिर्च खाते हैं और आनन्दित होते हैं। उसी प्रकार काव्य-रस के शौकीन (सहृदय) करुणादि रसों में शोक आदि का आरोप होते हुए भी उसमें विकट शौर्य, पराक्रम, सहिष्णुता आदि के भावों की अनुभूति करके आनन्दित होते हैं। पाश्चात्य ट्रैजैडी में भी यही देखने को मिलता है। शैक्सपीयर के किंगलीयर' में रिगेन की मृत्यु शोक की एक दुर्वह घटना है परन्तु उसकी मृत्यु के पीछे रिगेन का पितृप्रेम, देशप्रेम, त्याग तथा बलिदान आदि का दैवी भाव हृदय को आनन्दित किये बिना नहीं रहता। इसी प्रकार ऐंटोनी और किलोपेट्रा तथा 'ऑलफारलव' में ऐंटोनी और किलोपेट्रा, आगस्टस सीजर के सामने हुई हार के पश्चात आत्महत्या कर लेते हैं। उनकी यह आत्महत्या बड़ी हृदय द्रावक होती है परन्तु उसमें प्रेम की वेदी पर बलिदान का जो आदर्श विकसित होता है वह हृदय को आनन्दित ही करता है। शोक तो वहाँ केवल आभासित होता है। बर्नार्डशा की 'सेंट-जौन' का बलिदान भी इसी प्रकार का है। त्याग और बलिदान का अदम्य उत्साह शोक को दबाकर सामाजिक के हृदय में आनन्द का प्रकाश उत्पन्न करता है। अत: यह कहना अनुचित न होगा कि काव्य रस का आनन्द लोकोत्तर आनन्द है जिसके द्वारा पाठक-श्रोता या दर्शक मनोरंजन करता है। शिक्षा और आदर्श ग्रहण करता है तथा सांसारिक दु:खवाद से ऊपर उठकर आध्यात्मिक आनंदवाद का अनुभव करता है। अत: काव्य में 'रस' एक परम उपयोगी तत्व है। वह केवल सुखात्मक ही है। दु:खात्मक नहीं। यदि ऐसा न होता तो करुण रस बहुल कृतियाँ जैसे –उत्तररामचरित, रामचरितमानस, प्रिय-प्रवास, छायावादी काव्य आदि का कोई मूल्य ही न होता, जबकि व्यवहार में यही काव्य सर्वाधिक उपयोगी एवं ग्राह्य है। पाश्चात्य काव्य जगत में तो ट्रेजेडी को ही प्रधानता दी जाती है।

इस समस्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'करुण' आदि रसों के दु:खात्मक पक्ष की उपेक्षा करते हुए और रस के अलौकिकत्व को ग्राहय मानते हुए, प्रबल एवं पुष्ट तर्कों का आश्रय लेते हुए काव्य शास्त्रीय या समालोचक आचार्यों का वहुमत रस के आनन्दवाद के पक्ष में ही है। कुछ विद्वान् जो रस को 'सुख दु:खात्मक' दोनों ही प्रकार का मानते हैं वे भी रस के आनन्दवाद को परोक्ष रूप में स्वीकार करते हैं। रस के आनन्दवाद का 'वेद' उसके अलौकिकत्व की रहस्यमयी छाया में छिपा है। रस के अलौकिक रूप से उद्‌भूत भाव को स्वीकार कर लेने पर रस के आनन्दवाद की समस्या का समाधान शीघ्र ही हो जाता है परन्तु विरोध में ही किसी सिद्धान्त का

चरम रूप विकसित होता है। अत: रस के आनन्दवाद पर जितना निर्मम प्रहार हुआ उतना ही उस का रूप विशुद्ध होकर निखरता चला गया और भ्रान्तियों तथा विकारों का परिष्कार होकर शाश्वत मूल्यों का निर्धारण संभव हो सका। ज्ञान का श्रोत कभी रुकता नहीं है, वह अजस्त्र गति से प्रवाहित होता रहता है। अत: रस के आनन्दवाद का क्रम भी अभी अंतिम नहीं कहा जा सकता। आगे आने वाली पीढ़ियाँ भी इस पर तर्क-वितर्क करके नये मूल्य निर्धारित कर सकती हैं।

करुण रस का आस्वाद

भवभूति की धारणा

भवभूति ने 'एकोरस: करुण एव' का शंखनाद करके करुण रस की महत्ता का प्रतिपादन किया। इस स्थापना से यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है कि 'करुण रस' ही एकमात्र ऐसा रस है जो काव्य के प्रति अभिरुचि एवं आकर्षण को बढ़ाता है और उपेक्षा भाव को तिरोहित करके हृदय को भावों की गहराई में उतरता चला जाता है। काव्य की सरसता, मार्मिकता एवं गम्भीरता का रहस्य करुणा की सरस धारा में निहित है। यही कारण है कि करुणा पूर्ण काव्य, नाटक, दृश्य एवं चित्रों का ही मन पर अधिक प्रभाव माना गया है। देश-विदेश आदि में करुण-रस-युत काव्य एवं साहित्य की ही अधिक सर्जना एवं सराहना हुई है। तुलसी कृत 'रामचरितमानस' अपने करुणा-सिक्त गंभीर एवं मार्मिक कथा-स्थलों के कारण ही भावुक भक्तों का हृदय-हार बना हुआ है। सूर, कबीर एवं मीरा की अश्रुधारा में अवगाहन करने वाला अपने को धन्य मानता है। महादेवी, प्रसाद एवं निराला के आँसुओं से साहित्य एवं समाज का धरातल सरस बना हुआ है। यही गति उपन्यास नाटकादि की है। फिल्मी दुनिया में करुणापूर्ण स्थलों का ही अधिक मूल्य मिलता है। महत्त्व की इस मूर्धन्य कसौटी के द्वारा किंचित मात्र भी यह संदेह नहीं रह जाता कि भवभूति का 'एकोरस: करुण एव' कहना सत्य एवं सारगर्भित नहीं है।

जहाँ भवभूति ने करुण रस को ही एक मात्र रस माना है। वहाँ प्रभृति आचार्यों ने 'सुख दु:खात्मको रस:' आदि कहकर करुण आदि रसों को दु:खात्मक की संज्ञा दी है। करुण को दु:खात्मक मानने वालों का मत है कि जब काव्य-नाटकादि के पढ़ने सुनने आदि से हृदय में शोक व्याप्त हो जाता है और सहृदय रोने लगता है या रोने की स्थिति में आ जाता है तो आँसुओं के गीले धरातल पर दु:ख का दलदल स्वीकार करना ही अधिक समीचीन है। वहाँ आनन्द का समुद्र बहाना वास्तविकता का जानबूझ कर तिरस्कार करना है। व्यावहारिक दृष्टि से तो यह अवश्य ही विरोधाभास की स्थिति ज्ञात होती है क्योंकि अप्रासंगिक एवं उल्टी बातें समान्य व्यक्ति के मन में क्षोभ उत्पन्न करने में सहज ही सफल हो जाती हैं। सुख को दु:ख कहना और दु:ख को सुख बताना अवश्य ही हास्यास्पद एवं अटपटा है परन्तु इस विरोध का परिहार करने का प्रयास

किया गया है। एक सुदीर्घ परम्परा इस रहस्य को उद्घाटित करती चली आ रही है कि 'करुण रस' भी आनन्दमूलक है और उसका आस्वादन भी उसी प्रकार सहज रूप से संभव है जिस प्रकारशृंगरादिका।[41]

'करुण रस' के आनन्दवाद का साधार विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है –

करुण रस के आनन्दवाद का विवेचन

रस अलौकिक होता है

सभी आचार्यों ने यह एक मत से स्वीकार किया है कि 'काव्य-रस' लौकिक रस से भिन्न अलौकिक होता है और उसका सम्बन्ध आत्मरूप चैतन्य से जुड़ा है। रस से उत्पन्न आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की संज्ञा दी जाती रही है और रस को ब्रह्म के समकक्ष मानकर 'रसोवैस' की उपाधि से विभूषित किया जाता है। करुणरस भी अलौकिक रस की कोटि में आता है। करुण का स्थायी भाव शोक, उसके अनुभाव आँसू तथा आलम्बन विनष्ट बन्धु या वस्तु आदि को देखकर, प्रमाता के मन में कष्ट सहिष्णुता, धैर्य, साहस, त्याग, बलिदान आदि के भाव जाग्रत हो जाते हैं और वह लौकिक दु:खवाद के धरातल से ऊपर उठकर सद्भावों के उच्च मानवीय धरातल पर पहुँच जाता है। प्रमाता की यह अलौकिक स्थिति सुखात्मक ही होती है, दुखात्मक नहीं। उदाहरणार्थ :– सतीत्व की रक्षा के लिए आग में जलने वाली पद्मिनियों एवं राष्ट्रीय गौरव की रक्षा के लिए केसरिया वस्त्र पहन कर शत्रु-सैन्य का संहार करने वाले बलिदानी राजपूतों की गौरवपूर्ण गाथा को पढ़कर किस सहृदय का हृदय गर्व से न फूल उठेगा और कौन ऐसा पाषाण हृदय होगा जिसके मन में अदम्य त्याग एवं बलिदान के भाव जाग्रत न होंगे। यह दृश्य आँसुओं को सोख लेगा और सामाजिक के हृदय में शौर्य की ज्वाला उत्पन्न कर देगा। विचारणीय बात यह है कि जब चित्तौड़ की स्त्रियाँ प्राण देते नहीं रोतीं औरा राजपूत हँस-हँस कर मौत का वरण करते हैं तो समाजिक क्यों रोयेगा। साथ ही जिनकी गौरवपूर्ण गाथा इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है; जिनके गीतों के द्वारा सूखी नसों में बिजली दौड़ पड़ती है; जो कायरों को भी युद्ध में भेजने का एक अमोघ अस्त्र है, वह दु:खात्मक कभी नहीं हो सकता। वह आनन्ददायक एवं प्रेरणादायक ही होता है।

इसी प्रकार प्रह्लाद को बार-बार मारने का यत्न करना; हरिश्चन्द्र का सत्य के लिए कष्ट सहन करना; राम को वनवास की आज्ञा देना, पाण्डवों का वन-वन मारे-मारे घूमना, मोरध्वज का अपने ही पुत्र का 'आरे' से वध करना; गौतम बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण; महाराणा प्रताप का देश की रक्षा के लिए घास की रोटी खाना; गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों का धर्म की रक्षा के लिए दीवार में चुनना; झाँसी की रानी का देश के हित में बलि होना और स्वाधीनता की लम्बी लड़ाई में भगतसिंह, चन्द्रशेखर आदि वीरों का हँसते-हँसते मातृभूमि की वेदी पर प्राण देना आदि ऐसे अलौकिक कृत्य

हैं जिनमें आदि से अन्त तक एक महान लक्ष्य की सिद्धि का अनुपम आलोक निहित है जो शोक के आँसुओं को सुखा डालता है और दुःख के अन्धकार को समूल नष्ट कर देता है। साहित्यदर्पणकार ने रस के इस अलौकिकत्व का आश्रय लेकर करुण के आस्वाद की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है:-

''लोक के स्वभाव से शोक-हर्षादि के कारण रूप से प्रसिद्ध, वनवासादि से लोक में लौकिक शोक आदि भले ही पैदा हुआ करें; परन्तु काव्य से सम्बन्ध होने पर वे कारण अलौकिक विभाव कहलाते हैं। अत: उन सब से सुख ही होता है, यह मानने में क्या क्षति है।''[42]

'रसगंगाधर' में इसी तथ्य का समाधान इस प्रकार किया है -

''यह अलौकिक व्यापार की महिमा है कि उसके द्वारा अभिव्यक्त अरमणीय शोकादि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने लगते हैं।''[43]

'अनघ' की ये पंक्तियाँ भी इसी ओर संकेत करती हैं

''इष्ट मुझे है यही सहूँ शतदाह मैं।
चैन न पाऊँ करूँ न फिर भी आह मैं॥'' (मै. श. गुप्त)

'दिनकर' की निम्न कविता का भाव भी बहुत कुछ यही है-

''सच है विपत्ति जब आती है।
कायर को ही दहलाती है।
सूरमा नहीं धीरज खोते।
संकट में बैठ नहीं रोते॥'' (रश्मिरथी)

'आल्हा' की निम्न पंक्तियों का भी इस प्रसंग में अवलोकन किया जा सकता है -

''कटि-कटि सीस गिरें धरनी पै उठि उठि रुंड करें तरवारि।''
''बारह बरस कूकरा जीवै, सोलह बरस बनी कौ स्यार।
बरस अठारह छत्री जीवै, आगे जीवत को धिक्कार॥''

वीरता के अलौकिक वातावरण में मरण-शोक का भी भान नहीं रहता। राजस्थानी के निम्नलिखित दोहे का भाव भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है-

''सूरा तन सूरा चढ़ै सत सतियाँ सम दोय।
आड़ी धारा ऊतरैं गनैं अनल नूँ तोय॥''

उपर्युक्त सभी तर्कों से यह पुष्टि हो जाती है कि रस अलौकिक होता है और करुण आदि शोक मूलक रसों का प्रभाव भी हृदय पर अलौकिक रूप में ही पड़ता है जिससे सामाजिक का मन लौकिक शोक के धरातल से ऊपर उठकर अलौकिक आनन्द के धरातल पर पहुँच जाता है जहाँ दुःखानुभूति का तिरोभाव होकर केवल सुखानुभूति मात्र शेष रह जाती है।

डॉ. नगेन्द्र ने भी इस समस्या का समाधान रस के अलौकिकत्व के द्वारा ही प्रस्तुत

किया है–

''प्रस्तुत समाधान रस की अलौकिकता पर आश्रित है और उसी की सिद्धि असिद्धि पर इस की मान्यता निर्भर करती है।'' (रससिद्धान्त पृ. 122)

रस की चर्वणा साधारणीकरण द्वारा होती है

रस निष्पत्ति का मूल कारण साधारणीकरण है. जिससे काव्यादि के पठन-पाठनादि से हृदय में रजोगुण तथा तमोगुण का ह्रास होकर सत्त्वगुण का प्रादुर्भाव हो जाता है। तब चित्त की वृत्ति 'निज पर तटस्थ' के भाव से रहित होकर सामान्य भाव भूमि पर आ जाती है और प्रमाता के हृदय से कलुषित भावों जैसे- ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, असत्य, हिंसा, स्वार्थ, लोभ, माया, मोह आदि का तिरोभाव हो जाता है और सत्त्वगुण मूलक तेजोमय भाव जैसे-सत्य, अहिंसा, त्यांग, तप, बलिदान, सहिष्णुता, सहानुभूति आदि का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस स्थिति में आकर सामाजिक की चित्तवृत्ति शांत एवं निश्चल हो जाती है और वह एक वीतराग मुनि की स्थिति में आकर शोकादि के कष्टप्रद भाव से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[44] करुणापूर्ण स्थलों के पठन-पाठनादि से वह समान भावी बनकर तज्जनित शौर्य, पराक्रमादि उच्च मानवीय गुणों का अनुभव करने लगता है। संकट को हँस-हँस कर झेलना, संकट में न रोना और विचलित न होना। कष्ट सहन करने की शक्ति प्राप्त करना ही सच्चा सुख है।[45] इसका अनुभव सामाजिक को करुण रस के उच्च मानवीय धरातल पर पहुँचकर ही हो पाता है। यह सब रस के साधारणीकरण व्यापार का ही परिणाम है जिसके बिना रस का आस्वादन संभव नहीं है।

भट्टनायक द्वारा करुण रस के आस्वादन की समस्या का समाधान साधारणीकरण द्वारा ही व्यक्त किया है– ''काव्य में सहृदय जब शब्दार्थ को दोषमुक्त करके और गुणालंकारादि से युक्त करके नाट्य में चतुर्विध (आंगिक, वाचिक, कायिक एवं सात्त्विक) अभिनय के द्वारा भावकत्व व्यापार से निंविड़ निज मोह संकटता अर्थात् अपने गहन मोह रूपी संकट का निवारण करता हुआ जब विभावादि का साधारणीकरण कर लेता है तभी भाव्यमान रस की चर्वणा करता है।''[46] इसका आशय यह हुआ कि काव्यादि में रस साधारणीकरण व्यापार द्वारा ही आस्वाद्य (चर्वणा के योग्य) बन पाता है और भावों के साधारणीकृत अर्थात 'मेरे, तेरे, अपने, पराये के भाव से रहित होते ही रस में दु:खात्मकता का अंश शेष नहीं रहता वह पूर्ण सुखात्मक बन जाता है। अत: 'करुण रस' शोक मूलक होते हुए भी काव्य में उसकी प्रतीति सुखात्मक ही होती है।

डॉ॰ नगेन्द्र लिखते हैं–''कल्पना के चमत्कार से साधारणीकृत होकर शोकादि की विशिष्टता नष्ट हो जाती है-व्यक्ति सम्बन्ध से मुक्त होकर उसके स्थूल लौकिक सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं, अर्थात उसका रूप सामान्य जीवनगत अनुभूति की अपेक्षा अधिक उदात्त और अवदात हो जाता है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में व्यक्तिबद्ध 'अल्प' की चेतना में सुख नहीं है; किन्तु व्यक्ति की सीमाओं से मुक्त 'भूमा' की चेतना में परम सुख की उपलब्धि है। इसी न्याय से काव्य में शोक आदि अप्रिय भाव

भी साधारणीकृत होकर व्यक्ति सम्बन्ध जन्य दोषों से मुक्त रसमय बन जाते हैं।[47]

यहाँ यह जान लेना परमावश्यक है कि साधारणीकरण केवल गुणों का ही होता है। इसका आशय यह है कि जब चित्त की वृत्ति रजोगुण एवं तमोगुण के प्रभाव से मुक्त होकर सत्त्वगुण के प्रभाव से आवृत हो जाती है तब साधारणीकरण की स्थिति उत्पन्न होती है। विभावादि तो साधारणीकरण के कारण मात्र हैं, कार्य है हृदय में सत्त्वगुण की प्रधानता द्वारा सद्भावों का अभ्युदय एवं असत् भावों का पराभव जिससे मनुष्य 'ज्ञान' की स्थिति में आ जाता है। अज्ञान का अंधकार उसके हृदय से नष्ट हो जाता है। वह लौकिक भाव मोहादि से रहित होकर अलौकिक भाव त्यागादि का अनुभव करने लगता है। अत: करुणा के कष्टप्रद वर्णन एवं दृश्यादि सामाजिक के मनोबल को ऊँचा उठाने वाले बन जाते हैं। उसका मन अधिक गंभीर होता चला जाता है और वह महानता के भावों से ओतप्रोत हो जाता है। तब 'सामाजिक' के हृदय से शोक का प्रभाव समाप्त होकर विशुद्ध आनन्द का भाव मात्र ही शेष रह जाता है।

करुण रस सद्गुण मूलक होता है

भवभूति के **'एकोरस: करुण एव'** का आधार यही है कि करुण रस में सद्गुणों का पूर्ण विकास देखा जाता है। संसार में जितने भी महान् पुरुष हुए हैं या जितने महान कार्य किये गये हैं, उन सब में उन्हें कष्ट की भयानक स्थितियों का सामना करना पड़ा है परन्तु महान पुरुषों पर जैसे-जैसे कष्ट पड़ते गये वैसे ही वैसे वे अधिक उत्साह, धैर्य, सहिष्णुता एवं मनोबल का परिचय देते देखे गये हैं। आपत्तियों के भीषण पर्वतों के शिखरों पर मनुष्य ने अपनी बिजय पताका शोक के कुत्सित कलेवर को विदीर्ण करके ही फहराई है। काव्यादि में जहाँ भी करुणा-पूर्ण स्थलों का वर्णन मिलता है वह उच्च कोटि के मानवीय गुणों से भरा रहता है। सत्य, अहिंसा, त्याग-तप, बलिदान, परोपकार, दया, सहिष्णुता, क्षमा, निरहंकारिता, धीरता, वीरता, साहस एवं गम्भीरता आदि का समावेश 'करुण रस' में निहित रहता है। अत: काव्यादि में जहाँ कहीं भी करुणा-पूर्ण स्थल होंगे वे ही अधिक मार्मिक, गम्भीर एवं प्रभावशाली होंगे। साथ ही करुणापूर्ण कृतियों का भी सद्गुणमूलक होने के कारण समाज में अधिक महत्त्व रहता है।

हिन्दी साहित्य से कतिपय उदाहरण देकर करुण रस के आनन्दवाद का समर्थन करना समीचीन ही होगा।

'जितने कष्ट कंटकों में है जिनका जीवन सुभन खिला।
गौरव गंध उन्हें उतना ही यत्र तत्र सर्वत्र मिला।' (मैथिलीशरण गुप्त)

स्पष्ट है कि जो व्यक्ति जीवन में जितने अधिक कष्ट सहन करके महान् कार्यों का सम्पादन करता है संसार में उसे उतना ही अधिक सम्मान और यश प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ-हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीचि, प्रह्लाद, राम, कृष्ण, बुद्ध, गांधी आदि। इन महान् विभूतियों ने संसार के लोगों का कष्ट निवारण करने के लिए जीवन में भीषण कष्ट सहन किये थे। इनके जीवनवृत्त संसार में लोगों के हृदयों में स्नेह, सहानुभूति,

करुणा, क्षमा, परोपकार त्याग, बलिदान आदि के सद्भावों को आज भी विकसित करने वाले बने हुए हैं। इसीलिए इनकी संसार में पूजा होती है।

करुण रस में अत्याचारी के पाशविक अत्याचारों को सहन करने से मनुष्य में सहिष्णुता, धैर्य एवं उत्सर्ग के भावों का विकास होता देखा गया है। अत्याचार सहन करने वाला कभी भी अत्याचारी के सम्मुख झुकता नहीं है न अपने प्राणों की भीख माँगता है, वरन् अपने प्राणों की बाजी लगाकर अत्याचारी का सामना करके धर्म की रक्षा करता है। पापी को दण्ड देने के लिए प्रतिशोध की प्रलयंकर ज्वाला भी करुणा के समुद्र से ही उमड़ती दिखाई देती है। द्रौपदी के आंसू इसका ज्वलंत प्रमाण हैं। सीता, सावित्री, दमयन्ती, पद्मिनी आदि ने अत्याचारियों का डटकर सामना किया और अपने धर्म की रक्षा की। गुरुभक्त सिंह कृत नूरजहाँ में जब अकबर अनारकली को भय दिखाता है तो वह धैर्य के साथ उत्तर देती है–

'बोली ओ मानी अकबर यदि मान तुझे हो प्यारा।
यदि गिर न गया हो तेरे उस मान पाप का पारा।
तो बल दिखला अबला को अपमानित करना क्या है।
अबला पर हाथ बढ़ाना सूने में बता भला है।
मैं रानी नहीं बनूंगी रहने दो मुझे भिखारिन।
मैं जपा करूँगी माला अपने प्रियतम की निशिदिन।।''

और उसी अनार कली ने हँसते-हँसते अपने को प्रेम की पवित्र वेदी पर बलिदान कर दिया। इसी प्रकार मीरा हँसते-हँसते विष का प्याला पी गई तथा सर्पदंश को सहन कर गई थी।

अकबर के समय में कवि गंग को जिस समय हाथी से कुचलवाया गया था उस समय वह न तो रोया ही और न ही उसने अकबर से क्षमा ही मांगी बल्कि हँसते-हँसते यह कहा जो अत्याचारी के मुँह पर कड़ा तमाचा था–

''देवन कौ दरबार जुर्यौ तहँ पिंगल छन्द बनाय कैं गायौ।
काऊ सों अर्थ कह्यौ न गयौ तब नारद एक प्रसंग चलायौ।
मृत लोक बसै एक गंग गुनी तब गंग कौ नाम सभा में सुनायौ।
चाह भई परमेश्वर को तब गंगहि लैन गनेस पठायौ।''

तात्याटोपे ने फाँसी के तख्ते से अत्याचारियों को ऐसी कड़ी फटकार लगाई जो सहृदय के हृदय से अवश्य ही कायरता एवं भीरुता का बहिष्कार करके अदम्य उत्साह एवं साहस का भाव भरने में सफल होती है–

''हत्यारो ! फाँसी दे दो मैं नहीं डरूँगा।
स्वतंत्रता के लिए आह तक नहीं करूँगा।
पर कहता हूँ सदा कष्ट पर कष्ट सहेगा।
एक समय भारत होकर आजाद रहेगा।''

और 15 अगस्त सन् 1947 को बलिदानी तात्या के ये वाक्य सत्य में परिणित हो गये।

उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि 'करुण रस' के अन्तर्गत सद्गुणों का पूर्ण विकास होता है और प्रमाता करुणा पूर्ण साहित्य के अनुशीलन से शोक के भाव को त्याग कर आत्मा के एक ऐसे आलोकपूर्ण वातावरण में पहुँच जाता है जहाँ वह कष्ट का अनुभव ही नहीं करता वरन् उसके सभी कष्टों का निवारण हो जाता है। जैसे प्यासा कुँए के पास जाकर शीतल जल प्राप्त करके अपनी प्यास को शांत करके सुखी होता है उसी प्रकार लौकिक शोक से दबा हुआ व्यक्ति काव्यादि के करुणापूर्ण स्थलों का आस्वाद करके अपने मन के बोझ को हल्का करके शांति प्राप्त करता है इसीलिए तो व्यास मुनि व्यथित पाण्डवों को दूसरों की कष्ट कथा सुना-सुना कर शांति प्रदान करते थे।

करुण रस सहानुभूति मूलक होता है

'करुण रस' में सहानुभूति का सर्वाधिक समावेश होता है। हम दूसरों को दुखी देखकर या उनके कष्टपूर्ण वृतान्तों को सुनकर उनके प्रति सहानुभूति का अनुभव अवश्य करते हैं। यद्यपि यह सहानुभूति भी साधारणीकरण का परिणाम होती है परन्तु यह उत्कृष्ट मानवीय भाव केवल करुण रस में ही जाग्रत होता है। दु:खी व्यक्ति के प्रति सहानुभूति प्रकट करके हम अपने मन के बोझ को हल्का कर लेते हैं और समाज के प्रति अपने कर्तव्य निर्वहन की इति श्री समझकर आनन्दित होते हैं। काव्यानुशीलन करते समय कष्ट झेलते हुए व्यक्ति के कष्ट का निवारण करने और कष्ट देने वाले अत्याचारी का विनाश करने की जिज्ञासा सामाजिक के हृदय में स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है और जब किसी आकस्मिक घटना के द्वारा अत्याचारी को दण्ड देकर पीड़ित व्यक्ति की रक्षा की जाती है तो सहृदय का हृदय भी मारे प्रसन्नता के फूला नहीं समाता। उदाहरणार्थ–

जब हिरण्यकशिपु अपने ही पुत्र प्रह्लाद को लोहे के तप्त स्तम्भ से बाँधने का आदेश देता है तो इस पाशविक अत्याचार की विभीषिका का अनुभव करके एक बारगी सामाजिक का हृदय प्रकंपित हो उठता है। वह उस अत्याचारी बाप को मन ही मन कोसने लगता है। साथ ही प्रह्लाद की रक्षा होने की जिज्ञासा करता है और जब सहसा स्तम्भ फटता है और नृसिंहावतार धारी प्रभु हिरण्यकशिपु को मारकर बालक प्रह्लाद को गोद में उठा लेते हैं तो सहृदय का सहानुभूति मूलक हृदय भी जय-जयकार करने लगता है।

इसी प्रकार शैव्या के पुत्र रोहिताश्व का पुनजीर्वित होना; लक्ष्मण शक्ति का निवारण; रावण-वध; अत्याचारी कंस का मारा जाना आदि ऐसे ही प्रसंग हैं जहाँ सहानुभूति के द्वारा सहृदय अत्याचारी को धाराशायी होते देखकर प्रसन्न एवं आनन्दित होता है। ऐसे करुणापूर्ण स्थल व्यक्तित्व की कसौटी होते हैं। भारतीय काव्य परम्परा में काव्य का प्रतिपाद्य यही सुखान्तता है। समाज के लिये यही प्रेरक तत्त्व मानी जाती

रही है। पाश्चात्य त्रासदी में सहानुभूति मूलकता का अभाव देखा जाता है क्योंकि वहाँ वास्तविक रूप में करुण रस होता ही नहीं। केवल करुणाभास ही होता है परन्तु भारतीय काव्य परम्परा करुण का पूर्णरूपेण परिपाक करके सहानुभूति के भाव का विकास करती है।

करुण रस प्रेरणादायक होता है

करुणा मनुष्य को शौर्य एवं तेजस्विता प्रदान करती है। महाराणा प्रताप द्वारा स्वतंत्रता के लिए घास की रोटियाँ खाकर जीवन व्यतीत करना और मरते दम तक अत्याचारी एवं विधर्मी शासक अकबर के समक्ष नतमस्तक न होना–सहृदय का प्रेरणा श्रोत बना हुआ है। झाँसी की रानी के बलिदान पर सुभद्रा कुमारी चौहान की ये पंक्तियाँ सहृदयों को आज भी प्रेरणा प्रदान करती हैं–

''जाओ रानी याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी।
तेरा यह बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनासी।
चुप होवे इतिहास लगे सच्चाई को चाहे फाँसी।
ओ, मदमाती विजय ! मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी।
तेरा स्मारक तू ही होगी तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हर बोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।''

राम प्रसाद बिस्मिल की ये पंक्तियाँ भी अमित प्रेरणा दायक हैं–

''सर फरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।।''

बहादुरशाह जफर की यह कविता जो उसने रंगून जेल में लिखी थी कितनी प्रेरणा देने वाली है–

''कितना बदनसीब है जफर दफन के लिए
दो गज जमीन भी न मिली कूजे यार में।
लगता नहीं है दिल मेरा उजड़ेबयार में।।''

उक्त कविताएँ देश-प्रेम के आदर्श से ओत-प्रोत हैं और जब ये कविताएँ पढ़ी जाती हैं तो सुनने वालों के हृदय बल्लियाँ उछल जाते हैं और इन कविताओं से सहृदय पाठक या श्रोता देश भक्ति की प्रेरण ही प्राप्त करते हैं, न कि वे शोक से रोने लगते हैं। इसी प्रकार वीरगाथा काल से लेकर अब तक की समस्त करुणापूर्ण कवितायें किसी न किसी रूप में सहृदय पाठकों को प्रेरणा प्रदान करती चली आ रही हैं।

करुणा की परिणिति उत्साह में होती है

भारतीय काव्य साहित्य की यह विशिष्टता रही है कि जब भी करुणा का प्रादुर्भाव हुआ है उसकी परिणिति उत्साह में ही दिखाई जाती है। करुणा के प्रसंग में त्रिकोणात्मक जीवन-दर्शन निहित रहता है।

1. अत्याचारी व्यक्ति 2. अत्याचार सहन करने वाला शोक का आश्रय3. अत्याचारी को धाराशायी करके शोक संतप्त का परित्राण करने वाली कोई दिव्य विभूति। इस त्रिकोणात्मक संघर्ष में जीवन के सदसद् व्यवहार के द्वार खुल जाते हैं। दानवता पर मानवता की; असत् पर सत् की, पाप पर पुण्य की विजय का रहस्य उद्घाटित हो जाता है। यह सच है कि आँसुओं के गहन समुद्र से ही साहस का मोती प्राप्त होता है जो निष्ठुरता की सीपी को तोड़ कर बाहर निकाला जाता है। यह कैसे संभव हो सकता है कि आँसुओं की गर्म धारा में साहस और शान्ति की बड़वाग्नि न भड़के ओर उस बड़वाग्नि में उत्पीड़क जीव जलकर नष्ट न हों। गरीब की आह मोटी होती है जिसमें दुर्बल को सताने वाले का पता तक नहीं चलता। असहाय की सहायता सर्व शक्तिमान् परमात्मा करता है। वह पृथ्वी से अधर्म को मिटाने के लिए, निर्बलों की रक्षा करने के लिए और शक्ति का संतुलन स्थापित करने के लिए स्वयं अवतार लेता है। इसका आशय यह है कि शोक का उपचार शक्ति की महान् औषधि द्वारा किया जाता है। आँसुओं की प्रखर धारा असि धारा से भी तीक्ष्ण एवं प्रचण्ड होती है। तरकश के तीर भी आँसुओं की तीक्ष्ण धारा में प्रभावहीन हो जाते हैं, तभी तो प्रह्लाद को जलाने वाली होलिका स्वयं ही जल गई थी। देवकी के कष्ट कंस का कृष्णरूप काल बन गये थे। द्रौपदी का आँचल कौरव कुल का कफन बन गया था और चाणक्य की शिखा नन्दवंश की चिताग्नि के रूप में परिवर्तित हो गई थी। यह कहा जाता है कि महानपुरुषों पर जितने अधिक कष्ट पड़ते हैं उतनी ही उत्पीड़ित समाज की भलाई होती है और पीड़ा का वातावरण स्वयं ही उत्साह में परिवर्तित हो जाता है। कतिपय उदाहरण देकर इस सत्य की पुष्टि करना उचित ही होगा।

लंका के रणक्षेत्र में लक्ष्मण मूर्छित पड़े हैं। राम उनके शोक में विलाप कर रहे हैं। हनुमान संजीवनी बूटी लेने गये हैं परन्तु उन्हें बहुत विलम्ब हो जाता है। ऐसी स्थिति में राम का शोक पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। शोक विह्वल राम कहते हैं–

'संजीवनी लेने गया हनुमान भी आया नहीं।
मारा गया वह था उसे अब तक कहीं पाया नहीं।
होते सवेरा कूच डेरा आपका हो जायगा।
लक्ष्मण शमन तब कैकेयी के ताप का हो जायगा।'

और –

''इसी बीच में वायु के पुत्र आये।
हुई युक्ति सौ मित्र ने प्राण पाये।
मिले बंधु दोनों टला शोक भारी।
विधे बंध है लोक लीला तुम्हारी।''

इसी प्रकार प्रह्लाद के अंतिम क्षणों में नृसिंहावतार का होना, द्रौपदी की लाज बचाने हेतु श्री कृष्ण का आना, भगवान् विष्णु का प्रकट होकर रोहित के शव को जीवित

करना आदि प्रसंग ऐसे हैं जहाँ स्पष्ट रूप से 'शोक' को उत्साह में परिणित होते दिखाया गया है। महाभारत के युद्ध में अभिमन्यु वध की शोकाग्नि में जलने वाला पाण्डव समुदाय कुछ ही क्षण पश्चात् प्रतिशोध की क्रोधाग्नि में जलने लगता है[48] और युद्ध की भेरियाँ बजते-बजते जयद्रथ वध के उत्साहपूर्ण वातावरण में परिवर्तित हो जाती हैं। शोक के उत्साह में परिणित होने का इससे उत्कट उदाहरण और कहाँ मिल सकता है।

क्रूरता एवं अत्याचारों से निसृत करुणा में उत्साह का उत्स स्वयं ही फूट पड़ता है। वन में मुनियों का अस्थिपुंज देखकर श्री राम ने राक्षस वध का प्रण किया था और इस प्रण को पूर्ण करने के लिए उन्होंने घोर यातनाएँ सहन की थीं। पाण्डव जननी कुन्ती ने दु:खिनी ब्राह्मणी के इकलौते पुत्र की रक्षा के लिए अपने पुत्र भीम को दानव के पास भेज दिया था। भारतीय साहित्य में ऐसे असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं जहाँ करुणा की परिणिति 'उत्साह' में होती दिखाई गई है और उत्साह सदा सुखात्मक ही होता है। अत: करुण रस का अस्वाद भी सुखात्मक है। उसे दु:खात्मक कहना सत्य हा बहिष्कार करना है।

करुण रस अधिक गम्भीर, मार्मिक तथा प्रभावशाली होता है

करुण रस की यह एक अपनी विशेषता है जो अन्य रसों में नहीं पाई जाती, वह यह कि करुण रस सर्वाधिक गंभीर और मार्मिक भावों को उद्दीप्त करता है जिससे प्रमाता का हृदय मन तथा बुद्धि शोक के विरल कलेवर को त्यागकर भावों के गहन आवर्त में धँसते चले जाते हैं और इस प्रकार गूंगे के गुड़ की भाँति वह दिव्य भावों का अनुभव करने लगता है। करुण रस का आलम्बन सतपात्र होता है जो अनायास और अकारण ही कष्टों में फंसा दिया जाता है। आश्रय के रूप में मरणान्तक आलम्बन का कोई सम्बन्धी आलम्बन को कष्टपूर्ण एवं भयानक स्थिति में देखकर शोक व्यक्त करता है। मारे भय, आशंका, चिंता के उसका हृदय बैठ जाता है, गला भर जाता है, नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है और अनेक प्रकार से विलाप करने लगता है जो प्रमाता के लिए मर्मान्तक तथा हृदय द्रावक बन जाता है। करुण रस में वह शक्ति है कि वह पत्थर को भी पिघला देता है। उदाहरणार्थ –

''रिमझिम रिमझिम मेहा बरसै पवन चलै पुरवैया।
काऊ विरछ तर भीजत होंयगे सीता-राम-लषन दोऊ भइया।।
करति विलाप कौसला मैया।।''

इन पंक्तियों में मार्मिकता तथा गंभीरता की पराकष्ठा है। इसी कारण ये पंक्तियाँ सहृदयों के हृदयों को विद्युत प्रवाह की भांति छू लेने और प्रभावित करने में सक्षम हैं। राम-कथा में ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं जो अत्यधिक मार्मिक, गम्भीर होने के कारण समाज के हृदय को प्रभावित करते हैं। अपने व्यापक प्रभाव के कारण ही करुण रस आनन्दवाद का प्रतीक है। करुणा का समबन्ध दया से है। दया, धर्म का मूल है। आत्मभाव को धारण करना ही धर्म है। करुणा में आत्मा और धर्म का वास

है। जहाँ आत्मा और धर्म का वास है वहीं ईश्वर का भी वास है। अत: करुण रस ईश्वरीय भाव से सम्बद्ध होता है। जहाँ ईश्वरीय भाव है वहीं दु:ख का तिरोभाव और आनन्द का आविर्भाव है। करुणरस केवल ऊपर से ही दु:खात्मक लगता है। करुणा द्वारा ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'आत्मवत् सर्वभूतेसु' की धारण विकास पाती है। समरसता का आधार भी करुणा है। ससांर के जीवन की संजीवनी करुणा ही है। काव्य का उद्‌गम करुणा है। दु:ख का अवसान करुणा है। वियोग की धरती करुणा है। भक्ति और मुक्ति की विश्रान्ति करुणा है। विकास की रक्षक करुणा है। करुणा ही सोते को जगाती है। करुणा दान और दया है। करुणा जीवन का शाश्वत सत्य, शिव और सुन्दर है। अत: करुण रस सुखात्मक है।

रस का आधार दार्शनिक है—रस प्रक्रिया विशुद्ध रूप से आत्मवाद पर आधारित है। रस निष्पन्नता की स्थिति में सामाजिक के हृदय से मन और बुद्धि के कुत्सित प्रभाव इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से अंधकार। इस स्थिति में उसके हृदय में विशुद्ध चैतन रूप आत्मतत्त्व का प्रकाश व्याप्त होकर आत्मानन्द की लहर दौड़ जाती है और तब प्रमाता का हृदय 'वेद्यान्तरस्पर्श शून्य' होकर ''स्वयं प्रकाशानन्द, चिन्मय'' भाव की अनुभूति करने लगता है। दर्शन पक्ष में जिसे ज्ञान-दशा कहा जाता है काव्य-पक्ष में वही रस दशा है और जिस प्रकार ज्ञान दशा में पहुँचा साधक सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है उसी प्रकार रस दशा में प्रमाता समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर आत्मानन्द में लीन हो जाता है। करुणरस भी इसी आधार पर आत्मानन्द का परिपोषक है, अत: सुखात्मक है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि 'करुण रस' का आस्वाद भी अन्य रसों की भांति सुखात्मक ही होता है। करुण रस का स्थायी भाव शोक दु:खमूलक न होकर सत्य, अहिंसा, सहानुभूति एवं सहिष्णुता आदि के उच्च मानवीय गुणों का विकास कारक होता है। यह हृदय को त्याग, बलिदान एवं परोपकारादि की प्रेरणा देता है। हृदय से कायरता, भीरुता एवं स्वार्थपरता के भावों का तिरोभाव करके धीरता, वीरता एवं निर्भयता के सद्‌भावों का आविर्भाव करता है। 'करुण रस' सहृदय के मन से दुश्चिंत्य भावना को निकालकर सद्‌भावना का समावेश करता है। इसीलिए काव्य एवं साहित्य में करुणापूर्ण काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि को ही अधिक उपयोगी माना जाता रहा है। 'करुण रस' का हृदय पर सीधा एवं गहरा प्रभाव पड़ता है। करुण रस मनुष्य को संकट का सामना करने एवं कष्टों को हँसते-हँसते सहन करने का बल प्रदान करता है। अत: यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भवभूति का **'एकोरस: करुणमेव'** का नारा पूर्ण सार्थक है और **करुण रस पूर्णरूपेण सुखात्मक** है।

रस के अंग

स्थायीभाव

''विरुद्धैर्विरुद्धैर्वा भावैर्विविच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।।'' (दशरूपक)

अर्थात् जो भाव किसी भी विरोधी या अविरोधी अर्थात् प्रतिकूल अथवा अनुकूल (शत्रु-मित्र) भाव से विच्छिन न हो (दबे नहीं) और जो अन्य सभी भावों को अपने में इस प्रकार आत्मसातकर ले जिस प्रकार समुद्र सभी प्रकार के खारे-मीठे जल को अपने में आत्मसात् करके तद्रूप बना लेता है, उस भाव को स्थायी भाव कहते हैं।

दूसरे शब्दों में **स्थायीभाव वह भाव होता है जो रस-निष्पन्नता की स्थिति में एक बार जाग्रत होने पर किसी भी सजातीय या विजातीय भाव से तिरस्कृत नहीं हो पाता और स्थायीरूप से प्रारंभ से अंत तक बराबर एक रूप में अडिग रहकर अन्य सभी भावों को अपने में विलय करता रहता है।** उदाहरणार्थ -

रामचरितमानस के अरण्य काण्ड में महात्मा तुलसीदास ने खर-दूषण की चौदह सहस्त्र सेना से अकेले राम द्वारा युद्ध करने का वर्णन किया है जिसमें राम के हृदय में खर-दूषण की सेना को देखकर उत्साह का भाव जाग्रत होता है। वे अपने धनुष को चढ़ाते हैं। जटा-जूट बांधते हैं और शत्रु सेना की ओर इस प्रकार देखते हैं जिस प्रकार सिंह हाथियों के विशाल झुंड की ओर देखता है-

'कोदण्ड कठिन चढ़ाइ सिर जट-जूट बाँधत सोह क्यों।
मरकत शैल पर लसत दामिनि कोटि संयुग भुजंग ज्यों।
कटि कसि निषंग विशाल प्रभु गहि चाप विसिख सुधारिकें।
चितवत मनहु मृगराज ज्यों गजराज घटा निहारि कें।।

उसी समय शत्रुओं की सेना राम के समीप आ जाती है और राक्षस अकेले राम को चारों ओर से घेरे लेते हैं परन्तु राम का उत्साह शत्रु की भयानक और विशाल सेना को देखकर भी विच्छिन्न नहीं होता। वे अडिग खड़े रहते हैं और खर-दूषण के दूतों को वीरोचित उत्तर देते हैं जिससे राक्षस क्रोध से जलने लगते हैं और वे राम पर चारों ओर से अनेक अस्त्र-शस्त्रों से भीषण प्रहार करते हैं परन्तु राम अकेले होते हुए भी इतने भीषण और असंख्य आयुधों के एक साथ किये जाने वाले प्रहारों से भयभीत नहीं होते। वे वीरतापूर्वक केवल अपने धनुष की डोरी को टंकोर देते हैं और उनके आघातों का वीरोचित उत्तर देते हैं। अन्त में राम राक्षसों का डटकर सामना करते हुए उन्हें धराशायी करते हैं।[1]

इस प्रसंग में राम के हृदय में उत्साह का भाव अडिग और स्थायी रूप में राक्षसों के खेत रहने तक बना रहता है। अकेले राम राक्षसों की विशाल सेना तथा उनके अस्त्र-शस्त्रों के भीषण प्रहार से न तो भयभीत ही होते हैं, और न रणक्षेत्र छोड़कर

भागते ही हैं। वे साहस के साथ उनका सामना करते हैं और उन्हें मारकर विजयी होते हैं। इस प्रकार यहाँ राम की वीरता का दिव्य आलोक मिलता है और उत्साह का स्थायी रूप में रहकर अन्य सभी अनुकूल और प्रतिकूल भावों को दबाकर आदि से अंत तक बने रहने का प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होता है।

इसके विपरीत राक्षसी सेना का उत्साह कभी क्रोध, कभी दया, कभी भय और कभी दैन्य में परिवर्तित होता दिखाई देता है।

दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है —

''कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन हू में करैं नैनन ही सों बात॥'' **(बिहारी सतसई)**

यहाँ नायक-नायिका के हृदय में जाग्रत रति भाव अपने गुरुजनों- परिजनों आदि से भरे हुए घर में लज्जा-चिंता-शंका-व्रीड़ा-निन्दा-बिबोध तथा भय आदि के विजातीय भावों के द्वारा भी विचलित नहीं होता और वे सब के सामने इशारों से ही प्रेमालाप कर लेते हैं। उनके अन्य भाव रति के अन्तर्गत विलीन हो जाते हैं। परन्तु 'रति भाव' पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनका 'रति भाव' आदि से अंत तक अडिग बना रहता है। **भाव की यही स्थिति स्थायी भाव कहलाती है।**

इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों के भी उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। प्रत्येक रस का एक ही स्थायी भाव होता है। विभिन्न रसों के स्थायी भाव इस प्रकार हैं-

1. श्रृंगार का 'रति' (दाम्पत्य प्रेम) 2. वीर का उत्साह 3. रौद्र का क्रोध 4. बीभत्स का जुगुप्सा (घृणा) 5. करुण का शोक 6. हास्य का हास (विनोदी भाव) 7. भयानक का भय 8. अद्भुत का विस्मय 9. शांत का निर्वेद (आत्म-ज्ञान) 10. वात्सल्य का वत्सल रति (संतति प्रेम) 11. भक्ति का भगवद् प्रेम

स्थायी भाव की कसौटी हैं-1. **आस्वाद्यत्व 2. उत्कटत्व 3. पुरुषार्थोपयोगिता 4. सर्वजन सुलभत्व 5. उचित विषय निष्ठत्व 6. मनोरंजन की अधिकता।**

स्थायीभाव रस प्रक्रिया में अनुक्त रह कर ही अनुभूत बनता है। उक्त होने पर वह संचारी मात्र बनकर रह जाता है। स्थायी भाव की उक्तावस्था को स्वशब्द वाचकता नामक रस दोष माना गया है।

विभाव

विभाव शब्द की व्युत्पत्ति 'विभाव्यत् इति' से हुई है। अत: विभाव का तात्पर्य है-जिसका ज्ञान हो सके। जिसे विभावित करके (जानकारी में आने पर) सामाजिक रसास्वाद करता है। वह विभाव कहलाता है। यह विभाव स्थायी भाव को जाग्रत करने वाला है। उसे जाग्रत करके रस रूप में परिणित करने वाला है। अत: **विभाव स्थायी**

भाव को जाग्रत करने के कारण कहे जाते हैं। ये विभाव आलम्बन तथा उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं।[51]

आलम्बन विभाव

जिन प्राणियों अथवा वस्तुओं के दर्शन अथवा श्रवणादि से आश्रय के हृदयस्थ स्थायी भाव जाग्रत होकर रस रूप में परिणित होते हैं उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं। प्रत्येक रस के आलम्बन विभाव पृथक्-पृथक् होते हैं। जैसेश्रृंगार रस के आलम्बन **नायक या नायिका**। वीर रस तथा रौद्र का आलम्बन **शत्रु**। करुण रस का आलम्बन **विनष्ट व्यक्ति या वस्तु**। हास्य रस का आलम्बन **विकृत व्यक्ति या वस्तु**। भयानक रस का आलम्बन कोई **भयानक प्राणी या वस्तु**। बीभत्स रस का आलम्बन **घृणित व्यक्ति या वस्तु**। अद्‌भुत रस का आलम्बन **विचित्र प्राणी या वस्तु**। शान्त रस का आलम्बन **आत्मतत्व का ज्ञान कराने वाली शान्तिदायक वस्तु, स्थल, धार्मिक ग्रंथ तथा इष्टादि**। वात्सल्य रस का **आलम्बन शिशु।**

आलम्बन सम्बन्धी कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं–

चक्रव्यूह के युद्ध में कौरवपति दुर्योधन; कर्णार्जुन युद्ध में कर्ण; राम-रावण युद्ध में रावण वीररस के आलम्बन माने जाते हैं। इसी प्रकार दुष्यन्त-शकुन्तला मिलन के समय वन विहारिणी शकुन्तला; पुष्प वाटिका में राम-सीता मिलन में सीताश्रृंगार रस के आलम्बन हैं।

आश्रय

रस का भोक्ता 'आश्रय' कहलाता है। आश्रय के हृदय में ही विभावों (आलम्बन-उद्दीपन) के माध्यम से स्थायी भाव जाग्रत होता है। अनुभावों के द्वारा व्यक्त होता है और संचारी भावों के द्वारा पुष्ट होता है। सामाजिक या सहृदय आश्रय के भावों का ही अनुभव करके रसास्वाद करता है। साथ ही जिस पात्र के भावों का सात्त्विकी करण होता है वही रस का आश्रय कहलाता है। जैसे- राम-रावण युद्ध में राम। कर्णार्जुन युद्ध में अर्जुन। चक्रव्यूह के युद्ध में अभिमन्यु वीर रस का आश्रय हैं क्योंकि सामाजिक इन प्रसंगों के पठन-पाठन तथा दर्शनादि में केवल इन्हीं के भाव (उत्साह) का आस्वाद करता है। इसी प्रकार भ्रमरगीत प्रसंग में गोपियाँ, सीता हरण के पश्चात सीता के लिए विलाप करने की दशा में राम, अशोक वाटिका में राम के वियोग में दु:खिनी सीता श्रृंगार का आश्रय हैं जिसका आधार इनके हृदय में 'रति भाव' जाग्रत होकर व्यक्त तथा पुष्ट होता दिखाई देता है। तात्पर्य यह है कि सामाजिक केवल आश्रय के भाव से ही प्रभावित होता है, आलम्बन के भाव से वह कभी प्रभावित नहीं होता और न आलम्बन के भाव का वह आस्वादन ही करता है। स्थायी भाव केवल आश्रय में ही व्यक्त होता है, आलम्बन में स्थायी भाव मात्र संचारी बन कर रह जाता है। वह विरोधी भावों से दब जाता है या उस भाव का साधारणीकरण नहीं हो पाता। रस निष्पन्नता की स्थिति

में जब कभी आश्रय का स्थायी भाव डगमगा जाता है वहाँ केवल रसाभास या भावाभास मात्र ही ग्रहण होता है। ऐसी स्थिति में रस का तिरोभाव हो जाता है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि काव्य, नाटकादि के पठन-पाठन तथा दर्शनादि के द्वारा पाठक, श्रोता या दर्शक पर जिस पात्र का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है और जिस पात्र के सामने अन्य सभी पात्र फीके दिखाई देते हैं वही तज्जनित स्थायी भाव का 'आश्रय' माना जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब भिन्न-भिन्न प्रकार के पाठक-श्रोता या प्रेक्षकादि भिन्न-भिन्न प्रकार के क्रिया कलापों का अवलोकन करते हैं, तो उन पर एक ही प्रकार का प्रभाव पड़ना संभव कैसे हो सकता है? इसका कारण यह है कि काव्य नाटकादि के अनुशीलन के द्वारा सहृदयों के हृदय पर उत्कृष्टतम क्रियाओं का ही प्रभाव पड़ता है क्योंकि मनुष्य काव्यादि के द्वारा जहां मनोरंजनादि करता है वहां वह आदर्श और प्रेरणदि भी ग्रहण करता है जो सभी सामाजिकों पर समान रूप से प्रभाव डालते हैं। इस समान प्रभाव का कारण सामाजिकों के हृदय की सत्त्वगुण मूलकता है जो केवल उत्कृष्टतम पात्र आदि द्वारा ही संभव है। अत: उत्कृष्टतम पात्र ही किसी भाव का 'आश्रय' होता है इस उत्कृष्टतम पात्र के भाव का माध्यम होने के कारण उसका प्रतिपक्षी पात्र आलम्बन की कोटि में ही आता है। पं. रामदहिन मिश्र ने 'काव्य दर्पण' में आलम्बन व आश्रय को आलम्बन विभाव के ही दो भेदों के अंतर्गत रखा है। 'आलम्बन दो प्रकार का होता है– एक को विषय और दूसरे को आश्रय कहते हैं। जिसके उद्देश्य से या जिस को लेकर रति आदि स्थायी भाव जागरित होते हैं, वह रति आदि स्थायी भावों का विषय या आलम्बन है और उन रति आदि स्थायी भावों का जो आधार है वह आश्रय है। इनको हम विषयालम्बन और आश्रयालम्बन भी कह सकते हैं।' (काव्य दर्पण)

'मिश्रजी' की उक्त स्थापना उपयुक्त प्रतीत नहीं होती क्योंकि आलम्बन और आश्रय का पृथक्-पृथक् अस्तित्व होता है। कतिपय रसों में आलम्बन और आश्रय परस्पर विरोधी भी होते हैं। 'सामाजिक आश्रय' के ही प्रभाव को ग्रहण करता है। आलम्बन के प्रति वह उसी भाव का समर्थक है जिस भाव से उसे आश्रय देख रहा है। अत: आश्रय की सत्ता पृथक् होती है। उन्हें आलम्बन विभाव के दो भेद करके एक ही कक्षा में नहीं रक्खा जा सकता। आश्रय वही होगा जिसका सामाजिक पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ेगा क्योंकि रस निष्पन्नता की स्थिति में सत्त्वोद्रेक होने से सहृदय पर सद्‌गुणमूलकता का ही प्रभाव पड़ता है, असद्‌गुणमुलकता उस समय तिरोभूत रहती है। वास्तविकता तो यह है किं सामाजिक आश्रय के भावों तथा कार्यादि से सर्वथा 'सर्वभावेनभावित' और प्रभावित होता है, इसीलिए सामाजिक आश्रय का हर स्थिति में समर्थन करता है और आश्रय की सफलता पर चमतकृत एवं आनन्दित होता है। उससे शिक्षा, प्रेरणा तथा साहस ग्रहण करता है जो जीवन में उसकी योग-क्षेम वाहिका बनकर उसे साफल्य एवं सौजन्य की ओर अग्रसर करती है। निष्कर्ष यह निकलता है कि काव्य तथा कवि

का आश्रय मूल (प्रधान) आश्रय होता है और सामाजिक (पाठकादि) गौण आश्रयत्व की श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं।

कभी-कभी वस्तु स्थिति ऐसी उपस्थित हो जाती है कि आश्रय एवं आलम्बन की पहचान करना कठिन हो जाता है। यह स्थिति वीर, रौद्र तथाश्रृंगार के अन्तर्गत ही उत्पन्न होती है, जहां आश्रय एवं आलम्बन परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। कुछ उदाहरण देकर इस मत की पुष्टि की जाती है।

''तरनि तनूजा तीर तरुवर तर ठाढ़े,
तारी दै दै हँसत कुँवर कान्ह प्यारी सों।''

इन पंक्तियों में राधा और कृष्ण दोनों को ही आश्रय माना जा सकता है क्योंकि दोनों एक ही भाव का प्रदर्शन कर रहे हैं परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वस्तुस्थिति यहाँ यों स्पष्ट है कि प्यारी (राधा) के साथ ताली दे-देकर हँसने का कार्य श्री कृष्ण द्वारा व्यक्त हो रहा है। ताली दे-देकर हँसना यहाँ अनुभाव है, अतः श्री कृष्ण ही यहाँ आश्रय हैं।

दूसरा उदाहरण प्रस्तुत हैं–

'कहत नटत रीझत खिझत मिलत-खिलत लजियात।
भरे भौन हू में करत नैनन ही सों बात॥'

इस दौहे में भी नायक-नायिका की क्रियाओं एवं चेष्टाओं को ऐसा मिला दिया है कि आश्रय आलम्बन का भेद करना कठिन है परन्तु कहना व रीझना, मिलाना ये क्रियाएँ नायक की हैं। प्रभाव नायक की क्रियाओं का ही अधिक है-यह इस दोहे के अर्थ से स्पष्ट हो जाएगा–

'नायक ने नायिका से इशारे से कुछ कहा। नायिका नट गई अर्थात उसने इशारे से मना कर दिया। इससे नायक अधिक रीझ गया अर्थात् उसकी ओर अधिक आकर्षित हो गया। पर नायक की इस धृष्टता से नायिका खीझ गई अर्थात् झुँझला गई। तब नायक ने अपनी दृष्टि नायिका पर डाली तो दोनों की दृष्टि मिलते ही नायिका खिल उठी अर्थात् उस के मुख पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। नायिका इस बात का अनुभव करके कि मेरे गुप्त प्रेम का भेद खुल गया और वह नायक के सामने परास्त हो गई, लज्जित हो गई।

उक्त प्रसंग में नायक की क्रियाओं का ही सामाजिक पर अधिक प्रभाव पड़ता दिखाई देता है क्योंकि संयोग काल मेंश्रृंगारिक चेष्टायें नायक की ही अधिक प्रभावशाली होती हैं और प्रेम-प्रदर्शन की पहल प्रायः पुरुष ही करता है। स्त्री का भूषण लज्जा होने के कारण उसके जो नाज-नखरे होते हें वे सब नायक के चित्त को अधिकाधिक प्रभावित करते हैं और इस खींचतान में नायिका; नायक के हृदयस्थ 'रतिभाव' को पहले जाग्रत करने का कारण बन जाती है। नायक बेधड़क होकर रतिभाव का प्रदर्शन करता है। उसे न लज्जा होती है, न भय, न आशंका। इधार नायिका में बेधड़कपन नहीं

होता। वह शील, लज्जा आदि का ही प्रदर्शन करती देखी जाती है। अतः उसके हाव-भाव-वर्जन-तर्जन सब नायक के रतिभाव को जाग्रत करके व्यक्त करने व पुष्ट करने में सहायक होते हैं। नायिका के हावभाव लज्जा आदि के कारण कभी भय, कभी शंका आदि से दब जाते हैं और वे अनुभावों का रूप धारण नहीं करते। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जायेगी–

''चंचल न हूजे नाथ, अंचल न खींचो हाथ,
सोवै नेंकु सरिकाऊ सुक तो सुवायोजू।
मंद करो दीप दुति चंद मुख देखियत
दारिकै दुराय आऊँ द्वार तो दिखायो जू।
मृगज मराल बाल बाहिरै बिड़ारि आऊँ,
तोहू मन भायौ सो तो मोहू मन भायौ जू।
रस के निवास ऐसे वचन विलास सुनि
सौ गुनौ सुरति हूते स्याम सुख पायौ जू।।"

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संयोगश्रृंगार के वर्णन में अधिकांशतः नायक आश्रय और नायिका आलम्बन के रूप में गृहीत होते हैं परन्तु वियोग श्रृंगार के समय अधिकतर नायिकाएं आश्रय के रूप में गृहीत होती हैं। नायक भी आश्रय के रूप में देखे तो गये हैं, परन्तु उनका रूप इतना अधिक प्रभावशाली नहीं होता जितना नायिका का। सूफी काव्य में अवश्य नायक का वियोग अधिक प्रभावशाली होता है।

श्रृंगार के अतिरिक्त वीर रस तथा रौद्ररस में भी आश्रय और आलम्बन विवादास्पद होते हैं। उदाहरणार्थ, महाभारत के युद्ध में अत्यधिक वीरता का प्रदर्शन करने वाले अर्जुन के प्रबल. प्रतिद्वंदी भीष्म, द्रोण तथा कर्ण आलम्बन विभाव के अन्तर्गत ही माने जाते हैं और अर्जुन आश्रय के रूप में ही अवतरित हुआ है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि अर्जुन महाभारत का विजेता है और उक्त योद्धाओं की तुलना में अर्जुन का पराक्रम व वीरता अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई है। राम-रावण युद्ध में राम ही आश्रय हैं। लक्ष्मण-मेघनाद के युद्ध में लक्ष्मण निर्विवाद रूप से आश्रय और मेघनाद वीर रस का आलम्बन माना जाता है।

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। क्रोध का आलम्बन भी शत्रु ही है। क्रोध करने वाला पात्र प्रायः अहंकारी व आत्मश्लाघी होता है परन्तु जहाँ किसी के स्वाभिमान को चोट पहँचाती है, वहाँ क्रोध का आलम्बन आश्रय का स्थान ग्रहण कर लेता है। परशुराम रौद्र रस का आश्रय माने जाते हैं और राम भरतादि आलम्बन। परन्तु राम-परशुराम संवाद में जब वे विश्वामित्र के प्रति 'अप' शब्द कहकर 'राम' के शिष्यतत्व को ठेस पहुँचाते हैं तो राम को परशुराम पर सहसा क्रोध आ जाता है और आश्रय परशुराम आलम्बन बन जाते हैं–

''भगन भयो हर धनुष साल तुमको अब सालै।

वृथा होई विधि सृष्टि ईस आसन ते चालै।
सकल लोक संहरहु सेस सिर ते धर डारै।
सप्त सिंधु बुड़ि जाय होइ सबही तम भारै।
अति अमल ज्योति नारायनी कह केसव बुड़िजाय बरु।
भृगुनन्द सँभारु कुठारु मैं कियो सरासन जुक्तसरु।" (रामचन्द्रिका)

इसी प्रकार जब अशोक वाटिका में स्थित दुःखिनी सीता से रावण उसकी ओर ध्यान देने और राम का ध्यान छोड़ने की बात कहता है तो सीता का सतीत्व आहत होकर उग्र रूप से फूट पड़ता है–

"बिड़कन धन घूरे भच्छि क्यों बाज जीवै।
सिव सिर ससि श्री को राहु कैसे सु छीवै।
उठ-उठ सठ ह्याँते भाग तोलों अभागे।
मम वचन विसर्पी सर्प जोलौं न लागे।।" (रामचन्द्रिका)

ऋषि मुनियों, संत-महात्माओं का क्रोध भी इसी प्रकार का होता है जो आलम्बन से आश्रय के रूप में सत्वर परिवर्तित हो जाता है। रौद्र रस का यह रूप वास्तव में आदर्श, प्रेरणादायक एवं प्रभावशाली होता है।

अन्य रसों के आश्रय एवं आलम्बन विवादास्पद एवं उलझे हुए नहीं होते उदाहरणार्थ–

1. करुण का आश्रय शोक संतप्त सद्गुणी व्यक्ति होता है।
2. भयानक का आश्रय भयभीत सद्गुणी व्यक्ति होता है।
3. हास्य का आश्रय हँसने वाला सद्गुणी व्यक्ति होता है।
4. अद्भुत का आश्रय भौचक्का होने वाला व्यक्ति होता है।
5. बीभत्स का आश्रय घृणा का प्रदर्शन करने वाला व्यक्ति होता है।
6. वात्सल्य का आश्रय माता-पिता तथा गुरु आदि होते हैं।
7. शांत तथा भक्ति का आश्रय ज्ञानी एवं भक्त होते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आश्रय केवल सद्गुणी ही होता है। असद्गुणी आश्रय रूप में गृहीत नहीं होगा। जैसे-पुत्र शोक में रत हुए रावण व धृतराष्ट्र आदि करुण रस के आश्रय नहीं हैं।

आलम्बन का उल्लेख आलम्बन प्रकरण में किया जा चुका है। आलम्बन सद्गुणी व असद्गुणी दोनों ही होते हैं। जैसे-शत्रु रूप में रावण आदि वीर और रौद्र रसों में आलम्बन हैं।

उद्दीपन विभाव

'स्थायी भाव' को उद्दीप्त करने वाली परिस्थितियाँ उद्दीपन विभाव कहलाती हैं। उदाहरणार्थः एकान्त, उपवन, रात्रि, वसन्त आदि तथा आलम्बन की वेशभूषा, हाव-भाव-कटाक्ष, चलने, देखने, उठने, बैठने, बोलने का आकर्षक ढंग आदि शृंगार

रस' के उद्दीपक विभाव कहलाते हैं। शत्रु द्वारा प्रदर्शित हाव-भाव अर्थात् ललकारना, गालियाँ देना, नेत्र लाल करना, पैर पटकना, तलवार दिखाना, आँखें तरेरना आदि 'वीरस' के उद्दीपन होते हैं। अपमान करना, हानि पहुँचाना, बाधा डालना, गालियाँ देना, ललकारना आदि 'रौद्र रस' के उद्दीपन विभाव होते हैं। विचित्र (अटपटी) वेषभूषा, बातचीत, क्रिया एवं चेष्टाएँ 'हास्य रस' के उद्दीपन विभावान्तर्गत आते हैं। विचित्र वस्तु एवं कान्ति आदि का दर्शन, उसके श्रवण-पठन-पाठन आदि अद्‌भुत रस के उद्दीपन विभाव हैं। विनष्ट व्यक्ति या वस्तु के अभाव का स्मरण कराने वाली परिस्थितियाँ जैसे मृतक-शरीर, श्मशान, मृतक की क्रियादि, तत्सम्बन्धी कोई वस्तु, स्थान, त्यौहार, मेला, विवाहोत्सव आदि 'करुण रस के उद्दीपन विभाव हैं। घृणित वस्तु या स्थान, उनसे निकलने वाली दुर्गन्ध तथा उसके दुष्प्रभाव का भान कराने वाले दृश्य, स्थानादि 'बीभत्स रस' के उद्दीपन विभाव हैं। भयानक एवं असुरक्षित स्थानादि का दर्शन या स्मरणादि तथा भयानक प्राणी जैसे व्याघ्रादि का गर्जना, झटपना, बंदूकों तथा तोपों आदि का भयानक शब्द सुनना आदि 'भयानक रस' के उद्दीपन विभाव होते हैं। बालक की क्रियाएँ एवं चेष्टायें, जैसे तुतलाना, मचलना, घुटनों के बल चलना तथा उसकी सुन्दर वेषभूषादि 'वात्सल्य रस' के उद्दीपन विभाव हैं। इष्ट देव की मूर्ति, वेषभूषादि तत्सम्बन्धी कथा-वार्ता, व्रत स्नानादि के स्थान आदि, शान्त एवं भाक्ति रस के उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आते हैं।

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि **आलम्बन की क्रियाएँ चेष्टाएँ (हावभावादि), वेशभूषा, आदि तथा आश्रय के हृदय में जाग्रत स्थायीभाव को उद्दीप्त (उत्तेजित) करने वाली परिस्थितियाँ उद्दीपन विभाव कहलाती हैं।**

स्थायीभाव को जाग्रत करने में उद्दीपन विभाव का सर्वाधिक महत्व है। अनेक अवसर ऐसे आते हैं जबकि आलम्बन एवं आश्रय साथ-साथ रहते हैं और यदि आश्रय के हृदय में स्थायीभाव जाग्रत भी हो जाता है तो वह अनुकूल परिस्थितियां न होने के कारण उद्दीप्त नहीं हो पाता और दबकर समाप्त हो जाता है। कुछ उदाहरण इस सम्बन्ध में प्रस्तुत करना उचित ही है–

(1) भीम और जरासन्ध का दिनभर द्वन्द युद्ध होता था। युद्ध समाप्त होने के पश्चात दोनों ही प्रतिद्वन्दी साथ-साथ रहते थे, एक साथ बैठकर भोजन करते थे और एक ही स्थान पर सोते थे परन्तु उनमें 'वीररस' का स्थायीभाव उत्साह उस समय जाग्रत नहीं होता था। यदि जाग्रत होता भी होगा तो वे उसे दबा लेते होंगे परन्तु उत्साह का प्रदर्शन नहीं करते थे। इसके विपरीत युद्ध के मैदान में जाकर एक दूसरे को युद्धार्थ तत्पर देखकर एक दूसरे की वेशभूषा, ललकार क्रोधादि के द्वारा उनका उत्साह का उत्स फूट पड़ता था और दोनों भीषण युद्ध में सन्नद्ध हो जाते थे। यह क्रम उस समय तक चलता रहा जब तक कि भीम ने जरासन्ध को धराशायी न कर दिया। इस प्रसंग में भीम आश्रय है और जरासन्ध आलम्बन। परन्तु आलम्बन की क्रियाएं, चेष्टाएँ एवं युद्ध के उपयुक्त वातावरण के बिना भीम का उत्साह न जाग्रत होता था और न उद्दीप्त।

दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है–

(2) महाभारत के रणक्षेत्र में दिन भर के युद्ध के पश्चात् अर्जुन शाम को भीष्म पितामह के पास गया। उनका चरण स्पर्श किया। बातचीत की और सकुशल लौट आया। दूसरे दिन प्रात: काल युद्ध क्षेत्र में निर्मम वाणों के प्रहार द्वारा अर्जुन ने भीष्म पितामह को धराशायी कर डाला।

इसी प्रकार के प्रसंग श्रृंगार रस के क्षेत्र में अनेक बार देखने को मिलते हैं। निम्नलिखित, दोहे से यह स्पष्ट हो जाएगा।

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस के खरे लजाने लाल। (बिहारी)

इस दोहे में व्रज-जल-प्लावन के समय श्री कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन पर्वत को धारण करके ब्रजवासियों की रक्षा का प्रदर्शन है, परन्तु गिरिधारण करते समय श्री कृष्ण आलम्बन रूप राधा को देखते हैं तो उनके हृदय में रति-भाव जाग्रत होता है और उनहें कम्प सात्त्विक हो आता है जिससे हाथ हिल जाता है, पर्वत डगमगाने लगता है और समस्त व्रजवासी चिन्तित एवं दु:खी हो जाते हैं। तभी उपयुक्त अवसर न होने के कारण श्री कृष्ण को लज्जित होना पड़ता है जिससे उनका रति भाव दब कर समाप्त हो जाता है।

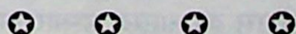
संयोग श्रृंगार की सर्वाधिक उद्दीपन परिस्थिति 'एकान्त' होती है। नायक-नायिका भरे समाज में सब के सम्मुख खुलकर अपने प्रेम का प्रदर्शन नहीं कर सकते। चाहे यूरोपीय समाज में यह वर्जित न हो– परन्तु भारतीय समाज में परिजनों और गुरुजनों के बीच के रतिभाव प्रदर्शन को वर्जित माना गया है।

कामदेव ने वसन्त का मोहक वातावरण रचकर योगी शंकर के मन में वासना उत्पन्न की थी। विश्वामित्र की समाधि को 'मेनका' अप्सरा ने भंग किया था। 'विश्वमोहिनी' कन्या को देखकर 'नारद' का ज्ञान रफूचक्कर हो गया था। चित्र लेखा के सम्मुख-योगी कुमार गिरि का अध: पतन होता देखा जाता है। ये सभी बातें उद्दीपन विभाव के महत्व की पुष्टि करती हैं।

जिस प्रकार भूमि में बोया हुआ बीज नमी पाकर अंकुरित तो हो जाता है परन्तु जब तक उसे बढ़ने के लिए प्रकाश एवं वायु न मिलेगी तब तक वह वृद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता, वहीं दब कर समाप्त हो जायेगा। उसी प्रकार 'स्थायीभाव' आलम्बन विभाव के द्वारा चाहे जाग्रत हो गया हो परन्तु जब तक उसे उपयुक्त उद्दीपक परिस्थितियाँ न मिलेंगी तब तक वह व्यक्त, पुष्ट और अभिव्यक्त नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृति में उद्दीपन विभाव का नैतिक एवं लोक-कल्याणगत मूल्य भी कम नहीं है। यथा–

"हा हा खाते को नहीं मारें, ना भगते के परैं पिछार।
हाथ नहीं डारें तिरियन पर ये नहीं धर्म छत्रियन क्यार॥"



"बारह बरस कूकरा जीवै, सोलह बरस बनी को स्यार।
छत्री बरस अठारह जीवै, आगे जीवत कूँ धिक्कार।"



"विधवा है कैं पान चवावै, नैहर तिरिया करे सिंगार।
छत्री है कें रन ते भागै, ताके जीवत कूँ धिक्कार।"



"सावन प्यारी बिटिया लागै, रन प्यारी लागे तरबारि।
भैया प्यारो ता दिन लागै, बैरी झुके सीस पे आय॥"

लोक-राग की उपर्युक्त सभी पंक्तियाँ उद्दीपन विभाव का ही महत्व प्रतिपादित करती हैं कि बिना उपयुक्त परिस्थितियों के कोई कार्य करना या उपयुक्त परिस्थितियाँ होते हुए स्वधर्म का पालन न करना दोनों ही लोक न्याय के विपरीत हैं। **अतः कार्य के क्षेत्राधिकार में 'उपयुक्तता' ही उद्दीपन की सार्थकता का द्योतक है।**

अनुभाव

'अनुभावाविकारस्तु भाव संसूचनात्मकः' (दशरूपक)

स्थायीभाव की सूचना करने वाले संकेत अनुभाव कहलाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि अनुभाव वे होते हैं जो सामाजिकों को स्थायीभाव का अनुभव कराते हैं। इसका दूसरा भाव यह भी है कि वे विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन) के अनु अर्थात पश्चात उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में **आश्रय की क्रियाएँ तथा चेष्टाएँ 'अनुभाव' कहलाती है।** हम यह ऊपर व्यक्त कर चुके हैं कि आलम्बन की शारीरिक चेष्टाएँ हाव-भाव आदि उद्दीपन कहलाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाएगा।

**"तोरि सरासन संकर को सुभ सीय स्वयंवर माँझ बरी।
ताते बढ़यो अभिमान महा मन मेरिहु नेक न संक करी।
सो अपराध पर्‌यौ हमसौं अब क्यों सुधरै तुम ही धौं कहो।
वाहु दै दोऊ कुठारहि 'केसव' आपने धाम को पंथ गहो।"**

(रामचन्द्रिका)

उपर्युक्त पंक्तियाँ रौद्र रस का उदाहरण हैं। यहाँ परशुराम क्रोध का आश्रय हैं और राम आलम्बन, अतः प्रथम, द्वितीय तथा अन्तिम पंक्ति में क्रोधामिभूत परशुराम का कथन आश्रय का कथन होने के कारण अनुभाव कहलाएगा और तृतीय पंक्ति में राम का कथन आलम्बन का कथन होने के कारण उद्दीपन विभाव के अंतर्गत अनुस्यूत होगा।

अनुभाव योजना का प्रयोग रस परिपाक में मुक्तक काव्य के अंतर्गत अधिक देखा जाता है। बिहारी के दोहों में रस का समस्त सम्भार अनुभावों पर ही आधारित

है।[54] छायावादी कविता में भी रस का व्यक्तीकरण अनुभाव मूलक है। नाटक में अनुभाव एक अनिवार्य तत्व के रूप में प्रयुक्त होते देखे जाते हैं, अभिनय को विकल्प से अनुभाव कहना असंगत न होगा। पात्रों की आपसी बातचीत के द्वारा ही दृश्य सफलता पूर्वक रसनीय बनते हैं। उदाहरणार्थ:-

''बातन-बातन बतबड़ है गयौ और बातन में ह्वै गई रारि।
बातन-बातन गारी ह्वै गई गारी देत चली तरबारि।"

युद्धारम्भ की यह सजीव अनुभाव मूलक प्रक्रिया है जिसके द्वारा आश्रय एवं आलम्बन के परस्पारिक युद्ध स्थलीय वार्तालाप के द्वारा युद्ध का आरम्भ प्रदर्शित किया गया है। प्राय: यह देखा गया है कि काव्यादि में अनुभाव योजना जितनी उदात्त होगी रसानुभूति उतनी ही स्पष्ट एवं तीव्र होगी। नीचे की पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है-

''हम क्षत्री मृगया वन करहीं। तुमसे खलमृग खोजत फिरहीं।।
रिपु बलवन्त देखि नहीं डरहीं। एक बार कालहु संग लरहीं।।
रण चढ़ि करे कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई।।"

आश्रय राम के इस वीरोचित निर्भीकतापूर्ण एवं व्यंग्यात्मक उत्तर को सुनकर राक्षस सेना का क्रोध उद्भूत तो हुआ परन्तु श्री राम की तीक्षण वाणधारा में बुदबुदों की भाँति विलीन हो गया।

''तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु व्याल।
कोपेऊ समर श्री राम। चले विशिख निषित निकाम।
अवलोकि खरतर तीर। मुरि चले निसाचर वीर।"

(मानस-अरण्यकाण्ड)

उपर्युक्त पंक्तियों के पढ़ने से शरीर में रोमांच हो आता है। दूसरे शब्दों में 'वीर रस' का परिपाक अधिक तीव्रता के साथ होता है। यह सब पुष्ट एवं सुष्ठु अनुभाव योजना का ही प्रभाव है। अत: रस का रहस्य अनुभावों की सबल यवनिका के पीछे ही छिपा रहता है जिसके खुलते ही रस के समस्त अवयव सहज-रूप से दृष्टिगोचार होकर आनन्दानुभूति का कारण बन जाते हैं। सफल रस-सिद्ध कवि अनुभाव योजना का सम्मोहन वाण छोड़कर ही पाठक को विमोहित करता है। सूर, तुलसी, जायसी के काव्य में रसात्मकता का श्रोत अनुभावों के हिमगिरि से ही प्रवाहित होता है जिसमें जन-मन-मानस परिप्लावित हुए बिना नहीं रहता।

श्रृंगार के संयोग पक्ष के अनुभाव होते हैं-आश्रय के द्वारा आलम्बन से मीठी-मीठी बातें बनाना। हँसना, मुस्कराना, लम्बे-लम्बे वायदे करना। कसमें खाना। रास क्रीड़ादि करना। भ्रूभंग कटाक्षादि का प्रदर्शन आदि।

वियोग काल में आश्रय का रोना, सिसकियाँ भरना, उदास होकर बैठना। आलम्बन की याद करके उसके गुणादि का कथन करना। संदेश भेजना। जड़ सृष्टि के साथ तादात्म्य

स्थापित करके प्रेम-पात्र के सम्बन्ध में वार्तालाप करना आदि।

वीर रस के अनुभाव क्षेत्र में आश्रय द्वारा अपने शत्रु को ललकारना, आँखें दिखाना, गर्जना। वार बचाना एवं वार करना (शत्रु बल को ध्वस्त) करना आदि।

करुण रस के अनुभाव होते हैं आँसू बहाना, सिसकियाँ भरना, विलाप करना, छाती पीटना आदि। अद्‌भुत रस के अनुभाव होते हैं–भौचक्का रह जाना, ओह या वाह-वाह करना आदि। **भयानक रस** के अनुभाव, भागना, सहायता के लिऐ चिल्लाना, रोना आदि माने जाते हैं। रौद्र रस के अनुभाव होते हैं–आँखें चढ़ाना, आँखे लाल करना, दाँस पीसना, पैर पटकना, गरजना आदि। **'बीभत्स रस'** के अनुभाव हैं– थू-थू करना, नाक सिकोड़ना, नाक-मुँह बन्द करना आदि। **हास्य के अनुभाव**- आश्रय का हँसना, मुस्कराना, तालियाँ बजाना, हो-हो करना आदि। **शांत रस के अनुभाव**-भजन-कीर्तन-मनन-ध्यान व्रत-उपवास-पारायण-उपदेश-तीर्थाटन- स्नानादि होते हैं। **वात्सल्य के अनुभाव** होते है–(संयोग काल में) माता-पिता की शिशु के प्रति प्रदर्शित क्रियाएँ, चेटाएँ और (वियोग काल में) शिशु के लिए किया गया विलाप। जैसे श्री कृष्ण के मथुरा गमन पर यशोदा का विलाप।

अनुभाव के प्रकार

अनुभाव चार प्रकार माने गये हैं–

1. आंगिक

अर्थात आश्रय की शारीरिक क्रियाएँ एवं चेष्टाएँ।

2. वाचिक

आश्रय की आलम्बन के साथ बातचीत।

3. आहार्य

आश्रय की साज-सज्जा एवं वेशभूषा आदि जिसका आलम्बन पर सद्य प्रभाव पड़ता है। जैसे-युद्धरत योद्धा के अस्त्र-शस्त्र, अश्व-सैन्य, कवच, कुण्डलादि।

4. सात्त्विक

मनोदशा या मनगत स्थिति से उत्पन्न क्रियाएँ एवं चेष्टाएँ। अन्य अनुभाव तो स्पष्ट ही हैं। सात्त्विक अनुभाव की व्याख्या पृथक् से की जाती है–

सात्त्विक अनुभाव–सात्त्विक अनुभाव भी अन्य अनुभावों की भाँति आश्रय के विकार होने के कारण एक प्रकार से सामान्य अनुभावों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। फिर भी सात्त्विक-भाव अलग से माने जाते हैं। इन सात्त्विकों को भाव संज्ञा इसलिए दी जाती है कि वे 'सत्त्व' (मानसिक स्थिति) से ही उत्पन्न होते हैं। 'सत्त्व' का अर्थ है– अनुकार्य रामादि के दु:खादि भाव से भावक सामाजिक के चित्त का भावित (प्रभावित) होना।[55]

जब काव्यादि के श्रवणादि, पठनादि के द्वारा एवं नाटकादि के दर्शनादि से तद्‌मूलक

पात्रों रामादि के दु:ख, हर्ष आदि की भावना में हमारा अन्त:करण रजोगुण और तमोगुण से रहित होकर अत्यधिक अनुकूल व एकतान हो जाय तो उसे 'सत्व' कहते हैं।[56] यह सत्त्व मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है अर्थात् जब मन दु:खी होता है तो अश्रु निकल पड़ते हैं और जब मन हर्षित होता है तो रोमाञ्च हो आता है। ये (अश्रु-रोमाञ्चादि) दु:ख-हर्षादि भाव के सूचक होने के कारण 'सात्त्विक-भाव' कहलाते हैं। ये **सात्त्विक अनुभाव आठ प्रकार के माने गये हैं–1. स्तम्भ (अंगों का निष्क्रिय हो जाना), 2. प्रलय (अचेत हो जाना), 3. रोमाञ्च (रोंगटे खड़े हो जाना), 4. स्वेद (पसीना आना), 5. वैवर्ण्य (मुख का फीका पड़ना), 6. वेपथु (काँपना), 7. अश्रु (आँसू आना), 8. वैस्वर्य (आवाज का बेसुरा हो जाना)।**[57]

सात्त्विक अनुभावों का प्रदर्शन प्राय: शृंगार, वीर, रौद्र तथा करुण में ही देखा जाता है। वियोग शृंगार एवं करुण में प्राय: सभी सात्त्विक अनुभाव समविष्ट होते देखे जाते हैं।

संचारी या व्याभिचारी भाव

संचरण शील अर्थात अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं। इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है। ये भाव विशेषरूप से स्थायीभाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी गिरते इस प्रकार दिखाई देते हैं जिस प्रकार समुद्र में तरगें उठती हैं और विलीन हो जाती हैं। इन्हें व्यभिचारी भाव इस कारण कहा जाता है कि इनका सभी रसों में व्यभिचरण (आविर्भाव) देखा जाता है।[58] जिस प्रकार कोई पुरुष अनेक स्त्रियों के पास व्यभिचरण करने (आने-जाने) से व्यभिचारी कहा जाता है उसी प्रकार एक ही भाव विभिन्न रसों में आविर्भाव के कारण व्यभिचारी भाव कहा जाता है। जिस प्रकार समुद्र में लहरें पैदा होती हैं और विलीन होती हैं; वैसे ही रत्यादि स्थायीभावों में ही निर्वेदादि व्यभिचारी भाव आविर्भूत होते हैं तथा तिरोभूत हो जाते हैं। इस प्रकार संचारी या व्यभिचारी भाव विशेषरूप से स्थायी रूप में ही उठते और विलीन हो जाते हैं।

उपर्युक्त का आशय यह है कि व्यभिचारी या संचारी भाव 'स्थायी भाव' को पुष्ट करते हैं। हम स्थायी भाव के लक्षण में ऊपर व्यक्त कर चुके हैं कि स्थायीभाव रस निष्पन्नता की स्थिति में प्रारम्भ से अन्त तक एक रूप में स्थिर रहता है। वह किसी भी विरोधी या अविरोधी भाव से कभी विच्छिन्न नहीं होता तथा समस्त भावों को अपने में इस प्रकार आत्मसात् कर लेता है जिस प्रकार समुद्र नदियों के समस्त खारे-मीठे जल को तद्रूप बना लेता है। इसके विपरीत संचारी भाव वे भाव होते हैं जो स्थायी भाव में बार-बार उठते और तिरोभूत होते हैं। ये स्थायी भाव को दृढ़ रखने में सहायक होते है और रस को पूर्ण आस्वाद्य बनाने का कार्य करते हैं। स्थायी भाव संचारी भावों से पुष्ट होकर रसनीय अवस्था को प्राप्त होता है। अत: रस निष्पत्ति में संचारी भावों का भी अत्यधिक महत्त्व है। कभी-कभी स्थायीभाव जब अस्थायी अवस्था को ग्रहण

कर लेता है तो वहाँ रस का जोड़ ही बदल जाता है। उदाहरणार्थ:- राजकुमार उत्तर बड़े उत्साह के साथ कौरव सैना से युद्ध करने जाता है। वह राजभवन की स्त्रियों के सामने अपनी बहादुरी की डींग मारता है। इस स्थिति में राजकुमार उत्तर में उत्साह का भाव जाग्रत होना परिलक्षित होता है परन्तु जब वह विशाल एवं भयानक कौरवी सेना को देखता है तो घबराकर भागने और रोने लगता है। उसका उत्साह रफू-चक्कर हो जाता है और भय का भाव उसके समस्त भावों को चट कर जाता है। अत: इस प्रसंग में वीर रस के स्थान पर भयानक रस की ही सृष्टि होती है जिसका आश्रय राजकुमार उत्तर है और आलम्बन भयानक कौरवी सेना। ऐसी स्थिति में उत्तर के मन में शंका, मोह, व्याधि, तर्क-वेग, चिंता, श्रम आदि के भाव भी बार-बार उद्‌भुत होते एवं तिरोभूत होते दिखाई देते हैं। वह वृहन्नला-रूप अर्जुन से, जो उसका रथ हाँक रहा था- रथ को सत्वर संग्राम भूमि से वापिस ले चलने का आग्रह करता है परन्तु अर्जुन उत्तर को समझा-बुझा कर ढाढस देता है और रथ हाँकने का कार्य उसे सौंप कर स्वयं कौरवों से युद्ध करके उन्हें भगा देता है। अर्जुन के हृदय में उत्साह जाग्रत हो जाता है और उसके मन में उत्पन्न हर्ष, अमर्ष, गर्व एवं उत्सुकता आदि के भाव उत्साह को पुष्ट करके आदि से अन्त तक एक ही स्थिति में अडिग रखते हैं। इस प्रकार अर्जुन का उत्साह स्थायी रूप में अवतरित होता है। इसके विपरीत गर्व, धृति आदि के भाव बार-बार उद्‌भूत एवं तिरोभूत होने के कारण संचारी भावों के रूप में लक्षित होते हैं। संचारी भावों पर नियंत्रण कर लेने में सफल हो जाने से उत्साह 'स्थायी भाव' के रूप में अवतरित होता है। संचारी भावों एवं स्थायी भावों में यही मौलिक अन्तर है।

संचारी-भाव तेतीस प्रकार के माने जाते हैं :-

निर्वेदग्लानिशंकाश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
त्रासेर्ष्यामर्षगर्वा: स्मृतिमरणमदा: सुप्तनिद्राबिबोधा:।
ब्रीडारपस्मारमोना: सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था,
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च॥ (दशरूपक 4-8)

1. **निर्वेद** (आत्मज्ञान का भाव), 2. **ग्लानि** (आत्मविरक्ति का भाव), 3. **शंका**, 4. **श्रम** (थकावट का भाव), 5. **धृति** (धैर्य), 6.**जड़ता** (अवाक् रहने का भाव या किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का भाव), 7. **हर्ष**, 8. **दैन्य** (दीनता का भाव), 9. **औग्र्य** (उत्तेजना का भाव), 10. **चिन्ता**, 11. **त्रास** (आतंक मूलक भय का भाव), 12. **ईर्ष्या अथवा असूया** (दूसरे के प्रति जलन का भाव), 13, **अमर्ष** (क्रोध प्रदर्शन का भाव), 14. **गर्व** (प्रसन्नतामूलक अभिमान का भाव), 15. **स्मृति** (किसी विगत बात के स्मरण का भाव), 16. **मरण** (मृतकवत् होने का भाव), 17. **मद** (आत्मविभोरता का भाव), 18. **सुप्त** (स्वप्नवत् ध्यान मग्न होने का भाव), 19. **निद्रा** (विश्राम का भाव), 20. **बिबोध** (सचेत होने का भाव), 21. **ब्रीड़ा** (लज्जा का भाव), 22. **अपस्मार** (मूर्छा का भाव), 23. **अलसता** (कार्य के प्रति शैथिल्य का भाव), 26. **वेग या आवेग**

(उत्तेजना का भाव), 27. **तर्क अथवा वितर्क** (तथ्य के निर्णय का भाव), 28. **अवहित्था** (अरुचि का भाव), 29. **व्याधि** (कष्ट का भाव), 30. **उन्माद** (पागलपन का भाव), 31. **विषाद** (शोक का भाव), 32. **उत्सुकता** (उत्साह का भाव), 33. **चपलता** (जल्दबाजी प्रदर्शन का भाव)।

भाव–रस के अंगों के निरूपण में स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, अनुभाव तथा संचारी भावों के साथ निरन्तर 'भाव' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। अतः यहाँ 'भाव' शब्द का लक्षण भी संक्षेप में देना आवश्यक है–

''काव्यादि में निरूपित आश्रय (दुष्यन्तादि) के सुख-दुःख, हर्ष, शोक आदि भावों के द्वारा सामाजिक के हृदय का उसी भाव से भावित होना (भर जाना) 'भाव' कहलाता है। दूसरे शब्दों में आश्रय के भाव से सामाजिक के भाव की एकतानता 'भाव' कहलाती है। संक्षेप में हृदयस्थ विकारों को भाव कहते हैं। ये भाव ही रस प्रक्रिया का मूल आधार हैं। बिना भावों के रस निष्पन्न नहीं हो सकता। अतः रस निष्पन्नता में भावों का सर्वाधिक महत्व है।

टिप्पणियां

1. ज्यौं बिनु दीठि न शोभिजै लोचन लोल विशाल,
तैसेई 'केसव' सकल कवि बिनु बानी न रसाल'' (रसिक प्रिया)

2. राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।। (साकेत)

3. ''सूरठियो दूहो भलो कपड़ो भलो सुपेत।
ठाकरिया दाता भलो घुडलो भलो कुमेत।।''
''सूरठियो दूहो भलो भल मरवरण री बात।
जोबण छाई धन भली, तारा छाई रात।।''

4. 'चार बांस, चौबीस गज, अंगुल अष्ट प्रमान।
ता उप्पर सुलतान है मति चुक्कै चौहान।।'

5. 'पटकूं मूंछा पाण कै पटकूं निज तण करद।
लिख दीजै दीवाण इन दो महली बात इक।।'

6. इस पद का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –
'सरसिज लगत सुहावनों जदपि लियो ढपि पंक।
कारी रेख कलंक हूँ लसति कलाधर अंक।।
पहरे बल्कल बसन यह लागति नीकी बाल।
कहा न भूषन होई जो रूप लिख्यो विधि भाल।। (*शकुन्तला नाटक*)

7. 'वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पीर पराई जानें रे।
परजन का उपकार करें पर मन अभिमान न आनें रे।।

8. भोजप्रबन्ध। (कुविन्दस्य पाण्त्यिम्)। बिहारी सतसई।

9. 'शैले-शैले न मणिक्यं चन्दनं न वने-वने।
साधवो हि न सर्वत्र मौक्तिकं न गजे गजे।।

10. भोजप्रबन्ध। (कुविन्दस्य पाण्त्यिम्)। बिहारी सतसई।

11. यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यै व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्त, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमापन्नुवन्तीति।। (नाट्यशास्त्र)

12. यथाहि नानाव्यञ्जन संस्कृतमन्नं भुञ्जानां रसान्नास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चांधिगच्छन्ति तथा
नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादीश्ंचाधिगच्छन्ति (नाट्यशास्त्र)

13. (क) हिन्दी अभिनवभारती पृ॰ 442.43
(ख) ध्वन्यालोक लोचन चौखम्मा पृ॰ 184

14. दे॰ 'काव्य प्रदीप' पृ॰ 63 पर '....... सामाजिकाना चमत्कार हेतुः।' आदि।

15. ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्भा पृ. 184।

16-17. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एस्थेटिक्स पृ. 28

18. दे॰ हिन्दी अभिनव भारती पृ॰ 445

19. .... हेतुभिर्विभावाख्यैः, कार्यैरनुभावात्मभिः, सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः, अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।
विभावाहि काव्य बलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः।
व्यभिचारिणा=कृत्रिम निजानुभावार्जन बलात् स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः।
.... अतएव स्थायिपदं सूत्रेभिन्नविभक्तकमपि नोक्तम्।।
न चात्रनर्तक एवं सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति। च चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद्वा न वायमिति। नापि तत्सदृश इति। किन्तु सम्यङ्मिथ्या संशय सादृश्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन, एयः सुखीरामः असावयमिति प्रतीतिरस्ति। (हिन्दी अभिनव भारती पृ॰ 446-50)

20-21. रस सिद्धान्त पृ. क्रमशः 159, 169, 209, 193

22-25. हिन्दी अभिनव भारती

26-27. रस सिद्धान्त पृ. क्रमशः 159, 169, 209, 193

28. रसगंगाधर का शा. अध्ययन पृ. 330। 29. दशरूपक-4.1

30. 'न भावहीनोऽस्ति रसो ॅन भावो रसवर्जितः।' (नाट्यशास्त्र 6.37)

31. साहित्यदर्पण 3.2.3

32. अभिनव काव्य प्रकाश पृ.-96

33. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। सा. द. 1.3

34-38. रस सिद्धान्त, डॉ. नगेन्द्र पृ. 99-100

39. पटकूं मूंछा पाण कै पटकूं निज तण करद।
लिख दीजै दीवाण इन दो महली बात इक।।

40. काव्य जिज्ञासा, पृ. 18-19

41. देखिए - पूर्व विवेचित 'रस का आनन्दवाद'

42. ''हेतुत्वं शोकहर्षादिर्गतेभ्यो लोक संश्रयात्।
शोक हर्षादियो लोके जायन्ता नाम लौकिका:।।
अलौकिक विभावत्व प्राप्तेभ्य: काव्य संश्रयात्।
सुख संजायते तेभ्य: सर्वेभ्योऽप्रीति का क्षति:।।'' (साहित्य दर्पण 3-6-7)

43. अयं हि लोकोत्तरस्य काव्य व्यापारस्य महिमा, अप्रयोज्या अरमणीय
अपि शोकादय: पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति।''
(रसगंगाधर-चौखम्भा पृ. 109)

44. सम: शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो:।
शीतोष्णसुखदु:खेषु सम: संगविवर्जित:।।
तुल्य निन्दास्तुतिर्मोनी संतुष्टो येनकेनचित।
अनिकेत:स्थिरमति: भक्तिमान् मे प्रियो नर:।। (गीता अ. 12)

45. यदि बाधाएँ हुईं हमें तो उन बाधाओं के ही साथ।
जिससे बाधा बोध न हो वह सहनशक्ति भी आती हाथ।। (पंचवटी)

46. ''तस्मात् काव्ये दोषाभावुगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण, निविडनिजमोह संकटता निवारण कारिणा विभादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसो .... भोगेन परं भुज्यते।'' (हिन्दी अभिनव भारती पु. 464-65)

47. रस सिद्धान्त पृ.-123

48. श्री कृष्ण का सुन कथन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
वे शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खड़े।। (जयद्रथ वध)

चतुर्थ अध्याय

रस-संख्या निरूपण

रस संख्या सम्बन्धी मत

रस संख्या के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही विद्वान एक मत नहीं हैं। स्व-स्व मत्यानुसारेण रसों की भिन्न-भिन्न संख्या निर्धारित की जाती रही है। आचार्य भरत से लेकर वर्तमान काल तक रस-संख्या में बराबर न्यूनाधिक्य की स्थिति देखी जाती है। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के आधार पर कभी आठ-कभी नौ-कभी दस और कभी ग्यारह-बारह तक रस संख्या का विस्तार करने में विद्वानों ने अपनी बुद्धि की कलाबाजी प्रदर्शित की है। कहावत है कि 'सौ सयाने एक मत' परन्तु तर्क बुद्धि में मतैक्य का सर्वथा अभाव ही पाया जाता है। रस-संख्या के सम्बन्ध में भी यही उक्ति चरितार्थ होती है। अतः विद्वानों के रस-संख्या सम्बन्धी मतों का उल्लेख यहाँ करना आवश्यक प्रतीत होता है।

भरत

भरत के द्वारा प्रतिपादित रस-संख्या इस प्रकार है-

'श्रृंगार हास्य करुणा रौद्रवीर भयानका।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता।।'

अर्थात् नाटक में **श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत ये आठ रस होते हैं।** स्पष्ट है कि भरत ने शान्त को रस की संज्ञा नहीं दी है। भरत की यह मान्यता तत्कालीन नाट्य ग्रंथों पर आधारित है। लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर ही लक्षण ग्रंथों की रचना की जाती है। आचार्य भरत ने यह स्पष्ट ही कहा है कि नाटक के अन्तर्गत आठ रस होते हैं। इसका आशय है कि काव्यादि में रस संख्या आठ से अधिक भी हो सकती है और शान्तादि को भी रस माना जा सकता है। शान्त को रस न मानने का भरत का आग्रह केवल नाट्य मूलक है, काव्यमूलक नहीं। अतः भरत के विवेचन में ही इस बात के लिए पर्याप्त स्थान है कि उपर्युक्त आठ रसों के अतिरिक्त रस संख्या में घट-बढ़ की जा सकती है।

दण्डी

भरत के पश्चात् आचार्य दण्डी ने भी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ **'काव्यादर्श में'** केवल आचार्य भरत द्वारा मान्य, आठ रसों को ही स्वीकार किया है। **इहत्वष्टरसा**

(काव्यादर्श 1.292) और अन्य किसी रस का इनके द्वारा उल्लेख नहीं मिलता दण्डी के पश्चात् रस संख्या में विस्तार होना प्रारंभ हुआ और बढ़ते-बढ़ते यह प्रसंग द्रौपदी का चीर बन कर हिन्दी के आधुनिक आचार्यों तक आ गया। भगवत्कृपा से भरत द्वारा प्रतिपादित आठ रसों को सभी विद्वानों ने एकमत से स्वीकार किया है। इन आठ रसों में हेरा फेरी करने का दुस्साहस किसी ने नहीं किया। परन्तु शान्त को रस मानने तथा न मानने के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद देखने को मिलता है।

उद्भट

उद्भट ने सर्वप्रथम आधिकारिक रूप मसे भरत द्वारा निरूपित आठ-नाट्य रसों में नवम् 'रस' के रूप में 'शान्त-रस' की घोषणा इन शब्दों में की-

शृंगारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः।।[1]

अर्थात् **शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ रस नाटक में पाये जाते हैं।** उद्भट की यह स्थापना भरत द्वारा निर्धारित रस-संख्या में विस्तार ही माना जायेगा। उद्भट ने 'शान्त' को निर्विवाद-रूप से नाटक के लिए रस घोषित किया जिसका अभाव भरत मुनि की नाट्य-रस-संख्या सम्बन्धी स्थापना में पाया जाता है। परन्तु यहाँ एक तथ्य यह भी विचारणीय है कि नाट्यशास्त्र के प्रमुख व्याख्याता अभिनवगुप्त ने अपनी विवक्षा में यह सिद्ध करने का प्रयास भी किया है कि भरत ने ही रसों की संख्या 'शान्त रस' सहित नौ मानी है क्योंकि रस संख्या निरूपण सम्बन्धी सूत्र इस प्रकार प्रणीत हुआ था-

शृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः।।

परन्तु नाटक में शान्तरस का विरोध करने वाले आचार्यों ने कालान्तर में उपर्युक्त कारिका की द्वितीय पंक्ति को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया है :-

'बीभत्साद्भुत संज्ञो चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।[2]

यदि अभिनवगुप्त की इस धारणा को प्रामाणिक एवं विश्वस्त माना जाय तो शान्तरस का भी संस्थापक भरत को ही माना जा सकता है। परन्तु संस्कृत तथा हिन्दी के आचार्यों को अभिनव गुप्त का मत मान्य नहीं है और सभी आचार्य भरत को आठ ही रसों का संस्थापक मानते हैं। **नवें रस 'शान्त' का प्रामाणिक संस्थापक उद्भट को ही माना जाता है।**

अब यहाँ कई प्रश्न स्वाभिक रूप से उठ खड़े होते हैं कि 'शान्त रस' की मूल कल्पना अनायास ही उद्भट के मस्तिष्क में कैसे आ गई? क्या शान्त रस मौखिक रूप से उद्भट से पूर्व के आचार्यों में प्रतिष्ठित नहीं था? या आचार्य भरत ने केवल नाटक के लिए ही तो शान्त रस का विरोध नहीं किया था, हो सकता है कि भरत से पूर्व भी नव रसों की ही परम्परा विद्यमान रही हो? इन प्रश्नों में एक या दो प्रश्नों का समाधान

तो भरत के निम्न कथन से ही हो जाता है :–

'एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।'[3]

अर्थात् इन आठ प्रकार के रसों का कथन **'द्रुहिण'** नाम के महात्मा (ऋषि) द्वारा किया गया है। भरत मुनि के इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि भरत से पूर्व भरत द्वारा उक्त आठ रस ही काव्य तथा नाटक में मान्य थे। इसीलिए भरत ने आठ ही रसों का उल्लेख किया है। यद्यपि भरत का आठ रस सम्बन्धी उल्लेख नाटक के नाम से किया गया है परन्तु भरत के विचार में नाटक व काव्य सम्बन्धी रसों का भेद कदापि नहीं था। अतः यह कहना कि भरत ने नाटक में आठ ही रसों की स्थिति को स्वीकार किया है और वे काव्य में 'नौ' रसों की स्थिति मानते थे, विश्वसनीय नहीं है। यही मानना उचित है कि भरत ने अपने से पूर्व चली आती हुई परम्परा के आधार पर काव्य (नाटक) में आठ ही रसों का उल्लेख किया है और नवे रस 'शान्त' की मूल रूप गें प्रतिष्ठापना करने वाले आचार्य का श्रेय **उद्भट** को ही दिया जाना उचित है।

अब इस प्रश्न का समाधान किया जाता है कि उद्भट के मस्तिष्क में अनायास ही 'शान्त रस' की कल्पना कैसे उद्भूत हुई। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो यही तथ्य विचारणीय है कि उद्भट एक अत्यन्त मेधावी आचार्य थे। दूसरे उद्भट के समय ऐसे लक्ष्य ग्रंथ भी उपलब्ध थे जिनमें 'शान्त रस' का परिपाक हो चुका था। साथ ही यह भी माना जा सकता है कि 'शान्त रस' किसी न किसी रूप में (चाहे विवादास्पद रूप में ही सही) उद्भट के समय या उनसे पूर्व आचार्य वर्ग में प्रचिलित रहा हो परन्तु भरत के मत का खण्डन करके शान्त को रस रूप में प्रतिष्ठित करने का साहस उन आचार्यों को न हुआ हो। इन तीनों ही प्रकार की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि उद्भट ने ही सर्वप्रथम 'शान्त रस' को नवें रस के रूप में मान्यता प्रदान की।

रुद्रट

रुद्रट ने अपने से पूर्व प्रचलित नव रसों को मान्यता प्रदान करते हुए एक दसवें रस 'प्रेयान्' की भी प्रतिष्ठा की:–

श्रृंगारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुत हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रयेनिति मन्तव्या रसाः सर्वे॥

अर्थात् श्रृंगार, वीर, करुण, बीभत्स, भयानक, अद्भुत, हास्य, रौद्र, शान्त **तथा प्रेयान् (प्रेम या स्नेह रस)** ये दश प्रकार रसों के सर्वत्र माने जाते हैं। **रुद्रट ने भी उद्भट की भाँति एक नवीन 'रस' 'प्रेयान्' की स्थापना की है। प्रेयान् रस का तात्पर्य है 'प्रेम' रस।** रुद्रट की यह धारणा पूर्णतया उपयुक्त ही मानी जानी चाहिए क्योंकि रुद्रट की दृष्टि काव्य के उस पक्ष पर पड़ी होगी जिसमें **भाई-भाई का प्रेम, पिता-पुत्र का प्रेम, मित्र-प्रेम, देश-प्रेम, समाज-प्रेम आदि प्रसंगों पर** गम्भीर, मार्मिक

एवं प्रेरणादायक काव्य उपलब्ध था और इन प्रसंगों में रस की पूर्णता विद्यमान थी। संस्कृत ही नहीं हिन्दी में भी इस प्रकार का प्रचुर एवं उत्कृष्ट कोटि का साहित्य उपलब्ध होता है। जिसमें पारिवारिक तथा देशमूलक प्रेम का मार्मिक निरूपण हुआ है।

यह प्रेम मूलक साहित्य अवश्य ही 'रस-कोटि' को पहुँचा हुआ साहित्य है। अत: इस साहित्य को **प्रेयान् रस** के अन्तर्गत रखा जाना अनुचित न होगा। निम्नलिखित उदाहरण को देखिये जिसमें देश-प्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है।

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं मैं लक्ष्मीपति के चढ़ूँ शीश पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ पर देना तू फेंक।
मात्र भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावैं वीर अनेक॥

(मा. ला. चतुर्वेदी–फूल की चाह)

इस कविता में राष्ट्रीयता की भावना, त्याग, बलिदान, सहिष्णुता, स्वतन्त्रता प्रेम, देश-प्रेम आदि का उत्कृष्टतम रूप दिखाई देता है। **हिन्दी कविता का एक लम्बा समय देश की परतंत्रता की स्थिति में बीता था। अत: इस अवधि में स्थान-स्थान पर हर युग में कवियों को 'देश-प्रेम' के गीत गा-गा कर देशवासियों को जगाने तथा देश की खोई हुई स्वतंत्रता को पुन: प्राप्त करने के लिए उत्कृष्ट देश-प्रेम की भावना का चित्रण करना पड़ा था। साथ ही देश के प्राचीन सांस्कृतिक गौरव का परिचय देशवासियों को कराने के लिए और पवित्र भारतीय आदर्शों की स्थापना के लिए प्राचीन भारत के गौरवशाली अतीत के गीत भी हिन्दी कवि निरन्तर गाते हुए चले आ रहे हैं। यही कारण है कि हिन्दी कविता में भी सुहृदप्रेम, सत्य-प्रेम, धर्म-प्रेम, देश-प्रेम आदि का प्रचुर मात्रा में प्रणयन हुआ है जो रस की सभी शर्तों को पूरी करने के कारण रस-कोटि में माने जाने योग्य है। अत: इन सभी प्रकार के प्रेम मूलक प्रसङ्गों के पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने के कारण रुद्रट द्वारा स्थापित प्रेयान् रस को भी मान्यता देना उचित ही है।** यद्यपि संस्कृत आचार्यों ने इसे मान्यता नहीं दी है परन्तु हिन्दी आचार्यों ने इसे 'सख्य रस, के रूप में तथा 'देश-प्रेम' -रस के रूप में अवश्य मान्यता प्रदान की है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रस संख्या के सम्बन्ध में कहा था :--

'सख्य, इस रस को लोग श्रृंगार के अन्तर्गत करते हैं। हम उन लोगों से पूछते हैं कि जहाँ कृष्ण और अर्जुन का प्रसङ्ग और इसी भाँति अनेक मित्रों की विपत्ति में मित्रों के संग देने के प्रसंग में श्रृंगार-रस किस भाँति आवेगा क्योंकि श्रृंगार का स्थायी रति और यहाँ मित्रता में रति का क्या कार्य है?' (कविवचनसुधा)। इसी प्रकार बाबू गुलाबराय, ने **'देश-प्रेम' मूलक प्रसङ्गों में 'देश-भक्ति रस' को मानने का आग्रह किया है। संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट के पश्चात् भोजराज ने भी 'प्रेयांस शान्तों दात्तोद्धता रसा:'** (स0 कण्ठाभरण 5.164) **कहकर प्रेयान् रस**

को रस रूप में स्वीकार किया है।

धनंजय

धनंजय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ दशरूपक में रसों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है परन्तु उन्होंने भरत का अनुसरण करते हुए रस संख्या केवल आठ ही मानी है और अपने से पूर्व प्रचलित तथा मान्य दश रसों में से 'शान्त' तथा 'प्रेयान्' को रस नहीं माना है। धनंजय का यह दृष्टिकोण भरत की ही भाँति केवल नाटक के सम्बन्ध में था क्योंकि उनका ग्रंथ दशरूपक नाट्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और धनंजय भरत के पश्चात् सर्वाधिक मान्य नाट्य शास्त्री थे। उनका रस संख्या सम्बन्धी मत इस प्रकार है:-

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।।[4]

अर्थात् **रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय तथा शोक** ये आठ रसों के स्थायी भाव हैं। कुछ आचार्य '**शम**' जैसे नवें स्थायीभाव को भी मानते हैं परन्तु इस भाव की पुष्टि 'नाटक' में नहीं होती। अत: स्थायीभाव केवल आठ हैं और तज्जन्य रस भी आठ ही हैं जिन्हें भरत ने माना है। शान्तरस जो भरत को अमान्य है, रस कोटि में नहीं आता।

इन्होंने प्रेयान् तथा भक्ति आदि रसों को अस्वीकार करते हुए अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त की है :-

'प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयोरसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः।।[5]

अर्थात् कुछ लोग 'प्रीति-भक्ति' आदि को 'स्थायी भाव' मानते हैं तथा मृगया (आखेट) द्यूत क्रीडा (जुआ खेलना) आदि को रस मानते हैं। इनका अन्तर्भाव हर्ष, उत्साह आदि भावों में हो जाता है। अत: इनका विवेचन करना उचित नहीं है।

धनंजय के उपर्युक्त मत में विद्वान् केवल इस मत से तो सहमत हैं कि 'आखेट' तथा 'जुआ' आदि रस नहीं हैं परन्तु इस मत से सहमत नहीं हैं कि 'शान्त-भक्ति' तथा प्रेयान् 'रस' नहीं हैं। इसका कारण यह है कि 'संस्कृत' तथा 'हिन्दी' साहित्य में 'शान्त-भक्ति' तथा प्रेयान् आदि पर पर्याप्त रस मूलक सामग्री उपलब्ध है। अत: धनंजय का 'शान्त' तथा 'प्रेयान्' रस मूलक दृष्टिकोण उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

अभिनव गुप्त

धनंजय के शान्त रस सम्बन्धी मत को अभिनव गुप्त ने स्पष्ट रूप से अस्वीकार करते हुए 'एवं ते नवैव रसाः'[6] कहकर उद्भट द्वारा निरूपित नव रसों को मान्यता प्रदान की है। 'शान्त' के अतिरिक्त अभिनव गुप्त ने रुद्रट द्वारा प्रतिपादित 'स्नेह रस' (प्रेयान्) को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार करते हुए कहा है :-

'आर्द्रता रूप स्थायीभाव से युक्त स्नेह (नामक दशम) रस होता है' यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि स्नेह एक प्रकार के आकर्षण का नाम है। वह सब (ही प्रकार का आकर्षण या स्नेह) रति या उत्साहादि में ही समा जाता है। जैसे कि बालक का माता-पिता आदि के प्रति, युवकों का मित्रों के प्रति, और लक्ष्मण आदि जैसे भाइयों के प्रति स्नेह का उदय, रति में ही समविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार वृद्ध जनों का पुत्रादि के प्रति स्नेह (जिसको अन्य रसों के मानने वाले वात्सल्य रस नाम से कहते हैं) उसके विषय में भी समझना चाहिए (अर्थात् उसका भी अन्तर्भाव रति के भीतर ही हो जाता है)[7]

अभिनव गुप्त ने अपने उपर्युक्त मन्तव्य में प्रत्यक्ष रूप से चाहे 'प्रेयान्' और 'वात्सल्य' रसों की स्थिति को अस्वीकार किया है परन्तु परोक्ष रूप से उन्होंने -प्रेयान्' तथा 'वात्सल्य' का समर्थन ही किया है। उनके मतानुसार शृंगार' नाम से पुकारें, चाहे प्रेयान् या वात्सल्य नाम से सब का स्थायी भाव केवल 'रति' स्थायी पर आधारित हैं। अत: ये तीनों रस पृथक्-पृथक् न होकर केवल 'दाम्पत्य रति' है क्योंकिशृंगार के अन्तर्गत केवल 'पति-पत्नी' या प्रेमी-प्रेमिका के 'दाम्पत्य-प्रेम' का ही निरूपण होता है।शृंगार रस का आश्रय तथा आलम्बन 'नायक-नायिका' ही होते हैं।शृंगार के आश्रय या आलम्बन-रूप में पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहिन तथा मित्र-मित्र को नहीं रक्खा जा सकता। अत: अभिनव गुप्त के विचारानुसार चलने पर तोशृंगार का स्थायीभाव केवल रति (स्नेह या प्रेम) ही मानना पड़ेगा और उसके आश्रय-आलम्बन रूप में कोई भी 'स्नेह-सिक्त' या 'प्रेम-पूर्ण' स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध आदि हो सकता है। इस स्थिति में उक्त तीनों ही रस एक हो जायेंगे और इन तीनों को मिला करशृंगार या वात्सल्य नाम देना उपयुक्त नहीं होगा। केवल प्रेयान् या 'प्रेम-रस' नाम देना ही उपयुक्त होगा। यदि हम इस धारणा को मान लें तोशृंगार के स्थान पर प्रेयान् को अभिषिक्त करना होगा और रस संख्या नौ माननी होगी परन्तु शृंगार रस' के अस्तित्व को मिटाकर उसके स्थान पर 'प्रेयान् रस' की स्थापना से कोई भी विद्वान् सहमत न होगा। यद्यपि इस प्रकार की स्वीकारोक्ति अनुचित नहीं है परन्तु दुराग्रही कभी किसी उपयुक्त बात को नहीं मानते हैं। अत: यही उपयुक्त है कि 'रति' के तीन भाग- 1. दाम्पत्यरति 2. वात्सल्य रति 3. सुहृदति किये जायें और तदमूलक रस 1. शृंगार, 2. वात्सल्य 3. प्रेयान् को पृथक्-पृथक् रसों के रूप में स्वीकार किया जाय।

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने रुद्रट द्वारा प्रतिपादित नव रसों को स्वीकार करते हुए **'वात्सल्य'** को दशम रस के रूप में निरूपित किया है –

'स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।' (सा. द. 3.251)

अर्थात् प्रकट रूप में चमत्कारक होने के कारण 'वात्सल्य' को भी रस माना जाता है। **पण्डित विश्वनाथ के मत से रस संख्या 'दस' है।** उन्होंने रुद्रट द्वारा निरूपित

प्रेयान् रस को स्वीकार नहीं किया है। भोजराज ने **प्रेयान्, शान्त, उदात्त तथा उद्धत** इन चार रसों का उल्लेख किया है परन्तु उदात्त और उद्धत को किसी भी आचार्य ने रस नहीं माना है। इन भावों का अन्तर्भाव उत्साहादि में सरलता से हो जाता है।

भानुदत्त

भानुदत्त ने रस संख्या निरूपण में अपने समय तक की समस्त मान्यताओं पर पानी फेरते हुए अपनी अलग ही खिचड़ी पकाई है। उन्होंने सर्वप्रथम रस के दो मुख्य भाग किये हैं। **1. लौकिक रस 2. अलौकिक रस**। **'स च रसो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्चेति।'** इसके पश्चात् उन्होंने परम्परागत रसों के अतिरिक्त **कार्पण्य तथा 'माया'** को भी रस माना है। नव रसों के अतिरिक्त भानुदत्त ने **वात्सल्य, कौल्य एवं भक्ति रस को भी रस रूप में मान्यता दी है**। इस प्रकार भानुदत्त का रस संख्या निर्धारण अत्यन्त पेचीदा एवं अनुपयोगी है। उनका सर्वाधिक चौंका देने वाला नाम 'माया रस' है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि–

'माया रस– चित्तवृत्तिर्द्विधा प्रवृत्तिश्चेति। निवृतौ यथा शान्त रसस्तथा प्रवृत्तौ माया रस इति प्रतिभाति।'[8]

अर्थात् चित्त वृत्ति दो प्रकार की होती है 1. प्रवृत्ति मूलक 2. निवृत्ति मूलक निवृत्ति में जिस प्रकार 'शान्तरस' होता है, उसी प्रकार प्रवृत्ति में माया-रस की प्रतीति होती है। इसी आधार पर भानुदत्त ने अपने ग्रंथ **'रसतरंगिणी'** में 'माया रस' का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार माया रस का **स्थायी भाव** है 'मिथ्या ज्ञान'। विभाव हैं– सांसारिक भोग तथा उनके उत्पादक धर्म **अनुभाव** हैं–पुत्र, कलत्र, विजय आदि के समय प्रदर्शित क्रियाएँ व चेष्टायें आदि। इस प्रकार माया रस का लक्षण है– **'जहाँ मिथ्या ज्ञान की वासना विभावादि का संयोग पाकर प्रबुद्ध हो जाती है, वहाँ 'माया रस' होता है।'**[9]

उपर्युक्त कथन को यदि 'रस सिद्धांत' की कसौटी पर रखा जाये तो यह मत खोटे सिक्के की भाँति अवास्तविक ही सिद्ध होगा क्योंकि मिथ्या ज्ञान का सम्बन्ध काम-क्रोधादि मानसिक विकारों से होता है जिनमें रजोगुण तथा तमोगुण की विद्यमानता रहती है, जबकि 'रस' केवल वहीं माना जायेगा जहाँ तमोगुण का ह्रास होकर सतोगुण का विकास होगा क्योंकि 'रस' साधारणीकृत भाव को कहते हैं जिसका आधार सत्वगुण ही है। परन्तु माया रस का आधार रजोगुण तथा तमोगुण हैं। इसका सम्बन्ध 'वेद्यान्तर स्पर्शशून्यता', 'अखण्डता' तथा 'चिन्मयता' से भी नहीं है। इस प्रकार रस के आवश्यक तत्वों के अभाव में 'माया रस' (वासनाजन्य आनन्द) को 'रस' नहीं माना जा सकता। इसी कारण भानुदत्त के अतिरिक्त अन्य किसी भी आचार्य ने 'माया रस' का उल्लेख नहीं किया है। लगता है कि भानुदत्त चार्वाकों के धर्म गुरु रहे होंगे। तभी उन्होंने सिद्धांत के विपरीत भावना व्यक्त की है। कबीर दास ने तो 'माया' को 'महा ठगिनी' तथा

'डाइनि' कहा है। जायसी ने विषयों को चोर तथा लुटेरे कहा है। इस स्थिति में माया रस कैसे माना जा सकता है। माया रस नहीं, रसाभास की पोषिका है।

रूपगोस्वामी

रस-संख्या-विस्तार में अन्तिम कड़ी जोड़ने का प्रयास वैष्णव आचार्य रूप गोस्वामी ने किया है। इन्होंने 'भक्ति रस' की साधिकार घोषण की और उसे सभी रसों में श्रेष्ठ तथा एक मात्र रस घोषित किया। परन्तु आचार्यों को यह मत स्वीकार न हुआ। अधिकांश आचार्यों ने तो 'भक्ति' को 'रस' न मानकर केवल भांव' माना है। इसके अतिरिक्त 'भक्ति रस' के सम्बन्ध में एक तथ्य विशेष रूप से विचारणीय है कि 'भक्ति' का मूल 'ज्ञान' है। बिना 'ज्ञान' के भक्ति अनाचार की कोटि में चली जाती है, वह असत्परिणामी तथा कोरा ढोंग बन जाती है। साथ ही 'भक्ति' तथा 'ज्ञान' दोनों का ही सम्बन्ध ईश्वरोपासना द्वारा मोक्ष-प्राप्ति से है। अतः ईश्वरोपासना चाहे 'निर्गुण ब्रह्म' की हो या 'सगुण ब्रह्म' की एक ही बात है क्योंकि 'निर्गुण' और 'सगुण' 'ब्रह्म' में कोई भेद नहीं है। 'निर्गुण' ही 'सगुण' रूप में अवतार धारण करता है। महात्मा तुलसीदास ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है 'अगुनाहि सगुनहि नहिं कछु भेदा।' श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन को बताया है कि 'ज्ञान तथा भक्ति' दोनों ही मेरी ही उपासना के मार्ग हैं और मैं इन दोनों ही को (ज्ञानी तथा भक्त को) मुक्ति प्रदान करता हूँ।[10] यही कारण है कि रूप गोस्वामी की भक्तिरस सम्बन्धी धारणा विद्वानों में मान्य न हो सकी और संस्कृत के अन्तिम आचार्य पं. राज जगन्नाथ ने 'भक्ति रस' की धारणा को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकृत कर दिया। उनका इस सम्बन्ध में कथन है कि 'भक्ति आदि रसों का समावेश करने से भरत मुनि द्वारा निर्धारित संख्या भंग हो जाएगी। अतः इस सम्बन्ध में शास्त्र का अनुसरण करना ही उचित है।[11]

विवेचन

रस-संख्या-विस्तार का मूलआधार तो संस्कृत आचार्य ही हैं। उन्हीं के द्वारा निरूपित रस संख्या को हिन्दी आचार्यों ने भी मान्यता दी है। 'हिन्दी काव्य-साहित्य' का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी में भरत द्वारा प्रतिपादित आठ रसों, उद्भट द्वारा निरूपित नवम् रस शान्त, रुद्रट द्वारा प्रतिपादित दशम रस प्रेयान् तथा पं. विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत एकादश रस 'वात्सलय' का विशद चित्रण मिलता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में 'देश-भक्ति' तथा 'ईश्वर भक्ति' मूलक चित्रण भी उच्च्व कोटि का उपलब्ध होता है परन्तु 'भक्तिरस' का अन्तर्भाव शान्त रस में हो जाने से उसे पृथक रस नहीं माना जा सकता। 'देश-भक्ति' या 'देश-प्रेम' को 'प्रेयान् रस' में अन्तर्भूत किया जा सकता है। इस आधार पर आचार्य वर्ग द्वारा रस संख्या निर्धारण की एक सुदीर्घ परम्परा को देखते हुए तथा 'संस्कृत' एवं 'हिन्दी' के लक्ष्य ग्रंथों में उपलब्ध रस-सामग्री का अवलोकन करने के पश्चात्

काव्य में निम्नलिखित रसों का निर्धारण ही समीचीन प्रतीत होता है।

भरत द्वारा प्रतिपादित रस–

1.	**श्रृंगार रस–**	**स्थायीभाव**	**'दाम्पत्य रति'**
2.	**हास्य रस–**	"	**'हास'**
3.	**करुण रस–**	"	**'शोक'**
4.	**रौद्र रस–**	"	**'क्रोध'**
5.	**वीर रस–**	"	**'उत्साह'**
6.	**भयानक रस–**	"	**'भय'**
7.	**बीभत्स रस–**	"	**'जुगुप्सा'**
8.	**अद्‌भुत रस–**	"	**'विस्मय'**

उद्‌भट द्वारा स्वीकृत रस–

9. **शान्त रस– स्थायीभाव– निर्वेद (अन्तर्भूतभक्ति रस)**

रुद्रट द्वारा स्वीकृत रस–

10. **प्रेयान् रस– स्थायीभाव– स्नेह (प्रेम)**

विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत रस

11. **वात्सल्य रस– स्थायीभाव– 'वात्सल्य रति'**

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे संस्कृत आचार्यों को प्रधान रूप में रस-संख्या 'ग्यारह' ही मान्य रही थी फिर भी रसों की संख्या नौ मानने पर अधिक बल दिया जाता रहा है। रीतिकालीन आचार्यों द्वारा भी रस संख्या नौ ही मानी गई है।[12] उन्होंने 'प्रेयान्' तथा 'वात्सल्य' को रस नहीं माना है परन्तु हिन्दी-कविता की प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए तथा देश की स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु किए गये दीर्घ संघर्ष को प्रेरणा प्रदान करने के लिए हिन्दी में जो 'देश-प्रेम' मूलक उत्कृष्ट कोटि का काव्य रचा गया उसके आधार पर 'प्रेयान्' को तथा सूरदास, तुलसीदास, 'हरिऔध' आदि द्वारा रचित उत्कृष्ट कोटि की 'कृष्ण और राम' मयी 'वात्सल्य' रस-युक्त रचनाओं को ध्यान में रखते हुए 'वात्सल्य' को भी रस-रूप में स्वीकार करना आवश्यक हो गया था। इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा है–

'वाह वाह! रसों को मानना भी वेद के धर्म को मानना है कि जो लिखा है वही माना जाय और इसके अतिरिक्त करे तो पतित होय। रस ऐसी वस्तु है जो अनुभव सिद्ध है। इसके मानने में प्राचीन की कोई आवश्यकता नहीं, यदि अनुभव में आवै मानिए, न आवै न मानिए।'[13]

इस कथन के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि यदि लक्ष्य ग्रंथों में किसी नवीन भाव का इतने उत्कृष्ट रूप में निरूपण हुआ है कि वह सहज ही रस गरिमा को प्राप्त कर लेता है तो उसे 'रस' मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अतः हिन्दी-लक्ष्य ग्रंथों को देखते हुए तथा रस-की निर्धारित कसौटी

पर खरे-उतरने के कारण काव्य में पूर्व निर्धारित 'ग्यारह रसों' को मान्यता देना ही परम उपयोगी है।

रस की कसौटी

विभिन्न रसों की स्थिति सम्बन्धी 'मानदण्ड' (कसौटी) पर विचार करना भी यहाँ आवश्यक है। रस का शाब्दिक अर्थ है, 'आनन्द।' अत: काव्य में रस का तात्पर्य हुआ 'काव्यानन्द'। यह 'आनन्द' दो प्रकार का होता है।

1. सत्त्वगुण मूलक या अलौकिक 2. रजोगुण तथा तमोगुण मूलक या लौकिक। **सत्वगुणमूलक आनन्द काव्य में रस कहलाता है और रजोगुण तथा तमोगुण मूलक आनन्द को रसाभास कहा गया है।** दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जब सामाजिक के चित्त की स्थिति सतोगुण मूलक हो जाती है तब उसमें रसास्वादन या आलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है और जब काव्यादि के श्रवणादि से उसके चित्त में रजोगुण तथा तमोगुण व्याप्त हो जाते हैं तो वह लौकिक आनन्द की अनुभुति करता है जो रसाभास कहलाता है। **सतोगुणमूलकता कयोंकि शाकाहारी भोज्य की भाँति सर्वग्राह्य होती है; अतः उसकी अनुभूति सभी मनोवृत्तियों वाले पाठकों को एक साथ हो सकती है। इसे साधारणीकरण कहते हैं और क्योंकि यह स्थिति सार्वजनीन होती है, अतः सर्वोपयोगिता का आधार होने के कारण यही उत्तम है। इसी स्थिति को रस कहा जाता है। अतः रस केवल वहाँ होता है जहाँ चित्त की वृत्ति सतोगुणमूलकता को ग्रहण करके आनन्दित होती है।**

यह आनन्द भी दो प्रकार का होता है। **1. प्रवृत्ति मूलक 2. निवृत्ति मूलक।** अर्थात् कुछ भावों को हम ग्रहण करना चाहते हैं और कुछ का त्याग। उदाहरणार्थ-रति, हास्य, उत्साह, क्रोध, निर्वेद आदि के भावों को हम ग्रहण करना चाहते हैं। अत: इनके ग्रहण से हमें आनन्द आयेगा। इसके विपरीत भय, शोक तथा जुगुप्सा का हम त्याग करना चाहते हैं। अत इन प्रवृत्तियों के त्याग करने पर ही हमें आनन्द आयेगा। इसी आधार पर रस निष्पन्नता की स्थिति में हमारे हृदय में सतोगुण मूलकता होने के कारण हमारा हृदय कुछ क्षणों के लिए धृष्टता, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, असत्य तथा बेईमानी को त्यागकर सत्य, अहिंसा, क्षमा, त्याग, तप, बलिदान, दया तथा परोपकारादि के भावों से भर जाता है। अत: इस स्थिति में हमारी दृष्टि क्षण-क्षण में सत्पात्र तथा उसके द्वारा सम्पादित सत्कार्यों और उसके सत्परिणाम की ओर ही उन्मुख होती रहती है। हम सत्पात्र को ही अपने आनन्द का आधार बना लेते हैं। इसी को रस-निरूपण में आश्रय कहते हैं। असद् पात्रों के कार्यों से हमें घृणा, शोक तथा भय होता है। अत: हम उनका निवारण करना चाहते हैं और सत्पात्र द्वारा असत् पात्रों को भयभीत करते देखकर, मारते, रुलाते व उनके सम्पत्ति को नष्ट करते देखकर या उन्हें अपमानित करते देखकर ही हमको आनन्द आता है। यदि इसके विपरीत असत् पात्रों द्वारा पाठकादि के प्रिय सत्पात्र को कष्ट पहुँचाया जाता है, उसे मारा जाता है, अपमानित किया जाता है या उसके साथ

क्रूरता, अभद्रता, दुष्टता का व्यवहार किया जाता है तो सामाजिक को इससे घृणा, शोक, क्षोभ आदि भावों का अनुभव होता है और वह इन भावों की निवृत्ति शीघ्र से शीघ्र करना चाहता है।

उदाहरणार्थ– रावण द्वारा सीता का अपहरण होता देखकर और सीता के विलाप को सुनकर, दु:शासन द्वारा द्रौपदी का अपमान करते और अपमान होने पर द्रौपदी के विलाप को सुनकर तो सामाजिक को शोक, घृणा तथा क्षोभ ही होगा और वह रो पड़ेगा। साथ ही जिस प्रकार सीता रावण के पाशविक चंगुल से छूटने के लिए रोती हैं तथा द्रौपदी अपनी लाज बचाने की पुकार करती है, तब तो सामाजिक भी दु:खी ही होगा और यहाँ तक कि रोने भी लगेगा। यह स्थिति निरन्तर सामाजिकों की देखी जा सकती है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर जब वे मूर्छित हो जाते हैं और राम विलाप करते हैं तथा हनुमान संजीवनी बूटी लेने जाते हैं तब तो सामाजिक भी शोक का ही अनुभव करेगा और राम के स्वर में स्वर मिलाकर रोयेगा–जब हम यह कहते हैं–

'संजीवनी लाने गया हनुमान भी आया नहीं।
मारा गया वह या उसे अब तक कहीं पाया नहीं।
होते सवेरा कूच डेरा आपका हो जायेगा।
लक्ष्मण शमन तब कैकेई के ताप का हो जायेगा।'

तब न जाने कितने सामाजिकों के नेत्रों में आँसू आ जाते हैं और वे भी राम की भाँति हनुमान के शीघ्र आने की कामना करने लगते हैं और जब आकाश से टूटकर गिरते हुए तारे की भाँति अचानक हनुमान बूटी लेकर आ जाते हैं तो-जिस घनत्व में राम को हर्ष होता है, ठीक उसी घनत्व में सामाजिक भी तालियाँ बजा-बजाकर कुर्सियों से (सिनेमा हाल में) अधर हो जाते हैं। सामाजिक की रसास्वाद में यही स्थिति है।

इसके विपरीत जब असत्पात्र को शोक होता है या भय होता है या उसका अपमान होता है तो सामाजिक भी उसी प्रकार प्रसन्न होता है जिस प्रकार आश्रय सत्पात्र प्रसन्न हो-होकर उसको अपमानित करता है, भयभीत करता है या दु:खी करता है। उदाहरणार्थ-

'लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। धरिबाँधहु नृप बालक दोऊ।।
तोरे धनुष काज नहिं सरई। जीवत हमहिं' कुँवरि को बरई।।
जौ विदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोऊ भाई।।

इन पंक्तियों को पढ़ते ही राजा लोगों की गुण्डागर्दी का अनुमान करके सामाजिक का मन भी भय, क्षोभ तथा घृणा से इस प्रकार भर जायेगा जिस प्रकार कि–

'कोलाहल सुनि सीय सकानी। सखी लवाइ गई जहँ रानी।।'
रानिन्ह सहित सोच बस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया।।
और –
'खरभरु देखि बिकल पुरनारी। सब मिलि देहि' महीपन गारी।।'

इधर सीता, समस्त रनवास तथा नगर के नर नारियों के मन इस गुण्डागर्दी को

देख-सुनकर भय, शोक तथा चिन्ता से भरे हुए हैं और वे निरन्तर इस संकट से निस्तार की कामना करने लगते हैं–

'तेहि अवसर सुनि सिव धनुभंगा। आयहु भृगुकुल कमल पतंगा।।
देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने।।

बस फिर कया था गुण्डे ठण्डे पड़ गये और सब का भय जाता रहा और तब–

जनक बहोरि आय सिर नावा। सीय बुलाइ प्रनाम करावा।।
आसिषदीन्ह सखी हरषानी। निज समाज लै गई सयानी।।

इस स्थिति में सामाजिक भी एक दम इस प्रकार प्रसन्न होकर उछलने लगेगा जिस प्रकार सीता, उनकी माता, सखियाँ तथा सभी नगरवासी प्रसन्न हो उठे थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य पठनादि के समय सामाजिक का हृदय सत् से ऐसा बँध जाता है कि वह उधर ही घूमता है जिधर काव्य का सत्य (काव्य का ही नहीं जगत का सत्य) घूमता है। यही उसके आनन्द का कारण है और यही काव्य के आनन्द का मूल है और इसी कसौटी पर चढ़ाकर किसी भी भाव को रस-रूप में प्रतिष्ठापित किया जा सकता है। जो भाव उपर्युक्त कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा उसे रस नहीं माना जायेगा। रस संख्या निर्धारण का यही एक मानदण्ड है।

प्रेयान् रस

रस संख्या कीशृंखला में प्रेयान् रस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। प्रेयान् रस का सम्बन्धा 'प्रेम' से है। प्रेम एक व्यापक भाव है जो जड़-चेतन में व्याप्त है। इस रस के बीज हमें भामह में मिलते हैं जहाँ उन्होंने प्रेय: (प्रेयस) अलंकार का लक्षण इन शब्दों में किया है :–

प्रेयागृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनेषां भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः।। (काव्यालंकार 4.5)

अर्थात् विदुर ने श्री कृष्ण के उनके घर पहुँचने पर जो कुछ कहा था वह 'प्रेयस्' अलंकार है। विदुर ने भगवान् से कहा–हे गोविन्द! आपके मेरे यहाँ आने पर मुझे जो प्रेम आपसे प्राप्त हुआ है वह आपके पुनः पदार्पण करने पर भी प्राप्त होगा। अर्थात् आपने मुझे अपने प्रेम का पात्र बनाकर मेरे ऊपर अति अनुग्रह किया है जिससे मेरा हृदय आनन्द से भर गया है, इसे हम 'प्रेमानन्द' या 'परमानन्द' भी कह सकते हैं।

दण्डी ने भामह के कथन को और स्पष्ट करते हुए कहा है–**'प्रेयः प्रियतराख्यानम्'** अर्थात् **प्रियतर कथन को प्रेय अलंकार कहते हैं।**

दण्डी ने भागह के उक्त उदाहरण से आगे दो पंक्तियाँ और जोड़कर अपने मत की पुष्टि की है :–

अद्य या मम गोविन्द ---------------आगमनात् पुनः।

इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्ताहदृशी धृतिः।
भक्ति मात्र समाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः॥ (काव्यादर्श 2/275-77)

विदुर का श्री कृष्ण के प्रति यह कथन उचित ही था कि उसे अन्य के आने से इतनी प्रसन्नता न प्राप्त होती जितनी कि श्री कृष्ण के (भगवान् के भक्त के घर) पधारने पर प्राप्त हुई है। विदुर की इस प्रेम भरी उक्ति से भगवान् भी अति प्रसन्न हुए।

आगे दण्डी ने 'प्रेय अलंकार' का एक और उदाहरण प्रस्तुत किया है–

सोमः सूर्यो मरुद् भूमिर्व्योम होतानलो जलम्।
इति रूपाव्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देवे के वयम्।
इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद् रातवर्मणः।
प्रीति प्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम्। (काव्यादर्श 2/278-79)

अर्थात् रातवर्मा नामक राजा ने शंकर से अपने प्रेम भाव को व्यक्त करते हुए कहा कि हे देव! चन्द्रमा, सूर्य, पवन, भूमि, आकाश, अग्नि तथा जल आपके इन रूपों का अतिक्रमण (अवेहलना) करके हम आपको देखने में कैसे समर्थ हो सकते हैं। अर्थात् हे प्रभो! आप तो एक विराट् सत्ता के रूप में इन पञ्च महाभूतों तथा सूर्य-चन्द्र, ज्योति-पिण्डों में समान रूप से व्याप्त हो। अतः हमको इन्हीं पदार्थों में आपके स्वरूप का दर्शन करना चाहिए। आपके इस व्यापक स्वरूप की अवहेलना हम नहीं कर सकते। अन्यथा आपको हम प्राप्त करने में सफल ही नहीं हो सकते। इस प्रकार शंकर का दर्शन करने पर राजा ने जो देव विषयक प्रीति (प्रेम, श्रद्धा तथा भक्ति) का प्रदर्शन किया वह 'प्रेय' अलंकार ही मानना चाहिए।

भामह और दण्डी के उपर्युक्त मतों में 'प्रेयस्' के अन्तर्गत केवल भगवद् प्रेम का ही समावेश किया गया है। परन्तु 'प्रेम' का क्षेत्र तो विस्तृत है आगे चलकर उद्भट ने भगवद् प्रेम के साथ रति को भी 'प्रेयस्' से सम्बद्ध कर दिया।

रत्यादिकानां भावानामनुभावादि सूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत् प्रेयास्वद् उदाहृतम्॥

(उद्भट काव्यालंकार सार संग्रह 4,2)

अर्थात् रत्यादि (रति, वात्सल्य, भक्ति आदि) भावों में अनुभावादि की सूचना देने वाली रचनाओं को प्रेयस् वत् मानना चाहिये।

उद्भट ने प्रेयस् का उदाहरण 'वात्सल्य' से प्रस्तुत किया है–

इयं च सुतवात्सल्यान्निर्विशेषास्पृहावती।
उल्लापयितुमारब्धा कृत्वेयं क्रोड आत्मनः॥

अर्थात् पुत्र प्रेम के आधिक्य के कारण इस पुत्र वत्सला माँ ने आनन्दोल्लास में भरकर अपने पुत्र को गोद में उठाकर प्यार करना आरम्भ कर दिया है।

भामह से उद्भूत होकर 'प्रेमरस' की धारा 'प्रेयस्' अलंकार के नाम से प्रवाहित होती रही और उसने रति, वात्सल्य तथा भक्ति को अपने कलेवर में समेट लिया। आगे

चलकर रुद्रट ने इस धारा को अलंकारों के चुंगल से मुक्त कर 'प्रेयान् रस' के रूप में स्थापित किया। रुद्रट की इस सम्बन्ध में धारणा इस प्रकार है–

स्नेहु प्रकृतिः प्रेयान्संगतशीला येनायको भवति।
स्नेहस्तु साहचर्यात्प्रकृेरुपचार सम्बन्धात्॥ (का॰ लं॰ 15)

प्रेयान रस का नायक स्नेहशील तथा संगतिशील (हिलमिलकर रहने की प्रवृत्ति वाला) आर्य (श्रेष्ठ) पुरुष होता है। स्नेह का प्रादुर्भाव साहचर्य से तथा समान स्वभाव वालों में सामान्य (औपचारिक) सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण होता है। रुद्रट आगे कहते हैं–

निर्व्याज मनोवृतिः सनर्मसद्भावपेशलालापः।
अन्योन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतस्तत्र।
प्रसयन्दिप्रमदाश्रुः सुस्निग्धस्फारलोचनालोकः।
आद्रोन्तःकरण तया स्नेहपदे भवति सर्वत्र॥ (का॰ लं॰ 17-19)

अर्थात् जहाँ निष्काम भावना से (वासना रहित मन से) तथा विनम्र सद्भाव से युक्त प्रेमालाप (परस्पर सहृदयता का व्यवहार) प्रमदा (वियोगिनी) के आँसू, स्निग्ध होकर विस्फारित नेत्रों से देखना, आदि से अन्तकरण के आर्द्र हो जाने पर सर्वत्र 'स्नेह' की अनुभूति होती है।

स्पष्ट है कि रुद्रट ने अपनी तीव्र मेधा तथा व्यवहार दृष्टि से इन पंक्तियों में रति, भक्ति तथा वात्सल्यादि को 'स्नेह' (स्थायी भाव) में अन्तर्भूत करके प्रेयान् रस (प्रेम रस) की स्वतंत्र रूप में स्थापना की है। रुद्रट की यह स्थापना अत्यन्त विवेकपूर्ण है परन्तु रुद्रट ने इसका कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया, इसीलिए आचार्यों को रुद्रट की इस स्थापना में मात्र 'मित्र प्रेम' ही दृष्टिगत हुआ। परन्तु रुद्रट के इस कथन में 'स्नेह' का तात्पर्य मित्र प्रेम नहीं है 'दाम्पत्य-प्रेम' या 'प्रमदा प्रेम' ही है जिसे भोज राज ने आगे चलकर बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है:–

'यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया।
इति वेत्ति न जानाति तत्प्रियं यत्करोति सा।' (स॰ क॰)

(नायक कहता है कि) मेरी प्रियतमा वही करती हे जो मुझे अच्छा लगता है। वह मेरी रुचि के प्रतिकूल कुछ भी नहीं करती। उसके सभी कार्य तत्सुखाय (मेरे सुख के लिए) ही होते हैं। इससे अधिक वह और कुछ भी नहीं जानती अर्थात् उसका एक मात्र धर्म मेरी सेवा है। इसी में उसे सच्चा सुख मिलता है।

यह प्रेयान् रस का उदाहरण है। इसकी सम्यक् निष्पत्ति को व्यक्त करते हुए भोजराज कहते हैं :–

अत्र वत्सल प्रकृते धीरतया ललितनायकस्य प्रियालम्बनविभावादुत्पन्नः स्नेह स्थायी भावो विषयसौकुमार्यात्मप्रकृत्यादिभिरुद्दीपन विभावैरुद्दीप्य मानः समुष जायमानै मोह धृतिस्मृत्यादिभिर्व्यभिचारि भावैरनुभावैश्च संसृज्यमानो निष्पन्नः प्रेयानिति प्रतीयते।

(सरस्वती कण्ठाभरण)

अर्थात् वत्सल (कृपालु), प्रकृति (स्वभाव) वाले धीर ललित नायक (रूप आश्रय) तथा प्रिया रूप आलम्बन विभाव से उत्पन्न होकर 'स्नेह रूप' स्थायी भाव के सुकुमार प्रकृति विषयक उद्दीपन विभाव से उद्दीप्त होकर स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले मोह, धृति, स्मृति आदि व्याभिचारी भावों तथा प्रदर्शित अनुभावों से निष्पन्न हो जाने पर 'प्रेयान् रस' की प्रतीति होती है।

भोजराज के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'श्रृंगार रस' कोई पृथक् रस नहीं है व तो 'प्रेयान्' का ही एक भेद है जिसमें 'दाम्पत्य रति के उत्कृष्ट (वासना रहित) स्वरूप का समावेश होता है। 'स्नेह' या 'प्रेम' आत्मा सम्बन्धी प्रेम होता है। वहां पहुँचकर प्रेमी सब कुछ (तत्सुखाय) अपने प्रेम पात्र के सुख के लिए ही करता है। वह (स्वसुखाय) अपने सुख के लिए कुछ भी नहीं करता। इसे निष्काम प्रेम भी कहते हैं। इसीलिये प्रेम में 'प्रतिलाभ लोभ' की भावना नहीं रहती। न प्रेम प्रतिक्रियावादी ही होता है। भवभूति ने इसी तथ्य को इन शब्दों में स्पष्ट करते हुए कहा है :-

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरत्तभेर्माणि सीव्यति।। (उत्तर राम चरित)

अर्थात् जो अहेतु मूलक (निष्काम प्रेम) होता है उसकी प्रतिक्रिया प्रदर्शित नहीं की जाती क्योंकि वह (निष्काम प्रेम भावना) ही स्नेह का एक ऐसा तन्तु (धागा) है जो (सताये हुए प्रेमी के) अन्तर के मर्मों (धावों) को सी देता है।

भवभूति ने यह उक्ति-सीता के साथ किये गये राम के कठोर व्यवहार और सीता द्वारा उसके कठोर व्यवहार के प्रति व्यक्त न की जाने वाली किसी प्रतिक्रिया को ध्यान में रखकर ही कही है।

कामायनी में प्रसाद जी ने श्रद्धा के मुख से कहलवाया है–

"समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार।
आज से यह जीवन उत्सर्ग, इसी पद तल में विगत विकार।"
"इस अर्पण में कुछ और नहीं, केवल उत्सर्ग छलकता है;
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ, इतना ही सरल झलकता है।।"

(कामायनी पृ॰ 57 तथा 105)

सूरदास की गोपियाँ भी यही कहती दिखाई देती हैं–

'ब्याहौ लाख धरौ दस कुबरी अंतहु स्याम हमारे।'
तनमन सूर अरपि रही स्यामहि कापै लेहिं उधारे।। (सूरसागर)

भोजराज ने 'स्नेह' से 'रति तथा प्रीति' की एक रूपता को व्यक्त करते हुए कहा है –

'रतिप्रीत्योरपि चायमेव मूल प्रकृतिरिस्यते।'

अर्थात् यह 'स्नेह' स्थायी भाव ही 'रति' तथा 'प्रीति' नामक भावों की मूल प्रकृति है 'स्नेह' 'रति' तथा 'प्रीति' ये तीनों ही भाव समान हैं और 'स्नेह' ही इन सभी का मूलाधार है। अतःशृंगार को पृथक् रस न मानकर उसका अन्तर्भाव 'प्रेयान्' रस में ही मानना चाहिए। आगे भोजराज 'प्रीति' तथा 'रति' के स्वरूप का निदर्शन करते हुए कहते हैं–

'मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुख संवेदनं रतिः।'[14]

अर्थात् मन के अनुकूल विषयों में सुख की संवेदना को 'रति' कहते हैं।

तथा –

शब्दादिभ्यो बहिर्भूता या कर्माभ्यासलक्षणा।
प्रीतिः साभ्यासिकी ज्ञेया मृगयादिषुकर्मषु।।[15]

अर्थात् जो शब्दों द्वारा व्यक्त न की जाकर कार्य करते समय ही जिसके लक्षण प्रकट होते रहते हैं उसे 'प्रीति' कहते हैं। इसको मृगया आदि कार्यो में लीन होकर व्यक्त किया जाता है। अर्थात् जब कोई व्यक्ति किसी की 'प्रीति' में लीन होता है तो अंदर ही अन्तर घुलता रहता है। उसका चित्त किसी भी काम में नहीं लगता। वह अपनी वेदना को किसी से कह भी नहीं सकता। इस 'प्रीति' के जाल में फँसे हुए राजा लोग कुछ समय के लिए जी बहलाने को मृगया आदि के कार्यों के अभ्यास हेतु वन में चले जाते हैं परन्तु वहाँ भी उनका चित्त बेचैन रहता है। इसी ओर इंगित करके भोजराज ने 'प्रीति' मूलक उदाहरण भी प्रस्तुत किया है :–

इति विस्मृतान्य करणीयमात्मनः।
सचिवावलम्बितधुरं नराधिपम्।
परिवृद्ध रागमनुबद्ध सेवया
मृगया जहार चतुरेव कामिनी।[16]

अर्थात् अपने मन से अप्राप्य प्रेम पात्र की दुःखद स्मृति को विस्मृत करने के लिए 'प्रीति' की ज्वाला में जलता हुआ राजा सचिवों के ऊपर राज--काज को छोड़कर अपने हृदय के बढ़ते हुए राग (प्रेम) की 'एकान्त' साधना के लिए (जब राजकाज में उसका मन नहीं लगता) तो वह आखेट को चला जाता है। ऐसा ही चतुर स्त्रियाँ भी करती हैं कि वे भी अपनी 'प्रीति' में घुलती रहती हैं और स्थान परिवर्तित करके किसी एकान्त स्थल में रहने लगती हैं क्योंकि उनका भी मन अपने घर में या काम काज में नहीं लगता।

इसी प्रकार का वर्णन चन्द कृत पृथ्वीराज रासो में मिलता है। जब राजा पृथ्वीराज संयोगिता के प्रेम में मन ही मन घुलता है तो राजकाज में उसका मन नहीं लगता। तब वह मन को कुछ शान्ति देने के लिए या प्रेम की एकान्त साधना के लिए अपने प्रधानमंत्री कैमास पर राज–काज का भार सौंप कर आखेट के लिए चला जाता है और आखेट में भ्रमित होता रहता है। इसे चन्दवरदायी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है–

'तेहि तप आखेटक भमहि थिर न रहत चहुआन।
धुर प्रधान जुग्गिनि पुरहि धरि राखेहु परमान।। (कैमास वध)

अर्थात् पृथ्वीराज तेहि तप (संयोगिता के वियोग ताप) से पीड़ित होकर आखेटक के रूप में भ्रमता फिरता है और उसने अपनी राजधानी (दिल्ली) का समस्त कार्यभार अपने प्रधान मंत्री कैमास को सौंप दिया है।

संयोगिता के सम्बन्ध में भी उधर कवि इसी प्रकार का वर्णन करता है कि संयोगिता पृथ्वीराज के प्रेम में अन्दर ही अन्दर घुलती रहती है और उसका किसी भी कार्य में मन नहीं लगता। इससे वह गंगा के किनारे सबसे अलग एकान्त में रहने लगती है।[17]

विवेचन

उपर्युक्त आधार पर जिन नवीन तथ्यों का उपादान होता है वे इस प्रकार हैं–

1. अलंकारवादी आचार्यों ने जिस विषय को 'प्रेयस्' अलंकार के रूप में प्रारम्भ किया था उसी को रुद्रट ने प्रेयान् रस के रूप में परिवर्तित कर दिया।

2. रुद्रट ने प्रेयान् रस के अंतर्गत 'स्नेह' को स्थायी भाव के रूप में ग्रहण किया है और निष्काम प्रेम को प्रेयान् का विषय माना है।

3. भोजराज ने 'प्रेयान्' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे विशुद्ध आत्ममूलक, निष्काम तथा अप्रतिक्रिया मूलक 'प्रेम रस' माना और उसमें 'रति' तथा 'प्रीति' को भी समाहित कर के 'प्रेयान्' के क्षेत्र को अधिक व्यापक बना दिया।

4. सभी आचार्यों के मतों का सार लेकर यह कहा जा सकता है कि 'प्रेम' एक व्यापक तत्त्व है। वह वात्सल्यश्रृंगार भक्ति सभी भावों में समान रूप से व्याप्त है। अतः श्रृंगार, वात्सल्य तथा भक्ति आदि प्रेममूलक रसों को केवल एक ही

विद्वानों के उपर्युक्त मतों को पृथक रसों (श्रृंगार, वात्सल्य तथा भक्ति रस) के रूप में तो मान्यता प्राप्त होती रही परन्तु इनका सम्यक् 'प्रेयान्' मान्य न हो सका। इसका कारण यह है कि विद्वानों का अधिक लगाव श्रृंगार' के ही साथ रहा है क्योंकि संस्कृत लक्ष्य ग्रंथों में केवलश्रृंगार (दाम्पत्य रति मूलक रस) का ही अधिक वर्णन मिलता है। आगे चलकर विश्वनाथ ने 'वात्सल्य' को भी पृथक् रस के रूप में मान्यता प्रदान कर दी और हिन्दी तक आते-आते सूरदास तुलसीदास, हरिऔध के काव्य ने वात्सल्य की जड़ें इतनी सबल बना दी हैं कि वे हिल नहीं सकतीं। 'भक्ति रस' की स्थापना रूप गोस्वामी द्वारा की गई थी परन्तु कालान्तर में उसका अन्तर्भाव 'शान्त रस' में कर दिया गया क्योंकि ईश्वर प्रेम का आधार 'ज्ञान' है और 'भक्ति' उसकी पोषिका है। इस प्रकार 'प्रेयान् रस' इस समय मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त दिखाई देता है। 1.श्रृंगार रस 2. वात्सल्य रस।

श्रृंगार तथा वात्सल्य रति (प्रेम) के अतिरिक्त प्रेम के अन्य प्रसङ्ग भी देखे जाते हैं। जैसे :–

1. **भ्रातृ प्रेम**– जिसमें भाई, बहिन तथा मित्र आदि सुहृदजनों का प्रेम समाहित

हो जाता है।

2. **मातृ प्रेम**– जिसमें माता-पिता तथा मातृभूमि का प्रेम समाहित हो जाता है।

3. **धर्म प्रेम**– जिसमें सत्यवादी, दयालु, धर्मात्मा, दानी आदि महान् पुरुषों का 'प्रेम' समाहित होता है।

प्रेम के इन रूपों का महत्त्व चाहे संस्कृत-काल में न रहा हो परन्तु आधुनिक काल में तो इन से सम्बद्ध उच्च कोटि का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। अत: वर्तमान समय में प्रेम के इन सभी रूपों का रस रूप में पृथक्-पृथक् महत्व स्पष्ट दिखाई देने लगा है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्वत: ही स्पष्ट हो जाएगा–

भ्रातृ प्रेम या सुहृद प्रेग

सुहृद प्रेम के उत्कृष्ट उदाहरण हैं– राम-भरत तथा राम-लक्ष्मण-प्रेम (भातृ भाव से), राम-केवट-प्रेम (स्वामि सेवक भाव से), राम-सुग्रीव-प्रेम (मित्र भाव से), कृष्ण-सुदामा का प्रेम (सहपाठी भाव से) आदि। इन सभी वर्णनों में पूर्णरूपेण रस का परिपाक हुआ है। इस प्रेम के भीशृंगारादि की भाँति संयोग तथा वियोग पृथक्-पृथक् पक्ष हैं।

भ्रात् प्रेम सम्बन्धी उदाहरण–

तोर कोस गृह मोर सब सत्य वचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात।
तापस बेष गात कृष जपत निरन्तर मोहि।
देखों बेगि सो जतनु करु सखा निहोरऊँ तोहि।
बीते अवधि जाउँ जौ जियत न पावहुँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि-पुनि पुलक सरीर।। (मानस-लंकाकाण्ड)

इन पंक्तियों में भ्रातृ प्रेम स्थायी भाव है। राम आश्रय। भरत आलम्बन। भरत का नन्दिग्राम में तपस्या करना और उसका यह प्रण कि राम यदि 14 वर्ष बीतने के प्रथम दिन ही अयोध्या न लौटे तो वह (भरत) अपने प्राण त्याग देगा-उद्दीपन विभाव। राम का भरत से मिलने की तत्परता दिखाना, भरत के तपस्वी वेश का कथन, राम के शरीर का भरत की स्थिति का स्मरण करके पुलकित हो जाना आदि अनुभाव। स्मृति चिन्ता, उत्सुकता, मोह, श्रम, तर्क आदि संचारी भाव हैं। अत: यहाँ भ्रातृ प्रेम नामक भाव का रस रूप में चित्रण होने के कारण 'प्रेयान्' या 'प्रेम रस' है।

इसी प्रकार लक्ष्मण की मूर्छा के समय किया गया राम का विलाप भी भ्रातृ-प्रेम रस के अंतर्गत ही आयेगा। उसे करुण रस के अंतर्गत मानना अनुचित है।

सुहृद प्रेम सम्बंधी उदाहरण

ऐसे बेहाल विवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय महादुख पायौ सखा तुम आये इतै न कितै दिन खोये।
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकैं करुना निधि रोये।

पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैननके जल सौं पग धोये।।

(नरोत्तमदास-सुदामा चरित)

इन पंक्तियों में सुहृद-प्रेम स्थायी-भाव। श्री कृष्ण आश्रय। सुदामा आलम्बन।

पैर धोते समय सुदामा के पैरों में फटी विवाइयों तथा निर्धनता की स्थिति में खड़ाऊँ तक न पहन सकने के कारण पैरों में लगे हुए कंटक आदि उद्दीपन। श्री कृष्ण का सुदामा की इस दशा को देखकर रो देना तथा अपने आँसुओं से ही सुदामा के पैरों को धोना आदि अनुभाव। शोक, चिन्ता, मोह, श्रम, दैन्य आदि-संचारी भाव हैं। अत: इन पंक्तियों में भी 'प्रेम-रस' का पूर्ण परिपाक है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणों में स्थायी भाव 'भ्रातृ प्रेम' या 'सुहृद प्रेम' की ही अनुभूति होगी तथा इसी भाव का साधारणीकरण भी होगा। कुछ विद्वान् इन पंक्तियों में 'करुण रस' घोषित करते हैं परन्तु इन पंक्तियों में 'करुण रस' मानना उचित नहीं है क्योंकि 'शोक' का भाव यहाँ संचारी के रूप में ही उद्‌भूत हुआ है जिसका मूलाधार 'सुहृद प्रेम' ही है। यदि यहाँ सुहृद प्रेम न होता तो शोक भी उद्‌भूत न होता।

करुण रस की स्थिति कुछ दूसरे ही प्रकार की है। 'करुण' का मूल दया है। बिना दया के करुण उद्‌भूत नहीं होता। दया का भाव महान् पुरुषों के हृदय में दूसरों के कष्टों को देखकर उद्‌भूत होता है यथा--

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछा मुनिहि लागि अति दाया।
निशिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुवीर नयन जल छाये।

इन पंक्तियों में करुण रस है। जिसका मूल दया है। इसी दया से द्रवीभूत होकर ब्रह्म अवतार लेता है। यदि कोई यह कहे कि श्री कृष्ण भी तो सुदामा की दशा को देखकर दया के कारण ही रोये थे। भरत पर दया करके ही तो राम ने उनसे मिलने की उत्सुकता दिखाई थी, तो हम यहाँ इस सम्बन्ध में यही कहेंगे कि राक्षसों द्वारा मुनियों को खाकर हड्डियों के ढेर वन में डाल देने सम्बन्धी ऋषियों की दुर्दशा को देखकर राम को जो दया आई थी वह तो एक महान् पुरुष की दु:खी निर्बल तथा शोषित लोगों के प्रति उनका दु:ख दूर करने सम्बन्धी पीड़ा थी क्योंकि ऋषियों से राम का केवल मानवीय सम्बन्ध ही था। इसके अतिरिक्त सुदामा श्री कृष्ण का बाल सखा था। सहपाठी था। सुदामा के साथ श्री कृष्ण का सुहृद सम्बन्ध निजी सम्बन्धों का द्योतक है। इसी प्रकार राम तथा भरत और राम तथा लक्ष्मण का सम्बन्ध रक्त सम्बन्ध का द्योतक है, अत: इन पंक्तियों में 'करुण रस' न मानकर 'प्रेम या प्रेयान् रस' ही मानना उचित होगा।

यहाँ हमारा एक प्रश्न और भी है कि यदि भरत तथा सुदामा के पक्ष के करुण रस माना जाता है तो शैव्या-रोहिताश्व, गोपी-कृष्ण आदि के प्रसङ्गों में करुण रस क्यों नहीं माना जाता? वहाँ नेत्रों से अविरल रूप में बहने वाली आँसुओं की धारा को

केवल संचारी भावों के रूप में ही क्यों ग्रहण किया जाता है। इस आधार पर तो वियोग-शृंगार, वियोग वात्सल्य तथा वियोग भक्ति भी करुण रस के अंतर्गत ही मानी जानी चाहिए। परन्तु जब विद्वानों को यह व्यवस्था स्वीकार नहीं है तो उन्हें भातृ-प्रेमादि के वियुक्त प्रसंगों में भी 'करुण' के स्थान पर वियोग प्रेयान् रस ही मानना चाहिए। यही अधिक समीचीन है।

मातृ-प्रेम

मातृ प्रेम के अनेक उदाहरण हमारे साहित्य में भरे पड़े हैं। इस प्रेम के अन्तर्गत पितृ-प्रेम तथा मातृभूमि प्रेम भी समाहित हो जाता हैं क्योंकि माता और मातृ भूमि को समान ही माना गया है–

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥'

इसलिए हम मातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम तथा मातृभूमि प्रेम का पृथक्-पृथक् उल्लेख न करके एक ही रूप में उल्लेख करना समीचीन समझते हैं। यदि कोई इसे पृथक्-पृथक् समझता है तो उसे अधिकार है कि वह ऐसा कर सकता है क्योंकि इससे मूल भावना पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा।

मातृ तथा पितृ प्रेम के रूप में हम साहित्य के अनेक प्रसंगों को ले सकते हैं। पितृ प्रेम के कारण नचिकेता ने अपनी आयु अपने पिता को दे दी थी; भीष्म ने जीवन भर विवाह न करने की प्रतिज्ञा की थी; राम वन को चले गये थे तथा परशुराम ने अपनी माता का सिर काट दिया था; आदि। मातृ-पितृ प्रेम के कारण श्रवण कुमार ने अपार कष्ट सहन किये थे। श्री कृष्ण ने कंस का वध किया था। मातृ-प्रेम के कारण पाण्डवों ने द्रौपदी को पाँचों की पत्नी के रूप में स्वीकार किया था। कर्ण ने अपने को अर्जुन को छोड़कर शेष किसी भी पाण्डव का वध न करने का वचन दिया था। आदि सभी प्रसंगों पर संस्कृत तथा हिन्दी में प्रचुर साहित्य उपलब्ध है।

अब मातृ-भूमि प्रेम को लीजिये– राम ने मातृभूमि को राक्षसों के अत्याचारों से बचाने के लिए राक्षसों का विनाश किया था। श्री कृष्ण ने भी मातृभूमि के अनेक संकटों का निवारण किया था। चाणक्य ने मातृभूमि की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व त्यागकर तथा समस्त बुद्धि-कौशल का प्रयोग करके उसे दुष्टों के चंगुल से छुड़ाया था। मातृभूमि के बंधन काटने के लिए महाराणा प्रताप ने 22 वर्ष तक जंगलों की खाक छानी थी। भामाशाह ने अपना सम्पूर्ण धन मातृभूमि की रक्षा के लिए अर्पित कर दिया था। शिवाजी ने इसी कारण से जीवन भर कष्ट सहन किये थे। सिक्खों के अनेक गुरु मातृभूमि की वेदी पर बलि हो गये थे और गुरु गोविन्द सिंह के नन्हे बच्चे दीवार में चुन गये थे। झाँसी की रानी, तात्याटोपे, सरदार भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि वीरों ने मातृभूमि की वेदी पर ही अपना बलिदान किया था। कहने की आवश्यकता नहीं है, हिन्दी का साहित्य तो मातृभूमि की रक्षा के लिए किए गये संघर्षों की रोमांचक गाथाओं से भरा पड़ा है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

अतः करूँगा यह कार्य मैं स्वयं,
स्वहस्त में प्राण स्वकीय को लिए।
स्वदेश और स्वधरा निमित्त में,
न भीत हूँगा विष काल सर्प से॥ **(प्रिय प्रवास)**

कालीनाग को वश में करते समय श्री कृष्ण ने अपने साथियों से ये वचन कहे थे। इन पंक्तियों में **स्थायी भाव**-मातृभूमि प्रेम। **आश्रय**-श्री कृष्ण। **आलम्बन**-ब्रज भूमि। **उद्दीपन**-कालीनाग द्वारा विषाक्त जल को पीने के कारण मूर्छित गोपवृन्द तथा गायें। **अनुभाव**-श्री कृष्ण द्वारा काल जैसे भयानक सर्प को वश में करने का संकल्प। **संचारी भाव**-धृति, मति, गर्व, उत्साह, हर्ष, उत्सुकता, तर्क, मोह, श्रम आदि। रस के सभी अंगों के उपस्थित होने के कारण इन पंक्तियों में 'प्रेम रस' या 'प्रेयान् रस' है।

दूसरा उदाहरण

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं मैं लक्ष्मीपति के चढ़ूँ सीस पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बन माली उस पथ पर देना तू फैंक।
मातृभूमि पर सीस चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक॥

(फूल की चाह–मा० ला० चतुर्वेदी)

इन पंक्तियों में भी मातृभूमि-प्रेम विषयक प्रेयान् या प्रेम रस है क्योंकि यहाँ फूल, देश भक्त तथा उसकी देश सेवा की उत्कट कामना का प्रतीक है।

अत: यहाँ **आश्रय**-फूलरूपी देशभक्त। **आलम्बन**-भारतमाता। **उद्दीपन**-भारत की परतंत्रता। फूल के माध्यम से देश भक्त द्वारा अपने देश पर न्यौछावर होने की कामना का कथन **अनुभाव**। धृति, मति, गर्व, उत्सुकता, तर्क, मोह, श्रम आदि **संचारी भाव** हैं।

धर्म - प्रेम

धर्म-प्रेम की भी साहित्य में कमीं नहीं है। इसका कारण यह है कि लगभग आठ सौ वर्षों तक देश निरन्तर परतन्त्र रहा और इस्लाम तथा ईसाई धर्मों के अनुयायियों के कट्टर साम्प्रदायिकतावादी होने के कारण हिन्दू-धर्म पर निरन्तर एक से एक बढ़ कर अत्याचार हुए और इन अत्याचारों को रोकने के लिए असंख्य वीरों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी को अपने धर्म की रक्षा के लिए ही 'जौहर' करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त हमारें देश पें प्राचीन काल से ही सत्य तथा व्रत-पालन की पुष्ट परम्परा रही है। इसलिए सत्य-व्रत-पालन से सम्बद्ध भाव भी प्रेम रूप स्थायी भाव की कोटि में आता है। सत्यव्रत-पालन सम्बन्धी कुछ उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा–

'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जायें पर वचन न जाई॥' (मानस)

इन पंक्तियों में सत्यव्रत-प्रेम-**स्थायी भाव**। दशरथ **आश्रय**। कैकेयी के वरदान-**आलम्बन**। रघुकुल की परम्परा-**उद्दीपन**। दशरथ का प्राण देकर भी सत्य

व्रत-पालन का कथन **अनुभाव**। धृति, मति, निर्वेद, तर्क आदि-**संचारी भाव** हैं। इस प्रकार इन पंक्तियों में धर्म-प्रेम मूलक प्रेयान् रस है।

दूसरा उदाहरण

तात को सोचु न मात कौ सोचु न सोच कछू पितु स्वर्ग गये कौ।
सोच न मारग सीय हरी कछु सोच न बालि में बान दये कौ।
सोच न लक्ष्मण मूर्छि परे कछु सोच न सीय के बन्दि भये कौ।
बार हि बार विचारत राम है सोचु विभीषण बाँह गहे कौ।। (स्फुट)

इन पंक्तियों में शरणागत वत्सलतामूलक प्रेम **स्थायी भाव**-शरणागत विभीषण-**आलम्बन**। लक्ष्मण मूर्छा के कारण उपस्थित पराजय की आशंका **उद्दीपन**। राम का विभीषण के लिए चिन्ता व्यक्त करना **अनुभाव**। दैन्य, चिन्ता, मोह, श्रम, तर्क, शंका आदि **संचारी भाव** हैं। अत: इन पंक्तियों में भी धर्म-मूलक 'प्रेयान् रस' का पूर्ण परिपाक हुआ है।

उपर्युक्त के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त तीनों ही प्रकार के वर्णनों में रस परिपाक होता है। अत: इन्हें प्रेयान् रस के अन्तर्गत माना जाना उचित ही है।

प्रेयान् तथा शृंगार

शृंगार रस अत्यन्त महत्वपूर्ण रस है। इसका स्थायी भाव दाम्पत्य रति है परन्तु रुद्रट ने 'स्नेह' कोशृंगार का स्थायी भाव निर्दिष्ट किया है। रुद्रट ने 'प्रेयान् रस' का जिस प्रकार निर्देशन किया है और अपने उदाहरण द्वारा भोज राज ने जिस प्रकार उसकी पुष्टि की है। हिन्दी में उस प्रकार का प्रेम निरूपण पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

प्रथम उदाहरण– युद्ध के लिए प्रस्तुत अभिमन्यु को देखकर उत्तरा कहती है–

'क्षत्राणियों के अर्थ भी सब से बड़ा गौरव यही।
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आपही।
जो वीर पति के कीर्ति-पथ में विघ्न-बाधा डालतीं।
हो कर सती भी वह कहाँ कर्तव्य अपना पालती।
अकपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे सच जानिये।
मत जाइये सम्प्रति समर में प्रार्थना यह मानिये।
कुछ राज-पाट न चाहिये पाँऊ न क्यों मैं त्रास ही।
हे उत्तरा के धन! रहो तुम उत्तरा के पास ही।।' (जयद्रथ वध)

द्वितीय उदाहरण– श्री कृष्ण के मथुरा जाने का समाचार पाकर राधा की स्थिति–

अयि सखि अवलोके खिन्नता तू कहेगी,
प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कही हैं।
पर हृदय न जाने दग्ध क्यों हो रहा है।
सब जगत हमें है शून्य होता दिखाता।
यह सकल दिशायें आज रो-सी रही हैं।

यह सदन हमारा है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन विपिन में है भागता सा दिखाता।
मन हरण हमारे प्रात जाने न पावैं।
सखि जुगुत हमें तो सूझती हैं न ऐसी।
पर यदि यह काली यागिनी ही न बीते।
तब फिर व्रज कैसे प्राण प्यारे तजेंगे।। (प्रिय प्रवास)

तृतीय उदाहरण– अकबर द्वारा त्रस्त किये जाने पर अनारकली कहती है–

'बोली ओ मानी अकबर! यदि मान तुझे हो प्यारा।
यदि गिर न गया हो तेरे उस मान पाप का पारा।
तो बल दिखला अबला को अपमानित करना क्या है?
दुखिया पर हाथ बढ़ाना सूने में बता भला है?
मैं रानी नहीं बनूँगी रहने दो मुझे भिखारिन।
मैं जपा करूँगी माला प्रियतम अपने की निशिदिन।
उस मन मोहन के मन में ही है अब तो घर मेरा।
यदि प्राण दण्ड हो देना तो हाजिर है सिर मेरा।। (नूरजहाँ)

इन सभी 'पंक्तियों में वर्णित प्रेम का भाव निष्काम कर्म भावना, त्याग, बलिदान, सहिष्णुता, धर्म पालन, प्रिय के कल्याण की कामना आदि उदात्त भावों से भरा हुआ है। उक्त सभी उदाहरण दाम्पत्य प्रेम या रति के ही हैं जोश्रृंगार का स्थायी भाव माना जाता है और रुद्रट तथा भोज ने इसी को 'प्रेयान्' का स्थायी भाव भी माना है। दाम्पत्य प्रेम का अन्य उदाहरणं भी देखिये–

'राति की केलि अघाने नहीं दिनही में लला पुनि घात लगाई
प्यास लगी कोई पानी दे जाइयो भीतर बैठि कैं बात सुनाई
जेठी पठाय दई दुलही तब हेरि हँसे मतिराम बुलाई
कान्ह की बात पै कान न दीन्हों तौ गेह की देहरि में धरि आई'
(मतिराम)

यह भी दाम्पत्य प्रेम निरूपण का ही उदाहरण है। दोनों ही उदाहरणों में कितना अन्तर है इसे पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। प्रथम उदाहरणों में प्रेम है, आत्म प्रेम, निष्काम प्रेम, उत्सर्ग से भरा हुआ प्रेम और अन्तिम उदाहरण में काम है, घोर तथा अश्लील वासना है परन्तु इसे प्रेम याश्रृंगार कहना कभी उचित नहीं है क्योंकि ऐसे उदाहरण तो 'रसाभास' के ही उदाहरण हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में वर्णित प्रेम को ही रुद्रट और भोज ने 'प्रेयान रस' के अन्तर्गत माना था। यदि प्रेम के वास्तविक स्वरूप पर विचार किया जाय तो 'प्रेम' से न मन का सम्बन्ध है और न 'बुद्धि' का, प्रेम तो आत्मा का आत्मा के साथ शान्त, निष्काम तथा निश्च्छल सम्बन्ध है। अत: प्रेम के

विभिन्न रूप होते हुए भी मूल सबका एक है– 'आत्म सम्बन्ध'। अतः 'शृंगार' को भी 'प्रेयान रस' के अन्तर्गत मानना अनुचित नहीं है। इसी प्रकार वात्सल्य को भी 'प्रेयान् रस' के अन्तर्गत माना जा सकता है। प्रेयान् रस के पाँच भेद किये जा सकते हैं।

	स्थायी भाव	रस का उपभेद	मूलभेद	मूल स्थायी भाव
1.	दाम्पत्य रति	शृंगार रस	प्रेम रस	प्रेम
2.	वात्सल्य रति	वात्सल्य रस	"	"
3.	भ्रातृ प्रेम	प्रेयान् रस	"	"
4.	मातृ प्रेम	"	"	"
5.	धर्म प्रेम	"	"	"

उपर्युक्त आधार पर प्रदर्शित पाँच रसों को या तो 'प्रेम रस' के पाँच उपभेदों के रूप में प्रदर्शित किया सकता है या फिर 'प्रेम रस' के तीन भाग किये जा सकते हैं। 1. शृंगार 2. वात्सल्य 3. प्रेयान्– जिसमें भ्रातृ-सुहृद, मातृ-पितृ, मातृ-भूमि तथा धर्म-सत्य-व्रत पालनादि के प्रति प्रेम का निरूपण सम्मिलित है। हिन्दी के उपलब्ध प्रेम साहित्य को ध्यान में रखे हुए पूर्व प्रचलित नव रसों की संख्या में दशम् रस 'प्रेमरस' या 'प्रेयान् रस' अवश्य जोड़ा जाना चाहिये क्योंकि हिन्दी में इस रस से सम्बद्ध प्रचुर, पुष्ट एवं प्रभावशाली साहित्य उपलब्ध है, जिसमें लगभग 800 वर्षों के संघर्षमय जीवन का सजीव चित्र निरन्तर प्रस्तुत किया जाता रहा है। प्रेयान् को 'आत्मरस कहना भी उपयुक्त है; क्योंकि इसका सम्बंध आत्मभाव से है। प्रेम या स्नेह के स्थान पर 'आत्मभाव' ही इसका स्थायी भाव होगा।

प्रेयान् तथा करुण

अन्त में इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि यदि भ्रातृ-सुहृद, पितृ-मातृ, मातृभूमि आदि के प्रेम को प्रेयान् के अंतर्गत रख दिया जायेगा तो इनके वियोग पक्ष से भरा हुआ करुण का समस्त भण्डार ही रिक्त हो जायेगा और तब भवभूति की 'एको रस करुण मेव' की उद्घोषणा फीकी पड़ जायेगी। परन्तु हम ऊपर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि सात्त्विक शोक का सम्बन्ध दया से है और लौकिक शोक का सम्बन्ध प्रेम से, जिसमें वैयक्तिक हानि का अंश विद्यमान रहता है। अतः प्रेम जब अपनी अलौकिकत्त्व की कक्षा में प्रवेश कर जाता है तो उससे लौकिक प्रभाव (रजस्-तमस् का प्रभाव) नष्ट हो जाने से शोक का भाव, मात्र संचारी बन कर ही रह जाता है, जैसा कि पीछे दिये गये प्रेममूलक उदाहरणों से स्पष्ट है। इसके विपरीत शरणागत-वत्सलता, सबल द्वारा निर्बल का उत्पीड़न, असहाय का सहायता के लिए किसी सबल शक्ति का आह्वान आदि के अवसरों पर उत्पन्न शोक का भाव ही वास्तविक शोक होता है जो करुण रस का स्थायी भाव बनने की योग्यता रखता है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण हम करुण के आस्वाद में विस्तार से कर चुके हैं।

इस समस्त विवेचन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि प्रेम स्थायी भाव पर आधारित रस प्रेयान् रस है और शोक स्थायी भाव पर आधारित रस करुण रस है। दोनों ही रस पृथक्-पृथक् माने जाने योग्य हैं परन्तु भ्रातृ-शोक, सुहृद-शोक आदि को भी करुण रस के अन्तर्गत न मानकर वियोग शृंगारादि की भाँति उन्हें वियोग प्रेयान् के ही अन्तर्गत माना जाना चाहिये।

हिन्दी-साहित्य में दया मूलक शोक का अभाव नहीं है। हिन्दी कवियों ने विस्तार पूर्वक निर्बल के द्वारा सबल को पहुँचाई गई पीड़ा, अत्याचारी के अत्याचारों से पीड़ित व्यक्ति को देखकर उत्पन्न होने वाली दयालुता, असफलता, मृत्यु, भूखे, नंगे, बेरोजगारों की स्थिति से उत्पन्न शोक, अकाल, सूखा, महामारी आदि से पीड़ित जनता की करुण गाथायें, अछूतोद्धार की समस्या, आर्थिक संघर्षों में मरने तथा उत्पीड़ित होने वाले प्राणियों की कारुणिक दशा का वर्णन आदि कितने ही प्रसंग हैं जिन पर करुणा का सागर बहाया जाता रहा है। निराला की 'विधवा' तथा 'भिखारी' कविताओं में 'सुदामा चरित' जैसी ही करुणा है। अत: **करुण और प्रेयान् बिल्कुल पृथक्-पृथक् रस हैं।**

निष्कर्ष– उपर्युक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सुहृद-प्रेम', 'मातृ-पितृ प्रेम', 'मातृ-भूमि प्रेम' तथा धर्म-व्रत-पालनादि से सम्बद्ध- 'प्रेम' पर आधारित प्रसंगों में 'प्रेयान् रस' मान लेने में कोई हानि नहीं है क्योंकि अब हिन्दी में 'देश-प्रेमादि' पर आधारित प्रचुर रसात्मक प्रेरणादायक एवं उत्कृष्ट कोटि का साहित्य उपलब्ध हो चुका है। इस आधार पर यह प्रतीत होने लगा है कि पृथक् रस के रूप में स्थान न मिलने से हिन्दी के 'देश-भक्ति' 'मूलक उदात्त' साहित्य की रस-परिकल्पना' धूमिल ही बनी रहेगी। अतः- 'प्रेयान् रस' को अन्य मान्य रसों की पंक्ति में ही स्थान देना इस समय हिन्दी-साहित्य की अपरिहार्य आवश्यकता है।

शान्त का रसत्व प्रतिपादन

'शान्त' रस की मान्यता के सम्बन्ध में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। संस्कृत के प्रथम आचार्य भरत ने शान्त को रस स्वीकार नहीं किया है, भरत के ही अनुसरण पर संस्कृत के प्रभृति परवर्ती आचार्यों ने भी शान्त को रस नहीं माना है। इसके विपरीत उद्‌भट, रुद्रट, तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों ने शान्त को रस रूप में स्वीकृति प्रदान की है। हिन्दी-आचार्यों ने शान्त को रस रूप में माना है। शान्त को रस मानने के संबंध में विद्वानों में विवाद की जो लम्बी परम्परा रही है उसको देखते हुए शान्त के रसत्व प्रतिपादन पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। अत: शान्त रस के पक्ष एवं विपक्ष में दिये गये विद्वानों के विचारों को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

शान्त को रस न मानने सम्बन्धी मत

जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि आचार्य भरत तथा दण्डी आदि ने शान्त को रस नहीं माना है। परन्तु भरत का दृष्टिकोण एकांगी ही था। वे नाट्य शास्त्र

को ध्यान में रखकर चले थे। यहाँ एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि काव्य से नाटक का महत्व सदा अधिक माना जाता रहा है और **'काव्येषु नाटकं रम्यम्'** की उक्ति भी यही प्रदर्शित करती है। नाटक को **'पञ्चम वेद'** भी कहा गया है। अत: नाट्य शास्त्र के निर्माताओं ने एक मत से भरत की परम्परा का ही निर्वहन किया है। परम्परा के समर्थक दशरूपककार धनंजय तथा वृत्तिकार धनिक आदि ने भी शान्त के रसत्व का विरोध किया है :-

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि कैचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य॥ (दशरूपक 4-35)

अर्थात् स्थायीभाव आठ होते हैं :- **रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, ह्रास, विस्मय (आश्चर्य), भय तथा शोक**। कुछ आचार्य 'शम' जैसे नवें स्थायी भाव को भी मानते हैं किन्तु इस भाव की पुष्टि नाट्य (रूपकों) में नहीं होती क्योंकि यह भाव नाट्यानुकूल नहीं है।

इस प्रकार धनंजय के मत से **शृंगार, वीर, बीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण ये आठ ही रस होते हैं**। उन्हें शान्त रस स्वीकार नहीं है क्योंकि वह नाटक के लिए अनुपयुक्त है।

शान्त रस के विरोधी इसका विरोध अनेक प्रकार से करते हैं-

1. कुछ विद्वानों का कहना है कि 'शान्त' नाम का कोई रस ही नहीं है। नाट्य शास्त्र में आचार्य भरत ने केवल आठ ही रसों के विभावादि साधनों का वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र में शान्त रस के न तो विभावादि ही वर्णित हैं, न उसका लक्षण ही दिया गया है। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि मुनि भरत 'शान्त' को नवाँ रस नहीं मानते। यदि शान्त को रस माना जाता या वह रस होता तो भरत उसका वर्णन अवश्य करते। शान्त को अलग रस मानना परम्परा विरुद्ध तथा आचार्य भरत के मत के प्रतिकूल है। अत: शान्त नाम का कोई रस नहीं है।[18]

2. दूसरे लोग शान्त रस का वास्तविक अभाव ही मानते हैं। पहले मत वाले तो उसकी नाट्य या काव्य में ही सत्ता नहीं मानते परन्तु ये दूसरे मताबलम्बी 'शम' की सत्ता व्यावहारिक (लौकिक) क्षेत्र में भी नहीं मानते। इनका तर्क है कि शान्त रस की स्थिति तभी हो सकती है जबकि व्यक्ति के रागद्वेष का नाश हो जाय। राग तथा द्वेष मनुष्य में अनादि काल से चले आ रहे हैं। अत: उनकी आत्यन्तिक (पूर्णरूपेण) निवृत्ति (समाप्ति) होना असंभव है। और जब अनादि काल से चले आ रहे रागद्वेष का नाश असम्भव है तो फिर शान्त रस कैसे परिपुष्ट हो सकता है।[19] इसका तात्पर्य यह है कि **शान्त रस का आश्रय कोई योगी या विरक्त पुरुष ही होगा और योगी का हृदय सूखे काठ की भाँति निष्पन्द एवं कठोर होता है। उस पर लौकिक भावों का प्रभाव नहीं पड़ता। अत: आश्रय के अनुकूल न होने के कारण शान्त रस नहीं माना जा सकता।**

3. कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो 'शम' या 'शान्त परक' चित्तवृत्ति की स्थिति तो मानते हैं पर उसे पृथक् से 'स्थायी भाव' नहीं मानते। उनके मतानुसार 'शम' को वीर, बीभत्सादि में अन्तर्भावित किया जा सकता है। यथा-संसार के प्रति घृणा, जो 'शम' का एक तृत्व है बीभत्स के अन्तर्गत आ जाती है। इसी प्रकार अनश्वर परमतत्व के प्रति उन्मुखता वीर के स्थायी उत्साह का अंग बन जाता है। इस आधार पर शान्त को अलग से रस नहीं माना जा सकता।[20]

4. शान्त रस के स्थायीभाव 'शम' में संचारीभाव की योग्यता तो हो सकती है परन्तु उसमें स्थायीभाव की योग्यता का सर्वथा अभाव हैं क्योंकि स्थायी भाव वह होता है जो विरोधी या अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता और समुद्र के जल की भाँति वह अन्य सभी भावों को आत्मसात् कर लेता है। दूसरे शब्दों में अन्य सभी भावों की सत्ता को अपनी सत्ता में विलीन कर लेता है। परन्तु यह गुण 'निर्वेद' या 'शम' में नहीं पाया जाता क्योंकि 'निर्वेद' के अन्तर्गत अन्यभावों को आत्मसात् करने की शक्ति नहीं होती, वह दूसरे समान या असमान भावों से दब जाता है। अतः स्थायीभाव की शर्तें पूरी न करने के कारण 'शम' या 'निर्वेद' को स्थायीभाव कैसे माना जा सकता है और उसकी चर्वणा कैसे हो सकती है? यदि निर्वेद या शम की काव्य या नाटक आदि में पुष्टि भी होगी तो वह रस के स्थान पर विरसता ही उत्पन्न करेगी। अतः निर्वेदादि को रस का स्थायी भाव नहीं माना जा सकता। इसीलिए शान्त को नवाँ रस नहीं माना गया है।[21]

5. शम नामक स्थायी भाव से उद्भूत शान्त रस अनिर्वाच्य है। इसका वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि यह दुःख, सुख, चिन्ता, राग-द्वेष सभी से परे है तथा वह मुदिता, मैत्री, करुणा एवं उपेक्षा से प्रतीत होता है।[22] अतः शान्त रस का लक्षण हुआ कि :-

जहाँ दुख भी नहीं है, सुख भी नहीं है, न चिन्ता है न द्वेष, न कोई राग है, न कोई इच्छा, वह शान्त रस है। ऐसा मुनीन्द्र भरत ने कहा है। समस्त भावों में शम भाव प्रधान होता है।[23]

यदि शान्त रस का यही लक्षण है तो यह अनुभूति केवल मोक्षावस्था में ही प्राप्त हो सकती है जब आत्मरूप की प्राप्ति हो जाती है। यह **मोक्षावस्था अनिर्वचनीय है। इसका वर्णन करना अशक्य है। जब शान्त रस सांसारिक विषयों से विराग वाला है तो फिर उससे रसिक सहृदयों को (लौकिक सामाजिकों) को कोई आनन्द नहीं मिलेगा (वैराग्य युत्) शान्त रस का आस्वाद रागी लौकिक रसिक नहीं करेंगे।**[24]

6. 'शम' नामक स्थायी भाव के अनुभाव अंतर्मुखी होते हैं जिनका नाटकादि में प्रदर्शन नहीं किया जा सकता जैसे-ध्यान लगाना, प्राणायाम की क्रिया करना, मनन, चिन्तन या माला द्वारा भजन करना आदि। अतः **जब 'शान्त रस' में अनुभावों का**

बहिर्प्रदर्शन नहीं किया जा सकता तो शान्त रस व्यक्त कैसे हो सकता है। अन्य रसों के अनुभावों का प्रदर्शन आश्रय द्वारा सफलता से किया जा सकता है। **अतः निर्वेदादि में अनुभावों का अन्तर्मुखी प्रदर्शन होना भी शान्त को रसत्व की कोटि से निर्गत करने का एक आधार माना जाता है।**

रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशवदास ने भी शान्त रस को स्वतंत्र रस नहीं माना है। उन्होंने 'शम' का अन्तर्भावश्रृंगार में दिखाने का प्रयत्न किया है–

"सब ते होइ उदास मन बसै एक ही ठौर।
ताही को समरस कहत 'केसव' कवि सिरमौर॥" (र. प्रि.)

अर्थात् जब मन सभी वस्तुओं से उदासीन होकर केवल एक ही वस्तु में लीन (धयानावस्थित) हो जाता है तो उसे शांत रस कहते हैं। 'सबते होइ उदास मन' तथा 'बसै एक ही ठौर' का कथन नायक नायिका के पारस्परिक प्रेम सम्बन्ध की अनन्यता की ओर संकेत करता है।

शान्त रस का प्रतिरोध सूरदास की गोपियों में भी प्रस्फुटित हुआ है। गोपियाँ उद्धव से योग की कथा को बार-बार न कहने का आग्रह करती हैं–

'जोग कथा पालागों ऊधो मति कहु बारम्बार।'

तथा–

'ऊधौ जुबतिन ओर निहारौ।
ता पाछें यहि ब्रज में अपनी जोग कथा विस्तारौ॥'

आगे गोपियाँ उद्धव से स्पष्ट शब्दों में डाँटकर कह देती हैं–

'तुम्हारी बात सुने ब्रज को है।
हम अबला अभीर सठ मधुकर हमें जोग कैसे सोहै।'

और–

"जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै"। **(भ्रमरगीत सार)**

आदि के द्वारा पुष्ट शब्दों में शान्त रस का विरोध किया है। महात्मा तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में कहा है–

"ज्ञान को पंथ कृपान की धारा। बरत खगेस लाग नहिं बारा॥"
(मानस)

से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि शान्त रस लौकिक प्राणियों का रस न होने से और इसका सम्बन्ध योगादि की क्लिष्ट क्रियाओं से होने के कारण यह विरक्त लोगों के ही द्वारा ग्रहणीय है और सांसारिक लोगों या सहृदयों के द्वारा त्याज्य एवं उपेक्षणीय है। अतः इसे रस की कोटि में रक्खा जाना युक्ति संगत नहीं है।

7. शान्त रस का आलम्बन **'ब्रह्म'** होता है जो निर्गुण निर्विकार तथा निराकार माना गया है। वह कल्पनातीत भी है। अतः आलम्बन के स्थूल स्वरूप के बिना काव्यादि के द्वारा निर्वेद का जाग्रत होना कैसे संभव होगा। सूरदास ने निम्न पद में इसी ओर

संकेत किया है–

"रूप रेख गुन जाति जुगति बिन निरालम्ब कित धावै।
तब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन लीला पद गावै।"

ब्रह्म, जीव, जगत् और तज्जनित माया, सत्-रज्-तम् आदि गुणों का निरूपण तथा ज्ञान, मोक्ष आदि का विवेचन केवल दर्शन-शास्त्र का ही विषय है जो अत्यन्त जटिल, शुष्क एवं नीरस है जिसे कोई त्यागी व विरक्त ही अपना सकता है। अतः काव्यादि की रागात्मक प्रवृत्ति के प्रतिकूल होने तथा आलम्बन धर्म के अगृहीत होने के कारण शान्त को रस मानना उचित नहीं है।

शान्त को रस मानने सम्बन्धी मत

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्टतः प्रतीत होने लगता है कि शान्त को रस की कोटि में रखना युक्ति संगत नहीं है परन्तु इस पक्ष का निराकरण करते हुए विद्वानों ने शान्त के रसत्व का प्रतिपादन किया है। इनमें उद्भट सबसे अग्रणी हैं–

"शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृता।"(का. लं. सा. स. 4-9)

अर्थात् नाटक के अन्तर्गत **शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा शान्त ये नौ रस होते हैं।** उद्भट का यह मत स्पष्ट रूप से आचार्य भरत के मत का खण्डन करता है। उद्भट के बाद रुद्रट ने भी शान्त के रसत्व की घोषणा की है।

1. शृंगारवीरकरुणाबीभत्सभयानकाद्भुतहास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे।।

2. रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः।। (का० लं० रुद्रट 12-3-4)

अर्थात् आचार्यों ने स्थायी भावों को इसलिये रस माना है कि इनमें लौकिक रसों में निहित मिठास आदि की भाँति स्वादसन्निहित रहता है। यह स्ववादरूपता तो निर्वेदादि भावों में भी है। अतः वे भी रस हैं।

अभिनव गुप्त ने नाट्य एवं काव्य दोनों में ही शान्त रस की स्थापना स्पष्ट रूप से की है। **'एवं ते नवैवरसाः'** आदि के द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि रस नौ ही होते हैं। न कम न अधिक। इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्भट द्वारा प्रतिपादित शान्त के रसत्व का पोषण अनेक विरोधों के होते हुए भी एक सुदीर्घ परम्परा द्वारा किया जाता रहा है। साहित्यदर्पणकार पं. विश्वनाथ ने भी शान्त को रस माना है।

शान्त के रसत्व का प्रतिपादन रूप गोस्वामी द्वारा स्थापित भक्ति रस के अधिक सुगमता से हो जाता है। रूप गोस्वामी ने अपने ग्रंथ **'उज्ज्वल-नीलमणि'** में बड़े प्रबल तर्कों के साथ यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भक्ति ही प्रधान रस है। उन्होंने शान्त को भी भक्ति रस के अन्तर्गत ही माना है। रूप गोस्वामी की इस मान्यता से

गुत्थी सहज में ही सुलझ जाती है कि भक्ति को शान्त के अन्तर्गत रखना ही अधिक समीचीन होगा जिसमें निर्गुण एवं सगुण दोनों ही प्रकार की ब्रह्म धारणा आलम्बनत्व धर्म के अन्तर्गत निरूपित हो जाती है। भक्त (निर्गुणवादी हो या सगुणवादी) वह शान्त रस का ही आश्रय होता है। सांसारिक माया से उत्पन्न कष्ट एवं बाधाएँ तथा उनके निराकरणार्थ कीर्तन, भजन, धार्मिक-ग्रंथ-पारायण, उपवास, तीर्थ-व्रत, प्रार्थना, रास लीलादि जिनसे 'निर्वेद' का भाव जाग्रत होता है– उद्दीपक परिस्थितियों के अन्तर्गत आते हैं। भक्त द्वारा तीर्थ-व्रतादि का आचरण करना आदि अनुभाव हैं और तद्मूलक हर्ष, धृति, मति, तर्क, शंका, उत्सुकता आदि संचारी भाव हैं। अतः 'शान्तरस' के अन्तर्गत भक्ति रस का अंतर्भाव बड़ी सुगमता से हो जाता है। यदि शान्त और भक्ति को पृथक्-पृथक् रस मानेंगे तो न शान्त ही रसत्व को प्राप्त होगा (क्योंकि वह शुष्क ज्ञान का ही पोषक पात्र रह जायेगा जो केवल दर्शन-शास्त्र की चर्चा का विषय है) और न भक्ति ही रस की कोटि में आयेगी क्योंकि सगुण विषयक प्रेम-मात्र का व्यावहारिक रूपश्रृंगार रति का ही पोषक रह जायेगा। परन्तु ज्ञान-समन्वित भक्ति ही वास्तविक रूप में भक्ति है। ज्ञान-रहित भक्ति की कल्पना रीतिकालीन कवियों की भाँति अनाचार की पोषक है। ज्ञान द्वारा भक्ति में सदाचार का पोषण होता है जो भक्ति को वासना के दूषित गर्त में गिरने से बचाता है। ज्ञान-रहित ईश्वरीय प्रेम (चाहे सगुण का हो या निर्गुण का) केवल ढोंग मात्र है। वह वैदिक यज्ञ में पशुबलि की जघन्य हिंसा के द्वारा मोक्ष की कामना के समान उपहासास्पद है। तुलसी की भक्ति की सफलता का रहस्य केवल उसकी सदाचार मूलक (ज्ञान समन्वित) भक्ति ही है। यही सच्चे रूप में शान्त रस का प्रतिपादन है। तुलसी इसी आधार पर 'शान्त रस' का धनी कवि है और 'रामचरितमानस' 'शान्त रस' का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ जिसमें सगुणावतार धारी भगवान् श्री राम को पग-पग पर नर लीला रत दिखाकर भक्तों की वासना आदि को ज्ञानामृत के छीटों से शमित किया जाता रहा है और साधना की ज्योर्तिमणि का देदीप्यमान प्रकाश विकीर्ण करके शान्त रस का वास्तविक रूप में आस्वादन कराया गया है। मानस में नीति-निरूपण भी शान्तमय है।

निम्नलिखित पंक्तियाँ शान्त की रस-धर्मिता को व्यक्त करती हैं–

कबहुक हों यहि रहनि रहोंगो।
यथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहोंगो।
परहित निरत निरन्तर मनक्रमवचन नेम निबहोंगो।
परुष वचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहोंगो।
विगत मान सम सीतल मन परगुन नहिं दोष कहोंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि विधि रहि अविचल हरिभक्ति गहोंगो।।

(विनय पत्रिका)

इन पंक्तियों में 'निर्वेद' स्थायीभाव ब्रह्म-रूप आलम्बन के ध्यान द्वारा जाग्रत

होकर, माया से उत्पन्न सांसारिक कष्टप्रद परिस्थितियों का दर्शन एवं स्मरण करके जो पाप कर्म मूलक हैं और नरक का द्वार हैं उद्दीप्त होकर; पद में वर्णित अनुभावों के द्वारा व्यक्त होकर; मति, गर्व, हर्ष, धृति, तर्क तथा उत्सुकतादि संचारियों के द्वारा पुष्ट होकर आस्वाद्य बन गया है। अतः यह पद सदाचार मूलक होने के कारण आत्मज्ञान का द्योतक है तथा मुक्ति की कामना का पोषक है, जो शान्त रस का मूल प्रतिपाद्य है। इसके विपरीत यदि रूप गोस्वामी द्वारा भक्ति रस– सिद्धान्त के आधार पर श्री कृष्ण व राधा को ब्रह्म-स्नेह का आलम्बन व आश्रय मान लें और 'ज्ञान' को बालायेताक रख दें तो कभी भक्तिरस का परिपाक संभव नहीं होगा क्योंकि ब्रह्म विषयक धारणा को कभी भी अनाचार के झरोखे से नहीं देखा जा सकता। निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा–

1. **"नीबी ललित गही यदुराई**
जबहिं सरोज धरयौ श्री फल पर तब जसुमति तहाँ आई"
"झूठे मोहि लगावत गारी।
मेरो कर अपने कुच धारति आपुहि चोरी फारी।" (सूर)
2. **"साँवरे की सूनी सेज सोवति ही राधिकाजू।**
सोये आइ साँवरेऊ मानि मन गौनों सौ।" (केशवदास)
3. **"राति की केलि अधाने नहीं दिन हू मैं लला पुनि घात लगाई।**
प्यास लगी कोऊ पानी दै जाइयो भीतर बैठि कै बात सुनाई।
जेठी पठाय दई दुलही तव हेरि हँसे 'मतिराम' बुलाई।
कान्ह की बात पै कान न दीनौ तो गेह की देहरि में धरि आई।।

उपर्युक्त सभी पंक्तियों में राधा और श्री कृष्ण आलम्बन-आश्रय हैं जो कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय के आराध्य हैं। भक्तों की दृष्टि में तो श्री कृष्ण की रति से सम्बन्धित उक्त पद भी उनकी 'लीला' है और भक्तों को इन पदों का पठन-पाठन भी भक्ति-रस का आस्वादन कराता हैं। ऐसे पदों के द्वारा भी भक्तगण श्रीकृष्ण और राधा की लीलाओं का गान करके सांसारिक वासना से मुक्त होकर मोक्ष की कामना करते होंगे। उनके द्वारा ऐसे पद भी भक्ति रस के उद्‌बोधन माने जायेंगे, क्योंकि इन पदों में सगुणावतार धारी श्रीकृष्ण तथा उनकी महाशक्ति राधा के क्रियाकलापों का वर्णन है।

इन पदों की अश्लीलता को देखकर एक बार लज्जा को भी लज्जित होना पड़ेगा। ऐसे पदों में रस का लेश भी नहीं होता। भारतीय रस परम्परा के आधार पर ऐसे पद 'रसाभास' के अंतर्गत ही आते हैं क्योंकि इनमें रस अनौचित्य की कोटि में चला गया है, अतः जब बिना औचित्य कोई रस नहीं होता तो भक्ति रस का परिपाक औचित्य के अभाव में कैसे हो सकता है और भक्ति का औचित्य केवल सदाचार का पोषक ज्ञान है जो भक्ति का अनिवार्य तत्व है। ज्ञान या निर्वेद शान्त रस का स्थायी भाव है, अतः शान्त ही रस है। भक्ति भी उसी की पोषिका है।

शान्त रस के विरोधी तर्कों का निराकरण

1. शान्त रस के विरोधियों का प्रथम तर्क यह है कि नाट्य-शास्त्र में आचार्य भरत द्वारा शान्त को रस नहीं माना गया है। अत: भरत-मत का अतिक्रमण करके शान्त को रस नहीं माना जा सकता। भरत मुनि के भावुक अनुयायियों का यह आग्रह क्लिष्ट पक्षपात का ही द्योतक है। समय विकासशील होता है। विकास कीशृंखला में नवीन कड़ियाँ जुड़ती रहती हैं और अनावश्यक कड़ियों को बिृंखल कर दिया जाता है। ज्ञान-विज्ञान का यही क्रम युगारम्भ एवं युगान्त कहलाता है। इसी को परिवर्तन की संज्ञा दी जाती है। अत: रसशृंखला के क्षेत्र में रूढ़िवादिता का ढिंढोरा पीटना भी बुद्धिमत्ता नहीं है। आचार्य भरत के सम्मुख अवश्य ही शान्त रस का रसत्व लक्षित रहा होगा परन्तु अनुकूल लक्ष्यग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण तत्कालीन प्रवृत्ति शान्त के रसत्व प्रतिपादन के प्रति उदासीन रही होगी। अत: 'भरत वाक्यं प्रमाणम्' का बन्धन तोड़कर जब आचार्य उद्भट की वाणी ने नवें रस शान्त का उद्घोष किया तो वह समय की माँग रही होगी। साहित्य, समय सापेक्ष होता है, इसें किंचित् संदेह नहीं है। आचार्य उद्भट की इस वाणी को पर्याप्त समर्थन परवर्ती आचार्यों से प्राप्त होता रहा और विश्वनाथ तक आते-आते यह धारणा दृढ़ हो गई कि शान्त पूर्ण समर्थ रस है। भक्ति आदि केवल भाव मात्र हैं जिनका अन्तर्भाव शान्तरस में सरलता से हो जाता है। आचार्य विश्वनाथ के समय तक काव्य एवं नाटकादि का प्रचुर साहित्य उपलब्ध था जिसमें 'शान्त रस' अन्य स्वतन्त्र रसों की भाँति प्रस्फुटित होकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व का प्रमाण दे चुका था। यही कारण था जिसके आधार पर आचार्य विश्वनाथ ने शान्त रस को महाकाव्य का अंगी रस घोषित किया।[25] शान्त के रसत्व का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

शान्त रस हिन्दी-साहित्य का तो प्राण ही है। चंदवरदायी से लेकर छायावादी कवियों की पलायनवादी-निराशावादी भावना तक शान्त की कड़ियाँ परस्पर सम्बद्ध एवं दृढ़ दिखाई देती हैं। **भक्ति काल जो हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है; शान्त रस का ही युग था। सूर, तुलसी, जायसी, कबीर, मीरा और घनानंद आदि विशुद्ध रूप से शान्तवादी कवि थे। इनकी कविताओं में शान्त रस ही प्रधान रस है।** अन्य रस शान्त सापेक्ष होकर ही अवतरित हुए हैं। यदि शान्त रस का अन्तराञ्चल न पकड़ा होता तो छायावादी कवि वासना के घोर रौरव में जाने से अपने को न बचा पाते। रीतिकाल मेंशृंगारी कवि भक्त कवियों के आराध्य भगवान् श्री कृष्ण एवं उनकी आराध्या देवी राधिका के चरणों में अपना सम्पूर्णशृंगारभार अर्पित करके ही काव्य के सत्य तत्व की रक्षा करने में समर्थ हो सके हैं अन्यथा सभ्य समाज ऐसे अश्लील साहित्य को गंगा की धारा में बहा कर ही विश्राम लेता। **'छोटे करें सो पाप और बड़े करें सो लीला।'** इस धारणा के आधार पर सम्पूर्ण शृंगारी साहित्य में भी राधा और कृष्ण को आलम्बन रूप में ग्रहण न किया गया होता तो रीतिकालीन साहित्य को सत् साहित्य

की कोटि में रख पाना संभव ही नहीं था। अतः लीला बिहारी, चक्रधारी एवं गीता-ज्ञान का उपदेश देनेवाले सगुण-ब्रह्म रूपधारी भगवान् श्री कृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध होने के कारण ही रीतिकाल का काव्य सहृदय-समाज द्वारा गृहीत हो सका है जिसे श्री कृष्ण की लीला बताकर ही भोग की प्रकृति के कमल पत्रवत् होने की स्थिति का प्रमाणीकरण कियां गया है। सम्पूर्णश्रृंगार साहित्य 'समरथ कहँ कहा दोष गुसांई' की निर्वेद संयुग भित्ति पर आधारित है जिसके द्वारा रीतिकाल का घोरश्रृंगारी कवि अपने को घोर पापी-पातकी व वासना का कीड़ा होने से बचाने में समर्थ हो सका है।श्रृंगारी कवियों का यहश्रृंगार-व्यापार भोग से विरक्ति की ओर उन्मुख होने की भावना का द्योतक है जिसका मूल आधार 'निर्वेद' ही है। अतः शान्त रस का समस्त संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में व्यापक विस्तार होने के कारण उसे रस मानना ही उचित है।

2. विपक्षी आचार्यों का यह तर्क भी निराधार है कि शान्त रस का स्थायी भाव शम या निर्वेद व्यवहार मूलक नहीं है। लौकिक प्राणी का मन राग-द्वेष के प्रभाव से सर्वथा मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अतः शान्त रस की प्रवृत्ति रागात्मक न होने के कारण स्वीकार्य नहीं है। रस स्वरूप के विवेचन में यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो चुका है कि रस अलौकिक होता है। रस का सम्बन्ध सतोगुण से है। सत्त्वगुण की यह व्यापकता अनुभूति जन्य होती है। रस निष्पन्नता की स्थिति में हृदय रजोगुण एवं तमोगुण के प्रभाव से मुक्त हो जाता है और चित्त की वृत्ति निज पर तटस्थ के भाव से मुक्त होकर सामान्य ज्ञानपूर्ण स्थिति में प्रवेश कर जाती है जहाँ सांसारिक ज्ञान का तिरोभाव होकर विशुद्ध आत्म-ज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है। **यह कहना असंगत न होगा कि काव्यादि का अनुशीलन करने पर सहृदय माया मुक्त जीव की कोटि में आ जाता है और एक सच्चे योगी की भाँति समाधिस्थ होकर 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' 'रस' का आस्वाद करके आनन्दित एवं आह्लादित होता है। यह विराग की स्थिति नहीं तो क्या है? रस का लौकिक अस्तित्व तो काव्यादि में ही ग्राह्य नहीं है। अतः शान्त रस का स्थायी भाव 'शम', या 'निर्वेद' भी अन्य स्थायी भावों की भाँति रसात्मकता की भाँति आलौकिकत्व की परिधि में यदि गृहीत हो तो क्या हानि है, क्योंकि लौकिक परिवेश में रस की निष्पन्नता संभव ही नहीं है। गृहस्थाश्रम को शास्त्रों में सन्यासाश्रम के बराबर ही माना गया है क्योंकि गृहस्थी दान-धर्म का पालन करता है जिसे सन्यासान्तर्गत त्याग धर्म कहा गया है।** दोनों का आशय एक ही है। रत्नाकर की गोपियों का यह कथन-

'योगी ते वियोग भोग भोगी कहा कम है।' (उद्धव-शतक)

'शम' की लोकधर्म मूलक गुत्थी को सहज ही सुलझा देता है। लौकिक व्यवहार का आधार भी 'सदाचार' है न कि दुराचरण। **सभी रस सदाचारमूलक होते हैं। सदाचार का मूल आत्मज्ञान है।** और यदि **'देखें ज्ञान-पटक उलारि उर आँखिन सों, कान्ह सबही में कान्ह ही में सब कोई है'** के आधार पर सर्वत्र शान्त की ही सत्ता विराजमान

है। ब्रह्म-भावना की भाँति शान्त-भावना भीं हर प्राणी के हृदय में व्याप्त है। उसके उद्बोधन के लिए केवल अनुकूल परिस्थितियाँ होनी चाहिए जो काव्यादि में सहज सुलभ होती हैं। **काव्य का लक्ष्य सत्य-रूप यथार्थ का दर्शन शिवरूप आदर्श भाव की ओर प्रेरणा और इन दोनों के मिश्रित प्रभाव से उद्भूत आनन्द रूप सुन्दर का उद्बोधन होता है जिसे 'निर्वेद' या 'ज्ञान' कहते हैं।**

महात्मा तुलसीदास ने इसे यों स्पष्ट किया है–

"जड़ चेतन गुन दोष मय विस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुन लहहिं पय परिहरि वारि विकार।।" **(मानस)**

यह दोहा काव्य के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की सबल स्थापना करने में सक्षम दिखाई देता है। महाकवि प्रसाद भी :–

'ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न हैं
इच्छा क्यों पूरी हों मन की।
एक दूसरे से न मिल सकें,
यह बिडम्बना है जीवन की।' **(कामायनी)**

के द्वारा इच्छा और क्रियाओं के ज्ञान-समन्वित न होने को ही सिद्धि मार्ग की बाधा मानते हैं। वे रसात्मक सिद्धि को इन शब्दों में चित्रित करते हैं–

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म थे।
इच्छा-ज्ञान-क्रिया मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में।
श्रद्धा युक्त मनु बस तन्मय थे।।

और तब :–

समरस थे जड़ और चेतन,
सुन्दर साकार बना था।
समरसता मधुर विलसती,
आनन्द अतीव घना था।। **(कामायनी)**

यही स्थिति रस-दशा कहलाती है। यह रस-दशा बिना ज्ञान-दशा के प्राप्त नहीं हो सकती। अतः शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद भी उतना ही लौकिक व्यवहार मूलक है जितने कि रत्यादि अन्य स्थायीभाव हैं। सब का कार्य एक है, लक्ष्य एक है और साध्य भी एक है। बिना ज्ञान के न हृदय की मुक्तावस्था संभव है न शरीर की। ज्ञान का प्रकाश जब तक हृदय में अवस्थित नहीं होता तब तक वासना के अन्धाकार का मिटना क्या संभव है? अतः सभी रसों के आर-पार केवल ज्ञान का ही प्रकाश व्याप्त है। वासना अंधकार है जिसमें रस का स्त्रोत सूख जाता है। ज्ञानामृत का आस्वाद ही रस है। अतः शान्त का व्यावहारिक पक्ष सर्वसिद्ध है। उस पर आत्यन्तिक निवृत्ति होने का आरोप लगाना युक्ति संगत

नहीं है। राग द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति के बिना तो कोई भी रस निष्पन्न नहीं हो सकता। काव्यादि के अनुशीलन में साधारणीकरण व्यापार के द्वारा पहले राग द्वेश की आत्यन्तिक निवृत्ति ही होती है तभी रस निष्पन्न होता है। शान्त में यह सहज सुलभ है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि सामाजिक बुराई का त्याग करके अच्छाई को ही ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ :– चक्रव्यूह के युद्ध में अकेले अभिमन्यु को घेरकर और उसे अस्त्रहीन बनाकर मार डालने वाले सप्त महारथियों की वीरता की कोई सहृदय प्रशंसा नहीं करता। सब उन महारथियों की कायरता और नीचता को धिक्कार ही देते हैं। परन्तु जब अर्जुन निहत्थे कर्ण का संहार करता है तो सहृदय इसे अधर्म नहीं मानते क्योंकि कर्ण अहंकारी था। उसी के सहयोग से द्रौपदी का चीर खींचा गया था। बालक अभिमन्यु का असहायावस्था में वध किया गया था और पाण्डवों को अनेक अनैतिक यातनाएँ दी गई थीं। अतः **काव्यादि में वर्णित परिस्थितियाँ, स्वयं ही निर्णय करके पाठकादि के हृदय की कलुषित वृत्तियों को तिरोभूत करने में सफल हो जाती हैं। यही साहित्य का सत् स्वरूप है जो रस है और शान्त में यह प्रवृत्ति सर्वाधिक प्रबल एवं स्पष्ट होती है, अतः शान्त के रसत्व का प्रतिपादन अकाट्य है।**

3. शान्त रस के विरोधियों का यह भी तर्क है कि 'शम' में स्थायी भाव की योग्यता नहीं है। यदि 'शम' में स्थायी भाव की योग्यता का अभाव होता तो शान्त को रस की कोटि में रखा जाना संभव हीं नहीं था परन्तु 'शम' के उद्‌बुद्ध होने पर वह अडिग रहता है किसी भी विरोधी या अविरोधी भाव से दबता नहीं है और सभी भावों को अपने में आत्मसात् कर लेता है, अतः शम में स्वतंत्र रूप से स्थायी भाव की योग्यता विद्यमान है। साहित्य के अनुशीलन से यह बात पूर्णरूपेण स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है।

इसके विपरीत जहाँ कहीं 'शम' के रत्यादि विरोधी भाव से दबने व संचारी का रूप लेने के प्रसंग उपलब्ध होते हैं, वहाँ रस परिपाक न होकर रसाभास या भावाभास मात्र की ही उपलब्धि होती है। यथा– विश्वामित्र का 'मेनका' द्वारा विमोहित होना, विश्वमोहिनी को देखकर नारद का मोहित होना, शंकर का मोहिनी को देखकर कामार्त होना, योगी कुमार गिरि का चित्रलेखा के रूप को देखकर मोहित होना आदि। इन परिस्थितियों में रस अपने अलौकिक धरातल से च्युत होकर विशुद्ध लौकिक धरातल पर उतर आता है। अतः इन प्रसंगों कोश्रृंगार रस की कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि यहाँ वासना (काम) का स्पष्ट प्रमाण लक्षित है। इसलिए ऐसे स्थलों पर 'शम' या निर्वेद केवल संचारी के रूप में ही ग्राह्य है, स्थायी भाव के रूप में नहीं। परन्तु भारतीय काव्य में ऐसे अनेक स्थल भी है जहाँ 'शम' स्थायी का रूप ग्रहण करता है और रस परिपाक करने में सफल हुआ है, उदाहरणार्थ अर्जुन का उर्वशी के हाव-भाव एवं सौंदर्य से विचलित न होना, भगवान बुद्ध भर्तृहरि, गोपीचन्द सूर एवं तुलसी का गृह परित्याग कर सन्यास धारणा करना, भीष्म, परशुराम, गोरखनाथ, पूरनमल एवं सुदन्ना

का रमणी रूप से प्रभावित न होकर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना आदि कितनी ही कथायें हैं जो 'शम' को स्थायी रूप में पोषित करके 'शान्त' रस का परिपाक करती हैं। राम एवं लक्ष्मण ने शूर्पनखा के सौन्दर्य की तनिक भी परवाह नहीं की थी। इन स्थलों पर 'काम' आदि विरोधी भावों का तनिक भी प्रभाव 'शम' पर लक्षित नहीं होता। अत: शम में स्थायीभाव की पूर्ण योग्यता है। काव्यादि में ऐसे माया विरोधी एवं भक्ति मूलक प्रसंगों में शान्त रस का आनन्दसिन्धु उमड़ता दिखाई देता है। उदाहरणार्थ :–

"देखी मैंने आज जरा।
हो जावैगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा।"

तथा

"आज्ञा लूं या हूँ मैं अकाम
ओ क्षणभंगुर भव राम राम।
रख अब अपना यह स्वप्न जाल।
निष्फल मेरे ऊपर न डाल।
मैं जागरूक हूँ ले सम्हाल
निज राजपाट धन-धरणि-धाम।
ओ क्षणभंगुर भव राम राम।" (यशोधरा) "गौतम का महाभिनिष्क्रमण"

इसी प्रकार तुलसी के महाभिनिष्क्रमण पर भी रत्नावली का केवल एक ही दोहा सम्पूर्ण जीवन एवं साहित्य का सार बन गया।

"जितनों हेत हराम ते उतनों हरि ते होय।
चल्यौ जाय बैकुण्ठ को पल्लो पकरै न कोय।"

और इसी ज्ञान-शर से विद्ध होकर तुलसी ने फिर मुड़कर भी न देखा, शान्त का ऐसा दिव्यालोक मिलना कठिन है, जहाँ 'शम' (काम) के वक्ष पर चढ़कर गरज उठा हो। पत्नी ने कामार्त्त पति के बिगड़ते हुए मानसिक संतुलन को ज्ञानोपदेश द्वारा स्थिर करके सही दिशा में मोड़ दिया। न वहाँ काम था, न क्रोध। न भय था, न मोह। विशुद्ध ज्ञानालोक ही था जिसमें तुलसी का आत्म-तत्व प्रकाशित होकर लोकानन्द बन गया।

'सदाचार' मानव-जीवन का सार है। विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील गुण एवं धर्म के बिना मनुष्य पशु के समान ही है।[27] इन गुणों का विकास सदाचार के द्वारा होता है जिसका आधार 'शम' (ज्ञान) है। कबीर, सूर एवं तुलसी की ज्ञान धाराओं का संगम इसीलिए लोकमानस का तीर्थराज बना हुआ है। कबीरदास के माया-विरोध; सूरदास के इष्टानुग्रह एवं तुलसीदास के मन-प्रतिरोध मूलक पदों में 'शम' सदाचार के द्वारा ही प्रस्फुटित हुआ है। यथा :–

"माया महाठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी।" (कबीर)

"अब हों नाच्यो बहुत गोपाल।
सूरदास की सवै अविद्या दूरि करहु नंदलाल॥" (सूर)
"मोहि मूढ़ मन बहुत बियोगो।
याके लिये सुनहु करुणानिधि में जग जनमि-जनमि दुख रोयौ।
(तुलसीदास)

आदि पदों में 'शम' स्थायी भाव के रूप में ही परिलक्षित है क्योंकि उपर्युक्त सभी पद माया से पीड़ित मानव-समुदाय के मन में माया के त्यागन, ज्ञान के गहन और दुराचरण की उपेच्छनीयता का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करते हैं जिससे मन में शान्ति व आत्मविश्वास जाग्रत होता है।

4. शान्त रस की अनिर्वचनीयता का प्रसंग भी आरोप जन्य है। जब हिन्दी काव्य-साहित्य का भक्ति युग समग्ररूप से एवं आधुनिक युग अंशतः शान्त रस मूलक काव्य का प्रणयन कर चुका है तो शान्त रस की अनिर्वचनीयता का प्रसंग ही समाप्त हो जाता है। 'हाथ कंगन को आरसी क्या' भक्ति-मूलक कविता का कोई भी अंश उठा कर आप देख लें। **ईश्वर, जीव, जगत्, माया, इन्द्रियों के विकार, मन, बुद्धि, मोक्ष, ज्ञान, अज्ञान, नवधा भक्ति, सदाचार, इष्ट-रूप वर्णन, वैष्णव, शैव एवं शाक्त भक्ति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष को लेकर विस्तृत, गंभीर एवं सारगर्भित काव्य की रचना से हिन्दी साहित्य में शान्त का ही एक छत्र साम्राज्य परिलक्षित होता है।** 'रामचरितमानस' के सम्बन्ध में महात्मा तुलसीदास की यह उक्ति शान्त रस की वचनीयता का ज्वलन्त उदाहरण है–

"चारिहु वेद पुराण अष्ट दस। छहों शास्त्र सब ग्रंथन को रस।
सुर नर-मुनि-संतन को सरबस। सार अंश सम्मति सबही की॥"
(मानस)

"कलिमल हरन विषय रस फीकी।
सुभग सिंगार मुक्ति जुबती की। हरन रोग अब मूरि अभी की॥

'प्रत्यक्षं किं प्रमाणाम्' सहृदय पाठक शान्त मूलक हिन्दी-साहित्य के अनुशीलन से इस बात को भली भाँति समझ सकते हैं कि शान्त रस अनिर्वचनीय नहीं है।

समय विकासशील होता है। अनेक अविवक्षित एवं उपेक्षित तत्व भी कालान्तर में विवक्षित एवं ग्राह्य बन जाते हैं। हमको यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि जिस समय विद्वान आचार्यों द्वारा शान्त रस के अनिर्वचनीय होने की बात कही होगी उस समय उनके समक्ष ऐसी परिस्थिति अवश्य ही रही होगी जिसमें 'शान्त रस' मात्र योग-क्रिया-निबद्ध होगा और एक योगी के ध्यान-धारणा एवं समाधि आदि से युक्त अन्तर्मुखी अनुभावों का चित्रण करना नाटकादि में उनका प्रदर्शन करना सम्भव न होगा परन्तु कालान्तर में निर्गुण अथवा सुगण भक्ति के प्रादुर्भाव से तथा जीवन में सदाचार निरूपण आदि से साहित्य में ईश्वर, जीव, जगत्, माया आदि का जो लाक्षणिक

अथवा अभिधामूलक विवेचन उपलब्धा हुआ उससे 'शान्त रस' के अनिर्वचनीय होने का संदेह स्वयं दूर हो जाता है। जब कवि उद्घोषणा करता है कि–

(1) "जो न जुगति प्रिय मिलन की धूरि मुकुति मुखदीन। (बिहारी)

(2) "राम मोहि तारि कहाँ ले जैहो।
यह वैकुण्ठ कहो पुनि कैसो करि पसाउ मोहि देहौ।" (कबीर)

(3) "वृन्दावन की गैल में मुक्ति पड़ी बिलखाय।
व्रज रज उड़ि मस्तक लगै सहज मुक्ति है जाय॥" (स्फुट)

आदि पंक्तियों में शान्त रस है और उसका निर्वचन पूर्णरूपेण हुआ है। ये पंक्तियाँ लौकिक सामाजिक को पूर्ण आनन्द प्रदान करती हैं। न इनमें योग की शुष्कता है, न योगाभ्यास एवं वैराग्य की अन्तर्मुखी अवधान मूलकता। जहाँ मोक्ष को भी चुनौती दी गई हो वहाँ ज्ञान की पराकाष्ठा ही उद्भुत होती है जिसमें सगुण भक्ति-भावना का शाश्वत आनन्दमूलक आलोक देदीप्यमान है।

5. जिन आचार्यों ने शान्त के अनुभावों को अन्तर्मुखी व अभिनय के अयोग्य बताया है उनका ध्यान भी मात्र योग मूलक ध्यानादि पर अवलम्बित रहा है। भक्तिमूलक क्रियाओं का अवलोकन उन्हें इष्ट नहीं था या उनके समय तक भक्ति मूलक काव्य का इतना विस्तार के साथ प्रणयन नहीं हुआ था। हिन्दी के शान्त-रस-मूलक काव्य में नवधा भक्ति तथा भक्ति का रागात्मक पक्ष एकदम विवक्षित है। साथ ही योगमूलक आन्तरिक क्रियाओं का भी प्रदर्शन प्रतीकों के द्वारा कर दिया गया है। यथा –

"झीनी झीनी बीनी चदरिया।
आठ कमल दस चरखा डोले, पाँच तत्व गुन तीनी चदरिया।"(कबीर)

"केशव कहि न जाइ का कहिये।
देखत तब विचित्र रचना अति समुझि मनहिमन रहिये।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिँ तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरे भीति दुःख पैयै यहि तन हेरे।
रविकर निकर बसै अतिदारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं।
कोऊ कह सत्य, झूठ कह कोऊ कोऊ उभय करि मानैं।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुहि पहिचानैं।" (विनय पत्रिका)

जायसी ने हठयोग की क्रियाओं का प्रदर्शन प्रतीकों के द्वारा इस रूप में किया है–

"गढ़ तस बॉक जैस तोरी काया। पुरुष देख ओही कर छाया॥
पावहिं नाहिँ ताहि हठि कीन्है। जेहि पावा तेहि आपुहि चीन्है॥
नव पौरी तेहि गढ़ मझियारा। और तहँ फिरहिं पाँच कुतवारा॥
पैठहि जोइ सांस मन बंधी। ज्यों धसि लीन्ह कान्ह कालिंदी॥
दसवँ दुवार ताल कर लेखा। उलटि दृष्टि लाइ सोइ देखा॥

जस मरजिया समुद्र धसि हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेइ जो सरग दुआरी चढ़ै सो संकल दीप।। (पद्मावत)

इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'शान्तरस' के अनुभावों का जहाँ प्रदर्शन होना संभव है वहाँ प्रदर्शन किया गया है और जहाँ प्रदर्शन नहीं हो सकता वहाँ प्रतीकों के द्वारा उसका कथन या चित्रण किया गया है। **शान्त रस की धारा काव्य के अन्तर्गत कालान्तर में ज्ञान की एक क्षीण रेखा से बढ़कर, ज्ञान-भक्ति, योग-साधना, उपासना, ईश्वर, जीव-जगत्, माया, मन, बुद्धि, सदाचार, नैतिकता, शिक्षा, उपदेश आदि के विस्तृत प्रांगण में होकर प्रवाहित होते-होते एक महासागर का रूप धारण कर चुकी है और अब शान्त रस के क्षेत्र में अनुभावों की नाट्यादि में प्रदर्शन करने की कठिनाई नहीं रह गई है। रामलीला, कृष्णलीला तथा बुद्धलीला आदि का आये दिन सफल भक्तिमूलक प्रदर्शन मंच पर किया जाता है और भक्ति सम्बन्धी सभी कार्यों, भावों व विचारों का प्रदर्शन भी सरलता से संभव है।**

6. विद्वान् आचार्यों द्वारा शान्त के रसत्व प्रतिपादन में जो यह शंका व्यक्त की है कि शान्तरस का आलम्बन 'ब्रह्म' होता है जो निर्गुण, निर्विकार एवं निराकार माना गया है। साथ ही ईश्वर, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि का विवेचन दर्शन-शास्त्र काही विषय है– काव्य का नहीं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'शान्त रस' का काव्य अब इतना अधिक व्यापक एवं विकसित हो चुका है कि उसमें उक्त भ्रान्तियाँ निर्मूल दिखाई देती हैं। हम ऊपर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि जहाँ अनिर्वचनीयता का संभार एकत्र हो जाता है वहाँ कवि प्रतीकों का सहारा लेकर ब्रह्म, माया, जीव, जगत आदि का चित्रण व प्रदर्शन कर लेता है। कबीर व जायसी ने ब्रह्म आदि का चित्रण प्रतीको के आधार पर ही किया है–

"राम मेरे पीयहौं राम की बहुरिया।"
"दुलहिनी गावहु मंगलाचार।
तन रति करि हौं मन रति करि हौं पंच तत्त बराती।
राम देव मोरे पाहुने आये हौं जोबन मैं माती।" (कबीर)
"रवि ससि नखत दिपत ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।
नयन जो देखा कमल भा निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नगहीर।।" (जायसी)
"महानील इस परम व्योम में अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते हैं संधान।
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिचे हुए।
तृण वीरुंध लहलहे हो रहे किसके रस में सिंचे हुए।
शीश झुका कर किसी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ।
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ।" (प्रसाद)

इन ज्ञान-मूलक तत्वों व रूपों का समासोक्ति का सहारा लेकर लौकिक एवं प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा सफलता से चित्रण किया है। इससे यह गुत्थी सहज ही सुलझ जाती है कि शान्त रस न तो प्रकृति के प्रतिकूल है और न आलम्बनत्व धर्म से ही रहित है।

शान्तस्तुप्रकृतिर्मत:

शान्त रस को जहाँ आचार्यों ने एक ओर रस कोटि में न रखने की धारणा व्यक्त की है वहाँ इस ओर शान्त को ही एक मूल रस के रूप में मान्यता प्रदान की है। इस सम्बन्ध में अभिनव गुप्त ने शान्त को ही एक मूल रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है। नाट्य शास्त्र में भी एक स्थान पर इस सम्बन्ध में लिखा है–

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥ **(नाट्य शास्त्र 6)**

अर्थात् रति आदि भाव विकार हैं और शान्त (शम) प्रकृति अर्थात् मूल है। विकार प्रकृति या स्वभाव से उत्पन्न होकर फिर उसी में लीन हो जाते हैं। अपने-अपने अनुकूल (विभावादि) निमित्तों के प्राप्त होने पर शान्त से ही (रत्यादि) भाव उत्पन्न होते हैं और निमित्त का अभाव हो जाने पर फिर शान्त में ही लीन हो जाते हैं।

शान्त के रसत्व प्रतिपादन एवं उसके एकमात्र मूल रस के रूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी शान्त के 'रसत्व' का आचार्यों द्वारा पर्याप्त विरोध किया गया है।

शान्त के रसत्व प्रतिपादन में जो भ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न हुई-उसका कारण तत्कालीन आचार्यों का अभिनय सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं प्राचीन साहित्य में शान्त रस युक्त रचनाओं का अभाव ही था। प्राचीन काल में 'साहित्य' के स्थान पर 'शास्त्र' को अधिक महत्त्व दिया जाता था। इसलिए ब्रह्म-विद्या-विषयक साहित्य को शास्त्र कोटि में रखा गया और उसे साहित्य के मधुर परिवेश से वंचित कर दिया गया। प्राचीन काल में मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि दार्शनिक सम्प्रदायों का बोलबाला होने के कारण 'शान्त रस' को ब्रह्म निवेषिणी योग की शुष्क एवं अन्तर्मुखी प्रक्रिया से सम्बद्ध कर दिया गया। सर्वप्रथम उद्भट का ध्यान इस ओर गया और विश्वनाथ ने बड़े पुष्ट शब्दों में 'शान्त' को स्वतंत्र 'रस' की संज्ञा दी। यद्यपि नाटककार धनंजय आदि फिर भी शान्त का विरोध करते रहे। परन्तु शान्त रस की स्थापना के साथ ही सम्बद्ध भ्रान्तियों का निराकरण भी होता रहा और आधुनिक काल तक साहित्य को देखकर तो यह धारणा बनती जाती है कि–

'एको रसः शान्त एव' क्योंकि हिन्दी साहित्य में शान्तमूलक काव्य इतना समृद्ध एवं सारगर्भित है कि बिना इस साहित्य के हिन्दी की काव्यात्मक गरिमा ही निश्चेष्ट हो जायेगी। हिन्दी कविता में मुख्य रूप से वीर, श्रृंगार, शांत एवं करुण रसों का ही

प्राधान्य है। वीरगाथा कालीन काव्य वीरश्रृंगार मूलक, भक्तिकालीन काव्य नितांत शांत मूलक, रीतिकालीन काव्यश्रृंगार-शान्त मूलक तथा आधुनिक काव्य वीर, शान्त,श्रृंगार मूलक है। यही नहीं भक्ति काल को हिन्दी कविता का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। क्योंकि भक्तिकाल के काव्य की सामाजिक एवं साहित्यिक गरिमा इतनी अधिक है कि–

"कोटि स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुलायक अंग।
तुलहि न सकल ताहि मिलि जो होइ लव सतसंग।। (तुलसी)

अत: **भक्तिकालीन काव्य जिसमें शान्त रस की प्रधानता है–हिन्दी का प्रथम कोटि का काव्य माना जाता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी का नीति-काव्य जो शान्त-रस मूलक काव्य है, श्रोतादि की उदात्त भावनाओं को उद्दीप्त करने का कार्य करता है। सामाजिक को मर्यादा, नीति, उपदेश एवं आत्मचिन्तन की ओर अभिप्रेरित करता है जिसमें एक पंथ दो काज' की सिद्धि होती है–काव्यानंद एवं नैतिकता व सदाचार की शिक्षा। यही कारण है कि तुलसीदास का 'रामचरित मानस' विश्व का सर्वाधिक ग्राह्य ग्रंथ है।**

प्राचीन कालीन योगादि की प्रथा के साथ ही भक्ति-मत का प्रादुर्भाव हुआ। निर्गुण एवं सगुण भक्ति पर आधारित अनेक सम्प्रदाय उद्‌भूत हुए और इसी आधार पर शान्त-रस मूलक काव्य का उच्च स्तरीय प्रणयन प्रारम्भ हुआ। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे भक्ति रस की संज्ञा देकर शान्त रस से पृथक् करना चाहा था लेकिन भक्ति का अन्तर्भाव शान्त में बड़ी सरलता से हो जाता है। नीति-साहित्य में भी शान्त रस होता है।

शान्त रस ज्ञान-भक्ति मूलक है। शान्त रस परक काव्य को पढ़ने-सुनने आदि से आत्म-तेज का विकास होता है। ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, असत्य, हिंसा, पाप, पाखण्ड आदि के स्थान पर सत्य, अहिंसा, त्याग, बलिदान, क्षमा दया, परोपकार आदि उदात्त भावों का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार मनुष्य के हृदय में सद्‌गुणों का विकास होता है और असद्‌गुणों का ह्रास होता है। इसीलिये मनुष्य शान्त रस मूलक पदों व चौपाइयों को भजन-कीर्तन आदि के समय गाते देखे गये हैं। विद्यापति, मीरा, कबीर, सूर, तुलसी आदि भक्त-कवियों की कविताओं का ही जन समूह में अधिर समादर हुआ है।

शान्त रस की यह स्थिति काव्य के उदात्तीकरण के भाव से उद्‌भूत होती है जिसमें रजस् व तमस् का ह्रास होकर सत्त्वगुण का उद्रेक हो जाता है। यह तो काव्य का एक मात्र गुण है। सभी रसों में यह शक्ति साधारणीकरण के द्वारा विद्यमान है। सामाजिक का हृदय काव्यानुशीलन के समय मेरे-तेरे-अपने-पराये के व ईर्ष्या-द्वेषादि के भाव से रहित होकर-शुद्ध सात्त्विक भावों से भर जाता है। परन्तु यह प्रभाव स्थायी नहीं रहता। जब तक काव्यानुशीलन होता रहता है तभी तक यह स्थिति रहती है। काव्य का प्रभाव समाप्त होते ही मनुष्य का मन भी रजस्-तमस् से युक्त हो जाता है। दूसरे

शब्दों में सामाजिक काव्यानुशीलन से आनन्द का अनुभव मात्र करता है जो आनन्द स्थायी नहीं होता-क्षणिक होता है **परन्तु शान्त-रस पूर्ण काव्य के अनुशीलन से दोहरा लाभ होता है। 1. काव्यानन्द की प्राप्ति। 2. धार्मिक या नैतिक आदर्शों की स्थापना।** अर्थात् सामाजिक की काव्यानन्द की स्थिति जिसमें ईर्ष्या, द्वेष आदि तिरोहित हो जाते हैं और विशुद्ध मानवीय भाव अन्तर में समाहित हो जाते हैं। वह व्यक्ति धर्मात्मा या महान् बन जाता है, इसीलिये तो सामाजिक भक्त जन 'रामचरितमानस' का पारायण करते रहते हैं। सूरदास व मीरा के पदों का गायन करके भजन-कीर्त्तन करते हैं। 'रास-लीला' एवं 'राम-लीला' का आयोजन करते रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शान्त-रस-परक काव्य के अनुशीलन से मनुष्य की वह स्थिति सदैव बनी रहती है जो अन्य रस-मूलक काव्यों के अनुशीलन से केवल रसानुभूति के समय ही रहती है। अतः शान्त को ही एकमात्र रस मानना अनुचित न होगा। **शान्त रस का प्रभाव सभी रसों में समान रूप से व्याप्त रहता है क्योंकि बिना निर्वेद की स्थिति को पहुँचे अर्थात् बिना रजस्-तमस् का ह्रास हुए और सत्वगुण का उद्रेक हुए कोई भी सामाजिक रस-दशा को प्राप्त नहीं हो सकता। यही शान्त के सर्वव्यापकत्व का रहस्य है और शान्त का सर्वश्रेष्ठ रस के रूप में प्रतिपादित किए जाने का प्रमाण।**

भारतीय मनीषा की यह विशेषता रही है कि यहाँ वीर को तभी श्रेष्ठ माना है जब वह 'शान्त' नियंत्रित रहा है। इसीलिए श्री राम के हाथ में धनुष-बाण, हृदय में दया एवं मन मैं आनन्द प्रदर्शित किया गया है। वे शक्ति, शील एवं सौन्दर्य के महान् गुणों से अभिषिक्त थे। श्री कृष्ण के एक हाथ में सुदर्शन चक्र और दूसरे में ज्ञान सन्निहित है। कमर में वंशी जो विश्व मोहिनी है। 'दया बिनु सन्त भी कसाई' माना जाता है। भारतीय चिन्तन धारा में बिना 'दया' के वीर रस-क्रूरता जन्य रसाभास का ही द्योतक होता है। रावण कितना अधिक विद्वान् था। चारों वेदों का ज्ञाता। जन्म से ब्राह्मण परम ऐश्वर्यशाली परन्तु फिर भी उसे राक्षस की कोटि में रखा गया है। ब्राह्मण होते हुए भी राम क्षत्रिय से उसका वध कराया है। इस ब्रह्म-वध को सभी ऋषियों-मुनियों तथा देवों ने उचित ठहराया है। यही कारण है कि **हिन्दी-काव्य-साहित्य में वीर रस भी शान्त नियंत्रित है। अतः 'शान्त' ही सर्व प्रमुख रस है!**

हिन्दी के **भक्तिकालीन** साहित्य में 'शान्त रस' का ही एक छत्र साम्राज्य रहा है।श्रृंगार भी वीर की भाँति-शान्त नियंत्रित होकर ही इस युग में उद्‌भूत हुआ है। कबीर, मीरा, जायसी, सूर और तुलसी आदि का काव्य शांत का ही पोषक बन कर आया है। वासना के कलुषित कलेवर को छिपाये रखने के लिए भक्त कवियों ने वियोगश्रृंगार पर अधिक बल लगाया है। संयोग पक्ष में भी नायक-नायिकाओं का या तो ब्रह्म और उसकी शक्ति के रूप में चित्रित किया है या समासोक्ति का सहारा लिया है और जब मामला समासोक्ति से भी सम्हलता नहीं दिखाई दिया तो अन्योक्ति और रूपकातिशयोक्ति

की शरण में जाकर श्रृंगार के वासनात्मक रूप से छुटकारा पाया है।

आगे चलकर रीति काल में दरबारी या अदरबारी कवियों ने श्रृंगार को मुख्य बनाने का प्रयास किया है। वीर का तो इस युग में सर्वथा ह्रास सा ही परिलक्षित होता है। जबश्रृंगार के घिनोने चित्रों को देखकर उन्हें स्वयं ही घृणा होने लगी थी तो उन्होंने 'नीति' का सहारा लिया और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व को वासना की दुर्गन्ध पूर्ण पंक से बचाने के लिए उन्होंने भी शान्त की ही शरण ली है।

आधुनिक काल में रीतिकालीन श्रृंगार नियंत्रित काव्य की प्रतिक्रिया हुई और काव्य को पुनः शान्त नियंत्रित वीर से अभिभूषित किया गया। अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा मैथिलीशरण गुप्त जैसे समर्थ महाकवियों ने अपने काव्य में इसी परिपाटी का निर्वहन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रत्नाकर तथा छायावादी कवियों ने शान्त-नियंत्रित श्रृंगार का निर्वहन किया है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार महात्मा तुलसीदास के शान्त-नियंत्रित वीर का सर्वाधिक ग्रहण लोक मानस में हुआ उसी प्रकार का ग्रहण हरिऔध और गुप्तजी के काव्य का भी हुआ है। शान्त-नियंत्रित छायावादी कवियों काश्रृंगार चाहे कलात्मक दृष्टि से ग्राह्य हो-विषयात्मक दृष्टि से उतना सामदृत नहीं हुआ जितना कि होना चाहिए था।

इसी आधार पर हम कह सकते है कि **शान्तरस जीवन, जगत् एवं काव्य का सार है।** हिन्दी में श्रृंगार-मूलक काव्य केवल रीतिकालीन काव्य है जो कला की दृष्टि से तो अवश्य ही उत्तम है परन्तु उपयोगिता की दृष्टिसे वह भक्तिकालीन शान्तपरक काव्य की समानता नहीं कर सकता। भक्तिकालीन काव्य में उपयोगिता व कला का मणि-कांचन योग है। यही कारण है कि भक्तिकालीन काव्य ही हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य है और तद्मूलक रस शान्त ही सर्वश्रेष्ठ रस है। इसी लिए 'शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः' का कथन सत्य एवं उचित माना जा सकता है। धर्म और मोक्ष जैसे महान प्रयोजनों की सिद्धि का आधार शान्त रस ही है।

भक्ति रस और उसकी रसनीयता

कतिपय विद्वान् 'शान्त रस' तथा 'भक्ति रस' को पृथक्-पृथक् मानते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे बिना ईश्वर-प्रेम के ज्ञान को और बिना ईश्वर-जीव तथा जगत् के ज्ञान के भक्ति को रस मानते है; परन्तु बिना ज्ञान के भक्ति अनाचार बन जाती है और बिना प्रेम के ज्ञान कोरा ढोंग माना जाता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर ज्ञान तथा भक्ति दोनों को ही 'ब्रह्म-तत्व' को प्राप्त करने का साधन माना जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के 12 वें अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन श्री कृष्ण से यही प्रश्न करते हैं–

'एवं' सततयुक्ता ये भक्तास्तवां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योग वित्तमाः॥ **(गीता 12-1)**

अर्थात् ब्रह्म साधना के 'भक्ति' तथा 'ज्ञान' ये दो मार्ग बताये गये हैं। इनमें कौन उत्तम है? श्री कृष्ण अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं–

मय्योवेश्यमनोयेमां नित्य युक्ता उपासते।
श्रद्धयापरयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता:।। (गीता 12-2)

मुझमें मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानादि में लगे भक्तजन जो अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझ सगुण परमेश्वर को भजते हैं वे मुझको योगियों में अति उत्तम योगी मान्य हैं। तथा-

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यमपर्युपासते।
ते प्राप्तुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता।। (गीता 12-3-4)

जो पुरुष अविनाशी 'सुच्चिदानन्द' स्वरूप निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं वे सम्पूर्ण प्राणियों के हित में लगे हुए ज्ञानी जन मुझको ही प्राप्त होते हैं।

आगे श्री कृष्ण साधना (ज्ञानमार्ग) तथा आराधना (भक्तिमार्ग) की दुरूहता तथा सुगमता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ज्ञान का मार्ग अधिक कठिन है और भक्ति का मार्ग सुगम। इसीलिए मेरे उपासक अधिकांशत: भक्ति मार्ग का ही अवलम्बन लेते हैं।[28]

उपर्युक्त का आशय यह है कि ब्रह्म की आराधना के दो रूप हैं-

1. सगुण रूप में ब्रह्म की उपासना।
2. निर्गुण रूप में ब्रह्म की उपासना।

इन दोनों ही रूपों को क्रमश: 'योग' तथा 'भक्ति' या 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' कहा जाता है। इन दोनों का ही आधार ब्रह्म है और दोनों का ही लक्ष्य मोक्ष। केवल लक्ष्य तक पहुँचने भर के लिये दो मार्गों का उल्लेख अपनी-अपनी सुविधानुसार किया है। एक मार्ग है ज्ञान का और दूसरा मार्ग है भक्ति का। अत: यह कहना असंगत न होगा कि जब ज्ञान और भक्ति का आदि और अन्त तक साथ है तो इन्हें पृथक्-पृथक् रस कैसे माना जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि दो व्यक्ति दिल्ली से बम्बई जायें। उनमें से एक व्यक्ति रेल मार्ग से बम्बई जाने में सुविधा समझता है और दूसरा सड़क मार्ग से। दोनों ही दिल्ली से खाता होते हैं और दोनों ही बम्बई पहुँच जाते हैं। यहाँ केवल मार्गों का ही अन्तर है, यात्रा के मूल तथा लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं है। अत: यदि दिल्ली से बम्बई तक की यात्रा को बम्बई की यात्रा न कहकर 'रेल की यात्रा' तथा 'सड़क की यात्रा' नाम दे दिया जाये तो यह केवल मार्गों के निर्देशन का ही द्योतक माना जायेगा। यह यात्रा के समवेत रूप का द्योतक नहीं होगा। इसी प्रकार 'ज्ञान' को 'शान्त' रस कहा जाये और 'भक्ति' को 'भक्ति रस' तो यह उचित नहीं होगा। **अत: ज्ञान-भक्ति के समन्वित रूप को केवल एक ही 'रस' 'शान्त' नाम से पुकारा जाना और उसके स्थायी भाव के रूप में 'निर्वेद' को मान लेना ही न्याय-संगत है।**

भारतीय साहित्य मे 'भक्ति' के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से दो धारायें परिलक्षित होती हैं- (1) 'भक्ति' को स्वतंत्र 'रस' मानकर चलने वाली धारा (2) 'भक्ति' को भाव मानते हुए 'शांत' को 'रस' मानकर चलने वाली धारा।।

सर्वप्रथम भक्ति को स्वतंत्र 'रस' मानकर चलने वाले आचार्यों का उल्लेख किया जाता है।

भक्ति को स्वतंत्र एवं एक मात्र रस के रूप में स्थापित करने का श्रेय **रूपगोस्वामी** को है। इन्होंने अपने ग्रंथ **'उज्ज्वल नीलमणि'** में भक्ति रस की स्वतंत्र स्थापना की है। रूप गोस्वामी का मत है कि 'भक्ति' कोई सामान्य भाव नहीं है। वह एक उदात्त भाव है क्योंकि भक्त के तन्मयी भाव को ही भक्ति कहा जाता है। भक्तगण भक्तिमूलक आनन्दातिरेक के कारण मोक्ष तक की अवहेलना कर देते हैं।[29]

गोस्वामी जी ने 'भक्ति' को प्रधान 'रस' मानते हुए उसके पाँच मुख्य भेद किए हैं–

1. शान्त भक्ति रस–स्थायी भाव शान्ति।

2. प्रीति भक्ति रस–स्थायी भाव प्रीति।

3. प्रेयान् भक्ति रस–स्थायी भाव सख्य।

4. वत्सलभक्ति रस–स्थायी भाव वात्सल्य।

5. मधुर भक्ति रस–स्थायी भाव मधुरा रति। (रीति)

रूप गोस्वामी के अतिरिक्त **भानुदत्त** ने अपनी **'रस मञ्जरी'** में भक्ति को एक स्वतंत्र 'रस' के रूप मे मान्यता प्रदान की है। **मधुसूदन सरस्वती** ने तो 'भक्ति रस' की प्राणप्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि **'भगवद्रति'** परिपूर्ण रस है। यह शृंगारादि रसों की तुलना में वैसी ही शक्तिशालिनी है जैसे खद्योतों की तुलना में सूर्य, पूर्ण प्रकाशमान है।[30]

संस्कृत की यह परम्परा हिन्दी में भी प्रवेश कर गई और हिन्दी के अनेक आचार्यों ने भी भक्ति रस को एक स्वतंत्र 'रस' की संज्ञा दे डाली। इन आचार्यों में चार विशेष रूप से उल्लेखनीय है– 'हरिऔध', 'कन्हैया लाल पोद्दार', रामदहिन मिश्र तथा डा. नगेन्द्र।

'हरिऔध' तथा 'पौद्दार', का मत है कि 'भक्ति' में 'ब्रह्मानन्द सहोदरत्व' तथा 'वेद्यान्तर स्पर्शशून्यता' का गुण विद्यमान है। अत: 'भक्ति' को पृथक् 'रस' मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। **पं. रामदहिन मिश्र** का विचार है :- 'इसमें संदेह नहीं कि भारतीय साधु-संतों ने भक्ति का जो रूप खड़ा किया है वह सांगोपांग है। शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भक्ति रस परिपूर्ण तथा खरा उतरता है और रस श्रेणी में आने के उपयुक्त है। भक्तिरस के विरुद्ध जितने तर्क हैं नि:सार हैं। भक्तिरस की आस्वाद्य योग्यता निर्बाध है।[31]

डॉ. नगेन्द्र इस सम्बन्ध में कहते हैं-

'-----भक्ति का स्थायी चाहे भय-विस्मय-प्रेम-विश्वास मूलक समर्पण भाव हो या चिन्मय (उदात्तीकृत) रति, उसकी आस्वाद्यता और परिणामत: उसके रसत्व में सन्देह नहीं किया जा सकता। अन्य रसों में अन्तर्भाव भी इसलिए सिद्ध नहीं होता कि भक्ति का स्थायी न शुद्ध विस्मय है, न भय है, न शम है, और न काम-मूलक रति------।'[32]

अब उन आचार्यों को लीजिए जो 'भक्ति' को रस न मानकर एक भाव मात्र

मानते हैं और नव रसों में 'शान्त' को रस-रूप में स्वीकार करते हैं –

धनञ्जय ने **'प्रीति भक्त्यादयो भावा'** कहकर 'भक्ति' को एक सामान्य भाव माना है।[33] **अभिनवगुप्त** का मत है कि भक्ति की गणना एक 'रस' के रूप में नहीं की जानी चाहिए क्योंकि 'रस' केवल उसे ही माना जा सकता है जो पुरुषार्थोपयोगी हो या जो अत्यधिक रंजना का विषय हो। इस कारण से ईश्वर प्राणिधान के सम्बन्ध में भक्ति का श्रद्धा, स्मृति, मति, धति तथा उत्साह में अन्तर्भाव हो जाता है। अत: 'भक्ति' कोई पृथक 'रस' नहीं है। 'रस' केवल नौ ही हैं।[34]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यों का एक प्रबल वर्ग 'भक्ति' को पृथक् 'रस' मानने के पक्ष में है, विशेषकर हिन्दी आचार्यों का वर्ग। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि हिन्दी में प्रबल एवं पुष्ट 'भक्ति-साहित्य' उपलब्ध है। परन्तु हिन्दी के किसी भी भक्त कवि ने या रीतिकालीन आचार्य ने भक्ति को पृथक् रस नहीं कहा है। उन्होंने तो 'शान्त' को ही 'रस-रूप' में स्वीकार किया है।

महात्मा सूरदास ने 'गीता' का आधार लेते हुए केवल इतना ही कहा है:-

'सब विधि अगम विचारहि या ते सूर सगुन लीला पद गावै' (सूरसागर)

इसका आशय यह कदापि नहीं है कि महात्मा सूरदास 'ज्ञान-मार्ग' को अस्वीकृत करते हैं। बल्कि इसका स्पष्ट आशय यह है कि वे निर्गुण साधना की दुरूहता से बचने के लिए सगुणोपासना का समर्थन करते हैं। महात्मा तुलसीदास ने तो इस झंझट को इन शब्दों में समाप्त ही कर दिया है :-

'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।।'

(रामचरित मानस)

अत: जब निर्गुण और सगुण में कोई भेद ही नहीं है, तब तत्सम्बन्धी रसों में भेद कैसे हो सकता है? क्योंकि 'जो नाग नाथ है वही साँप नाथ भी है।' कबीर आदि ने तो ज्ञान को भक्ति का मूल ही माना है। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जब भक्त कवियों ने बृहत् तथा गरिमावान् भक्ति-साहित्य का प्रणयन करके भी भक्ति तथा शान्त को पृथक् रस नहीं माना है तो अन्य किसी को इन्हें पृथक्-पृथक् रस कहने का अधिकार नहीं है। अत: भक्ति कोई पृथक् रस नहीं है, वह एक भावना है जो ज्ञान तथा प्रेम समन्वित है। भक्ति का अवसान तथा अन्तर्भाव शान्त में ही होता है। निर्वेद मुक्त भक्ति में सदाचार के विलय की आशंका रहती है।

रस-राजत्व

हिन्दी आचार्यों द्वारा इस बात पर अत्यधिक बल दिया जाता है किश्रृंगार सभी रसों का राजा है। इस प्रकार की कोई सर्वसम्मत स्थापना यद्यपि संस्कृत साहित्य में उपलब्ध नहीं होती परन्तु रीतिकालीन आचार्यों में यह धारणा अधिक बलवती होती चली गई है। संस्कृत आचार्यों में 'अग्निपुराणकार' तथा 'भोज' ने हीश्रृंगार के सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला है। इन दोनों ही आचार्यों नेश्रृंगार को एक मात्र रस के रूप

में माना है। इनके अतिरिक्त भरत, रुद्रट आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथादि आदि नेश्रृंगार को सर्वोत्कृष्ट रस के रूप में मान्यता दी है परन्तु यह मान्यता सर्वथासर्वभावेन स्वीकृत नहीं हुई। सर्वप्रथम इन आचार्यों के मतों का पर्यालोचन करना आवश्यक है–

संस्कृत आचार्यों के मत

अग्निपुराणकार– अग्नि पुराण में रस के सम्बन्ध में कहा गया है– 'आनन्द' 'परब्रह्म' का ही रूप है। इस आनन्द की अनुभूति ही रस है। इस 'रस' का व्यक्त रूप ही 'अहंकार' है। इस 'अहंकार' से ही 'अभिमान' उद्‌भूत होता है और अभिमान से 'रति'। यह 'रति' व्यभिचारीभाव आदि के संयोग से श्रृंगार' नाम से पुकारी जाती है और अपने-अपने स्थायी भावों से परिपुष्ट हास्य आदि इसी 'रति' अथवाश्रृंगार के ही भेद हैं। इन्होंने भरत की भाँति रौद्र, वीर तथा अद्‌भुत और भयानक की इन्हीं से उत्पत्ति स्वीकार की है और सबका मूल 'रति' को ही माना है। इस प्रकार अग्निपुराण में भीश्रृंगार को ही एक मात्र 'रस' माना गया है।[35]

भोजराज – भोजराज का रस-सम्बन्धी विचार इस प्रकार है–

श्रृंगारवीरकरुणाद्‌भुतरौद्रहास्य बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनामन्ः।
आग्नासिषु दशरसान् सुधियोवयंतु श्रृंगार मेव रसनाद्रसमाम नामः॥

(श्रृं. प्र. (श.) पृ. 460)

अर्थात्श्रृंगार, वीर, करुण, अद्‌भुत, रौद्र, हास्य बीभत्स, वत्सल, भयानक और शान्त ये दस-रस विद्वानों द्वारा माने गये हैं परन्तु हम तो सभी रसों मेंश्रृंगार को ही रस मानते हैं।

भोज की इस स्थापना से स्पष्ट है किश्रृंगार ही एक मात्र रस है। इसे उन्होंने **'रसः श्रृंगार एव एकः'** के द्वारा भी घोषित किया है। भोजराज नेश्रृंगार को एक मात्र रस तो माना है परन्तु उसे अहंकार और अभिमान के पर्याय के रूप में ही स्वीकार किया है। (**रसोऽभिमानोऽहंकारः श्रृंगार इति गीयते**) वे मनोनुकूल दुःखादि भावों में भी आत्मगतसुखद अभिमान की प्रतीति को रस मानकर चले हैं। (**मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानः रसः**)। भोजराज अहंकार का दूसरा नाम हीश्रृंगार मानते हैं क्योंकि यही भाव प्रमाता कोश्रृंग अर्थात् सुख की चोटी पर पहुँचाता है। (**येन श्रृंग गम्यते स श्रृंगारः**)। इसी अभिमान को भोज ने श्रृंगार रस' माना है। (**स श्रृंगारः सोऽभिमानः स रसः**)।

भोज ने भरतादि के अनुसार 8 स्थायी भावों, 8 सात्त्विक अनुभावों, तथा 33 व्यभिचारियों को स्थायी भाव व्यभिचारियों को स्थायी भाव, सात्त्विक भाव तथा संचारियों के रूप में पृथक्-पृथक् नहीं माना है। बल्कि इन्होंने इन 49 भावों का एक समान मानते हुए यह मत व्यक्त किया है कि अहंकार पोषित होकर विभावादि के द्वारा प्रकृष्टावस्था को पहुँचकर ये सभी भाव आनन्दप्रद बन जाते हैं। इनके मत से सभी भाव आनन्दप्रद बन जाते हैं। इनके मत से सभी 49 भाव मनुष्य के अहंकार तत्व से

प्रकट होकर इसी अहंकार (श्रृंगार) ही को उस प्रकार प्रकाशित करते हैं जिस प्रकार अग्नि से उत्पन्न ज्वालाएँ स्वयं अग्नि को ही चारों और से प्रकाशित करती हैं।[36]

इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भोज को केवल एक ही रस 'श्रृंगार' जिसका स्थायीभाव अहंकार या अभिमान है स्वीकार है। इस सम्बन्ध में उनका विचार है कि यदि रत्यादि भावों से उत्पन्न आनन्द को भी रस माना जाय तो ये सभी भाव 49 हैं और इस प्रकार रसों की संख्या 49 तक माननी पड़ेगी परन्तु रत्यादि 49 भाव तो भावना पथ पर आरूढ़ रहने के कारण अर्थात् क्षणिक आनन्द या लौकिक आनन्द के पोषक होने के कारण मात्र भाव कोटि में ही आते हैं और अहंकार (श्रृंगार) भावना के पथ को पार करके या आनन्द के लौकिक परिवेश को पार करके आनन्द के अलौकिक परिवेश में पहुँच जाता है। अत: अहंकार जन्यश्रृंगार ही एक मात्र रस है। रत्यादि भाव-जन्य आनन्द 'रस' नहीं है।[37] भोजराज 'भाव' तथा 'रस' का भेद प्रदर्शित करते हुए कहते हैं–

"यच्चोक्तम्, 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगात् स्थायिनो रसत्वम् इति तदपि मन्दम् हर्षादिष्वपि विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगस्य विद्यमानत्वात्। तस्माद् रत्यादय: सर्व एवैते भावा:। श्रृंगार एव एको रस इति। तैश्च सविभावानुभावै: प्रकाशमान: श्रृंगार: विशेषत: स्वदते।"[38]

अर्थात् यह कहा गया है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु विभावादि के संयोग के होते हुए भी इन रत्यादि स्थायी भावों मे आनन्द की मात्रा मन्द होती है। अत: ये आनन्द की पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच पाते। दूसरे शब्दों में ये स्थायी भाव लौकिक के आनन्द तक ही सीमित रहते हैं। इसीलिए ये रत्यादि सभी भाव केवल भाव ही हैं। रस नहीं।श्रृंगार ही एक मात्र रस है क्योंकिश्रृंगार (अहंकार) ही इन विभावादि के द्वारा प्रकाशमान होकर विशिष्ट प्रकार के आस्वाद (आनन्द) तक पहुँचता है। अर्थात्श्रृंगार का आधार अहंकार ही विभावादि के द्वारा अलौकिक आनन्द तक पहुँचने में सफल होता है।

अग्निपुराणकार तथा भोजराज के अतिरिक्त अन्य संस्कृत आचार्यों ने भीश्रृंगार को सर्वोत्कृष्ट रस के रूप में स्वीकार किया है।

इन आचार्यों के मतों का भी संक्षेप में उल्लेख यहाँ करना आवश्यक है।

भरत ने कहा है कि संसार में जो कुछ भी पवित्र, ज्ञानमय तथा दर्शनीय है वह श्रृंगार के द्वारा ही जाना जा सकता है (**यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्य दर्शनीय वा तत्छृंगारेणानुमीयते**)।[39]

रुद्रट का कथन है कि :-

'अनुसरतिरसानां रस्यतामस्य नान्य:
सकल मिद मनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।' (काव्यालंकार-रुद्रट, 1438)

अर्थात् अन्य कोई भी रसश्रृंगार 'रस' जैसी म्ययता का द्योतक नहीं है क्योंकि

यह रस **आबालवृद्ध सभी में व्याप्त है।**

आनन्दवर्द्धन का मत है कि श्रृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनों रसः' अर्थात्श्रृंगार ही एक मात्र मधुर एवं परम आह्लादकारी 'रस' है।

विधाधर का मत है किश्रृंगार की मूलभावना काम (रति भाव) से मनुष्य ही नहीं सम्पूर्ण प्राणि वर्ग सहज रूप से ही अत्यन्त परिचित है। अतःश्रृंगार सभी को प्रभावित करने वाला रस है।[40]

विश्वनाथ नेश्रृंगार को इसलिए सर्वाधिक व्यापक रस माना है कि यही एक मात्र रस है जिसमें उग्रता, मरण, आलस्य तथा जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी भाव उद्भूत हो सकते हैं।[41]

शारदा तनय ने विश्वनाथ की उक्त धारणा को पूर्णता तक पहुँचाते हुए कहा है किश्रृंगार रस का सभी संचारियों से सम्बन्ध है।[42]

विवेचन

आचार्यों के उपर्युक्त मतों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(1) भोजराज तथा अग्निपुराणकार ने विशुद्ध आध्यात्मिक धरातल परश्रृंगार-रस-चिन्तन किया है और श्रृंगार को ही 'रस' माना है।

(2) भरत-विश्वनाथादि आचार्यों के मत जिसमें व्यापकत्व, प्रभावकत्व एवं उत्कृष्टत्व को आधार मानते हुएश्रृंगार को अन्य सभी रसों में श्रेष्ठ माना है।

सर्वप्रथम भोजराज के मत पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि उन्होंने ही श्रृंगार' को विस्तार के साथ विवेचित किया है। श्रृंगार', का अर्थ श्रृंग'-चोटी या पराकाष्ठा मानते हुए श्रृंगार रस' को आनन्द की पराकाष्ठा तक ले जाने वाला रस मानते हैं। इस आधार पर भोज की श्रृंगार' सम्बन्धी स्थापना अन्य आचार्यों की इस स्थापना से भिन्न है कि 'परस्पर अनुरक्त नायक-नायिकाओं के हृदयों में रम्य, देश, काल कला, वेश, भोग आदि के द्वारा आत्मा का प्रसन्न होना रति स्थायी भाव है। वही रति स्थायी भाव नायक या नायिका के अंगों को मधुर चेष्टाओं द्वारा एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट होकरश्रृंगार रस कहलाता है।[43] भोज के अतिरिक्त प्राय सभी आचार्यों अपनी परिभाषा मेंश्रृंगार का स्थायी भाव 'रति' माना है। आलम्बन तथा आश्रय नायम-नायिका। उद्दीपन विभाव-आलम्बन की क्रियाएँ व चेष्टाएँ तथा वातावरण-वेशभूषादि। अनुभाव-आश्रय (नायक तथा नायिकाओं) की पारस्परिक चेष्टाएँ तथा संचारी भाव समस्त 33 भाव। परन्तु भोज ने न तो 'रति' कोश्रृंगार का 'स्थायी भाव' माना है, न नायक-नायिका को आश्रय-आलम्बन। भोज ने 'अहंकार' को रस का मूल भाव माना है और 8 स्थायी, 8 सात्त्विक तथा 33 संचारियों को अहंकार को पुष्ट करने वाले भाव (संचारी भाव मात्र) माना है। भोज के अनुसार यह 'अहंकार' ही रस का मूल है जो 'प्रमाता' को आनन्द केश्रृंग पर ले जाकर बैठा देता है। अतः यह आनन्द केश्रृंग पर पहँचाने वाला रसश्रृंगार ही एक मात्र 'रस' है।

भोज की शृंगार रस-सम्बन्धी धारणा को समझने के लिए सर्वप्रथम 'अहंकार' या 'अभिमान' शब्द पर विचार करना पड़ेगा कि भोज ने इस शबद को किस भावना से ग्रहण किया है। लोक तथा शास्त्र में 'अहंकार' के दो रूप प्रचलित हैं। अभिधा द्वारा गृहीत-मन के पाँच विकार-काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार में से एक। यह अहंकार तो पाप का मूल है। तुलसी ने कहा है–

'दया धरम को मूल है पाप मूल अभिमान'
तुलसी दया न छॉड़िये जब लगि घट में प्रान।। (तुलसी दोहावली)

इसी प्रकार जायसी ने माया के इन पाँचों तत्त्वों का वर्णन करते हुए अहंकार को अज्ञान का मूल बताया है–

'नव पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तहँ फिरहि पाँच कुतवारा।।'

कबीर ने कहा है :–

एक डाइन मेरे मन बसै। नित उठि मेरे जिय को डसै।
या डाइन के लरिका पाँच। नित उठि मोहि नचावै नाच।। (क० ग्रं०)

लोकमत में भी अहंकार की बड़ी निंदा की गई है। जैसे– 'अहंकारी का सिर नीचा होता है', 'ऊपर का थूका ऊपर ही गिरता है', 'भगवान् गर्व-प्रहारी होते हैं', 'अहंकार तो रावण का भी नहीं रहा' इत्यादि। अहंकार को धर्म के विनाश और अधर्म की वृद्धि का भी कारण माना जाता है– हिरण्यकशिपु, रावण, कंस आदि अहंकारी दैत्यों को मारने के लिए उनके द्वारा बढ़ाये गये अधर्म के वातावरण को समाप्त करने के लिए भगवान् ने कई बार अवतार धारण किया था। इस प्रकार अहंकार एक ऐसी कुत्सित वृत्ति है जो समाज को आनन्द की चोटी पर पहुँचाने के स्थान पर उसे आनन्द की चोटी से गिराकर दुःखों के अथाह सागर में डाल देती है परन्तु भोज ने तोशृंगार को आनन्द की पराकाष्ठा तक ले जाने वाला 'रस' कहा है। इससे स्पष्ट है कि भोज ने अहंकार या अभिमान का अभिधेयार्थ ग्रहण नहीं किया है।

'अहंकार' या 'अभिमान' का दूसरा अर्थ लक्षणा द्वारा ग्रहण किया जाता है– 'आत्मगौरव' तथा स्वाभिमान। इस रूप में अहंकार अत्यन्त पुष्कल अर्थ का धारक है। इसी अर्थ को लेकर योगी 'अहंब्रह्मास्मि' तथा 'सोऽहं' का नारा लगाता है। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता के दशम अध्याय में अपने को ही सभी विभूतियों से सम्बद्ध बताया है।[44]

कबीर ने भी इसी भाव से कहा था–

'हम न गरिहैं मरिहै संसारा' यहाँ 'हम' शब्द अहंकार का ही द्योतक है।

इतिहास बताता है कि यही स्वाभिमान कौरवों तथा नन्दवंश के विनाश का कारण बना। इसी स्वाभिमान से प्रेरित होकर महाराणा प्रताप ने घास चबाई थी। शिवाजी पर्वतों में मारा-मारा घूमता रहा था। रानी लक्ष्मीबाई ने अपना बलिदान किया। गुरु गोविन्द सिंह के बच्चे दीवार में जिन्दा चुन गये। हमारे इतिहास में इस प्रकार के आत्म-गौरव

और स्वाभिमान की गाथाएँ भरी पड़ी हैं। यही स्वाभिमान धर्म का मूल है। यही आत्म-गौरव स्वतंत्रता तथा देश के सम्मान की रक्षा करता है। इसी स्वाभिमान का वर्णन कविता का मूलाधार है। अनेक कवियों ने अपनी वाणी में इसी स्वाभिमान का साम-गान किया है। यथा–

निज गौरव का नित ज्ञान रहे
हम भी कुछ हैं यह ध्यान रहे।
सब जाये भले पर मान रहे।
मरणोत्तर गुंजित गान रहे। **(मैथिलीशरण गुप्त)**

इस प्रकार भोजराज नेश्रृंगार रस के मूल-भाव के रूप में जिस 'अहंकार' या 'अभिमान' का उल्लेख किया है वह 'आत्मगौरव' या 'स्वाभिमान' ही है जो 'आत्मा' का उदीयमान प्रकाश एवं तज्जनित आनन्द है क्योंकि यह स्वाभिमान बड़ी से बड़ी आपत्तियों में भी विचलित नहीं होता। यह किसी भी विरोधी या अविरोधी भाव से नहीं दबता और अग्नि में 'घी' का काम करके 'आत्म-बल' को निरन्तर बढ़ाता ही चला जाता है। मैथिलीशरण गुप्त ने इसी ओर इंगित करके कहा है–

'जितने कष्ट कंटकों में है जिनका जीवन सुमन खिला।
गौरव गंध उन्हें उतना ही यत्र तत्र सर्वत्र मिला।।'

अत: यह मानना अनुचित न होगा कि इसी 'आत्मगौरव' या 'स्वाभिमान' को भोज ने 'अहंकार' और 'अभिमान' कहा है जो 'आत्म-ज्ञान' का ही पर्यायवाची है। यह भाव इतना प्रबल है कि इस भाव के हृदय में व्याप्त हो जाने पर अन्य कोई भी भाव उसे दवा नहीं सकता। इस भाव को हृदय में धारण करके मनुष्य, देव-दानव, किन्नर तथा गन्धर्वों पर विजय प्राप्त कर सकता है। हँसते-हँसते गोली-फाँसी खा सकता है तथा अपने सर्वस्व का त्याग कर सकता है। गुप्त जी की निम्न पंक्तियों में ऐसे ही स्वाभिमानियों का चित्र उपस्थित किया है–

क्षुधार्त रन्तिदेव ने दिया करस्थ थाल भी।
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थिजाल भी।
उशीनर: क्षितीज ने स्वमाँस दान भी किया।
सहर्ष वीर कर्ण ने स्वदेह चर्म भी दिया।
यही पशु प्रवृत्ति है कि आप-आप ही चरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे। (मैथिलीशरण गुप्त)

अत: यह कहना अत्युक्ति न होगी कि 'आत्मगौरव' का भाव 'स्वाभिमान' का भाव ही सर्वोत्कृष्ट भाव है। इसीलिए इस भाव पर आधारित रस को ही भोज नेश्रृंगार कहा है, जो प्रेम, उत्साह, क्रोध, आश्चर्य आदि में समान रूप से व्याप्त है। भोज के इसी मत की पुष्टि अग्नि पुराणकार ने भी की है क्योंकि अग्नि पुराण में आत्मानुभूति या ब्रह्मानुभूति को ही रस माना है और इसका आधार भी अहंकार या 'रति' है। इन

दोनों के दृष्टिकोणों में केवल एक ही अन्तर है कि भोज रत्यादि भावों का अहंकार का पोषक मानकर चले हैं और अग्निपुराणकार नेश्रृंगार का मूलभाव 'रति' को ही माना है परन्तु ध्यान पूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्निपुराणकार का 'रति' भाव अहंकार का ही पर्याय है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जहाँ भोज ने आत्मगौरव या स्वाभिमान को सीधे ग्रहण किया है वहीं अग्निपुराणकार ने उसे कुछ घुमा्-फ़िरा दिया है परन्तु भोज तथा अग्निपुराणकार के मत को समीचीन मानते हुए इन के द्वारा प्रस्थापितश्रृंगार को एक मात्र रस न मानें तो सभी रसों में श्रेष्ठ तो मानना ही पड़ेगा। यह श्रेष्ठता भी एकता का ही द्योतक है क्योंकि 'रस' की निष्पन्नता मूलकता ही आत्मज्ञान या आत्मानुभूति ही द्योतक है। अतः इस प्रकार जब भावों की परिणिति 'आत्मज्ञान' में ही होती है तो आत्मज्ञान मूलक रस के रूप मेंश्रृंगार को ही एक मात्र रस मानना भी अनुचित नहीं है।

आत्मज्ञान के भी 'निराकार' और साकार पर आधारित दो रूप हैं– 1. ज्ञान 2. प्रेम। मूल रूप में तो ये दोनों ही भाव एक हैं परन्तु इनमें ऊपरी भेद आभासित होता है। 'ज्ञान' का सम्बन्ध 'आत्मा' से बताया जाता है और 'प्रेम' का हृदय से, परन्तु शुद्ध हृदय भी शुद्ध आत्मा का ही पर्याय है। ज्ञान और प्रेम के आधार पर काव्य क्षेत्र में भी रस की दो धारायें मुख्य रूप से प्रवाहित होती रही हैं। 1. ज्ञानाधारित शान्तमूलक काव्यधारा, 2. प्रेमाधारित भक्ति मूलक काव्य धारा। कबीर, तुलसी और सूर आदि का साहित्य इसका ज्वलंत उदाहरण है। इसी आधार पर कुछ आचार्य प्रेम पर आधारित श्रृंगार को और कुछ विद्वान् ज्ञान पर आधारित शान्त को ही सर्वश्रेष्ठ रस मानते हैं।[45]

भोज तथा अग्निपुराणकार के मतों की विवक्षा से भी यही स्पष्ट हो जाता है कि श्रृंगार' और 'शान्त' में कोई भेद नहीं है। केवल निराकार साधना और साकार साधना का भेद है। लक्ष्य दोनों का एक ही है–आत्मनन्द की प्राप्ति। श्री मद्भगवद्गीता के 12 वें अध्याय में 'ज्ञान' और 'भक्ति' को समान बताते हुए भी जिस प्रकार 'प्रेम-भक्ति' को सरल बताकर उसी को अपनाने का उपदेश श्री कृष्ण ने दिया है उसी प्रकार भोज राज ने भी अपने आत्म गौरव या स्वाभिमान की परिणिति अन्त में प्रेम में करते हुए श्रृंगार को भी 'प्रेयान्' रस की संज्ञा दे दी है।[46] महात्मा कबीर, सूर, तुलसी आदि ज्ञानी एवं भक्त कवियों ने भी इसी भाव की पुष्टि करते हुए भक्ति मार्ग का अवलम्ब ग्रहण करने की सलाह दी है। **अतः आत्म-प्रेम पर आधारित श्रृंगार को रसों में श्रेष्ठ मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। इसके विपरीत यदि कोई आत्म-ज्ञान पर आधारित शान्त को भी श्रेष्ठ रस मानता है तो इसमें भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि–**

ज्ञानहि भगतिहि नहीं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।।

(तुलसीदास)

उपर्युक्त विवक्षा के अतिरिक्त एक तथ्य पर विचार और करना होगा। वह यह

कि क्या बिना ज्ञान के प्रेम मूल्यवान् हो सकता है। महात्मा तुलसीदास ने इसीलिए भक्ति में ज्ञान को अनिवार्य माना है। वे ज्ञान-रहित भक्ति को ढोंग कहते हैं यथा–

बिना वसीले चाकरी बिना बुद्धि की देह।
बिना ज्ञान कौ जोगना फिरै लगाये खेह।।

उनकी दृष्टि में भक्ति बिना ज्ञान के अनाचार की जननी बन जाती है जैसा कि कृष्णभक्ति काव्य धारा रीतिकाल तक आते-आते ज्ञान का बंधन शिथिल हो जाने के कारण राधा और कृष्ण के प्रेम को घोर अनाचार के गर्त में खींचकर ले गई जिससे, सूर आदि की भक्ति भावना के आलम्बन तथा पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवातार धारण करने वाले मोक्ष-प्रदाता राधा और कृष्ण संभोगादि की घृणित क्रियाओं का प्रदर्शन करने तक ही सीमित रह गये। **अतः 'भक्ति और ज्ञान' का 'अन्वय व्यातिरेकी' संबंध है। जहाँ ज्ञान होगा वहीं भक्ति होगी और जहाँ ज्ञान नहीं होगा वहाँ भक्ति भी नहीं होगी। ज्ञान रहित लौकिक प्रेम की भावना मात्र वासना की ही पोषक रह जायगी। इस प्रकार भावों का 'साधारणीकरण' भी नहीं होगा और साधारणीकरण के अभाव में 'प्रेम' रसाभास का ही पोषक बन सकेगा, रस का नहीं** परन्तु 'ज्ञान' के पक्षमें यह स्थिति नहीं आती। जहाँ ज्ञान होगा वहाँ प्रेम अवश्य ही होगा क्योंकि–

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनिः
शुनि श्वपाके च पण्डितः सभ दर्शिनिः।

अर्थात् विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल में एक ही आत्मा का दर्शन करने वाला पुरुष ही ज्ञानी माना जाता है। इस प्रकार ज्ञान में विश्वात्मा का प्रेम सन्निहित रहता है। अतः 'ज्ञान' वह अग्नि है जिसके अन्तराल में प्रेम का धुँआ व्यक्तावस्था या अव्यक्तावस्था में अवश्य विद्यमान रहता है और प्रेम वह धुँआ है जिसका ज्ञानाग्नि के बिना अस्तित्व ही नहीं है। बिना ज्ञान के जिस प्रेम की विवक्षा की जाती है वह तो मात्र भ्रम है– **प्रेम न होकर मनोभाव पर आधारित 'काम' या 'वासना' है और वासना पर आधारित 'रस' शृंगार रस न होकर शृंगार का 'रसाभास' है।**

इस समस्त विवेचन के निचोड़ रूप में यह कहा जा सकता है कि 'सत्त्वगुण-प्रसूत-रस का मूल भाव तो 'ज्ञान' या 'निर्वेद' है। अन्य सभी भाव उस समय तक 'रस' नहीं कहला सकते जब तक कि उनसे रजोगुण तथा तमोगुण का ह्रास न होकर सत्त्वगुण की स्थिति नहीं आ जाती और इस स्थिति के आ जाने पर 'निज पर तटस्थ' के भाव का लोप हो जाने के कारण 'प्रमाता' शुद्ध ज्ञान की ही स्थिति में रह जाता है। वहाँ 'निर्वेद' के अतिरिक्त कुछ शेष ही नहीं रहता। अतः सभी रसों का मूल या सर्वश्रेष्ठ रस 'शान्त' ही है। इसी को हम आत्मगौरव, स्वाभिमान या आत्मप्रेम के पक्ष सेशृंगार भी कह सकते हैं औरशृंगार के नाम से भी इसे 'रस' मान सकते हैं जैसा कि भोज तथा अग्निपुराणकार का मत है।

भोजराज व अग्निपुराणकार के मतों की विवक्षा हो जाने के पश्चात् अन्य आचार्यों

के मतों के विवेचन की मूलतः तो कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती परन्तु फिर भी विषय को अधिक स्पष्टता देने के लिए इनके विचारों का भी विवेचन कर लेना अनुचित न होगा:-

भरत-विश्वनाथादि आचार्यों नेशृंगार को सर्वश्रेष्ठ मानने के तीन आधार बताये हैं-

1. शृंगार रस मानव मात्र की अत्यन्त पवित्र तथा ज्ञानमयी प्रवृत्ति का उद्बोधक है।
2. शृंगार रस की व्यापकता मानव ही नहीं संपूर्ण प्राणि-वर्ग तक विस्तृत है।
3. शृंगार रस में सभी संचारी भावों का आविर्भाव हो सकता है।

इन आचार्यों के उपर्युक्त विचारों में प्रथम को छोड़कर द्वितीय तथा तृतीय मत मात्र बाह्य तथा सामान्य विचार-वृत्ति के ही द्योतक हैं। इन विचारों की अर्थ-हीनता 'रस' को 'साधारणीकरण' की कसौटी पर कसने पर स्वयं ही स्पष्ट हो जाएगी क्योंकि शृंगार की व्यापकता तथा विशालता का महत्व वहीं समाप्त हो जाता है जहाँ वह सत्त्वगुणमूलकता को त्यागकर मात्र 'रसाभास' रह जाता है और यदि उसमें सत्त्वगुणमूलकता विद्यमान है तो वह आत्मज्ञान की कोटि में जाकरशृंगार के स्थान पर 'शान्त' का रूप धारण कर लेता है। इसका विस्तृत विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

हिन्दी- आचार्यों की धारणा

शृंगार रस को रस राज बनाने का जितना प्रयास रीति कालीन आचार्यों ने किया है उतना शायद संस्कृत आचार्यों का भी नहीं रहा है। यदि रीतिकालीन आचार्यों के **'लक्ष्य-साहित्य'** तथा **'लक्षण-साहित्य'** को देखा जाये तो उसमेंशृंगार रस के दर्शन कठिनाई से ही होंगे, क्योंकि रीति काल का सम्पूर्ण साहित्य 'रसाभास' मूलक साहित्य ही है जिसमें राधा और कृष्ण को नायक और नायिका बनाकर उनके अश्लीलता से भरे जो अनौचित्य पूर्ण चित्र इन रीति कालीन कवियों ने उपस्थित किये हैं उनमें भावों के 'साधारणीकरण' की योग्यता न होने के कारण वे 'रस' की कोटि तक पहुँचते ही नहीं। हाँ रीतिकाल का साहित्यशृंगाराभास का तो इतना उत्कृष्ट उदाहरण है कि शायद विश्व के किसी साहित्य में ऐसा भौंड़ा साहित्य न मिलेगा। अश्लीलता की दृष्टि से उर्दू या फारसी का साहित्य अग्रणी माना जाता है परन्तु इन भाषाओं के साहित्य में कवियों ने असंगति, व विरोधाभास आदि चमत्कारक अलंकारों से युक्त प्रतीकादि का सहारा लेकर जिस मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया है उसके चमत्कार में अश्लीलता बहती हुई देखी जाती है। परन्तु रीति बद्ध कवियों में यह भी योग्यता न निकली। घनानंद आदि रीति मुक्त कवियों में यह योग्यता अलबत्ता देखी जाती है। इसीलिए घनानंद का काव्य 'रसाभास' की कोटि में जाने से बच गया है। रीतिकालीन आचार्यों के रस-राज-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख संक्षेप में नीचे किया जाता है।

देव-'भूलि कहत नवरस सु कवि सकल मूल सिंगार।' (भवानी विलास)

सोमनाथ-'नवरस को पति सरस अति रस सिंगार पहिचानि।' (रस पीयूष निधि)

इन आचार्यों में केशवदास ने 'रसिक प्रिया' में श्रृंगार रस' का ही वर्णन सविस्तार किया है और अन्य रसों का अन्तर्भावश्रृंगार में करने का निष्फल प्रयास किया है। नव रसों में 'हास्य' रस एवं अदुभुत तोश्रृंगार के मित्र रसों में है। अन्य रस जैसे करुण, रौद्र, वीर, बीभत्स तथा शान्त येश्रृंगार के विरोधी रस हैं परन्तु केशवदास ने इन सभी रसों केश्रृंगार रस में अन्तर्भाव की खूब खींचतान दिखाई है इसका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है–

करुण रस–राधा का शोक

"नन्द मति मन्द महा जसुदा से कहौं कहा,
ऐसे पूत पाइ पसुपाल करियतु हैं।" (रसिक प्रिया 14-19)

यहाँ कृष्ण को पशु चराते देखकर राधा को शोक होता है।

यही 'करुण रस' है। यहाँ करुण के आलम्बन के रूप में प्रिय-विनाश के स्थान पर प्रिय के कष्टों को ग्रहण किया है।

श्री कृष्ण का शोक–

कौनें कीनी निपट कुचालि जाति ग्वारि ऐसी,
राधिका कुँवरि पर गोरस बिचाइये।। (रसिक प्रिया 14-20)

इन पंक्तियों में राधा को गो रस बेचते देखकर कृष्ण-शोक का वर्णन है। इस प्रकार शोक का अन्तर्भाव 'रति' में दिखाया है।

रौद्र रस– राधा का क्रोध–

'केसौदास' दास भये कोबिद कुँवर कान्ह,
राधिका कुँवरि कोप कौन पर कीनों है।। (रसिक प्रिया 14-22)

श्री कृष्ण का क्रोध –

जीत्यौ रति रन मथ्यौ मनमथ हू को मन,
'केसौदास' कौन कहु रोष उर आन्यौ है। (रसिक प्रिया 14-22)

इन पंक्तियों में राधा ने 'रति-रण' में कृष्ण को परास्त करने के लिए और कृष्ण ने राधा को परास्त करने के लिए रौद्र रूप धारण किया है। यहाँ क्रोध के आलम्बन रूप में शत्रु के स्थान पर 'प्रेमी-प्रेमिका' को रखा गया है।

वीर रस- राधा की वीरता –

प्रेम को कवच कसि साहस सहायक लै,
जीत्यौ रति-रन आजु मदन गुपाल सौं। (रसिक प्रिया 14-25)

इन पंक्तियों में राधा ने कृष्ण से रति-रण में विजय प्राप्त करके अपनी वीरता का परिचय दिया है। यहाँ भी उत्साह का आलम्बन शत्रु के स्थान पर प्रेमी-प्रेमिका हैं।

श्री कृष्णं की वीरता–

बेही काम काम बर व्रज की कुमारिकानि,
मारतु है नन्द के कुमार कब मारिहौ। (रसिक प्रिया 14-26)

इन पंक्तियों में नन्द कुमार द्वारा ब्रजवालाओं को कष्ट देने वाले 'काम' को पछाड़ने में अपनी वीरता का परिचय देने का आग्रह करके कृष्ण की वीरता का वर्णन किया है।

भयानक रस– राधा का भय–

दसहूँ दिसि 'केसव' दामिनि देखि लगी प्रिय कामिनी कंठ तटी।

(रसिक प्रिया 14-28)

श्री कृष्ण का भय –

ऐसे में हौं कैसे जाउँ दुरिहू धौ देखौ जादू
काम की कमान सी चढ़ाइ भौंह राखी हैं। (रसिक प्रिया 14-29)

यहाँ श्री कृष्ण राधा की क्रुद्ध मुद्रा को देखकर डर गये हैं, अत: भय का आलम्बन भयानक वस्तु न होकर प्रेमिका है।

बीभत्स रस

'बीभत्स' का शृंगार के अन्तर्भाव दिखाने के लिए केशव ने 'जुगुप्सा' के स्थान पर 'निन्दा' स्थायी भाव ग्रहण किया है और निन्दा का आलम्बन राधा तथा कृष्ण को बनाया गया है।

राधा की निन्दा–

प्रेतिनी पिसाचिनी निसाचरी की जाई है तू,
'केसौदास' की सौं कहि तेरी कौन जाति है। (रसिक प्रिया 14-31)

श्री कृष्ण की निन्दा –

'छेंड़ी में घुसौ कि घर ईंधन के घन स्याम,
पर-घरनीनि पहँ जात न घिनात जू। (रसिक प्रिया 14-22)

इन कथनों से स्पष्ट है कि केशवदास कोशृंगार को रस-राज सिद्ध करने की कैसी सनक सवार थी कि वे श्री कृष्ण और राधा की घृणित दशा बनाने में तनिक भी लज्जित नहीं हुए।

अद्‌भुत रस– आश्चर्य का आलम्बन राधा –

बेचति फिरति दधि, लेत तिन्है मोल लेत,
अद्‌भुत रस भरी बेटी ब्रषभानु की। (रसिक प्रिया 14-34)

यहाँ राधा को गलियों में घूम-घूम कर रसिकों के मन हरण करने वाली चित्रित किया है तभी राधा आश्चर्य का आलम्बन बन सकी।

आश्चर्य के आलम्बन श्री कृष्ण–

देखि गति गोपिका की भूलि जाति निजगति,
अगनित कैसे धौं परमगति देत हैं। (रसिक प्रिया 14-36)

यहाँ 'केशवदास' को गोपियों के पीछे दौड़ा-दौड़ा कर मारने के पश्चात् श्री कृष्ण को ब्रह्म-रूप में चित्रित करने की याद आ गईं इस वर्णन से तो श्री कृष्ण के प्रति आश्चर्य पीछे उत्पन्न होगा पहले तो 'केशव' की बुद्धि पर ही आश्चर्य हो रहा है।

सम रस (शान्त रस)–

शान्त रस के विवेचन में केशव ने ब्रह्म के स्थान पर प्रेमी-प्रेमिकाओं को रख दिया है और उन्हीं के एक दूसरे के मिलन सम्बन्धी भाव को 'निर्वेद' के स्थान पर स्थायी भाव बनाया गया है।

राधा की संसार से उदासीनता और श्री कृष्ण में एकाग्रता –

'छाँडैगी देह जु देखे बिना अहो देहु न कान्ह कहूँ है दिखाई'

(रसिक प्रिया 14-38)

श्री कृष्ण की अन्य वस्तुओं से उदासीनता तथा राधा में एकाग्रता–

तो रदनच्छद को रस रंचक चाखि गए करि केहुँ ढिठाई
ता दिन ते उन राखी उठाय समेत सुधा वसुधा की मिठाई।

(रसिक प्रिया 14-39)

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रीति कालीन आचार्यों काश्रृंगार रस को रस राज घोषित करने का प्रयास असफल ही रहा। इसका एक मात्र कारण यह है कि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में मूल-चिन्तन का अभाव है। केशवदास का उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत है जिसे रीतिकालीन आचार्यों द्वारा किए गये 'रस-राजत्व' के विवेचन में विशदतम कहा जा सकता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि केशवदास ने हीश्रृंगार को 'रस-राज' के स्तर से गिराने में सर्वाधिक योगदान दिया है। यह केशव-कृत श्रृंगार की ही कृपा है जिसने राधा और कृष्ण के दैवी एवं अनुकरणीय चरित्रों पर क्रूरता से छुरी फेरने का कार्य किया है। रीतिकाल में ही नहीं यह क्रिया भक्तिकाल से ही प्रारम्भ हो गई थी और इस आमनुषिक चित्रण के बीज सूरदास तक में देखे जाते हैं परन्तु उन वर्णनों पर भक्ति-भावना का पर्दा तो पड़ा है। रीतिकाल में तो राधा और कृष्ण को बिल्कुल ही बेपर्दा करके दिखाया गया है। रीतिकालीन आंचार्यों द्वारा राधा और कृष्ण का जैसा अश्लील चित्रण किया गया है वैसा अन्य किसी ने नहीं किया। **श्री कृष्ण ने लोक मर्यादा का ध्यान करके द्रौपदी को तो नग्न होने से बचा लिया था लेकिन स्वयं को और अपनी अनन्य प्रिया राधा को रीतिकाल के इन कामुकों द्वारा नग्न किए जाने से वे न बचा सके।** इस घृणित कर्त्तव्य के पश्चात् और मात्र श्रृंगार मूलक 'रसाभास' से युक्त काव्य रचना के पश्चात् भी रीतिकालीन कवि दुराग्रह पूर्वकश्रृंगार को रसराज बनाना चाहते थे। रीति कालीन आचार्यों की आँखों पर लोभ का जो काला पर्दा पड़ गया था उससे उन्हें यह भी ध्यान न रहा कि हम रस के स्थान पर रसाभास के गर्त में गिरते चले जा रहे हैं। 'रसिक प्रिया' को ही लीजिए। प्रथम स्तुति मूलक पद तथा 14वें प्रकाश के अन्तिम पद को छोड़कर समस्त रचना में रसाभास के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इस आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि श्रृंगार रस राज तो नहीं है, रसाभास राज अवश्य है।

'रस-राजत्व' के विषय को लेकर विद्वानों में पर्याप्त विवाद रहा है। **भवभूति** ने **'एको रस करुण मेव'** कहकर करुण रस की सर्वश्रेष्ठ रस रूप में स्थापना करनी चाही थी परन्तु विद्वानों द्वारा करुण के आस्वाद की समस्या उठाकर उसे भी समाप्त कर दिया गया। **रूप गोस्वामी ने 'भक्ति रस'** को सर्वश्रेष्ठ या एकमात्र रस घोषित किया था परन्तु भक्ति का अन्तर्भाव 'निर्वेद' में हो जाने के कारण भक्ति को रस ही स्वीकार नहीं किया जाता। कुछ आचार्यों ने वीर रस को सर्वश्रेष्ठ रस घोषित करने का प्रयास किया था परन्तु यह मत भी अधिक न चल सका क्योंकि 'उत्साह' एक कठोर भाव है उसमें कोमलता का अभाव है **इसके पश्चात् 'शान्त रस' को सर्वश्रेष्ठ या एक मात्र रस माना गया** परन्तु भरत तथा धनंजय आदि नाट्यकारों ने शान्त को रस ही नहीं माना। इस आधार पर **'रस राजत्व के सम्बन्ध में कोई सर्वसम्मत हल नहीं निकल सका है। हाँ संस्कृत आचार्यों का बहुमत शृंगार रस को ही सर्वोत्कृष्ट रस मानता चला आ रहा है; परन्तु शृंगार में आगे चलकर जो 'रसाभास' का रोग लगा उसका आभास इन आचार्यों को भी नहीं था।** आज भी 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' के आधार पर ही लोग 'लकीर के फकीर' बने हुए हैं। इस धारण का गाथा सप्तशती, 'आर्या सप्तशती', 'अमरुक शतक' तथा गीत गोविन्दकार ने भी लाभ उठाया और रीतिकालीन आचार्यों ने भी 'टट्टी की आड़ में खूब शिकार किया' क्योंकि संस्कृत के उपर्युक्त ग्रंथों में भीशृंगार का 'रसाभास' है और रीति कालीन ग्रंथों में भी। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना उचित होगा कि 'परकीया प्रेम' की तो कल्पना ही 'रसाभास' है। अतः परकीया-प्रेम-चित्रण में रसाभास स्वतः ही विद्यमान रहता है क्योंकि परकीया प्रेम समाज में अनाचार का आधार बन जाता है। परकीया प्रेम ही समाज के अधः पतन का मूल कारण है। परकीया प्रेम-चित्रण में भावों का 'साधारणीकरण' नहीं हो पाता क्योंकि इस प्रकार के चित्रण में अनौचित्य अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। स्वकीया-प्रेम चित्रण में भी जहाँ अश्लीलता की प्रधानता और लोक-मर्यादा का उल्लंघन होता है वहाँ भी 'रसाभास' में विद्यमान रहता है। तुलसीदास इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भावुकता में नहीं बहे और उन्होंने राम और सीता के प्रेम का वर्णन मर्यादा को ध्यान में रखकर ही किया। यही कारण है कि तुलसीदास केशृंगार वर्णन में 'रसाभास' नहीं मिलता। यहाँ एक बात और विचारणीय है कि तुलसीदास का प्रेम वर्णन स्वकीया मूलक प्रेम वर्णन ही है। सूरदास के प्रेम वर्णन में जहाँ गोपियों तथा कृष्ण का परकीया मूलक प्रेम वर्णित है (जैसे भ्रमरगीत में) वहाँ भी 'रसाभास' की झलक मिलती है परन्तु सूरदास ने गोपियों के प्रेम पर रागानुगा भक्ति का पर्दा डालकर और गोपी-कृष्ण-प्रेम को आत्मा-परमात्मा का प्रेम बताकर रसाभास मूलक विरोधाभास का परिहार कर दिया है। इस विवक्षा से समाज की कामुकता पर प्रतिबंध लग जाता है। यही स्थिति संत-कवियों तथा सूफी कवियों की है। यह इसलिए भी संभव हो सका है कि सूफी संत तथा भक्त कवि पूर्णतः त्यागी-विरागी एवं सन्यासी थे। न उनके बाल

थीं और न बच्चे। अतः उनके दाम्पत्य प्रेम वर्णन को प्रतीकात्मक मानकर 'रसाभास' का परिहार कर दिया गया है और इन वर्णनों में अश्लीलता नहीं आने पाई है। आत्मा-परमात्मा का प्रेम परकीया प्रेम नहीं है वह तो जन्म-जन्मान्तर का स्वकीया भाव ही है। अतः इस प्रकार के प्रेम वर्णनों में परकीया भाव आरोपित ही है। इसी आरोपण के कारण इन रचनाओं में अश्लीतत्व नहीं आ पाया है परन्तु जहाँ कवियों ने भावुकता में बहकर संभोग आदि के चित्र भी प्रस्तुत कर दिये जैसे जायसी आदि ने तो वहीं रसाभास की स्थिति दर्शित हो गई है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि जहाँ प्रेम की अनन्यता होती है वहाँ परकीयत्व नहीं होता जैसे राधा और कृष्ण का प्रेम अनन्य भाव का था क्योंकि राधा ने कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य से प्रेम ही नहीं किया था और इसीलिए राधा को सतियों की कोटि में रखा जाता है, इस आधार पर राधा-कृष्ण के प्रेम को परकीया प्रेम कहना नितान्त भूल है। रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में तथा परवर्ती संस्कृत साहित्य में तो राधा-कृष्ण के प्रेम चित्रण में इसलिए रसाभास व्याप्त हो गया कि उसमें अश्लीलत्व पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि रसों में न कोई बड़ा है और न कोई छोटा। न कोई खरा है और न कोई खोटा। यह छोटे बड़े और खोटे खरे का प्रश्न केवल 'रसाभास' में ही उत्पन्न होता है जहाँ सत्त्वगुण के अभाव के कारण 'रजस-तमस्' का प्राधान्य रहता है और भिन्न-भिन्न पाठकों की धारणा के एकीकरण के अभाव में कुछ को श्रांगारिक चेष्टाएँ रुचती हैं तो किसी को मारधाड़ पूर्ण स्थल अच्छे लगते हैं परन्तु जहाँ रस-निष्पन्न होता है वहाँ तो सभी पाठकों के भाव एक हीश्रृंखला में बँधकर समान भाव का ही अनुभव करते हैं और इस स्थिति में सभी के आनन्द का स्तर एक जैसा ही होता है। सभी पाठक श्रोता या दर्शक रस दिशा में लौकिक परिवेश से ऊपर उठकर आत्मानुभूति के अलौकिक आनन्दमूलक परिवेश में विचरण करने लग जाते हैं क्योंकि सभी रसों का एक ही परिणाम होता है। अतः इस स्थिति में रसों में 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की ही स्थिति हो जाती है।

विद्वानों द्वारा काव्य के चार उद्देश्य माने गये हैं। 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' में से किसी एक या अनेक की प्राप्ति। परन्तु काव्य का चरम लक्ष्य तो आनन्द की प्राप्ति ही है। यह आनन्द काव्य की भाषा में लौकिक सुख से मुक्त आलौकिक आत्मानन्द है। इसी को मोक्ष (माया के बन्धन से आत्मा की मुक्ति) भी कहा जाता है। इसी आधार पर रस-दशा को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है।

अतः यह कहना असंगत न होगा कि शान्तरस का स्थायी भाव 'निर्वेद' (आत्मज्ञान) ही सभी रसों का आधार है क्योंकि प्रत्येक रस का धर्म है– रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव और सत्त्व-गुण का प्रादुर्भाव। सत्त्वगुण के प्रादुर्भाव की स्थिति ही 'ज्ञान-दशा' मानी गई है। यही हृदय की मुक्तावस्था या 'रस-दशा' है। अतः शान्त रस ही सभी रसों का मूल है। इसी को एकमात्र रस या रसराज

कहा जा सकता है। बिना 'निर्वेद' के किसी भी रस का अस्तित्व में रहना असंभव है। अतः 'शान्तस्तुप्रकृतिमतः' अर्थात् शान्त ही एक मात्र प्रकृत (मूल) रस है।

रसाभास तथा भावाभास

रसाभास का स्वरूप

रसाभास तथा भावाभास का भी काव्य क्षेत्र पर प्रचुर प्रभाव है। अतः इन दोनों ही तत्त्वों को समझना आवश्यक है। भाव के दो रूप होते हैं 1. **लौकिक** 2. **पारलौकिक**। लौकिक भाव प्राकृतिक--'आहार, निद्रा, भय, मैथुन' की प्रवृत्ति से युक्त रहता है। अतः **'सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्'** का प्रतीक है परन्तु पारलौकिक भाव **'धर्मोहि ऐको गुणाः विशेषा'** जो केवल मनुष्यों में ही पाया जाता है और **'धर्मेण हीना (मनुष्य) पशुभिः समाना'** माना जाता है। मनुष्य समाज में यही धर्म का सिद्धांत एक 'सार्वभौम सत्य' के रूप में अनादि काल से प्रचलित चला आ रहा है। 'धर्म' को कभी देश-कालादि की सीमाओं में बाँधकर नहीं रखा जा सकता। काव्य-शास्त्र की भाषा में इसी को 'औचित्स' कहा जाता है और यही औचित्य काव्य का प्राण अर्थात् 'रस' कहलाता है। 'धर्म' का विरोधी 'अधर्म' होता है जो देशकालादि की सीमाओं में आबद्ध रहने के कारण किसी समुदाय को ग्राह्य और किसी को अग्राह्य होता है। इसका आशय यह हुआ कि जो **भाव सर्वग्राह्यता से परे होता है वही अधर्म है। काव्य की भाषा में इसी को अनौचित्य कहते हैं और अनौचित्य पूर्ण वर्णन जिसमें लौकिकता का प्राधान्य तथा सार्वभौम सत्य का अभाव रहता है, रस पक्ष में 'रसाभास' कहलाता है।**

'रसाभास' का सर्वप्रथम संकेत उद्भट ने 'उर्जस्वि' अलंकार के रूप में इस प्रकार किया था–

अनौचित्स प्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां व रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥

(काव्यालंकार सार संग्रह पृ. 59)

अर्थात् **काम-क्रोधादि की अनुचित प्रवृत्ति से युक्त रसों और भावों का निबन्धन 'ऊर्जस्वि' अलंकार कहलाता है।** 'ऊर्जस्वि' अलंकार का यही रूप प्रायः सभी अलंकारवादी आचार्यों द्वारा मान्य हुआ और आज भी यह इसी रूप में मान्य है।

उद्भट के पश्चात् **आनन्दवर्द्धन** ने अनौचित्स को रसभंग का एक मात्र कारण मानते हुए रसाभास की मान्यता को और अधिक स्पष्ट कर दिया–

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्य बन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

(ध्वन्यालोक, ज्ञानमण्डल पृ. 190)

अर्थात् अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग को कोई और कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का निबन्धन ही रस का मूलाधार है।

इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव-निर्वचन में जहाँ औचित्य का समावेश होता है वहीं 'रस' होता है और जहाँ औचित्य का तिरोभाव होकर अनौचित्य का प्रभाव रहता है वहीं 'रसाभाव' होता है। अत: जहाँ अनुचित प्रवृत्ति से रस का परिपाक नहीं हो पाता उसे 'रसाभास' कहते हैं।

रसाभास के आधार

रसाभास की स्थिति आचार्यों ने विविध प्रकार से मानी है।

अभिनव गुप्त– 'औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भाव: अनौचित्येन तदाभास:।'[47] कहकर **औचित्य-परिपुष्ट स्थायी भाव को 'रस' और औचित्स-परिपुष्ट व्यभिचारी भाव को 'भाव' मानते हुए अनौचित्स-पोषित स्थायीभाव को 'रसाभास' तथा अनौचित्स पोषित भाव को 'भावाभास' की संज्ञा देते हैं।**

मम्मट के मत से '**तदाभासा अनौचित्स प्रवर्तिता:**'[48] अर्थात् रसों तथा भावों का अनुचित प्रदर्शन ही '**रसाभास**' और '**भावाभास**' है।

पं. राज जगन्नाथ– के मतानुसार **जहाँ रस का आलम्बन विभाव अनुचित होता है, वहीं रसाभास माना जाता है।**[49]

उपर्युक्त आधार पर रसाभास का कारण अनौचित्य मूलक स्थायी भाव, आलम्बन (विभाव) तथा व्यभिचारी भाव ही होते हैं। आचार्यों ने अनुभावों को रसाभास के अन्तर्गत नहीं लिया है परन्तु अनुचित अनुभावों का प्रदर्शन भी रसाभास तथा भावाभास का कारण बन जाता है–यथा-शृंगार के अन्तर्गत आलिंगन, चुम्बन या संभोग के दृश्य आदि वीर के अन्तर्गत रोना, भागना व अनुचित संधि-प्रस्ताव प्रस्तुत करना आदि। राम तथा खर-दूषण के युद्ध में जब खर दूषण ने राम के पास यह संधि प्रस्ताव भेजा :–

'जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। वध लायक नहिं पुरुष अनूपा।
लाइ देइं जो नारि दुराई। जीवित भवन जाहिं दोऊ भाई॥'(मानस)

तो राम ने उनका उपहास करते हुए उत्तर दिया–

'रण चढ़ि करे कपट चतुराई। रिपुपर कृपा परम कदराई॥' (मानस)

यहाँ खरदूषण के संधि-प्रस्ताव में अवश्य ही कायरता का आभास है और नीति-कौशल से बिना युद्ध किये ही 'पकीपकाई' खाने की वृत्ति का प्रदर्शन है जिसे कायरों का प्रलाप समझ कर ही राम ने दुत्कारा है। अत: यह कहना भी असंगत न होगा कि 'रसाभास' की स्थिति अनुचित प्रयोगों द्वारा ही होती है चाहे वे प्रयोग स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों में से किसी एक के या अनेक के हो सकते हैं। नीचे प्रत्येक के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं–

स्थायी भाव का अनुचित प्रयोग

स्थायी भाव के अनुचित प्रयोग से उसका पूर्णरूपेण उत्कर्ष नहीं हो पाता और वह इस अपूर्णता की स्थिति में रस कोटि तक न पहुँच कर मात्र भाव ही रह जाता

जैसे परशुराम के ये वाक्य–

'बहै न हाथ दहे रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृपघाती।।' (मानस)

यहाँ परशुराम का क्रोध परिपक्वावस्था को नहीं पहुँच पा रहा है और वे अपनी अशक्तता का अनुभव करते हुए मात्र स्थिति को किसी प्रकार संभालने का प्रयास ही करते दिखाई देते हैं। परशुराम का राम-विषयक यह क्रोध इसीलिए उपहास का कारण भी बनता चला जाता है। अंत में वे क्रोध त्यागकर राम की स्तुति करके वन का मार्ग ग्रहण कर लेते हैं।[50] इसी प्रकार कौरव दल से लड़ने को तत्पर उत्तर का क्रोध और उत्साह भी मात्र अपरिपक्वावस्था तक ही रह जाता है और वह अंत में भय में परिवर्तित हो जाता है। अपने प्राणों की रक्षा में किया गया जयद्रथ का युद्ध अर्जुन के उत्साह की धारा में बहकर भाव मात्र रह जाता है।[51] इन्हीं आधारों पर **अभिनव गुप्त ने यह कहा है कि प्रत्येक रस का आभास अन्ततः हास्य में परिणित हो जाता है।** परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल स्थायीभाव मूलक 'रसाभास' ही 'हास्य' का अवलम्ब बनता है, अन्य प्रकार का नहीं। नारद का रतिभाव से पीड़ित होने का प्रसंग भी इसीलिए उपहास का कारणं बना था। वास्तविक बात तो यह है कि जब कोई पुरुष या स्त्री लोक प्रचलित व्यवहार के विपरीत भाव का प्रदर्शन करे तभी वह भाव अनौचित्य की कोटि में जाता है।

अनुचित आलम्बन का प्रदर्शन

अनुचित आलम्बन के कारण भी रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता। यथा–

ससि गुरु तिय गामी नहुष चढ़ेऊ भूमि सुर यान।
लोक वेद ते विमुख भा अधम को वेणु समान।। (रामचरितमानस)

इस दोहे से स्पष्ट है कि चन्द्रमा की रति का आलम्बन उनकी गुरु पत्नी तारा थी। अतः तारा और चन्द्रमा का प्रेम आलम्बन मूलक रसाभास का उत्कट उदाहरण है। इसी प्रकार नहुष का इन्द्राणी (शची) के प्रति प्रेम भी एकांगी होने के कारण इसी कोटि में आता है। आलम्बन विषयक 'रसाभास' भी घृणा या निन्दा या उपहास का आधार उसी प्रकार बन जाता है जिस प्रकार स्थायि विषयक रसाभास घृणा, निन्दा और उपहास का कारण बनता है। स्थायि-विषयक और आलम्बन-विषयक रसाभास में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। प्रथम का सम्बन्ध स्थायी भाव के अनौचित्य से है जिसका आधार आश्रय है और दूसरे का सम्बन्ध उस अनौचित्य से है जो आश्रय के भाव का आलम्बन है।

अनुचित अनुभाव का प्रदर्शन

रसाभास के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि आलम्बन या आश्रय ही अनुचित हों बल्कि उचित आलम्बन और आश्रयों में भी उनके अनुचित क्रिया कलापों द्वारा रसाभास की सृष्टि होती है। हमारे समाज में कुछ कार्यों को उचित और कुछ को अनुचित ठहरायाँ जाता है जैसे–शराब पीना, माँस खाना, सिगरेट पीना, खुले आम संभोग की

क्रियाओं का प्रदर्शन, स्त्रियों का नग्न या अर्द्धनग्नावस्था में घूमना आदि। यदि साहित्य में इस प्रकार के कार्यों का वर्णन किया जायेगा तो रस; रसाभास का ही द्योतक होगा। हमारे समाज में प्रचलित कुछ मान्यतायें इस प्रकार हैं–

'हा-हा खाते को नहीं मारें, नहीं भगते के पड़ें पिछार।
हाथ नहीं डारें तिरियन पर, यह नहीं धर्म क्षत्रियन क्यार।।'

तथा

'विधवा है के पान चवावै, नैहर तिरिया करे सिंगार।
क्षत्री है कैं रण ते लौटे, ताके जीवत को धिक्कार।।'

यदि इन मर्यादाओं के विपरीत आचरणों का वर्णन कहीं काव्यान्तर्गत किया जाता है तो वह अनुभाव मूलक रसाभास की कोटि में ही आयेगा। हिन्दी का रीतिकलीन श्रृंगारी साहित्य अनुभाव मूलक रसाभास का ज्वलंत उदाहरण है। बिहारी, केशव, मतिराम, पद्माकर आदि सभी ने राधा और कृष्ण के अश्लील चित्र उपस्थिति करने में जो तन्मयता दिखाई है वह वास्तव में हिन्दी-साहित्य के मस्तक पर एक कलंकवत् दिखाई देते हैं। नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं–

'राधा हरि-हरि राधिका बनि आये संकेत।
दम्पति रति विपरीत सुख सहज सुरति हू लेत।। (बिहारी)
'राति की केलि अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई
प्यास लगी कोई पानी दै जाइयो भीतर बैठि कैं बात सुनाई
जेठी पठाइ दई दुलही तब हेरि हँसे मति राम बुलाई
कान्ह की बात पै कानन दीनौं तौ गेह की देहरि मेंधरि आई (मतिराम)
'साँवरे की सूनी सेज सोवति ही राधिकाजू,
सोये आइ साँवरेऊ मानि मन गौनों सौ। (केशव)

इस दौड़ में तो सूरदास भी कभी-कभी चौकड़ी भूलते दिखाई देते हैं–

नीबी ललित गही यदुराई
जबहि सरोज धर्‌यो श्री फल पर तब जसुमति तहँ आई

तथा

झूठेहि मोहि लगावत गारी।
मेरो कर अपने कुच धाराति आपुहि चोली फारी।। (सूरदास)

यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो रसाभास का सर्वाधिक प्रदर्शनश्रृंगार में ही हुआ है। रीतिकाल तो इसका प्रमाण है। सूफी काव्य तथा छायावादी काव्य में भी यह भरा पड़ा है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति चाहे कितना ही 'तपस्वी' हो, कामुकता उसे बड़ी शीघ्रता से पकड़ती है और वह वासना के लौकिक प्रवाह में बहे बिना नहीं रह सकता। इसीलिए बड़े-बड़े ऋषि मुनियों को इस कार्य में संलग्न होते देखा है।[52] इतिहास में इस प्रकार के असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं परन्तु फिर भी अनुभाव

मूलक रसाभास की सर्वथा वर्जना ही की गई है। कृष्णभक्त कवियों ने इसीलिए संयोग के स्थान पर वियोगश्रृंगार की अधिक हिमायत की है और संयोग पर भी वे भक्ति का गहन पर्दा डालकर चले हैं। ठीक यही विधि सूफियों ने भी अपनाई है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है कि आलम्बन-मूलक रसाभास का आधार तो ऐतिहासिक होता है जहाँ स्त्री या पुरुष किसी कारणवश अपने आचरण से गिर जाते हैं। अत: इस प्रकार का रसाभास समाज में मानव की भूल से सम्बन्धित है और कालान्तर में समाज इसे क्षमा भी कर सकता है जैसे–तारा, अहल्या, कुन्ती, मन्दोदरी और द्रौपदी बहुपति-प्रेमिका होते हुए भी सतियों की श्रेणी में मानी जाती हैं। इसका कारण यह है कि इनके आदर्श से च्युस्त होने में किसी कारण-विशेष का ही हाथ था जिससे ये निर्दोष हैं। वृहस्पति की पत्नी तारा का चन्द्रमा से प्रेम, चन्द्रमा का तारा से सहगमन, इन्द्र का अहल्या के साथ बलात्कार आदि कृत्य समाज में अब भी निन्दनीय माने जाते हैं। यद्यपि आजकल के कुछ मनचले कवि महोदय इनके भी आँसू पोंछने का प्रयास करते देखे गये हैं परन्तु यह कार्य कभी भी उचित नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में डा. नगेन्द्र लिखते हैं–

"माइकेल मधुसूदन दत्त ने गुरु-पत्नी तारा और चन्द्रमा के प्रणय-सम्बन्ध को रसमय बनाने का प्रयास किया है; हिन्दी में भगवतीचरणवर्मा की 'तारा' कविता का आधार यही प्रणय-सम्बन्ध है। प्रश्न है कि क्या इन कविताओं में रस के स्थान पर रसाभास मानना पड़ेगा? शास्त्र के अनुसार तो इनमें रसाभास है ही फिर भी दोनों कवियों ने अनौचित्य के निवारण का प्रयास किया है, इसमें भी संदेह नहीं। माइकेल विषम-विवाह के अनौचित्य की स्थापना और समान वयरूप के नर-नारी की प्रकृत प्रणय-भावना के औचित्य की सिद्धि कर रस-बाधा का निवारण करते हैं। भगवती चरण वर्माशृंगार-प्रसंग को माध्यम बनाकर नारी के मन की पीड़ा को मुखर करते हैं। (रस सिद्धांत पृ. 310)

यद्यपि इन पंक्तियों में डा. नगेन्द्र ने भी माइकेल मधुसूदन दत्त और भगवतीचरण वर्मा के स्वर से स्वर मिलाकर उपर्युक्त इतिहास प्रसिद्ध घटना के कलंक को मिटाने की खूब वकालत की है किन्तु 'दत्त', 'वर्मा' और 'नगेन्द्र' तीनों ही रसाभाव की कीचड़ में फँसकर रह गये हैं। सच ही है कि काजल की कोठरी में जीने वाला भी क्या कभी बेदाग बच सकता है।

अनुचित व्यभिचारी भावों का सहयोग

यद्यपि अनुचित व्यभिचारी भावों के सहयोग से उत्पन्न रसाभाव को आचार्यों ने '**भावाभास**' कहा है परन्तु यदि ध्यान पूर्वक देखा जाये तो इसे भावाभास नहीं मान सकते क्योंकि स्थायीभाव को रसाभास की कोटि तक ले जाने वाले अनुचित व्यभिचारी ही होते हैं।

जैसे–नारद को वासना के गर्त में गिराने के लिये सर्वप्रथम अहंकार (गर्व) ने उन के मन पर आक्रमण किया था, तत्पश्चात् मोह, काम, श्रम, व्याधि, उत्सुकता, चिन्ता,

शंका और यहाँ तक कि अमर्ष तक ने उनके हृदय पर अपना स्थान जमा लिया, जिससे अभिभूत होकर नारद ने विष्णु को शाप तक देने में भी कोई आनाकानी नहीं की। अतः यह कहना असंगत न होगा कि उपर्युक्त व्यभिचारी भावों का जब तक नारद के मन पर प्रभुत्व रहा तब तक वे उस कीचड़ से न निकल सके। इसी प्रकार कौरवों के ईर्ष्या, द्वेष, गर्व, अमर्ष आदि के दूषित भावों ने ही अभिमन्यु का अधर्म से वध कराकर उनके उत्साह को 'रसाभास' के गर्त में डाल दिया था। जब इस प्रकार के दूषित व्यभिचारियों का प्रकोप कवि या लेखक पर हो जाता है तभी वह भी साहित्य और समाज की मर्यादा का उल्लंघन करके 'रसाभास' के रौरव में कूदने को बाध्य हो जाता है। यही नहीं इस दोष से बड़े-बड़े भी अछूते नहीं रह सके हैं। राम का बालि को छिपकर बाण मारना, सीता को वनवास देना, शम्बूक का वध कर डालना, श्री कृष्ण का भीष्म, द्रोण तथा कर्ण को छल से मरवा डालना आदि व्यभिचारि-मूलक रसाभास के ही उदाहरण हैं। 'रामचन्द्रिका' की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी इसी भाव की पोषक हैं :-

भगीं देखिकैं संकि लंकेस बाला। दुरी दौरि मंदोदरी चित्रसाला।
तहाँ दौरि गौ बालि कौ पूत फूल्यौ। सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यौ।।
तही हास ही देव कन्या दिखाई। गही संक लै लंक रानी बताई।।
सु आनी गहे केस लंकेस रानी। तमश्री मनोसूर-सोभानि सानी।।
गहे बाँह ऐंचे चहूँ ओर ताको। मनो हंस लीने मृणाली लता कौ।।
फटी कंचुकी किंकिनी चारुछूटी। पुरी काम की सी मनो रुद्रलूटी
बिना कंचुकी स्वच्छ बक्षोज राजें। किधौं साँचहू श्री फलै सोभ साजैं।।
किधौं स्वर्न के कुंभलावन्य पूरे। बसीकर्न के चूर्न संपूर्न रूरे।।

इन पंक्तियों में व्यभिचारिमूलक रसाभास ही है कि अंगद जैसा महान् वीर-बालक अपनी माता के समान सम्माननीय मन्दोदरी को निर्वस्त्रा करके बुरी तरह खींच-खींच कर मारता है। यहाँ सीता को रावण द्वारा दी गई यातनाओं का बदला लेने की दुर्भावना से प्रेरित होकर ही अंगद ने ऐसा जघन्य कृत्य किया क्योंकि अंगद का मन उस समय उद्वेग, अमर्ष, गर्व आदि से अभिभूत हो रहा था और इसलिए उसने औचित्य का ध्यान भुला कर अनुचित का अवलम्बन ग्रहण किया था। यद्यपि आगे केशवदास ने अंगद के इस दुष्कृत्य पर इन शब्दों के द्वारा पर्दा डालने का प्रयास किया है-

सीतहि दीन्हों दुख वृथा साँचो देखौ आजु।
करै जु जैसी त्यों लहै कहा रंक कह राजु।। (के. ग्रं. खं.-2)

परन्तु फिर भी अनौचित्य तो अनौचित्य ही है- उस पर पर्दा डालने पर भी वह स्वयं इस प्रकार प्रकट हो जाता है जैसे-

खैर खून खाँसी खुशी बैर प्रीति मदपान।
रहिमन दाबे ना दबैं जानत सकल जहान।। **(रहीम)**

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रसाभास' रस का परम विरोधी

तत्त्व है परन्तु काव्य में इसका भी महत्त्व माना जाता रहा है क्योंकि संस्कृत तथा हिन्दी का प्रचुर साहित्य इससे प्रभावित है। पाश्चात्य साहित्य में तो रसाभास का आद्योपान्त बोलबाला है क्योंकि वहाँ के कवि अनुचित-उचित (रस और रसाभास) का भेद ही नहीं जानते।

रसाभास के प्रकार

यदि उचित-अनुचित की कसौटी पर 'रसों' को कसा जाय तो औचित्य के शिखर से गिर जाने पर प्रत्येक 'रस' 'रसाभास' बन जाता है। अत: रसाभास के भी कम से कम उतने ही भेद किये जा सकते हैं जितने कि रसों के। नीचे उनका पृथक्-पृथक् विवेचन प्रस्तुत किया जाता है :–

शृंगार मूलक रसाभास

रसाभास की प्रवृत्तिशृंगार में सर्वाधिक परिलक्षित होने के कारण आचार्यों नेशृंगार मूलक रसाभास का ही अधिक विशदता से वर्णन किया है।

उपनायक संस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायक विषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥(हिन्दी अभिनव भारती पृ. 559)

अर्थात् **(1) नायिका की उपनायक में रति होने पर, (2) नायक की रति मुनि अथवा गुरु पत्नी के विषय में हो, (3) एक नायिका अनेक नायकों में अनुरक्त** हो तथा **(4) नायक अथवा नायिका में एक पक्षीय रति हो, तब शृंगार मूलक रसाभास होता है। (5) निरन्द्रिय लता-गुल्म नदी-पर्वतादि में रति भाव का आरोपण (6) पशु-पक्षी आदि के प्रेम का निरूपण शृंगार मूलक रसाभास के अन्तर्गत माना जाता है।** कुछ आचार्य नीच पात्र में किसी उच्च कुलवाले के प्रेम को भी शृंगार का रसाभास मानते हैं। यदि इस प्रकार के प्रेम निरूपण को रसाभास माना जायेगा तो 'कृष्ण-कुब्जा-प्रेम', 'शान्तनु-सत्यवती-प्रेम' 'भीमहिडिम्बा प्रेम' कृष्ण-जाम्वती प्रेम, आदि प्रसंगों को रसाभास की कोटि में रखना पड़ेगा परन्तु व्यवहार में यह देखा जाता है कि कवियों या मनीषियों ने ऐतिहासिक प्रेम प्रसंगों में रसाभास नहीं माना है। हाँ पिंगला का अपने मित्र के साथ प्रेम अवश्य इस कोटि में आ सकता है परन्तु वह प्रसंग तो उपपति प्रेम सम्बन्धी वर्ग में भी रखा जा सकता है। अत: इस प्रकार के रसाभास को उपपति प्रेम सम्वन्धी वर्ग में भी रखा जा सकता है। शृंगार मूलक रसाभास के अनेक उदाहरण ऊपर प्रस्तुत किये जा चुके हैं। अत: यहाँ केवल एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है :–

'सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥
पंचवटी सो गई इक बारा। देखि बिकल भई जुगल कमारा॥
रुचिर रूप धरि प्रभु पहँ जाई। बोली मन्द-मन्द मुसकाई॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह संजोग विधि रचा बिचारी॥

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोज लोक तिहुँ नाहीं।।
तातें अब लगि रहेउँ कुमारी। मनु माना कछु तुमहिं निहारी।।
लक्षिमन कहा तोहि सो बरई। जो तृन तोरि लाज परिहरई।'

(रामचरितमानस)

इन पंक्तियों में शूर्पनखा का प्रेम प्रदर्शन (रतिभाव) निर्लज्जता-पोषित होने के कारण अनौचित्य की कोटि में पहुँच जाता है और शूर्पनखा की उत्सुकता तथा राम और लक्ष्मण की उसके प्रति उदासीनता होने के कारण अनुभयनिष्ठ 'रति' रस की पूर्णता को नहीं पहुँचती और वह रसाभास के गर्त में ही अटकी रह जाती है। वास्तविक बात यह है कि शूर्पनखा का यह प्रेम प्रदर्शन लोक मर्यादा के प्रतिकूल होने के कारण साधारणीकरण की कोटि तक नहीं पहुँच पाता और उपहास तथा घृणा का आलम्बन बन कर रह जाता है।

वीर मूलक रसाभास

वीरमूलक रसाभास वहाँ होता है जहाँ उत्साह का प्रदर्शन क्रूर, पापी तथा अत्याचारी में दिखाया जाता है और उनके उस कृत्य से समाज की मर्यादा के नष्ट होने तथा अत्याचार के बढ़ने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। हिरण्यकशिपु का प्रह्लाद पर खड्ग से वार करने सम्बन्धी उत्साह; कंस को देवकी की नवजात कन्या को शिलाखण्ड पर पटक कर मार देने सम्बन्धी वीरता, दु:शासन का द्रौपदी के चीर हरण सम्बन्धी कृत्य तथा अभिमन्यु का अन्याय पूर्वक किया गया वध आदि प्रसंग वीर रस मूलक रसाभास के अन्तर्गत ही आयेंगे। इसी प्रकार गुरु गोविन्द सिंह के बच्चों को औरंगजेब द्वारा दीवार में चुनवाकर मरवा देना, स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाले तात्याटोपे व भगत सिंह को फाँसी पर लटकाया जाना आदि प्रसंग भी वीर रसात्मक रसाभास के उदाहरण हैं। अनेक दुष्ट तथा दुर्धर्ष व्यक्तियों का किसी अकेले व्यक्ति पर आक्रमण करना भी वीर मूलक रसाभास का ही द्योतक है। उदाहरणार्थ :–

'तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई। जातुधान सुनि सेन सजाई।।
धाये निसिचर निकर बरूथा। जनु सपच्छ कज्जल गिरि जूथा।।
नाना वाहन नाना कारा। नानायुध धरि घोर अपारा।।
गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं। देखि कटक बहु अति हरषाहीं।।
कोउ कह जिअत धरहु द्वै भाई। धरिमारहु तिय लेहु छड़ाई।।
आइ गये बग मेल धरहु धरहु धावहु सुभट।
यथा विलोकि अकेल बाल रविहि घेरत दनुज।। (मानस)

ये पंक्तियों राक्षसों की चौदह-सहस्त्र सेना द्वारा अकेले राम पर आक्रमण करने के प्रसंग से सम्बन्धित हैं। इनमें राक्षसों के उत्साह का सटीक वर्णन किया गया है परन्तु चौदह सहस्त्र राक्षसों का अकेले राम के प्रति वीरता-प्रदर्शित करने सम्बन्धी यह प्रसंग उत्साह स्थायी के अनुचित प्रदर्शन के कारण रस कोटि में न जाकर मात्र रसाभास की

ही सृष्टि करता है क्योंकि राक्षसों द्वारा प्रदर्शित किया गया उत्साह लोक-मर्यादा का शोषक और दुष्टों के अत्याचार का पोषक होने से यहाँ उत्साह का साधारणीकरण नहीं होता और सामाजिक के हृदय में वीररसानुभूति नहीं होती। अतः इस प्रसंग में वीर रस अपूर्णता की स्थिति में रह जाने के कारण रसाभास की कोटि में ही आयेगा।

रौद्र मूलक रसाभास

जहाँ वीर-रस मूलक रसाभास होता है वहीं रौद्र रस मूलक रसाभास भी प्राप्त होता है। रावण का सीता के प्रति प्रदर्शित किया गया क्रोध इसका ज्वलंत उदाहरण है–

आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान।।
परुष वचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन।।
सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहहुँ तब सिर कठिन कृपाना।।
कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाईं। सीतहि बहुविधि मारहु जाईं।।
मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारबि काढ़ि कृपाना।।

(रामचरितमानस)

इन पंक्तियों में रावण द्वारा सीता पर प्रदर्शित किया गया क्रोध वीरोचित नहीं माना जा सकता। इस क्रोध प्रदर्शन में स्पष्ट रूप से कामुकता एवं अत्याचार की गंध परिलक्षित होती है। सीता के प्रति प्रदर्शित किया गया यह क्रोध सामाजिक के हृदय में रावण के क्षोभ का भाव ही उत्पन्न करता है। अतः यहाँ रौद्र-मूलक रसाभास का ही उपादान होता है। रौद्र रस की चर्वणा इन पंक्तियों में नहीं हो सकती क्योंकि अत्याचारी के क्रोध का साधारणीकरण नहीं हो सकता।

करुण मूलक रसाभास

शोक एक सहानुभूति मूलक भाव होता है। अतः किसी के शोक के समय प्रसन्न होना उचित नहीं माना जाता परन्तु दुष्ट-पात्र के निधन या हानि आदि से सम्बद्ध क्रिया का साधारणीकरण नहीं होता। अतः ऐसी स्थिति में शोक स्थायी-रस की पूर्णता तक नहीं पहुँच पाता। इसका कारण यह है कि दुष्टों का वध तथा उनकी हानि सज्जनों को आनन्द देने वाली होती है और सज्जनों का वध या हानि सभी को कष्ट दायक होती है। अतः जहाँ ऐसे प्रसंग वर्णित होते हैं जिनमें दुष्ट-वध या दुष्ट-हानि का प्रसंग हो वहाँ करुण रस की व्यावृत्ति नहीं हो पाती। महाभारत के युद्ध में एक सौ कौरव मारे गये तथा उनके अपार दल का संहार हो गया परन्तु कहीं भी कौरवों के विलाप से सामाजिक के हृदय में साधारणीकृत शोक की अनुभूति नहीं होती। इसी प्रकार राम-रावण युद्ध में शूर्पनखा के नाक-कान कट जाने पर, खर-दूषणादि के वध पर, मेघनाद, कुम्भकर्ण और यहाँ तक कि रावण के वध के उपलक्ष्य प्रदर्शित शोक रस की पूर्णता को नहीं पहुँच पाता और मात्र रसाभास का ही द्योतक बन कर रह जाता

है। उदाहरणार्थ :–

'सुत वध सुना दसानन जबही। मुरुछितभयेउ परेउ महितबही।।
मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़न बहु भाँति पुकारी।।
नगर लोग सब व्याकुल सोचा। सकल कहहिं दसकंधर पोचा।।

इन पंक्तियों में मेघनाद-वध के उपरान्त पुत्र शोक में रावण तथा मन्दोदरी को शोक संतप्त दिखाया है परन्तु दम्पत्ति के इस शोक का साधारणीकरण नहीं हो पाता क्योंकि मेघनाथ दुष्ट था। वह सज्जनों को कष्ट देता था। उसके वध से सभी को दु:ख के स्थान पर सुख ही मिलता है। तुलसीदास ने इसी प्रसंग में देवों के आनन्द का इस प्रकार वर्णन किया है :--

तासु मरन सुनि सुर गंधर्वा। चढ़ि विमान आये नभ सर्वा।।
बरसि सुमन दुन्दुभी बजावहि। श्री रघुनाथ बिमल जसुगावहिं।

(रामचरितमानस)

ठीक यही स्थिति मेघनाद वध के समय सामाजिक की होती है। अत: शोक के उन प्रसंगों में जहाँ दुष्टवध या दुष्ट हानि होती है। वहाँ सामाजिक को शोक न होकर प्रसन्नता ही होती है। यही करुण के रसाभास की स्थिति है। कभी-कभी दुष्ट का विलाप प्रमाता के उपहास का माध्यम भी बन जाता है। यथा :–

नाक कान बिनु भइ बिकारा। जनुस्त्रव सैल गेरु कै धारा।।
खर दूषन पहँ गई बिलपाता। धिग धिग तब पौरुष बल भ्राता।।

शूर्पनखा के नाक-कान कट जाने पर किये गये इस विलाप से प्रमाता को हँसी ही आती है, शोक किंचित मात्र भी नहीं होता। यह प्रसंग 'रामलीला' प्रदर्शन के समय अधिक उत्कृष्टता के साथ उद्भूत होकर सामने आता है। जब शूर्पनखा की नाक कट जाती है और वह जोर-जोर से विलाप करती हुई नाक से रुधिर की वर्षा करते हुए कहती है– 'हाय! कट गई' तो दर्शक कहकहा मारकर हँस पड़ते हैं। कुछ तो यह कहते देखे गये हैं– ले करले लक्ष्मण के साथ ब्याह। अच्छा हुआ जो नाक काट ली। यह इसी योग्य थी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि करुणापूर्ण स्थितियों में जहाँ आलम्बन के अनौचित्य के कारण शोक का साधारणीकरण नहीं हो पाता। वहाँ करुण रस रसाभास की कोटि में चला जाता है।

शान्तमूलक रसाभास

शान्तमूलक रसाभास वहाँ उपलब्ध होता है जहाँ 'निर्वेद' का अनुचित रूप में प्रदर्शित किया जाता है या 'निर्वेद' का आश्रय कोई छद्मवेशी साधु या मुनि होता है। उदाहरणार्थ–छद्म-साधु वेश में सीता का हरण करने वाला रावण; बलि को छलने के लिए वामानावतार धारी विष्णु; कर्ण से कवच-कुण्डल माँग कर ले जाने वाला ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र; प्रतापभानु का विनाश करने वाला ऋषि वेशधारी राजा, हनुमान को संजीवनी लेने जाते समय मार्ग में साधु का ढोंग करके रोकने वाला दैत्य कालनेमि आदि 'निर्वेद'

का आश्रय नहीं माने जा सकते हैं क्योंकि इनके द्वारा प्रदर्शित 'निर्वेद' का साधारणीकरण नहीं होगा। अत: इस प्रकार के प्रसंग शान्तमूलक रसाभास के अन्तर्गत ही आयेंगे। कभी-कभी जासूस, ठग, चोर, डाकू आदि भी साधु-वेश में जनता से जासूसी, चोरी, डकैती और अपहरण आदि करने में सफल हो जाते हैं। इन छद्मवेशधारी तत्त्वों के छल का पर्दाफाश होने पर निर्वेद की परिणिति शंका, घृणा या निन्दा आदि में ही होती है। अत: इन प्रसंगों में रसाभास की ही चर्वणा होगी क्योंकि प्रमाता ऐसे दृश्यों को देखकर पढ़कर या सुनकर छद्मवेशधारी साधुओं, ब्राह्मणों, ऋषियों या मुनियों की भर्त्सना ही करेगा। उसके मन में ज्ञान और भक्ति के स्थान पर घृणा ही उत्पन्न होगी। अत: इन परिस्थितियों में 'निर्वेद' की चर्वणा न होकर घृणा आदि के भाव ही उद्‌भूत होंगे। रीति कालीन कवियों के राधा तथा कृष्ण के भक्ति सम्बन्धी बनावटी वर्णनों में भी शान्त के रसाभास के ही दर्शन होते हैं यथा :-

"मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परै श्याम हरित दुति होय।। (बिहारी)

इन पंक्तियों में 'निर्वेद' परशृंगार की नीली छाया पड़ने के कारण यहाँ 'राधा' के प्रति भक्ति-भावना सम्बन्धी निर्वेद का साधारणीकरण नहीं होगा क्योंकि इष्ट के प्रति इस प्रकार के वर्णन अनुचित ही माने जायेंगे। कृष्णभक्त कवियों के संयोग तथा वियोगशृंगार मूलक वर्णनों तथा घनानंद के असंगति और विरोधाभास से चटकीले प्रेम-प्रसंगों में भी जहाँ 'भक्तिभावना' आरोपित-सी प्रतीत होकर गौण हो जाती है, शान्त के 'रसाभास' की ही उपलब्धि होती है क्योंकि इन वर्णनों से एक कामुक व्यक्ति रतिभाव का ही अनुभव करेगा और 'भक्त' उसमें बलात् भक्तिमूलक 'रति' का आरोपण खींचतान कर करने का प्रयास इस प्रकार करेगा जिस प्रकार भ्रमरगीत के पदों के अन्त में सूर दास ने कृष्ण कृपा की याचना करते हुए अपने ब्रह्म-विषयक प्रेम का प्रदर्शन किया है।शृंगार और भक्ति का एक ही भाव से सम्बन्ध जोड़ देने के कारण हिन्दी-साहित्य मेंशृंगार के साथ-साथ 'शान्त' का रसाभास भी एक बड़े पैमाने पर प्राप्त होता है।

हास्यमूलक रसाभास

हास्यमूलक रसाभास वहाँ होता है जहाँ किसी सज्जन या सिद्ध पुरुष की कुरूपता आदि को देखकर हास्य का प्रदर्शन किया जाता है, उदाहरणार्थ :-

एक दिना गिरिजापति संकर शैल गये संग गौरी कूँ लैकें।
भूत परेतन संग लिये और ब्याल कौ भूषण अंग में दैकैं।
मान सरोवर पहुँचि गये एक दादुर झाँक्यौ पानी में कैं।
ब्याल गये सब दादुर पै तब गौरि हँसी मुख आँचल दैकैं।

यहाँ शंकर के रूप को देखकर 'हास्य' का प्रदर्शन करने से हास्य मूलक 'रसाभास' का प्रदर्शन हुआ है। इसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति का भयोत्पादक अट्टहास भी हास्य का रसाभास मात्र ही माना जायेगा।

बीभत्स मूलक रसाभास

बीभत्स मूलक रसाभास में 'जुगुप्सा' स्थायी का अनुचित रूप में प्रदर्शन किया जाता है। जैसे–सज्जनों की निन्दा या सज्जनों के प्रति घृणा-भाव का प्रदर्शन, गुरुजनों की निन्दा आदि। महात्मा तुलसीदास ने इसी वृत्ति को लक्ष्य करके कहा था–

'हरि हर निंदा सुनहिं जे काना। तासु पाप गौ घात समाना।।' (मानस)

निम्नलिखित पंक्तियों में बीभत्स रस का परिपाक नहीं होता जबकि ये पंक्तियाँ बीभत्स रस के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की गई हैं :–

"छेंड़ी में घुसौ कि धर ईंधन के घनस्याम।
पर घरनीनि पहँ जात न घिनात जू।" (रसिक प्रिया)

इन पंक्तियों में श्री कृष्ण को एक अत्यधिक कामुक एवं घृणित कार्य करने वाले पुरुष के रूप में चित्रित किया है परन्तु ये पंक्तियाँ कृष्ण के प्रति न तो निन्दा के भाव को ही उद्भूत करती हैं और न उनके प्रति घृणा का भाव ही मन में उद्भूत होता है बल्कि श्री कृष्ण के अश्लील चित्रण करने के लिए सहृदय पाठक तो कवि को ही गालियाँ देगा। जबकि एक कामुक, निर्लज्ज तथा जार व्यक्ति इन पंक्तियों को सुनकर बल्लियाँ उछल पड़ेगा क्योंकि ये पंक्तियाँ उस के अत्याचार पर पर्दा डालने का काम करेंगी और उसे इन अश्लील वर्णनों में लौकिक सुख मिलेगा। इस दोहरी स्थिति में सहृदय के भाव 'जुगुप्सा' का साधारणीकरण नहीं होगा। अत: इन पंक्तियों में रसाभाव की ही चर्वणा होगी।

भयानक मूलक रसाभास

भय का भाव जब किसी निजी सम्बन्धी में प्रदर्शित किया जाता है तब वहाँ भय के पूर्ण परिपाक में बाधा उपस्थित हो जाती हैं क्योंकि अपनों के कोप से सज्जनों को तो भय होगा और दुष्टों को प्रसन्नता होगी। जैसे–कैकेयी के द्वारा राम-वन-गमन का वरदान माँगते समय वह अत्यधिक निष्ठुरता का प्रदर्शन करने से अपने पति के लिये ही भय का आलम्बन बन जाती है और महाराज दशरथ उसकी इस भयावनी मुख-मुद्रा को देखकर काँप उठते हैं। यथा :–

असकहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। भानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी।।
पाप पहार प्रगट भई सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई।
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा।।
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली विपति बारिधि अनुकूला।।
लखी नरेश बात पुरि साँची। तिय मिस मीचु सीस पर नाची।। (रामचरितमानस)

इन पंक्तियों में कैकेयी के भयानक रूप के प्रवाह में सूर्य वंशी महाराज दशरथ का धैर्य एवं साहस इस प्रकार बह गया जिस प्रकार नदी के भीषण प्रवाह में उसके किनारे के वृक्ष ढहकर विलीन हो जाते हैं। यहाँ 'पत्नी' ही 'भय' का आलम्बन है।

अतः आलम्बन सम्बन्धी अनौचित्य होने के कारण इन पंक्तियों के पठनादि से उद्भूत भय के भाव का साधारणीकरण संभव नहीं हो सकेगा और ये पंक्तियाँ सहृदय के मन में घृणा, भर्त्सना व कैकेयी की निन्दा आदि के भावों को ही उद्भूत करेंगी।

अद्भुत मूलक रसाभास

अद्भुत मूलक रसाभास का कारण 'आलम्बन' की अवास्तविकता होती है जैसे जादूगर या बाजीगर के आश्चर्यजनक कार्य अवास्तविक होने के कारण 'कौतूहल' के भाव को साधारणीकृत नहीं होने देते। 'चित्रलेखा' उपन्यास में कुमारगिरि द्वारा एक ज्योति के रूप में प्रदर्शित 'ब्रह्म-स्वरूप' को देखकर सम्पूर्ण सभा तो आश्चर्य चकित हो जाती है परन्तु चाणक्य और चित्रलेखा को कुछ भी दिखाई नहीं देता। इस प्रकार कुमारगिरि का अद्भुत प्रदर्शन चित्रलेखा व चाणक्य के द्वारा खण्डन किये जाने पर निर्मूल सिद्ध हो जाता है। अतः विस्मय का भाव साधारणीकरण की कोटि में पहुँचने से वंचित रह जाता है और इस प्रसंग में मात्र रसाभास का ही उपादान होता है। जयद्रथ-वध के अवसर पर जब श्री कृष्ण कार्य की सिद्धि हेतु सूर्य को सुदर्शन चक्र से ढँक देते हैं और पुनः सूर्य की विद्यमानता को दिखाकर जयद्रथ-वध करा देते हैं तो यहाँ भी जब पाठकों को पता चलता है कि वह तो श्री कृष्ण की एक नीति-विशेष थी तो पाठकों के 'विस्मय' का पर्यावसान श्री कृष्ण की अपार सामर्थ्य में हो जाता है और विस्मय का भाव, रस परिपाक से पूर्व ही विलीन होकर कृष्ण के प्रति श्रद्धा का रूप धारण कर लेता है।

महात्मा तुलसीदास ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर राम के अद्भूत कार्यों के सम्बन्ध में पाठकों के 'विस्मय' का भी परिहार किया है :–

समरथ कहँ कहा दोष गुसाईं। सुर सरि रवि पावक की नाईं।। (मानस)

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रसाभास' का काव्य-शास्त्रीय विवेचन एक विशिष्ट महत्व रखता है क्योंकि 'रसाभास' और 'रस' के भ्रम को दूर करने के लिए दोनों के स्वरूप भेद तथा परिणामादि का स्पष्ट परिचय देना आवश्यक है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी का लगभग आधा काव्य जिसे हम शृंगार रस की कोटि में रखते हैं मात्र शृंगाराभास ही है। रीतिकालीन अश्लील साहित्य को शृंगार-साहित्य मानना भारी भूल होगी और 'रस' के आत्मरूप को विकृत करना मात्र माना जायेगा। अतः जो विद्वान् रीतिकालीन शृंगार साहित्य या छायावादी शृंगारी साहित्य को शृंगार रस के अंतर्गत रखते हैं वे रस के स्वरूप को जानते ही नहीं। यदि रसाभास को और अधिक बारीकी से देखा जाये तो सूफी-कवियों, सन्त-कवियों तथा कृष्णभक्त कवियों तक के शृंगारिक वर्णनों में रसाभास की गंध आती है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के प्रेम-वर्णनों में शब्दावली तो लौकिक ही है परन्तु उनका विषय पारलौकिक (परमात्मा-प्रेम) बताया जाता है। यदि इसे मान भी लिया जाय तो भी कामुक, दुराचारी और भ्रष्ट लोग तो इसी को सम्बल बना कर अपनी वासना की पूर्ति करते

रहेंगे या वे काव्य के सूक्ष्म तत्त्वों को न समझ सकने के कारण उसके पारलौकिक परिवेश तक न पहुँच पावेंगे। अत: इन वर्णनों में भी साधारणीकरण की क्षमता न होने के कारण बहुत बड़ी सीमा तक ये रसाभास के अंतर्गत ही माने जायेंगे।

भावाभास

पं. राम दहिन मिश्र भावाभास की परिभाषा इस प्रकार देते हैं :–

'भाव की व्यंजना में, जब किसी अंश में अनौचित्य की झलक रहती है तब वे भावाभास कहलाते हैं।'[53]

'मिश्र', जी के इस कथन का आशय यह हुआ कि जब 'भाव' भी अनौचित्य की कोटि में चला जाता है तब वह 'भावाभास' कहलाता है। इसके लिए वे इस उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं :–

दरपन में निज छाँह सँग, लखि प्रीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माह।।[54]

अर्थात् जब नायिका दर्पण में अपना मुख देखती है तो उसका प्रियतम उसके पीछे आकर खड़ा हो जाता है। इस पर नायिका को क्रोध आ जाता है परन्तु वह क्रोध बनावटी होता है और स्नेह में विलीन हो जाता है। यदि इस उदाहरण को भावाभास का सही उदाहरण मान लें तो भावाभास की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है :–

'जब केई भाव किसी अन्य भाव को उत्कृष्टता प्रदान करने के लिये कृत्रिम रूप में प्रकट किया जाता है तो वह कृत्रिम भाव आभासित होने के कारण 'भावाभास' कहलाता है।'

यदि व्यभिचारी भावों को अनौचितय की कोटि में जाने के कारण भावाभास माना जायेगा तो व्यभिचारियों के अनुचित प्रदर्शन से उत्पन्न रसाभास का आधार ही समाप्त हो जायेगा। अत: जहाँ भाव केवल किसी दूसरे भाव में या तो चमत्कार के साथ इस प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार कि फ्यूज होते समय 'बिजली का बल्व' एकदम चकाचौंध उत्पन्न करके विलीन हो जाता है या कोई अव्यक्त भाव इस प्रकार उद्‌भूत हो जाता है जिस प्रकार स्विच के दबा देने पर बल्व फक्क से जल उठता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी दो भाव एक साथ इस प्रकार चमत्कार के साथ उद्‌भूत हो जाते हैं जिस प्रकार कोई दो व्यक्ति दो दिशाओं से टार्चों की तेज रोशनी करके चकाचौंध उत्पन्न कर देते हैं। कभी-कभी कई भाव निरन्तर उद्‌भूत होकर इस प्रकार चमत्कार की सृष्टि करते हैं जैसे आतिशबाजी से एक साथ अनेक फुलझड़ियाँ छूटती हैं। **इस आधार पर 'भावाभास' भावों की वह चमत्कार मूलक क्षणिक स्थिति होती है जो भावों के परिपक्वावस्था में पहुँचने से पूर्व ही विलीन हो जाती है।** अत: 'भावाभास' के चार प्रकार बताये गये हैं–

1. भावशान्ति 2. भावोदय 3. भाव सन्धि 4. भाव शबलता।

नीचे इन चारों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है :–

भाव शान्ति

जहाँ एक भाव दूसरे विरुद्ध भाव के उदय होने से शान्त होता हुआ भी चमत्कार-कारक प्रतीत होता है, वहाँ भाव शान्ति होती है।[55] जैसे :-

बोले चितइ परसु की ओरा। रे सठ सुनसि सुभाउ न मोरा॥
बालक बोलि बधहुँ नहि तोही। केवल मुनि जड़ जानसि मोही॥

(रामचरितमानस)

यहाँ प्रथम पंक्ति में प्रदर्शित क्रोध का भाव बालक पर हाथ न उठाने सम्बन्धी दयालुता के भाव के उद्‌भूत होने पर एक झटके के साथ समाप्त हो जाता है परन्तु समाप्ति के समय भी वह चमत्कार-कारक प्रतीत होता है। अत: इन पंक्तियों में **भाव-शान्ति** मूलक भावाभास है।

भावोदय

जहाँ एक भाव की शांति के बाद दूसरे भाव का उदय हो और उदय हुए भाव में ही चमत्कार का पर्यवसान हो वहाँ भायोदय होता है।[56] यथा– **देखि कुठारु सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना॥**
भृगु सुत समुझि जनेऊ बिलोकी। जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन पर न सुराई॥ **(मानस)**

इस प्रसंग में प्रथम पंक्ति में लक्ष्मण 'गर्व' का भाव प्रदर्शित करते हैं परन्तु अगली पंक्ति में उनके 'गर्व' का भाव समाप्त हो जाता है और 'निर्वेद' तथा 'दया' के भाव चमत्कार के साथ उद्‌भूत होते दिखाई देते हैं। अत: यहाँ भावोदय नामक 'भावाभास' का उपादान होता है।

भाव-सन्धि

जहाँ एक साथ तुल्यबल एवं सम चमत्कारक दो भावों की सन्धि हो वहाँ भाव सन्धि होती है।[57] जैसे–

'अतिरिस उतर देत नृप नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं॥'

इन पंक्तियों में क्रोधाभिभूत परशुराम के वचनों को सुनकर जहाँ एक ओर राजा जनक के मन में 'भय' व्याप्त है, वहीं दूसरी ओर कुटिल राजाओं के मन में 'हर्ष' का भाव उद्‌भूत हो जाता है। ये दोनों ही भाव समान रूप से तुल्यबलयुत तथा तुल्य चमत्कारक हैं। अत: यहाँ 'भाव सन्धि' नामक भावाभास है।

भाव शबलता

जहाँ एक के बाद दूसरा और फिर तीसरा-इसी प्रकार कई समान चमत्कारक भावों का सम्मेलन हो, वहाँ भाव सबलता होती है।[58] जैसे–

(1) सुनि मृदुवचन गूढ़ रघुपति के। उघरे पटल परशुधर मति के॥ **निर्वेद॥**
(2) राम रमापति कर धनु लेहू। खेंचहु चाप मिटै संदेहू॥ **शंका॥**

(3) देत चापु आपुहि चढ़ि गयेऊ। परशुराम मन विस्मय भयेऊ।। **विस्मय।।**

(4) जाना राम प्रभाव तब। **पुनः निर्वेद।।**

(5) पुलक पुफुल्लित गात।। **हर्ष।**

(6) जोरि पानि अस्तुति करत। **दैन्य।।**

(7) प्रेम न हृदय समात।। **प्रेम तथा पुनः हर्ष।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त पंक्तियों में एक के बाद एक भाव पूर्ण चमत्कार के साथ उद्भूत होता है। अतः यहाँ '**भाव शबलता**' नामक 'भावाभास' की उपादेयता है।

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ **'रसाभास' का आधार भाव, विभाव और अनुभावों का अनुचित प्रयोग तथा प्रदर्शन होता है वहाँ भावाभास का आधार भावों का सद्य एवं क्षणिक चमत्कार ही होता है 'भावाभास' वहाँ समझना चाहिए जहाँ 'रस' के साथ भाव भी रेखांकित होता दिखाई दे।**

रसों का परस्पर सम्बन्ध

मित्र रस और शत्रु रस

रस विवेचन में प्रसंगवश आचार्यों ने रसा के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी विचार किया है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धन ने 'रस-विरोध' का उल्लेख करते हुए उसे 'रस-भंग' की संज्ञा दी है। इनके अनुसारश्रृंगार के तीन विरोधी रस हैं–

शान्त, रौद्र और करुण।[59] आनन्दवर्द्धन के पश्चात् रसों के विरोधत्व पर आचार्यों ने विशदता से विचार किया। मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने रस-विरोध का विवेचन 'रस-दोष' प्रसंग में किया है। इनमें विश्वनाथ का मत इस प्रकार है–

	रस		शत्रु (विरोधी) रस
(1)	श्रृंगार	–	करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक।
(2)	हास्य	–	भयानक और करुण।
(3)	करुण	–	हास्य और श्रृंगार।
(4)	रौद्र	–	हास्य, श्रृंगार और भयानक।
(5)	वीर	–	भयानक और शान्त।
(6)	भयानक	–	श्रृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त।
(7)	बीभत्स	–	श्रृंगार।
(8)	शान्त	–	वीर, श्रृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक।[60]

पं. राज जगन्नाथ ने शत्रु रसों का निरूपण इस प्रकार किया है :–

श्रृंगार और बीभत्स।

श्रृंगार और करुण।

वीर और भयानक।

शांत और रौद्र

शान्त और श्रृंगार।[61]

केशवदास ने करुण और हास्य, बीभत्स औरश्रृंगार वीर और भयानक रसों को परस्पर विरोधी रस माना है।[62]

उपर्युक्त मत का आशय यह है कि 'अद्‌भुत रस' का कोई विरोधी रस ही नहीं है क्योंकि आश्चर्य एक सर्वग्राह्य भाव है और उसका अन्तर्भाव प्रत्येक भाव में सरलता से किया जा सकता है। इसी आधार पर पं. विश्वनाथ के पिता नारायण पण्डित ने **"सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः"** की धारणा व्यक्त की है। नारायण पण्डित की यह धारणा अनुकूल ही प्रतीत होती है क्योंकि कहीं आलम्बन, कहीं आश्रय और कहीं अनुभावादि में वैचित्र्य का यत्किंचित् भाव अवश्य ही विद्यमान रहता है।

मित्र रसों के सम्वन्ध में उपर्युक्त आचार्यों के मत अधिक समीचीन हैं। अतः इन्हीं का उल्लेख नीचे किया जाता है :-

पं. विश्वनाथ ने वीर, **अद्‌भूत और रौद्र; श्रृंगार और अद्‌भुत; भयानक और बीभत्स; को परस्पर मित्र रस माना है।**[63]

पं. राज जगन्नथ का मत है – वीर और श्रृंगार, श्रृंगार और हास्य, वीर और अद्‌भुत, वीर और रौद्र तथा श्रृंगार और अद्‌भूत परस्पर मित्र रस हैं।[64]

केशव दास के मतानुसार **भयानक और बीभत्स, श्रृंगार तथा हास्य, अद्‌भुत और करुण तथा वीर और रौद्र का भी परस्पर विरोध नहीं है।**[65]

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि 'शान्त' रस का कोई मित्र रस नहीं है अर्थात् 'शान्त' सब का विरोधी रस है

रस विरोध तथा सम्बन्ध के आधार

पं. विश्वनाथ का मत है कि 'रसों का विरोध या अविरोध तीन प्रकार से माना जा सकता है। कोई तो ऐसे हैं जो एक आलम्बन के विरुद्ध होते हैं कोई आश्रय में विरुद्ध होते हैं और कोई एक दूसरे के बाद आगे-पीछे बिना व्यवधान के आने से विरुद्ध होते हैं।[66]

इसका आशय यह हुआ कि रसों का पारस्परिक विरोध तथा सम्बन्ध आश्रय तथा आलम्बनों के सम्बन्ध और विरोध तथा उनके निरन्तर प्रवेश पर आधारित रहता है। नीचे इसकी विवक्षा सोदाहरण प्रस्तुत की जाती है–

आलम्बन सम्बन्धी विरोध और एकता

यदि संयोगश्रृंगार जैसे कोमल रस का आलम्बन यदि कोई सुंदर स्त्री या पुरुष (प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी) हैं तो वह वीर, रौद्र, भयानक आदि कठोर रसों के आलम्बन अर्थात् 'शत्रु' रूप में गृहीत नहीं हो सकते। यदि प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी में युद्ध ठन जाता है और एक दूसरे के रक्त का प्यासा बन जाता है जैसे कैकेयी और दशरथ,

तो वहाँश्रृंगार का स्थायी भाव 'रति' समाप्त हो जायेगा और 'वीर' का स्थायी भाव 'उत्साह', भयानक का भय, रौद्र का क्रोध स्थायी भाव प्रदर्शित होने लग जायेंगे। यही आलम्बनत्व धर्म हैं क्योंकि निर्बल पर क्रोध इतना आता है कि रोकने से भी नहीं रूकता और सबल की ओर क्रोध ढकेलने पर भी नहीं बढ़ता। इस आधार पर आलम्बनत्व धर्म का विरोध के कारण से कुछ रसों में शत्रुता पायी जाती है। इसके विपरीत कुछ रसों के आलम्बन समान होते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं प्रदर्शित होता, इसीलिए उन्हें मित्र रस कहा जाता है जैसे–

'गोल कपोल पलट कर सहसा बने भिड़ों के छत्तों से।।
हिलने लगे उष्ण श्वासों से ओठ लपालप लत्तों से।
कुन्दकली से दाँत हो गये बढ़ बराह की दाढ़ों से।
विकृत भयानक और रौद्र रस प्रकटे पूरी बाढ़ों से।। (पञ्चवटी)

इन पंक्तियों में शूर्पनखा एक ही स्थिति में समान रूप से राम तथा लक्ष्मण के उत्साह, सीता के भय तथा तीनों के ही 'जुगुप्सा' भाव का आलम्बन बनी हुई है। इस प्रकार वीर, भयानक और बीभत्स आलम्बन ऐक्य के कारण परस्पर मित्र रसों की भाँति एक ही स्थान पर उद्भूत हुए हैं।

वीर, रौद्र भयानक तथा अद्भुत रसों के आलम्बन ऐक्य का भी उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है :–

प्रथम टँकोर झुकि झारि संसार मद,
चंड कोदंड रह्यौ मंडि नव खंड को।
चालि अचला अचल घालि दिगपाल बल,
पालि रिषिराज के वचन परचण्ड को।
सोधु दै ईस को बोधु जगदीस को,
क्रोध उपजाय भृगुनन्द बरिबंड को।
बाँधि वर स्वर्ग को, साधि अपवर्ग,
धनुभंग को सबद गयौ भेदि ब्रह्मण्ड को।।
(रामचंद्रिका)

इन पंक्तियों में धनुष-भंग का शब्द ही राम के उत्साह ऋषि, मुनियों और देवताओं के आश्चर्य, लोकों के भय तथा परशुराम के क्रोध का आलम्बन बना हुआ है। इस प्रकार इस एक ही पद में एक साथ वीर, रौद्र, भयानक तथा अद्भुत रसों की स्थिति संभव हो सकी हैं।

आश्रय सम्बन्धी विरोध तथा एकता

रसों में आश्रय सम्बन्ध विरोध भी पाया जाता है जैसे–

श्रृंगार के समक्ष शान्त नहीं ठहर सकता। भयानक के समक्ष वीर तथा रौद्र रफूचक्कर हो जाते हैं। करुण में हास्य के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

विश्वमोहिनी कन्या को प्राप्त करने के लालच से नारद ने अपना खूब उपहास कराया था। वीर व्रत धारी अर्जुन के समक्ष रंभा का प्रेम पानी-पानी हो गया था शुर्पनखा के परिणय प्रस्ताव को राम तथा लक्ष्मण दोनों ने ही ठुकरा दिया था। राम के समक्ष परशुराम का क्रोध तथा श्रीकृष्ण के समक्ष भीष्म के बाण भी शक्ति-हीन हो गये थे।

कुछ रस ऐसे भी हैं जिनमें आश्रय की एकता देखी जाती है। उदाहरणार्थ-

तरनि तनूजा तीर तरुवर तर ठाढ़े,
तारी दै दै हँसत कुँवर कान्ह प्यारी सौं।। (रसिकप्रिया)

इस उदाहरण में हास्य तथा संयोग श्रृंगार दोनों ही रस उपलब्ध होते हैं। श्री कृष्ण संयोग श्रृंगार तथा हास्य दोनों के ही आश्रय हैं। इसी प्रकार गंगावतरण के निम्नलिखित उदाहरण में भी शंकर वीर तथा रौद्र की मुद्रा में चित्रित किये गये हैं-

बल-विक्रम-पौरुष अपार दरसत अंग अंग सों।
वीर-रौद्र दोऊ रस उदार झलकत रँग-रँग सों।
मनहुँ भानु-सित भानु किरण विरचत पटवर की।
झलक दुरंगी देह देति दुति सिव शंकर की।। (गंगावतरण-रत्नाकर)

निरन्तर आविर्भाव तथा तिरोभाव सम्बन्धी विरोध तथा ऐक्य

रसों के पारस्परिक विरोध तथा सहयोग का तीसरा आधार है निरन्तर एक रस के पश्चात् दूसरे रसों का आविर्भाव और पूर्व का तिरोभाव। इस प्रकार की विकट परिस्थितियों में यह नहीं देखा जाता कि कौन सा रस विरोधी है और कौन सा सहयोगी। परिस्थितिवश सभी सहयोगी बन जाते हैं। एक कहावत है- 'संकट में सभी प्राणी अपने सहज बैर को भूलकर परस्पर सहयोग तथा सहानुभूति से काम करते हैं।' काव्य में रसों की भी यही स्थिति है जो दो रूपों में उद्‌भूत होती है।

1. विरोधी रस का उद्‌भव तथा अनुकूल रस का पराभव।
2. विरोधी तथा अनुकूल रसों के उद्‌भव और पराभव कीश्रृंखला या संकर।

कभी-कभी ऐसा होता है कि करुण के पश्चात् रौद्र और वीर जैसे विरोधी रसों का उत्थान सहसा हो उठता है और वीर के पश्चात करुण रसादि की संसृष्टि भी होती देखी जाती है परन्तु ये रस विरोधी जैसे न रह कर अनुकूलता की स्थिति में आ जाते हैं। यह कहा जाता है कि समय आने पर सभी सुन्दर हो जाते हैं। इसी प्रकार चाहे रौद्र हो या करुण, परिस्थितियों के आधार पर अनुकूलता धारण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ-

'गहि गिरि निशि नभ आवत भयेऊ। अवधपुरी ऊपर कपि गयेऊ।।
जाना भरत विशाल अति निशिचर मन अनुमानि।
बिनु फर सायक मारेऊ चाप श्रवन लगि तानि।।
गिरा धरनि मँह लागत सायक। सुमिरत राम-राम रघुनायक।।
कपि समीप तब आतुर आवा। जागा नहिं बहु भाँति जगावा।।
अहह दैव मैं कत जग जायऊँ। प्रभु के एकौ काज न आयउँ।।

इन पंक्तियों में प्रथम भरत ने 'उत्साह' में भरक हनुमान को बाण मारकर नीचे गिरा लिया और जब देखा कि यह तो कोई राम का ही दास है जो भूल से मारा गया है तो भरत का उत्साह तुरन्त ही शोक में परिणित हो गया। इसी प्रकार 'राम चन्द्रिका' और 'रामचरितमानस' के परशुराम संवाद में राम को शान्त के पश्चात् रौद्र रूप धारण करते देखा जाता है और परशुराम को रौद्र से 'शान्त' की धारा में बहते देखा जाता हैं। हनुमान द्वारा संजीवनी बूटी लेकर पहुँचते ही राम की करुणा उत्साह में परिवर्तित हो जाती है। यथा–

'प्रभु विलाप सुनि कान विकल भये वानर निकर।
आइ गये हनुमान जिमि करुणा में वीर रस।।' (मानस)

इस प्रकार के अनेक उदाहरण साहित्य में यत्र-तत्र और सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं।

मित्र तथा शत्रु रसों की 'नैरन्तर्य' सम्बन्धिनी दूसरी स्थिति तब आती है जबकि एक के पश्चात् दूसरा, तीसरा और चौथा अन्य रस बराबर उपस्थित होकर विलीन होते रहते हैं। यथा :–

'हा! धर्मवीर अजात शत्रो आर्य भीम हरे-हरे।
हा! प्रिय नकुल सहदेव भ्रातः उत्तरे हा! उत्तरे।
हा! देवि कृष्णे हा! सुभद्रे यह अधम अर्जुन चला।
धिक है क्षमा करना मुझे मुझसे हुआ रिपु का भला।।'
'इस भाँति अर्जुन का कथन श्री कृष्ण थे जब सुन रहे।
हँस कर जयद्रथ ने तभी ये विष वचन उनसे कहे।
गोविन्द अब क्या देर है प्रण का समय जाता टला।
शुभ कार्य जितना शीघ्र हो उतना ही है अपना भला।।'
'सुनकर जयद्रथ का कथन हरि को हँसी कुछ आ गई
गम्भीर श्यामल मेघ में विद्युत्छटा सी छा गई
कहते हुए उस समय का क्या भूल सकते वेश है।
हे पार्थ! प्रण पूरा करो देखो अभी दिन शेष है।' (जयद्रथ-वध)

इन पंक्तियों में अर्जुन के शोक, जयद्रथ के उत्साह, श्री कृष्ण के हास्य तथा उत्साह और अर्जुन के उत्साह तथा जयद्रथ के भय व आश्चर्यादि का एक साथ ऐसा विचित्र वर्णन है जिसमें शत्रु तथा मित्र रसों का सांकर्य ही मनोहारी एवं उत्कृष्टतम बन गया है। परन्तु काव्य में इस प्रकार की स्थितियाँ बहुत कम देखने को मिलती हैं। युद्ध के प्रसंग में प्रायः एक साथ उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, करुणा, आश्चर्य आदि के मनोहारी चित्र उपलब्ध होते हैं जो यथा स्थान होने के कारण दुःखदायी प्रतीत नहीं होते।

रस विरोध का परिहार

रस-विरोध के परिहार की विवक्षा भी सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धन द्वारा ही की गई

है–

विवक्षते रसे लब्ध प्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानाम अंगभाव वा प्राप्तानामुक्ति रच्छला।। (ध्वन्यालोक 3-20)

अर्थात् जब अभीष्ट रस का परिपाक हो जाता है तब बाध्य रूप से तथा अंग रूप से विरोधी रसों के वर्णन करने से भी रस भंग नहीं होता। इसके उदाहरण उपर्युक्त दोनों प्रकार के रस विरोधों में प्राप्त होते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कभी-कभी विरोधी भाव के प्रदर्शन के लिए एक ही आश्रय को बाध्य होना पड़ता है। जैसे–जब रावण सीता से राम की निंदा करके अपनी ओर ध्यान देने का प्रस्ताव करता है तो सीता अपनी वियोगवस्था को भूलकर रौद्र रूप धारण करने को बाध्य हो जाती हैं और रावण को इन शब्दों में दुत्कारती हैं :–

उठि-उठि सठ ह्याँते भागि तौलों अभागे।
मम वचन विसर्पी सर्प जौलों न लागे।।
विकट सकुल देखों आसु ही नास तेरौ।
निपट मृतक तोकों रोष मारे न मेरौ।। (रामचन्द्रिका)

इसी प्रकार जब परशुराम, राम से यह कहते हैं कि मैंने संसार के क्षत्रियों को ढूँढ-ढूँढ कर मार डाला है। मुझसे कोई भी दुरात्मा क्षत्री पृथ्वी पर शेष नहीं रहा है। केवल तुम्हारे (राम के) गुरु विश्वामित्र ही ऋषि का वेष धारण करके ही मेरे वाणों से अपने को बचा सके हैं। इन शब्दों में गुरु की निन्दा को श्रवण करके राम की समस्त शांति और गम्भीरता रौद्र तथा वीर रस में परिवर्तित हो जाती है और वे परशुराम को ललकारते हुए कहते हैं–

भृगुनन्द सम्हारु कुठारु मैं कियो सरासन जुक्त सर।। (रामचंद्रिका 7-42)

इसी प्रकार बाध्यता सम्बन्धी विरोधी रस के उपस्थित होकर मूल रस को उपकारित करने के अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

अंग रूप में भी जब विरोधी रस प्रयुक्त होता है तब भी मूल रस-भंग नहीं होता। जैसे– हनुमान को भरत का बाण लगा और वे राम-राम कहते हुए पृथ्वी पर गिर पड़े। उसके पश्चात् भरत का परिचय पाकर वे पुनः स्वस्थ हो गये और 'उत्साह' का प्रदर्शन करने लगे। इसी प्रकार भरत को प्रथम उत्साह फिर करुणा और फिर उत्साह का भाव का ग्रहण करना पड़ा जिससे करुणा, उत्साह के अंगी रूप में उद्‌भूत होकर उसकी सहायक ही बनी।

आगे चलकर अन्य आचार्यों ने भी रस-विरोध के परिहार की चर्चा की है। मम्मट ने रस-विरोध को रस-दोष का एक प्रमुख कारण मानते हुए इसी प्रसंग में इसके परिहार का विवेचन भी किया है जो इस प्रकार है :–

सञ्चार्यादेर्विरूद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा।
आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्न संश्रयः।

रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः।
स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः
अंगिन्यंग त्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्॥ (का. प्र. 7,63-65)

अर्थात् प्रकृत रस के विपरीत संचारी भाव, विभाव तथा अनुभावादि का बाध्यरूप में कथन करना गुण ही माना जाता है। जो रस आश्रय विरोधी होते हैं उनको भिन्न आश्रय में वर्णित करना चाहिए। जो रस नैरन्तर्य से विरोधी हों उनके बीच में किसी अविरोधी रस की नियोजना कर देनी चाहिये। विरोधी रस भी यदि स्मृति मूल रूप में या साम्य-मूलक रूप में विवक्षित हो तो वहाँ विरोध का परिहार हो जाता है। इसी प्रकार जब दो विरोधी रस किसी तीसरे रस के अंग बनकर उद्भूत होते हैं तो वहाँ भी विरोध समाप्त हो जाता है।

मम्मट के पश्चात् विश्वनाथादि आचार्य भी इसी मत से प्रभावित दिखाई देते हैं। मम्मट के उपर्युक्त कथन में प्रकारान्तर से आनन्दवर्द्धन का ही समर्थन किया गया है जिसका विवेचन सोदाहरण ऊपर किया जा चुका है। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ ने केवल एक ही शंका व्यक्त की है कि :- रस जो वस्तुतः अंगी रूप ही होता है यदि वह किसी रस का अंग बन जाए तो रस आस्वादित ही नहीं होगा। अर्थात् वह रस रूप को धारण ही नहीं करेगा केवल 'खण्ड रस' के रूप में ही गृहीत हो सकेगा।[67] यह तो स्पष्ट ही है दो रस अंगी रूप में एक साथ उपस्थित नहीं हो सकते। उनमें एक को मात्र सहायक या भाव के रूप में ही रखा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस-क्षेत्र में शत्रुता तथा मित्रता का भी पर्याप्त विवेचन हुआ है परन्तु यदि गम्भीरता पूर्वक विवेचन किया जाए तो अंत में पं. विश्वनाथ का यह मत ही अधिक समीचीन लगता है कि **मूल रस (अंगी रस) के विरोध या अंग रूप में प्रयुक्त 'अखण्ड' रस के रूप में 'आस्वाद्य' नहीं होगा। वह मात्र 'खण्ड' रूप में या 'भाव' रूप में ही गृहीत होगा क्योंकि जब एक रस निष्पन्न हो जाता है तो अन्य कोई भी रस उसके समक्ष स्वतंत्र रूप में नहीं टिक सकता। इसका कारण यह है कि स्थायीभाव जो रस का मूलाधार है अपने किसी भी विरोधी या अविरोधी भाव से विच्छिन्न नहीं होता और सभी भावों को अपने में आत्मसात् करके तद्रूप बना लेता है।**[68]

इस स्थिति में एक रस के आगे कभी दूसरा रस ठहर ही नहीं सकता। वह केवल संचारी भाव के रूप में ही अवस्थित रह सकता है। दूसरी ओर जहाँ अद्भुत का कोई विरोधी रस नहीं माना गया है और शान्त रस के मित्र रस की भी विवक्षा नहीं की गई है। इसका आशय भी यही है कि आश्चर्य सभी रसों में संचारी के रूप में रहने की योग्यता रखता है और आश्चर्य के अन्तर्गत अन्य सभी रसों के स्थायी भाव संचारी भावों के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं परन्तु शान्त रस के संचारी भाव सीमित हैं और अन्य रसों का एक भी स्थायी भाव शान्त के संचारी बनने की योग्यता नहीं रखता।

टिप्पणियाँ

1. काव्यालंकारसारसंग्रहस 4.4
2. हिन्दी अभिनव भारती पृ. 429, 640
3. नाट्यशास्त्र 6.17 (पूर्वार्द्ध)

4-5. दशरूपक 4.35-4.83

6-7. हिन्दी अभिनव भारती पृ. 429, 640

8-9. रसतंगिणी, पृ. 161

10. श्रीमद्भवगवद्गीता अध्याय 12

11. 'रसानां नवत्वगणना च मुनिवचन नियंत्रिता भजयते, इति यथा शास्त्रमेव ज्यायः। (हिन्दी रस गंगाधर पृ. 276)

12. नवहू रस के भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सब को केशवदास हरि नायक है सिंगार।। (रसिक प्रिया)

13. भारतेन्दु द्वारा लिखित पत्र 5-7-1872 तथा विवचन सुधा पृ. 178-17

14-16. सरस्वती कण्ठामरण 5/138, 5-97

17. तव झुकितराइ गंगह तट ता रचिपचि उच्च अवास।
चाहि गहउ चहुआन तकु जुमिलइ बाला आस।। (पृ० रा० रा० पृ. 41)

18. 'इह शांतरस प्रति वादिनयामनेकविधा विप्रतिपत्तयः, तत्र केचिदाहुः-
नास्त्येव शान्तो रसः' तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्।'
(द.रू.चौ.प्र. पृ. 227)

19. अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति-अनादिकालप्रवाहायात रागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। (द.रू.चौ.प्र. पृ. 226)

20. ---- अन्येतु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। वही।।

21. 'निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः।। (दशरूपक 4.36)

22. शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता।' (द० रू० 4-45)

23. न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेष रागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।।' (द. रू. पृ. 260)

24. "इत्येवंलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणनिर्वचनीयतां।---- न च तथा भूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति,--।" (द. रू. वृत्ति पृ. 260)

25-26. शांतवीशृंगारेकोऽगंगीरस उच्यते। (साहित्य दर्पण)

27. येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्य लोके भुविभारभूता मनुष्यरूपेण मृबाश्चरन्ति।। (नीति श्लोक)

28. गीता अध्याय-12

29.. अत: मोक्षाय भक्तानां न कदापि स्पृहा भवन्ति। (उ. नी. म.)

30. परिपूर्ण रसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवदृरति:।
खद्योतेभ्यइवादित्यप्रभेव बलवन्तरा।।
(मधुसूदन सरस्वती भगवद्‌भक्ति रसायन-पृ. 268)

31. काव्य दर्पण, पृ. 214।

32. रस सिद्धान्त, पृ. 269

33. दशरूपक 4-83।

34. ऐते नवैव रसा: पुरुषार्थोपयो गित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयतामेक उपदेशत्वात्। अतएव ईश्वर प्राणिधान विषये भक्तिश्रद्धे स्मृति धृत्युतसाहानुप्रतिष्ठे अन्य चैव वा अंगमिति न तयो: पृथक् रसत्वेन गणनम्। (अभिनव भारती)

35. अग्निपुराण 339-18

36. रत्योदयोऽर्धशतमे कविवर्जिताहि,
भावा: पृथग्विधविभावभुवोभवन्ति।
श्रृंगार तत्त्वमभित: परिवारयन्त:
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति।। (श्रृंगार प्रकाश) पृ. 469)

37-38 (क) अभावनोदयमनन्यधिया जनेन
यो भाव्यते मर्नासि भावनया स भाव:।
यो भावनापथमतीत्य विर्क्तमान:
साहंकृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ।। (श्रृंगार प्रकाश) पृ. 520)
(ख) ते (रत्यादय:) तु भाव्यमानत्वाद् भावा एव न रसा:। या वत्सम्भवं हि भावनया भाव्यमानो भाव एवसेच्यते, भावनापथमतीतस्तु रस:। मनोऽनुकूलेषु दु:खादिषु आत्मन: सुखाभिमानो रस:।
स तु पारम्पर्येण सुखहेतुत्वाद् रत्यादिभूमसु उपचारेण व्यवह्रियते। अतो न रत्यादीनां रसत्वम्, अपितु भावनाविषयत्वाद् भावत्वमेव।
(श्रृंगार प्रकाश) पृ. 517)

39. ना. शा. 6.45 (वृत्ति)।

40. तत्रैकामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्त परिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्व श्रृंगार:। (एकावली पृ. 99), काव्यादर्श पृ. 81, नाट्यदर्पण: पृ. 163

41. त्यक्तौग्रयमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणी: (साहित्यदर्पण 3,186)

42. समग्रवर्णनाधार:श्रृंगारो वृद्धिमश्नुते। (भाव प्रकाश, पृ. 91)

43. दशरूपक 47-47, 48

44. श्रीमंद्‌भगवद्‌गीता अध्याय 10।

45. एको रस शांत एव (भावा विकारा रत्याद्या: शांतस्तु प्रकृतिर्मत:) हिन्दी अभिनव भारती, पृ. 635

46. रसंतु इह प्रेमाणा मेयावनन्ति सर्वेषामपि रत्यादि प्रकर्षाणां रतिप्रियो अमर्षप्रियः परिहासप्रियः इति प्रेमण्येव पर्यवसानात्। (शृं. प्रकाश पृ. 463)

47. ध्वन्यालोक (रामसागर त्रिपाठी) पृ॰ 145

48. काव्य प्रकाश (ज्ञान मण्डल) पृ॰ 141

49. अनुचित विभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्। रस गंगाधर (चौ.) पृ॰ 335

50. रामचरितमानस में परशुराम लक्ष्मण संवाद।

51. जयद्रथ वध सर्ग-6।

52. इक बूड़े चहले परे बूड़े बहे हजार।
कितिक न औगुन जग करै नै वै चढ़ती बार। (बिहारी)

53-58. काव्य दर्पण पृ॰ 225-226

59. विरोधि रस सम्बन्धि विभावादि परिग्रहः----शान्तरसविभावेषु तद्विभावन्तयैव निरूपितेष्वनन्तरमेक्शृंगारादि विभाव वर्णने----विरोधिरसानुभावपरिग्रहो----। तदंगेत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान्।
(ध्वन्यालोक पृ॰ 213, 14-20)

60 साहित्य दर्पण पृ॰ 123-24 ।

61. रसगंगाधर पृ॰ 176

62. रसिकप्रिया 16, 12 ।

63. साहित्य दर्पण पृ॰ 262

64. रसगंगाधर पृ॰ 176 ।

65. रसिकप्रिया 16, 13

66. साहित्य दर्पण पृ॰ 262

67. अङ्ग बाध्योऽथ संसर्गीयद्यङ्गणस्याद्रसान्तरे।
नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्ड रसः स्मृतः।। (साहित्य दर्पण पृ॰ 262)

68. दशरूपक 4-34

पंचम अध्याय

अलंकार-सिद्धान्त

अलंकारवादी परम्परा का उद्भव एवं विकास

भारतीय काव्य-शास्त्र में 'अलंकार-सिद्धान्त' अपना विशेष महत्त्व रखता है। यह सिद्धान्त अन्य सभी सिद्धान्तों से प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है। काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य **भरत** ने 'नाट्य-शास्त्र' में केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है– **उपमा, रूपक, यमक और दीपक**। इन्होंने अलंकार की कोई परिभाषा नहीं दी परन्तु अलंकारों का सूत्र-पात तो सर्वप्रथम इन्होंने ही किया। अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक का श्रेय **भामह** को दिया जाता है। भामह ने सर्वप्रथम अलंकार को काव्य के लिए अनिवार्य घोषित किया।[1] भामह के पश्चात् **दण्डी** ने **अतिशयोक्ति और श्लेष** को अलंकारों का मूल मानते हुए काव्य में इनके प्रयोग पर बल दिया। दण्डी ने अलंकारों को काव्य शोभा–कारक धर्म कहा है।[2] दण्डी ने अलंकारों को अधिक व्यापक रूप में विवेचित किया है और अलंकार के भेदों का भी विस्तार भामह की अपेक्षा अधिक किया है। **इन दोनों ही आचार्यों ने रस, रसाभास, तथा भावाभास आदि को अलंकार मानते हुए उनके रसवत्, प्रेयस, उर्ज्वस्वित् तथा समाहित आदि भेद किए है।**

दण्डी के पश्चात **वामन** ने अलंकार की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उसे काव्य-सौन्दर्य की संज्ञा दी है[3] और गुणों को काव्य के शोभा कारक धर्म मानते हुए अलंकारों के गुणों का हेतु निर्धारित किया हैं।[4] इन्होंने यद्यपि काव्य में अलंकारों की ग्रहणीयता को स्वीकार तो किया है[5] परन्तु भामह तथा दण्डी की भांति अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं माना। वामन ने अलंकार को गुणों का कारण कहकर उसे रस से तीसरे स्थान पर और गुणों से दूसरे स्थान पर स्थापित कर दिया। आगे चलकर **आनन्दवर्द्धन** ने ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए अलंकार को ध्वनि के एक अंग के रूप में स्वीकार किया।

इसके पश्चात् **महिम भट्ट** ने अलंकार के लिए चारुत्व शब्द का प्रयोग किया। **कुन्तक** ने अलंकारों को पुन: महत्व देकर उसे काव्य का महत्त्वपूर्ण धर्म माना। आगे चलकर रसवादी **भोज** ने भी अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार किया है और उन्होंने रस, रीति तथा गुणों को भी अलंकारों के अन्तर्गत ही निर्धारित किया।

वाग्भटालंकार के लेखक **वाग्भट** ने अलंकार की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा कि दोषों से मुक्त और गुणों से युक्त होने पर भी बिना अलंकारों के कथन में चमत्कार उत्पन्न नहीं हो सकता, इस आधार पर वाग्भट्ट का मत था कि काव्य को अधिक रोचक एवं प्रभावशाली बनाने के लिए अलंकारों का होना अनिवार्य है। 'अलंकार' परम्परा को आगे बढ़ाते हुए **केशव मिश्र** ने अपने 'अलंकार शेखर' ग्रंथ में कहा कि अलंकार शोभा के लिए होता है। **मम्मट** ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में अलंकारों की अनिवार्यता तो घोषित नहीं की परन्तु अलंकारों की आवश्यकता को अवश्य स्वीकार किया।[6]

मम्मट के मत को यद्यपि कट्टर अलंकारवादियों ने पसन्द नहीं किया। **अग्निपुराणकार**[7] तथा **जयदेव**[8] ने काव्य में साग्रह अलंकारों की घोषणा करते हुए अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व घोषित किया। इस प्रकार अलंकार का लम्बे समय तक काव्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित किये रहे। यहाँ तक कि 'अलंकार सिद्धांत' के समर्थकों की परम्परा रीतिकालीन आचार्यों तक निरन्तर चलती रही। रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशवदास ने काव्य में अलंकार के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा कि कविता चाहे कितना सुन्दर लक्षणों वाली हो परन्तु बिना अलंकारों के वह सुशोभित नहीं हो सकती।[9]

यह तो रही अलंकार-सिद्धांत के प्रवर्त्तकों, पोषकों तथा समर्थकों की बात। उपर्युक्त सभी आचार्यों ने अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार किया है और इनमें से अधिकांश ने तो अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हुए उसे काव्य का मूल तत्त्व घोषित किया है। आचार्यों का यह वर्ग अलंकार को काव्य के व्यापक तत्त्व के रूप में मानता रहा था। इनकी दृष्टि में अलंकार मात्र बाह्य सौंदर्य का बोधक नहीं है वह काव्य सौन्दर्य ही है और रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि उसके अंग ही हैं। रीतिकार वामन, ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन तथा वक्रोतिक्तकार कुन्तक ने चाहे प्रत्यक्ष रूप से रीति, ध्वनि एवं वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित किया है परन्तु अन्ततः अपने विवेचन में इन आचार्यों ने भी अलंकारों की महत्ता का प्रतिपादन किया है। इस आधार पर तो यही स्पष्ट होता है कि अलंकार-समर्थकों की एक पुष्ट एवं प्रबल परम्परा रही है और इन लोगों ने प्रबल प्रयास करके अलंकार को काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठापित किया है।

यह बात तो कुछ अंशों तक सत्य है कि अलंकार के समर्थकों का एक पुष्ट सम्प्रदाय रहा है परन्तु अलंकार के विरोधियों की भी कमीं नहीं रही। अलंकार का प्रबल विरोध रसवादी आचार्यों ने किया। **भामह** तथा **दण्डी** द्वारा प्रवर्तित अलंकार की धारा आगे चलकर तीन धाराओं में विभक्त हो गई। **1. अलंकार को काव्य का आन्तरिक तत्त्व या आत्मा मानने वाले आचार्य। 2. अलंकारों को काव्य के अन्तर्पक्ष तथा बहिर्पक्ष दोनों का ही पोषक मानने वाले मध्यवर्गीय आचार्य 3. अलंकारों को**

काव्य का मात्र बाह्य तत्त्व स्वीकार करने वाले आचार्य। इन आचार्यों की परम्परा में भामह, दण्डी, रुद्रट तथा जयदेव आदि अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकारों को काव्य का मूल-तत्त्व या आत्मा माना है और रस, रीति, ध्वनि वक्रोक्ति आदि को अलंकारों के अंग-रूप में निरूपित किया है। दूसरे शब्दों में ये आचार्य अलंकार को साध्य मानकर चले हैं तथा अन्य तत्त्वों को साधन। इसीलिए उन्होंने 'रसवत्, प्रेयस, उर्जस्वित् तथा समाहित आदि अलंकारों के भेद किए हैं। दूसरे वर्ग में सर्वप्रथम **वामन** ने अलंकारों को एक ओर तो सौंदर्य रूप में तथा काव्य में अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है परन्तु दूसरी ओर उसे गुणों के उपकारक बनाकर अलंकार के महत्त्व को गौण घोषित कर दिया। आगे चलकर यही मार्ग **आनन्दवर्द्धन** ने ध्वनि की वकालत करके अलंकार को ध्वनि और वक्रोक्ति के भेद-रूप में स्वीकार किया है। दूसरी ओर उसे **'कटक कुण्डलादिवत्'** मानते हुए मात्र बाह्य सौंदर्य के बोधक के रूप में ही चित्रित किया है। रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने दूसरी विचारधारा को मानते हुए प्रथम को बिल्कुल ही नकार कर दिया और अलंकारों को मात्र रस के उत्कर्ष बढ़ाने वाले साधनों के रूप में ही स्वीकार किया। रसवादी मान्यता के पश्चात् अलंकार का आन्तरिक पक्ष बिल्कुल विलुप्त हो गया और वह मात्र सौंदर्य वृद्धि के साधक के रूप में शेष रह गया। हिन्दी में भी केशवदास आदि कतिपय आचार्यों को छोड़कर सभी विद्वानों ने अलंकार को काव्य के बाह्य तत्व के रूप में ही ग्रहण किया है और उसे सौंदर्य वृद्धि का साधन मात्र ही माना है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार का काव्य में कभी एक छत्र साम्राज्य था। अलंकार को ही काव्य के मूल-तत्त्व या आत्मा के रूप में स्वीकार किया जाता था परन्तु धीरे-धीरे अलंकार की अनिवार्यता का प्रभाव घटता गया और वह मात्र बाह्य सौंदर्य प्रसाधक उपकरण के सीमित अर्थ में ही गृहीत रह गया। इस प्रकार काव्य-क्षेत्र में अत्यधिक सम्मानित अलंकार रूपी सम्राट समय के फेर में पड़कर एक भृत्य मात्र रह गया जो आज भी उसी स्थिति में है। यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि अलंकार अपने जीवन-संघर्ष में रीति तथा वक्रोक्ति को तो पूर्णरूपेण परास्त करता रहा परन्तु ध्वनि के समक्ष उसकी सत्ता घटकर एक तिहाई रह गई 'रस' के सम्मुख तो उसने घुटने ही टेक दिये और अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को उसने 'रस' को समर्पित कर दिया।

यह सब कुछ होते हुए भी निष्कर्ष रूप में यह कहना उचित ही होगा कि चाहे साधन रूप में ही सही अलंकार अब भी काव्य का महत्वपूर्ण तत्व बना हुआ है और उसका अस्तित्त्व रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्स की भाँति पूर्ण रूपेण विलुप्त नहीं हुआ है। अलंकार भारतीय काव्य तथा काव्य-शास्त्र की मेधा हैं।

अलंकार का स्वरूप

लक्षण– विद्वानों द्वारा अलंकार को 'अलम्+कार' के रूप में ग्रहण किया जाता

है। 'अलम' का अर्थ है पूर्ण और 'कार' का अर्थ है करने वाला। इस आधार पर अलंकार का अर्थ हुआ–'**सौंदर्य को पूर्ण करने वाला।**' सौंदर्य को पूर्ण करने के साधनों को लोक-व्यवहार में भूषण या आभूषण कहा जाता है। अत: अलंकार भी सौंदर्य वृद्धि के साधन या आभूषण रूप में गृहीत हैं। आचार्यों ने अलंकार को साधन तथा साध्य दोनों ही रूपों में स्वीकार करते हुए– 'अलंकरोति इति अलंकार:।' (जो अलंकृत करता है वहीं अलंकार है) तथा '**अलंक्रियते अनेन इति अलंकार:**' (जिसके द्वारा अलंकृत किया जाता है, वह अलंकार है) इन दोनों ही अर्थों में बाह्य रूपों से तो कोई भेद परिलक्षित नहीं होता ये दोनों ही अर्थ कारण मूलक हैं परन्तु प्रथम को 'सौंदर्य के उपादान कारण के रूप में ग्रहण किया जायेगा और द्वितीय को निमित्त कारण के रूप में। इसका आशय हुआ कि अलंकार सौंदर्य के उपकरण या सामग्री भी हैं और ये सौंदर्य के निर्माता भी। जिस प्रकार एक मकड़ी जाला बुनती है तो जाला उसके पेट से निकलता है और वह जाले को बुनने वाली भी है। अत: मकड़ी को जाले का उपादान कारण या सामग्री प्रदाता तथा निमित्त कारण सामग्री का प्रयोक्ता भी माना जाता है। इसी प्रकार काव्य में अलंकार उपमानों के रूप में सामग्री प्रदान करते हैं और उपमेय से मिलकर सौन्दर्य को पूर्णता प्रदान करते हैं। कुछ विद्वानों ने 'अलंक्रियते ....' का अर्थ कवि या आलोचक किया है। परन्तु कवि या आलोचक को अलंकार कहना इसी प्रकार हास्यास्पद होगा जिस प्रकार बन्दर को मनुष्य बनाना। हाँ 'अलंक्रियते' का अर्थ 'अलंकृत किया जाने वाला' अर्थात् 'उपमेय' भी किया जा सकता है। इस प्रकार का विवेचन विद्वानों द्वारा किया गया है। यथा–

कबिन कहे कबितानि के अलंकार द्वै रूप।
एक कहै साधारनै एक विसिष्ट सरूप।
सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
बर्न वर्न्य भू-राज-श्री भूषन केशवदास। (कविप्रिया 5-2)

इन पंक्तियों में केशवदास ने अलंकार को दो रूपों में ग्रहण किया है। प्रथम-सामान्यालंकार। द्वितीय-विशिष्टालंकार। सामान्यालंकार के अंतर्गत उन्होंने वर्ण (रंग) वर्ण्य (व्यक्ति तथा वस्तु आदि), भू श्री में प्रकृति और राजश्री में राजा-रानी आदि के सौन्दर्य को सम्मिलित किया है और विशिष्टालंकारों में अर्थालंकार (उपमा रूपकादि) का विवेचन किया है।[10] 'केशवदास' के मत का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार्य तथा अलंकार दोनों ही अलंकार हैं।

अलंकार के स्वरूप पर आचार्यों ने प्राचीन काल से ही विचार विमर्श किया है। दण्डी ने अलंकार के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है।

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।'

अर्थात् काव्य शोभा कारक धर्म अलंकार कहे जाते हैं। इसका आशय यह हुआ कि दण्डी के मत में अलंकार काव्य-सौंदर्य के बाह्य उपकरण न होकर उसका मूल-तत्व

हैं। वामन ने **'सौंदर्यमलंकारः'** कहकर अलंकार को काव्य-सौंदर्य घोषित किया है। **आनन्दवर्द्धन** ने अनेक प्रकार के वाग्विकल्पों (कहने के निराले ढंगों) को अलंकार कहा है।[11] **रुद्रट** ने कहा है कि विशेष प्रकार का अभिधान (अर्थ) ही अलंकार है।[12] **विश्वनाथ** के मतानुसार शब्द और अर्थ के सौंदर्य को बढ़ाने वाले धर्म ही अलंकार हैं।[13] **पं. राज जगन्नाथ** ने अलंकारों को व्यंग्यादि में रमणीयता उत्पन्न करने वाला धर्म माना है। अनेक आचार्य **वक्रोक्ति तथा अतिश्याक्ति को पर्याय मानते हुए उस की सत्ता को अलंकार में अनिवार्य मानते हैं।**[14] संस्कृत आचार्यों के अतिरिक्त हिन्दी आचार्यों ने भी अलंकारों के लक्ष्णों पर विचार किया है। पद्माकर ने अलंकार का लक्षण करते हुए लिखा है–

शब्दहुँतें कहुँ अर्थ तें कहुँ दुहुते उर आनि।
अभिप्राय जिहि भाँति जहँ अलंकार सोभानि।।

अर्थात् जहाँ कहीं शब्द चमत्कार के द्वारा अथवा अर्थ चमत्कार के द्वारा या शब्द तथा अर्थ दोनों ही के चमत्कार द्वारा जिस किसी भी प्रकार से काव्य का अभिप्राय समझ में आ जाये उसी को अलंकार मानना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है–'वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है कभी उसके रूप रंग या गुण की भावना को उस प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिरा कर भी कहना पड़ता है। इस तरह से भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते है।"

विवेचन– संस्कृत तथा हिन्दी के प्रभृति विद्वानों द्वारा की गई 'अलंकार' की परिभाषाओं को देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ विद्वानों का आग्रह तो अलंकार को काव्य-सौन्दर्य कारक धर्म (गुण) मानने के पक्ष में रहा है और कुछ विद्वानों का दृष्टिकोण 'अलंकार' को मात्र काव्य के बाह्य उपकरण के रूप में ही ग्रहण करने में रहा है। अतः अलंकार के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हैं और उनके दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। अलंकार के स्वरूप निर्धारण में सबसे पहले तो यही प्रबल बाधा उपस्थित हो जाती है कि अलंकार को काव्य का बाह्य तत्त्व माना जाय या आन्तरिक तत्त्व। इस विषय को लेकर विद्वानों में एक लम्बी अवधि तक रस्साकशी होती रही और वे किसी भी निष्कर्ष पर न पहुँच सके। 'अलंकार' के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति विद्वानों के उस कथन से उत्पन्न हो गई जहाँ उन्होंने 'अलंकार' को काव्य का आन्तरिक तत्त्व या आत्मा घोषित कर दिया। वास्तव में यह कहना अलंकारवादी आचार्यों का दुराग्रह ही था क्योंकि सामान्य रूप में सभी यह जानते हैं कि अलंकारों का कार्य मात्र शारीरिक सौंदर्य को बढ़ाना है और इसीलिये अलंकार शरीर पर ही कटक

कुण्डलादिवत धारण किये जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप में समाने आ जाता है कि जहाँ शरीर या अंग-प्रत्यङ्ग स्वतः ही सुन्दर होते हैं क्या वहाँ भी अलंकारों की आवश्यकता पड़ती है? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि शरीर के सम्यक् सौन्दर्य को बढ़ाने वाले अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी एक प्रकार के अलंकार ही हैं। जैसे-मोर के पंख, खंजन के नेत्र, कमल का रंग और सुगन्ध आदि। प्राणियों के अंगों का सौन्दर्य जिस प्रकार इन सम्बन्धित प्राणियों के सम्पूर्ण सौन्दर्य में अभिवृद्धि करता है, उसी प्रकार रमणी के बड़े-बड़े गोल चञ्चल नेत्र, लम्बे-काले-घुँघराले बाल भी उसके सौन्दर्य में चार चाँद लगा देते हैं। परन्तु जब किसी प्राणी या वस्तु का सौंदर्य किसी कवि को वर्णन करना पड़ता है तो सामान्य शब्दावली के प्रयोग द्वारा वर्णित सौन्दर्य में पूर्णता का अनुभव नहीं हो पाता। इसीलिए कवि को कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और तब वह कुछ विशिष्ट समान रूप-गुणों वाली सुन्दर वस्तुओं को वर्णित करके विशिष्ट अंगों पर इस प्रकार आरोपण करता है जिससे 'वर्णित' का सौंदर्य इस प्रकार प्रकाशित हो जाये जिस प्रकार किसी बल्ब के स्विच को दवा देने से नेत्रों के समक्ष एक दम प्रकाश विकीर्ण हो उठता है। इस प्रकार कवि शब्दार्थ के निरूपण में कल्पना के प्रयोग द्वारा रूप का ऐसा ढाँचा प्रस्तुत करता है जो वर्णित के सौंदर्य की पूर्णता का ज्ञान कराने में पूर्ण समर्थ होता है। कहीं-कहीं कवि का किसी वस्तु विशेष के रूप, गुण, क्रिया तथा भावादि के सौन्दर्य की पूर्णता को प्रकट करने के लिए उसके सामान्य स्तर से कई गुना ऊँचा चढ़कर बोलना पड़ता है या शब्दार्थ को कई गलियों में घुमा-फिरा कर उपस्थित करना पड़ता है जिससे चमत्कार के द्वारा सौंदर्य की पूर्णता का ज्ञान करा सके। काव्य की इसी सम्पूर्ण प्रक्रिया को अलंकार कहा जाता है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि **'काव्य में प्रयुक्त अलंकार, काव्य-सौंदर्य को पूर्णता तक पहुँचाने वाले वे उपकरण अथवा तत्व होते हैं जिनका निर्माण कवि अपनी विशिष्ट कल्पना द्वारा शब्दार्थ के विचित्र संघटन के रूप में करता है।'**

अलंकारों का वर्गीकरण

अलंकार के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार साहित्य के उस सरोवर में कमल-वन की भाँति है जिसकी संख्या प्रारम्भ में केवल चार थी[15] और बढ़ते-बढ़ते सैकड़ों तक पहुँच गयी। यही नहीं उसके रूप-रंग तथा आकार प्रकार में भी निरन्तर परिवर्तन होता गया। संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी-साहित्य तक आते-आते अनेक नये अलंकारों का जन्म हुआ और अनेक अलंकार मात्र आचार्यों की पोथियों के गर्त में ही पड़े-पड़े सड़ गये। जैसे– दण्डी के-रसवत्, प्रेयस, उर्जस्वित तथा समाहित आदि अलंकार। रुद्रट के – जाति, भाव, अवसर, मत, पूर्व आदि अलंकार तथा केशव के– वर्ण, वर्ण्य, राज्य–श्री, आदि (सामान्यालंकार)। अलंकारों की इस घट-बढ़ का आधार उपयोगिता ही है। मानव-मन सदा उपयोगी को

ही ग्रहण करता है और अनुपयोगी को तिलाञ्जली देता रहता है। जैसे– जब तक शरीर में प्राण है, वह उपयोगी है और **'घट ते प्रान होत जब न्यारे बोलत प्रेत पुकार'** की जगत्-प्रसिद्ध स्थिति आये बिना नहीं रहती। उसी प्रकार काव्य में जो अलंकार-सजीवता, रोचकता, सप्राणता, प्रभावोत्पादकता मूलक सौन्दर्य और कम से कम चमत्कार मूलकता आदि को उत्पन्न करते हैं, उन्हीं को उपयोगी समझकर समाज अपना लेता है और जिस अलंकार में प्रयोजन हीनता होती है वहीं या तो चलन में नहीं आ पाता या फिर चलन से निकल जाता है। इस आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि अलंकारों के विकास और ह्रास का आधार भी (अन्य पदार्थों की भाँति) उपयोगिता ही है। **उपयोगिता एक ऐसा व्यापक तत्त्व है जो विभिन्न रूपों में देखा जाता है। काव्य में इस उपयोगिता के प्रधानतया तीन रूप देखने को मिलते हैं। 1. आत्म मूलक उपयोगिता 2. बुद्धि मूलक उपयोगिता 3. मनोभाव मूलक उपयोगिता।**

काव्य में इनमें से प्रथम का सम्बन्ध 'रस' से है, द्वितीय का 'भाव' या 'विचार' से और तृतीय का 'अलंकार' से है। इसी आधार पर अनेक विद्वानों ने अलंकारों का सम्बन्ध मनोविज्ञान से जोड़ा है[16] परन्तु यहाँ यह भी विचारणीय है कि अलंकार का सम्बन्ध मन से तो है, मनोविज्ञान से नहीं। अलंकार का सम्बन्ध मन की ही एक अन्य विद्या 'कल्पना' से है। एक कहावत है **'मन न समुद्र समाय'** दूसरी कहावत है **'माया मरी न मन मरे मरि-मरि गये सरीर।'** इन दोनों की कहावतों में प्रथम का आधार 'कल्पना' है और दूसरे का मनोविज्ञान। क्योंकि कल्पना मन की विस्तृत क्रिया प्रणाली होती है और मनोविज्ञान मन की चिन्तनशील प्रवृत्ति। अत: यहाँ हम मनोविज्ञान तथा कल्पना दोनों को ही मानकर चलेंगे। एक उक्ति है– **'खाली मन शैतान का घर होता है।'** अर्थात् जब मन चिन्ताओं से खाली होकर निश्चिन्त हो जाता है तो वह आकाश-पाताल को एक करके नये-नये रूप (विम्ब) गढ़ता रहता है। कवि की यही स्थिति होती है। कवि काव्य का निर्माण करते समय कल्पना के सुरम्य लोक में स्वतंत्र होकर विचरण करता है और वहां से जो कुछ भी प्राप्त करता है उसका स्थूल रूप अलंकार होता है और सूक्ष्म रूप सौंदर्य। इस प्रकार अलंकार का कल्पना से नित्य सम्बन्ध है। पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने इसीलिए कल्पना को काव्यतत्त्व माना है और अलंकार का नाम काव्य-तत्त्वों में नहीं लिया। इधर भारतीय काव्य शास्त्रियों ने अलंकार को काव्य का एक महत्वपूर्ण तत्त्व माना है और कल्पना का नाम नहीं लिया। परन्तु वास्तव में कल्पना और अलंकार एक ही तत्त्व हैं। दोनों का ही सम्बन्ध 'मन की उड़ान से है और चूँकि मन की उड़ान अनन्त होती है। अत: अलंकार भी अनन्त हैं।[17] दण्डी ने लिखा है कि आज भी अलंकारों की सृष्टि हो रही है। अत: पूर्णरूपेण उनकी गणना कौन कर सकता है।[18] इन सभी आधारों पर यह कहा जा सकता है कि **'हरि अनंत हरिकथा अनंता'** की भाँति अलंकार की अनंत हैं। परन्तु अलंकारों के इस अनन्त प्रसार को अन्ततः वर्गीकृत करने का स्तुत्य प्रयास विद्वानों द्वारा किया है,

इनमें **रुय्यक** द्वारा किया गया अलंकारों का वर्गीकरण अधिक विस्तृत है जिसका विवरण इस प्रकार है–

1. सादृश्य गर्भ या औपम्य गर्भ–इसमें 28 अलंकारों को रखा गया है–उपमा, उपमेयोपमा, अनन्य और स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिश्योक्ति, तुल्ययोगिता-दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, विनोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, ब्याज स्तुति तथा आक्षेप।

2. विरोध मूल–इसमें 12 अलंकार रखे गये हैं– विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अत्युक्ति असंगति और विषम।

3. शृंखलाबद्ध–इसमें 4 अलंकार हैं–कारण माला, एकावली, सार और मालादीपक।

4. तर्कन्यायमूल– इनकी संख्या 2 है– काव्यालिंग और अनुमान।

5. वाक्यन्यायमूल– इनकी संख्या 8 है– यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय और समाधि।

6. लोकन्यायमूल– इन अलंकारों की संख्या 8 है– प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्‌गुण, अतद्‌गुण, उत्तर, प्रश्नोत्तर।

7. गूढ़ार्थ प्रतीति मूल–इनकी संख्या 6 है–सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, संसृष्टि और संकर।

उपर्युक्त वर्गीकरण पूर्णरूपेण वैज्ञानिक माना जा सकता है परन्तु इस वर्गीकरण में जिन 69 अलंकारों को सात वर्गों में विभाजित करके उल्लेख किया गया है उनमें शब्दालंकार का उल्लेख नहीं है। इस वर्गीकरण में श्लेष तथा वक्रोक्ति को अर्थालंकारों के अन्तर्गत ही माना है। रुय्यक का यह वर्गीकरण कुछ अधिक जटिल भी है इसमें अर्थालंकारों को प्रथम सात वर्गों में बाँटा गया है। फिर सादृश्य गर्भ के तीन उपभेद तथा इन उपभेदों के भी अनेक भेद किये गये हैं। जैसे–भेदोभेद-तुल्य प्रधान, जिसमें रूपकादि 6 अलंकारों का उल्लेख है और पुनः अध्यवसाय मूल जिसमें 16 अलंकार पदार्थगत (तुल्य योगितादि 2), वाक्यार्थगत (प्रतिवस्तूपमादि 3), भेद प्रधान (व्यतिरेक और सहोक्ति), विशेषण वैचित्र्ययुक्त (समासोक्ति और परिकर), विशेषण-विशेष्य वैचित्र्य (श्लेष) तथा अन्य 6 अलंकारों को स्थान दिया है। अतः रुय्यक द्वारा प्रस्तुत इस वर्गीकरण को अधिक मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी है। आचार्यों ने **मम्मट के शब्दालंकार, अर्थालंकार** तथा **उभयालंकार** समबन्धी वर्गीकरण को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया है। इसमें श्लेष तथा वक्रोक्ति को छोड़कर रुय्यक के सभी अलंकार अर्थालंकारों के अंतर्गत आ जाते हैं और अनुप्रासादि शब्दालंकारों के रूप में पृथक् से माने गये है। साथ ही कुछ शब्द तथा अर्थ दोनों पर आधारित अलंकारों को उभयालंकार

के अन्तर्गत रखा गया है।

मम्मट ने अलंकारों के शब्दगत, तथा अर्थगत विभाजन का आधार 'अन्वय-व्यतिरेक' को माना है।[19] 'अन्वय व्यतिरेक' का तात्पर्य यह है कि– जिसके रहने पर जो रहे वह अन्वय और जिसके अभाव में जिसका अभाव हो उसे व्यतिरेक कहते हैं।[20]

जैसे– यदि कहीं धूम है तो वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यदि अग्नि न होगी तो धूम भी नहीं होगा। इसी प्रकार **जो अलंकार किसी शब्द विशेष के रहने पर ही रहे वह शब्दालंकार है और जहाँ शब्द परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार ज्यों का त्यों बना रहे वह अर्थालंकार होता है। सारांश यह है कि शब्द-चमत्कार पर आधारित शब्दालंकार तथा शब्द-चमत्कार से रहित अलंकार अर्थालंकार कहलाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकार के चमत्कारों की प्रधानता होती है उसे उभयालंकार (शब्दार्थगत अलंकार) समझना चाहिए।** दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जहाँ किसी शब्द के बदलने से और किसी के न बदलने से अलंकार बना रहता है वही उभयालंकार होता है। उदाहरणार्थ–

पटके मैंने पद पाणि मोह के नन्द में,
नर क्या-क्या करते नहीं स्वप्न में मद में।। (साकेत)

इन पंक्तियों में पद-पाणि में अनुप्रास और मोह-नद में रूपक अलंकार है। इनमें प्रथम के शब्दों को नहीं बदला जा सकता और द्वितीय के शब्दों में परिवर्तन कर देने पर भी कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। ये दोनों ही अलंकार एक ही वाक्य में एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। अत: इन्हें उभयालंकार मानना समीचीन होगा। यह उदाहरण संसृष्टि अलंकार का है।

कुछ विद्वानों ने **संकर और संसृष्टि को उभयालंकार नहीं माना है।** उनका कथन है कि उभयालंकार वहाँ होता है जहाँ दो शब्द समान अर्थ वाले साथ-साथ प्रयुक्त हों और उनमें से एक बदलने पर भी पूर्व अर्थ देने की क्षमता रखता हो और दूसरा शब्द को बदलकर उसके पर्यायवाची शब्द के रखने पर अपने चमत्कार को खो बैठता हो। इसे इन विद्वानों ने **'पुनरुक्तवदाभास'** कहा है। साथ ही इन विद्वानों का कथन यह भी है कि यमक, श्लेष, काकुवक्रोक्ति, आवृत्ति, दीपक, निरुक्ति, परम्परित रूपक आदि शब्दार्थालंकार उभयालंकार हैं।[21] परन्तु हम इन विद्वानों के मत से सहमत नहीं हो सकते क्योंकि इन विद्वानों का मत स्पष्ट न होकर भ्रामक है। हमारी दृष्टि से संकर और संसृष्टि को ही उभयालंकार के अन्तर्गत माना जाना उचित है जिसमें शब्दालंकार तथा अर्थालंकार या तो संकर हो या संसृष्टि। पं. रामदहिन मिश्र ने इस सम्बन्ध में यह आपत्ति उठाई है कि यदि एक से अधिक अलंकार होने से उभयालंकार होता है तो इस प्रकार तो एकाधिक शब्दालंकार भी हो सकते हैं और अर्थालंकार भी। इस दशा में उभयालंकार (शब्दालंकार तथा अर्थालंकार) कैसे हो सकते हैं। इस स्थिति में तो संकर और संसृष्टि ही हो सकते हैं।[22]

यहाँ यह तथ्य विचारणीय है और उभयालंकार के प्रश्न को मात्र संकीर्ण रूप में नहीं लेना चाहिए। उस पर विशदता से यदि हम विचार करें तो ऐसे अवसर शायद अपवाद रूप में ही प्राप्त होंगे जहाँ केवल शब्दालंकारों या केवल अर्थालंकारों का ही संकर-संसृष्टि हो। प्राय: काव्य में संकर-संसृष्टि शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की ही होती है। दूसरे शब्दों में उभयालंकारों का प्रयोग भी काव्य में बहुत कम होता देखा जाता है। मिश्र जी ने उदाहरण पुनरुक्तवादाभास का जयद्रथ वध से प्रस्तुत किया है।[23] वहां अचल-भूधर में अलंकार ही नहीं है। 'अचल-भूधर' का विशेषण मात्र है। ये दोनों उपमेय-उपमान की स्थिति में भी नहीं हैं। अत: अचल भूधर में यहाँ अर्थालंकार का उपादान तो होगा ही नहीं शब्दालंकार भी उपादेय नहीं है। अत: हमें तो उभयालंकार की धारणा अप्राकृत सी लगती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अलंकारों का सर्व-समान्य एवं सर्वाधिक उपयोगी वर्गीकरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जाता है–

1. **शब्दालंकार**– 1. अनुप्रास (छेदकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, श्रुत्यानुप्रास, लाटानुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास) 2. यमक, 3. पुनरुक्ति, 4. वीप्सा, 5. वक्रोक्ति 6. श्लेष। मिश्र जी ने सातवाँ अलंकार 'पुनरुक्तवदाभास' और माना है परन्तु यह कोई शब्द-चमत्कार उत्पन्न ही नहीं करता। अत: इसे अलंकारों की कोटि में मानना उचित नहीं है। ऐसे प्रयोग तो 'पुनुरुक्त' दोष के अन्तर्गत आयेंगे, जहाँ दोष होगा वहाँ उपयोगिता का अभाव होगा और जहाँ उपयोगिता का अभाव होगा वहाँ सौंदर्य का बाध होने से अलंकार नहीं माना जा सकेगा।

2. **अर्थालंकार**– रुय्यक के वर्गीकरण में दिये गए समस्त अलंकार तथा अन्य (श्लेष तथा वक्रोक्ति को छोड़कर)

3. **उभयालंकार**– आचार्यों ने केवल संकर तथा संसृष्टि को उभयालंकार माना है।

अलंकारों का यह वर्गीकरण ही सर्वाधिक उपयोगी है क्योंकि यह वर्गीकरण सर्वाधिक सरल और स्पष्ट है। हिन्दी-साहित्य में भी ये सभी अलंकार उपलब्ध हैं।

काव्य में अलंकारों का महत्व

जिस प्रकार शारीरिक सौन्दर्य को सुन्दरतम बनाने के लिए आभूषणों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार काव्य सौंदर्य को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए काव्य में अलंकारों का प्रयोग आवश्यक है। इसी आधार को लेकर काव्य में अलंकार-प्रयोग के सम्बन्ध में तीन विचारधाराएँ समय-समय पर उद्भूत हुईं–

1. अलंकार को काव्य का मूल तत्त्व (आत्मा) के रूप में प्रतिष्ठित करने वाली विचारधारा।

2. अलंकारों को आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही प्रकार के सौंदर्य में वृद्धि करने वाले साधन माननेवाली विचारधारा।

3. अलंकारों को काव्य-सौंदर्य में वृद्धि करने के बाह्य साधन मात्र मानने

वाली विचारधारा।

काव्य की आत्मा सम्बन्धिनी विचारधारा

सर्वप्रथम अलंकार को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने वालों के विचारों का अवलोकन करना आवश्यक है। भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकार-सम्प्रदाय ही प्रथम एवं प्राचीनतम सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक भामह माने जाते हैं। इन्होंने अलंकार को काव्य के लिए अनिवार्य घोषित करते हुए कहा था–

"न कान्तमपि निर्भूषं वनिता मुखम्।"

अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्त सुन्दर होते हुए भी स्त्री का मुख बिना आभूषणों के आकर्षक नहीं लगता उसी प्रकार कविता-रूपी कामिनी का मुख भी बिना अलंकारों के सुशोभित नहीं होगा। इस धारणा का आशय यह है कि काव्य को अत्याधिक आकर्षक बनाने के लिए उसमें अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य है। यदि काव्य में अलंकारों का प्रयोग न किया जायेगा तो काव्य अपने अन्यतम सौंदर्य को प्राप्त न कर सकने के कारण सर्वग्राह्य न हो सकेगा। भामह के पश्चात दण्डी ने **'काव्यशोभाकारान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते'** कहकर अलंकारों को काव्य के शोभाकारक धर्म (गुण) निश्चित करते हुए यह स्थापना की कि बिना अलंकारों के काव्य में सौंदर्य का अभाव ही रहेगा। अत: अलंकार ही काव्य का मूल तत्त्व हैं।

आगे चलकर **चन्द्रालोककार जयदेव** (10वीं शताब्दी) ने काव्य में साग्रह अलंकार की अनिवार्यता की घोषणा की और उन्होंने काव्य में अलंकार को मूल-तत्त्व (आत्मा) के रूप में न मानने वालों को इस तर्क से परास्त करने का प्रयास किया–

अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।। (चन्द्रालोक 1/8)

अर्थात् जो काव्य को शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से रहित रूप में अङ्गीकार करते हैं वे अग्नि को उष्णता रहित स्वीकार क्यों नहीं करते। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार अग्नि कभी उष्णता रहित नहीं हो सकती क्योंकि उष्णता अग्नि का अनिवार्य गुण है उसी प्रकार काव्य रचना भी बिना अलंकारों के नहीं हो सकती क्योंकि अलंकार ही काव्य का अनिवार्य तत्त्व हैं। अकेले जयदेव की यह धारणा ही अलंकार को काव्य का मूल-तत्त्व घोषित करने के लिए पर्याप्त है परन्तु अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने विरोधियों के तर्कों का उत्तर देते हुए निरन्तर अलंकार के महत्व को काव्य में बनाये रखने का प्रयास किया। अग्निपुराण में लिखा है– **'अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती।'** अर्थात् अर्थालंकारों से रहित सरस्वती (काव्य-वैभव) विधवा स्त्री के समान (सौभाग्य एवं सौंदर्यहीन) है। इसका आशय भी यहीं है कि काव्य में अर्थालंकारों का प्रयोग अनिवार्य रूप में होना चाहिए। बिना अलंकारों के काव्य-वैभव कभी भी आकर्षक नहीं हो सकता।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आचार्यगण 'कविता' की

समानता कामिनी से करते हैं। जिस प्रकार समाज में यह चर्चा प्रख्यात है कि **'स्त्री का बंद-बंद कसा रहना चाहिये'** और **'भूषण सों ही तरुनी'** सुशोभित होती है उसी प्रकार कविता-कामिनी का भी अंग-प्रत्यङ्ग अलंकृत रहनी चाहिए। रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशवदास ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है–

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत।
भूषण बिनु न बिराजई कविता वनिता मित्त॥ (कविप्रिया 5-1)

अर्थात् स्त्री चाहे कितनी ही उच्च कुलवाली, शुभलक्षणों (गुणों) वाली तथा स्वर्ण के समान सुन्दर शरीर वाली हो; परन्तु बिना आभूषणों के उनका सौंदर्य पूर्णता को नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार कविता चाहे कितनी ही अच्छी वस्तुवाली, लक्षणों (गुणों) वाली तथा सुन्दर वर्णों वाली एवं सरस हो परन्तु बिना अलंकारों के उसका भी सौंदर्य अधूरा ही रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है जिसने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व घोषित किया है। आचार्यों के उपर्युक्त मतों का सम्यक् पर्यालोचन करने के पश्चात् एक बात अवश्य उभरकर सामने आती है कि अलंकार की सीमा क्या है? क्या अलंकार शरीर ढँकने के वस्त्रों, आभूषणों तथा सौंदर्य प्रसाधन के अन्य साधनों (सुगन्धित तैलों) आदि को ही माना गया है या शरीर को भी और उसके सुन्दर अंगों को भी अलंकार माना गया है। **काव्य के क्षेत्र में इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं।**

क्या उपमा रूपकादि (उपमान आरोप जन्य) तत्त्व ही अलंकार हैं या भाषा की मधुर कोमल कान्त, सरस, सरल एवं रोचक पदावली और अनुकूल छन्द विधान भी अलंकार के अंतर्गत आ जाते हैं? इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सौंदर्य समग्रत: व स्त्वादि तथा उसके अंगों में भी होता है। अत: जब शरीर ही अत्यधिक सुन्दर एवं आकर्षक है तो उसे बाह्य उपकरणों की क्या आवश्यकता होगी? बाह्य उपकरण हों तो भी अच्छा है और न हों तो भी अच्छा ही है। महाकवि कालिदास ने शकुन्तला के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहा है कि जो स्वत: ही सुन्दर होते हैं उन्हें सौंदर्य के बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं होती। यथा–

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा बल्लेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनाऽमाकृतीनाम्॥ (अभिज्ञान शाकुन्लतम् 1.19)

अर्थात् जिस प्रकार शैवालिनी घास में लिपटा हुआ कमल भी (अपने सौंदर्य के कारण) अत्यधिक सुन्दर लगता है और मलिनता (काला धब्बा) होने पर भी चन्द्रमा की किरणें प्रकाश ही विकीर्ण करती हैं उसी प्रकार यह तन्वंगी (पतली कमर और शरीरवाली) शकुन्तला बल्कल (वन्य) वस्त्रों में भी अत्यधिक आकर्षक लग रही है।

यह ठीक ही है कि जो स्वयं सुन्दर होते हैं उन्हें सौन्दर्य के बाह्य उपकरण (अलंकारों) की आवयकता नहीं होती।[24]

अलंकार के सम्बन्ध में **अलंकार्य और अलंकार** के भेद को लेकर विद्वानों में बड़ा विवाद रहा है। कुछ विद्वान् तो शरीर और आभूषण दोनों को ही सौंदर्य का मूल-तत्त्व मानते हुए इन्हें पृथक् नहीं मानते परन्तु कुछ विद्वान इन्हें पृथक्-पृथक् मानते हैं। इटली का अभिव्यंजनावादी समालोचक क्रोचे अलंकार और अलंकार्य का भेद स्वीकार ही नहीं करता। यह उचित भी है क्योंकि यदि यह कहें कि 'यह मुख सुन्दर है' और फिर इसी को कुछ घुमा फिरा कर कह दें कि 'यह मुख कमल के समान सुन्दर है।' तो इसमें दूसरे वाक्य का पहले पर कोई नया आरोपण नहीं है। यह तो मात्र मुख के सौंदर्य को कुछ अधिक चटकीला करके दिखाने की प्रक्रिया है। शरीर एक पूर्ण वस्तु है और मुख, नासिका, नेत्र, कान, हाथ, पैर आदि उसके अंग हैं। अङ्ग पृथक्-पृथक् सौंदर्य के भी द्योतक हैं। सौंदर्य दोनों में ही है। अन्तर केवल अंगांगि भाव मात्र का है। इसी प्रकार काव्य में भी वस्तु का सौंदर्य अंगी है और उस सौंदर्य को पूर्णता प्राप्त कराने के लिए अपनाये गये उपकरण या साधन भी सुन्दर हैं जो अंगी रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जिस प्रकार लहरें समुद्र का अंगी भी हैं और उससे पृथक् भी। क्योंकि दोनों में रूप-रंग आदि की समानता भी है और उनका पृथक् अस्तित्व भी। कुन्तक ने इसी आधार पर 'अलंकार्य' और 'अलंकार' को पृथक भी माना है और एक भी। यथा–

शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुतेऽपरम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्ध क्वचिदप्याधिरोहति।।(वक्रोक्ति जीवित 1/14)

अर्थात् यदि शरीर को ही अलंकार कहा जाये तो वह किसी दूसरी वस्तु का अलंकरण कैसे करेगा क्योंकि वह तो अलंकार्य है। क्या कोई स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ सकता है? कुन्तक का अभिप्राय यहाँ यही है कि शरीर अलंकार्य है। वह किसी दूसरे को अलंकृत नहीं करता वरन् स्वयं ही अपने सौंदर्य को धारण करता है। हाँ शरीर के सौंदर्य में यदि कुछ अपूर्णता है तो उसे बाह्य उपकरणों (उपमानों) के प्रयोग द्वारा पूर्ण किया जा सकता है। वे इसकी पुष्टि इन शब्दों में करते है–

अलंकृतिरलङ्कार्यमयोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपाय तथा तत्त्व सालंकारस्य काव्यता।। (वक्रोक्ति जीवति 1/6)

अर्थात् अलंकार और अलंकार्य का भेद तो मानना ही पड़ेगा परन्तु वास्तव में अलंकार सहित पूर्ण रचना को ही काव्य कहेंगे।

इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन आचार्यों ने 'अलंकार' को काव्य की आत्मा या 'मूलतत्त्व' माना है उनकी धारणा भी बिल्कुल निर्मूल नहीं है परन्तु भामह दण्डी आदि की अलंकार सम्बन्धी धारणा 'रस' की स्वतंत्र स्थापना के पश्चात् निर्मूल सी लगने लगी थी चाहे जयदेव आदि विद्वानों ने उसे साग्रह निर्मूल होने से रोकने का प्रयास किया हो। जैसे-जैसे समय बीतता गया विद्वानों द्वारा नये-नये ढंग से अलंकारों

का विवेचन प्रस्तुत किया जाता रहा और **'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'** के आधार पर अलंकार की धज्जियाँ उड़ाते-उड़ाते विद्वानों ने उसे मात्र बाह्य उपकरणों तक **'कटक कुण्डलवत्'** सीमित कर दिया। अलंकारवादी आचार्यों के मत से अलंकार काव्य के शोभाकारक धर्म अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य सौंदर्य को पूर्णता तक पहुँचाने वाले गुणादि तत्त्व हैं। केशवदास ने इसी आधार पर सामान्यालंकार और विशिष्टालंकार का भेद प्रस्तुत किया है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि काव्य में सदैव अलंकार प्रयोग सुन्दर वस्तु के ही वर्णन में मिलता है और सुन्दर को सुन्दरतम बनाने में सहायक का कार्य करता है। **यदि वस्तु में स्वयं का सौंदर्य न होगा तो उसे बाह्य उपकरणों से कभी भी सुन्दर नहीं बनाया जा सकता। यदि लकड़ी को या हड्डी को वस्त्रालंकारों से विभूषित कर दें तो भी वह सुन्दर नहीं लगेगी। वह तो उल्टे अलंकारों के सौंदर्य को भी लेकर बैठ जायेगी।** ठीक यही स्थिति काव्य में अलंकारों की है। उपमानों का प्रयोग वहीं किया जाता है जहां उपमेय उनके समान या अधिक सुन्दर होते हैं। इस दृष्टि से उपमेय और उपमान दोनों ही सौंदर्य-कारक धर्म होने के कारण अलंकार के अंतर्गत आ जाते हैं और इस दृष्टि से ही काव्य में अलंकार एक अनिवार्य तत्त्व है (विषय+आभूषण=उपमेय + उपमान) के रूप में सदैव विद्यमान रहता है।

अलंकार का मूल 'कल्पना' है जिसे पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है। बिना कल्पना के वस्तु का सौंदर्य पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। केशवदास ने इसी को दृष्टि से रखते हुए कहा था–

देखे मुख भावै बिनु देखेई कमल चन्द,
ताते मुख मुखौ सखी कमलौ न चन्दरी॥ (रामचन्द्रिका)

इसका स्पष्ट आशय यही है कि वास्तविक सौंदर्य तो वस्तु में ही है। उपमानों का सौंदर्य तो गौण होता है जिसे कल्पना के द्वारा व्यवस्थित किया जाता है। कल्पना ही उपमेय के अनुरूप उपमानों का चुनाव करती है। कल्पना ही नये-नये रूप गढ़ती है और उसे शब्द-सामग्री द्वारा मूर्त रूप देती है। इस सम्बन्ध में एक उक्ति देखिये–

"खिलते नहीं हैं फूल ऐसे वसन्त में भी,
जैसे कवि-कल्पना की डालों पर खिलते हैं।"

इसका स्पष्ट आशय यही है कि कवि विषय के सौंदर्य को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए ही अपनी कल्पना से नये-नये और चुने हुए उपमानों का प्रयोग करता है। अतः विषय को सुन्दरतम बनाकर प्रस्तुत करने के लिए अलंकार का प्रयोग अनिवार्य है। 'विषय' तो वस्तु, भाव, रस, विचार आदि अनेक हो सकते हैं जो स्वयं भी अपना सौंदर्य रखते हैं। अतः विषय जो काव्य का मूल-तत्त्व होता है–स्वयं में एक अलंकार ही है। विषय (मूल-तत्त्व) के विद्यमान सौंदर्य को और अधिक आकर्षक बनाने का कार्य भी बाह्य उपकरण अर्थात उपमान करते हैं। अतः उक्त दोनों ही रूपों में अलंकार माने गये हैं। जिस प्रकार अग्नि में तपाकर और सुहागा डालकर सोने को साफ करके

उसके सौंदर्य को पूर्णता तक पहुंचाया जाता है उसी प्रकार उपमानों का 'सुहागा' देकर काव्य-वस्तु रूपी स्वर्ण के सौंदर्य को पूर्णता के मान तक पहुंचाया जाता है। दण्डी आदि ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अलंकार को काव्य का 'मूल-तत्त्व' घोषित किया था और उन्होंने रस आदि को भी 'रसवत्'- 'प्रेयस' आदि अलंकारों के रूप में माना था। इन आचार्यों ने अलंकार को प्रथम स्थान पर रक्खा था और रस को द्वितीय स्थान पर।

अलंकारों को आन्तरिक तथा बाह्य सौन्दर्य के रूप में ग्रहण करने वाली विचारधारा

काव्य में अलंकार के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाली उन विद्वानों की विचारधारा भी विवेचनीय है जिन्होंने अलंकार को आंतरिक सौंदर्य भी माना है और उसे 'कटक कुण्डलादि' वत् अर्थात् सौंदर्य के बाह्य उपकरण के रूप में भी स्वीकार किया है। इस वर्ग में 'रस-सम्प्रदाय' के अतिरिक्त वे सभी आचार्य आ जाते हैं जिन्होंने अलंकार सम्प्रदाय की स्थापना के पश्चात् अपने पृथक् काव्यालंकार सम्बन्धी सम्प्रदायों की स्थापना की है। इन आचार्यों में प्रमुख हैं– रीतिकार (**वामन**), ध्वनिकार (**आनन्दवर्द्धन**), वक्रोक्तिकार (**कुन्तक**) तथा औचित्यकार (**क्षेमेन्द**)। नीचे इन विद्वानों की अलंकार सम्बन्धिनी धारणाओं को स्पष्ट किया जाता है।

रीति तथा अलंकार

वामन ने रीति की स्थापना करते हुए कहा था– '**विशिष्टाः पद रचना रीतिः**' अर्थात् विशिष्ट प्रकार की पद रचना को रीति कहते हैं। वामन ने यह विशिष्टता गुणों में मानते हुए गुणों को ही रीति का मूलाधार माना है। (**विशेषो गुणात्मा**)। वामन ने अलंकार को सौंदर्य मानते हुए कहा है कि काव्य को अलंकार के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है (**सौंदर्यमलंकारः। काव्यं ग्राह्यमलंकारात्**) और ये गुणों के कारण भी हैं (**काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः। तद्तिशयहेतवस्त्वलंकाराः**)। इस आधार पर वामन का यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार काव्य का सौंदर्य हैं जो आन्तरिक रूप में गुण-रूप में विद्यमान हैं और बाह्य रूप में गुणों के उपकारक के रूप में। इस प्रकार वामन ने भामह आदि की उपर्युक्त मान्यता को दो रूपों में विभक्त कर दिया। 1. आन्तरिक रूप में जिसे उन्होंने 'अलंकार' कहकर 'गुण' की संज्ञा दी है। 2. बाह्य रूप में जिसे अलंकार ही कहा है और गुणों के कारण रूप में स्थापित किया है। भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों के मत में और रीतिकार वामन के मत में केवल इतना ही भेद है कि प्रथम अलंकार को आन्तरिक तथा बाह्य सौंदर्य को धारण करने वाले धर्म रूप में मानते हैं और द्वितीय आंतरिक सौंदर्य कारक-धर्म को (ओज, माधुर्य, प्रसादादि) गुण मानते हैं और गुणों को प्रधानता देते हुए अलंकार को गौण या गुणों के कारण रूप में स्थापित करते हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वामन ने कोई

नई बात नहीं कही है। केवल नाम-भेद कर दिया है। यदि दण्डी के 'धर्म' शब्द को और वामन के 'गुण' शब्द को पर्यायवाची मान लिया जाये (जैसा कि वे हैं) **तो वामन की 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की धारणा 'अलंकारात्मा काव्यस्य' का रूप धारणा कर लेगी।** इस आधार पर यह कहना असंगत नहीं जान पड़ता कि अलंकारवादी और रीतिवादी आचार्यों के दृष्टिकोणों में कोई अन्तर है, वहां केवल शब्दों की हेरा फेरी है।

ध्वनि तथा अलंकार

ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने '**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति**' कहते हुए ध्वनि को काव्य का मूल तत्त्व घोषित किया है। इन्होंने ध्वनि के तीन मूल भेद किये हैं–**1. रस ध्वनि 2. अलंकार ध्वनि, 3. वस्तु ध्वनि।** इससे स्पष्ट है कि आनन्दवर्द्धन ने भी अलंकार को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया है। परन्तु उसे काव्य की आत्मा ध्वनि का एक अंश मात्र ही माना है। यहाँ यही तथ्य विचारणीय है कि चाहे खण्डश: ही सही आनन्दवर्द्धन भी अलंकार को काव्य के आत्म-तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। यही नहीं उन्होंने वामन की भाँति अलंकार के नाम में भी परिवर्तन नहीं किया और ज्यों का त्यों 'अलंकार ध्वनि' के रूप में मान लिया। यह तो आनन्दवद्धन का एक पक्ष हुआ। अब दूसरा पक्ष लीजिये जहाँ वे अलंकारों को 'अंगाश्रितास्त्वलंकारा: मन्तव्या: कटकादिवत्' कहकर अलंकारों को मात्र अंग रूप में 'कटक-कुण्डलादि' मानवीय अलंकारों की भाँति मान्यता देते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन भी वामन की भाँति अलंकार के दोनों पक्षों को मान्यता देते हुए चले हैं। 1. मुख्यरूप में 2. गौण रूप में। यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने काव्य का मूल तत्त्व तो 'ध्वनि' को ही माना है परन्तु अपनी प्रबल प्राचीनतम मान्यताओं के कारण अलंकार भी आनन्दवर्द्धन की दृष्टि से पूर्णरूपेण ओझल न हो सके हैं।

वक्रोक्ति तथा अलंकार

कुन्तक ने '**वक्रोक्ति काव्य जीवितम्**' कह कर वक्रोक्ति को काव्य के मूल तत्त्व के रूप में स्थापित करने का प्रयास तो किया है परन्तु अलंकार का इन्होंने कहीं भी विरोध नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक काव्य में अलंकार के पूर्ण समर्थक थे। कुन्तक ने वक्रोक्ति को '**विचित्र अभिधा**' तथा '**वैदग्ध्य भंगी भणिति**' कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि **वक्रोक्ति 'कवि-कौशल से प्रयुक्त विचित्र अर्थ को धारण करने वाली है।'** अर्थ में वैचित्र्य लाने का कार्य अलंकार करते हैं। अत: वक्रोक्ति और अलंकार मूलत: एक ही हैं, केवल नाम दो हैं। इसीलिए भामह ने वक्रोक्ति तथा अलंकार में कोई भेद नहीं माना है। वक्रोक्तिकार कुन्तक भी अलंकार को पर्याप्त महत्त्व देते हैं परन्तु इन्होंने भी अलंकार को मुख्य तथा गौण इन दोनों ही रूपों में ग्रहण किया है। वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हुए उसके **वर्णगत, पदगत, वाक्यगत, प्रकरणगत तथा प्रबन्धगत** भेद किये हैं और वे वर्णगत भेद के अंतर्गत शब्दालंकारों

तथा वाक्यगत भेद के अंतर्गत अर्थालंकारों को मान्यता देते हैं। अतः कुन्तक ने वक्रोक्ति में अलंकारों को ही मुख्य माना है। इस आधार पर हम देखते हैं कि कुन्तक एक ओर तो अलंकार की महत्ता को प्रमुख अलंकारवादियों की ही भांति स्वीकार करते हैं परन्तु दूसरी ओर वे **'वैचित्र्यमात्र प्रपत्तये'** अर्थात् मात्र वैचित्र्य के उपादान के लिए ही अलंकारों का प्रयोग नहीं होना चाहिए, कहकर अलंकारों के अतिशय प्रयोग पर रोक भी लगाते प्रतीत होते हैं। अतः कुन्तक का दृष्टिकोण भी अलंकारों के प्रति मध्यम मार्गीय ही परिलक्षित होता है परन्तु फिर भी अलंकारों की ओर इनका झुकाव ध्वनिकार तथा रीतिकार की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं विस्तृत है।

औचित्य तथा अलंकार

क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए **'अलंकारौचित्य'** के रूप में औचित्य का एक भेद स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र अलंकार को किसी न किसी रूप में काव्य का मूल-तत्त्व मानते हैं और कुन्तक की भांति अलंकारों के अनुकूल प्रयोग पर ही बल देते हैं। क्षेमेन्द्र का मत है कि अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से होना चाहिए और उसमें कवि-प्रतिभा का पुट भी होना चाहिए। अलंकारों के प्रयोग में बौद्धिक प्रयत्न नहीं होना चाहिए। अलंकार का स्थान काव्य में गौण है उसे भाव की अपेक्षा प्रमुखता नहीं मिलनी चाहिए। यमक, श्लेष आदि चमत्कार मूलक अलंकारों का प्रयोग स्वतंत्र रूप से न होकर अन्य अलंकारों के समन्वय के साथ होना चाहिए। इस मत का सर्वेक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेमेन्द्र एक ओर तो अलंकार को **'अलंकारौचित्य'** की संज्ञा देकर उसे औचित्य के अंतर्गत स्थान देकर काव्य का मूल तत्त्व मानते हुए अलंकारवादियों का समर्थन करते प्रतीत होते हैं तो दूसरी ओर अलंकारों के सीमित प्रयोग पर बल देकर उनकी गौणता की ओर संकेत करते दिखाई देते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन मध्यमार्गीय आचार्यों ने अलंकार को प्रथम स्थान से उठाकर द्वितीय स्थान पर रख दिया और प्राथमिकता रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य को दी।

अलंकारों को मात्र बाह्य सौन्दर्यवर्द्धक मानने सम्बन्धी विचारधारा

रस तथा अलंकार-रसवादी अलंकार को मात्र **'कटक कुण्डलादि'** के रूप में ही मानने वाले रसवादी आचार्य हैं।[25] इन्होंने अलंकार को न तो प्रधान माना है और न गौण। बल्कि उसे काव्य में तीसरे स्थान पर रख दिया है। तीसरे स्थान पर रक्खे जाने पर भी ये अलंकार को काव्य में आवश्यक नहीं मानते। इनका कथन है कि काव्य अलंकार रहित भी होता है।[26] इनके विचार से अलंकार मात्र काव्य के अस्थिर धर्म हैं। अतः गुण के समान इनका होना काव्य में अनिवार्य नहीं है।[27] अलंकारवादी आचार्यों ने तो अलंकार को प्रधानता देते हुए भी रस के महत्त्व को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया

था। उसे रसवत् अलंकार मानकर काव्य के अनिवार्य-तत्त्व की कोटि में गौण रूप में रक्खा था। रसवादी आचार्यों ने तो अलंकार को रस कोटि में गौण स्थान भी नहीं दिया क्योंकि अलंकार की मान्यता इन आचार्यों ने केवल रस के उपकारक के रूप में ही स्वीकार की है। इस प्रकार इन आचार्यों ने दुराग्रह पूर्वक अलंकार को बिल्कुल ही नीचे गिरा दिया।

रसवादियों की इस मान्यता पर यदि गहनता से विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इन आचार्यों का अलंकार के साथ यह घोर अन्याय तथा पक्षपात पूर्ण रवैया ही था। उन्होंने रस के प्रबल प्रतिद्वन्दी अलंकार-रूपी काँटे को साफ करने के लिए ही यह किया था, नहीं तो ऐसी बात नहीं है कि अलंकार 'कटक-कुण्डलवत्' ही प्रतीत होते हों। यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि 'कटक-कुण्डलादि' तो निर्जीव द्रव्य मात्र होते हैं। उन्हें शरीर से पृथक् भी किया जा सकता है परन्तु काव्यगत अलंकारों में यह बात नहीं होती। ये तो मात्र शब्दार्थ पर आधारित होते हैं, जो निर्जीव न होकर सजीव होते हैं। यही नहीं ये काव्य-पुरुष के अवयव होते हैं जो उससे बहुत अंशों में नीर-क्षीर की भांति मिले भी रहते हैं। अत: यदि उन्हें पृथक् भी करना चाहें तो नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ –

निरख सखी ये खंजन आये।
फेरे मेरे मन रंजन ने नयन इधर मन भाये।
यह है उनके तन का आतप मनसे सर सर साये।
घूमे वे इस ओर और ये हंस यहाँ चलि आये।
स्वागत-स्वागत शरद भाग्य से मैंने दर्शन पाये।
नयनों ने तोती वारे ये अश्रु अर्घ्यभर लाये॥ (साकेत)

इन पंक्तियों में शरद्कालीन समस्त उपकरणों को देखकर उर्मिला को अपने पति (लक्ष्मण) की याद आ जाती है। वह अपनी वियोग दशा में अपने पति के नेत्रों, उनके पराक्रम, मन की सरसता, चाल आदि का सहसा अनुभव (समान उपकरणों को देखकर) करती है। इस प्रकार पति का स्मरण करके वह कभी प्रसन्न होती हैं और कभी विरह के आँसू भी उनके नेत्रों में भर आते हैं। इन पंक्तियों में भाव के ग्रहण कराने में स्मरण, रूपक रूपकातिशयोक्ति, वीप्सा आदि अलंकारों का ही योगदान है। बिना इन अलंकारों की सहायता के भाव की इतनी मार्मिक विवक्षा नहीं हो पाती। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि **शरीरादि की लौकिक स्थिति और काव्यादि की अलौकिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर होता है। इसलिए काव्यगत अलंकारों और लौकिक अलंकारों को समानरूप में स्थिर नहीं किया जा सकता।**

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विश्वनाथ आदि रसवादी आचार्यों द्वारा अलंकार पर किये गये कुठाराघात से अलंकार की गरिमा काव्य में कम नहीं हुई क्योंकि फिर भी अलंकारों का प्रयोग निरन्तर काव्य में देखा जाता है। उनकी

संख्या भी बढ़ती ही जा रही है और एक के पश्चात् एक नवीन उपमानों की खोज जारी है। इसका कारण यह है कि अलंकारों की जड़ बहुत गहरी है और उसे उखाड़ फैंकना आसान नहीं है। यह एक लोक-सिद्ध सत्य है कि समाज में कतिपय विद्वानों द्वारा यदि किसी वस्तु को यों ही अनावश्यक बताकर त्याग दिया जाता है तो भी उस वस्तु की गरिमा पर कोई आंच नहीं आती। बिहारी का यह दोहा इसी ओर संकेत करता है–

सीतलतारु सुगंध की महिमा घटी न मूर।
पीनस वारे जो तज्यौ सोरा जानि कपूर।। (बिहारी सतसई)

अलंकार और अलकार्य

अलंकार का लक्षण करते हुए आचार्यों ने कहा है–

"अलंकरोति इति अलंकार:" अर्थात् काव्य सौंदर्य को अलं (पूर्ण) करने के साधन अलंकार कहलाते हैं। इसके साथ ही **"अलंक्रियते इति अनने अलंकार:"** अर्थात् जिन्हें अलंकृत किया जाता है वे भी अलंकार होते हैं। इस विवक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो अलंकृत करते हैं, वे उपमानादि अलंकार होते हैं।

2. अलंकृत किये जाने वाले व्यक्ति और वस्तुएँ अर्थात् उपमेय भी अलंकार ही हैं।

परन्तु उपमेय साध्य होता है और उपमान साधन। साध्य को साधन कैसे माना जा सकता है। इस पर विद्वान् एक मत नहीं हैं। कुन्तक ने तो इसे पूर्णतया अस्वीकार करते हुए कहा है कि कोई अपने ही कन्धे पर कैसे चढ़ सकता है। परन्तु केशव आदि कवियों ने अलंकारों को व्यापक रूप में स्वीकार करते हुए कहा है–

"सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
बर्न बर्न्य भू राज श्री भूषन केसव दास।।"

इस प्रकार इन्होंने वर्ण्य को भी अलंकार की कोटि में ले लिया है। परन्तु इस मान्यता पर विद्वान् एक मत नहीं हैं और अधिकांश विद्वान् बड़े पुष्ट प्रमाणों के द्वारा अलंकार और अलंकार्य को पृथक मानते हुए अलंकार को साधन और अलंकार्य को साध्य मानते हैं।

अलंकार के कार्य

पूर्व विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में अलंकारों का पर्याप्त महत्त्व है। आचार्य भरत से लेकर अब तक अलंकारों के महत्त्व को सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। यद्यपि रसवादी परम्परा के पाश्चात्य मान्यता की दृष्टि से अलंकारों का स्थान काव्य में दूसरा हो गया है परन्तु फिर भी अलंकारों की उपयोगिता काव्य-क्षेत्र में निरन्तर बनी हुई है। इसका कारण यह है कि अलंकार, काव्य में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करते हैं। अलंकार के कार्यों का संक्षेप में उल्लेख इस प्रकार है:–

पं. रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि – **'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं**

के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।' इस आधार पर अलंकार के कार्यों को चार भागों में बाँटा को चार भागों में बाँटा जा सकता है–

1. भावों का अधिक तीव्र अनुभव करना

अलंकार के प्रयोग द्वारा भाव को अधिक उत्कृष्ट, प्रभावशाली तथा तीव्र बनाया जा सकता है। यथा–

इन्द्रजिमि जम्भ पर, वाड़व सु अम्ब पर,
रावण सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पौनि वारि वाह पर, शम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्त्र बाहु पर रामद्विजराज है।
दावा द्रुम दुण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर,
भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज त अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ वंस पर सेर सिवराज है।। (भुषण)

इन पंक्तियों में मालोपमा तथा अनुप्रास के प्रयोग से उत्साह तथा देश-प्रेम के भावों की अनुभूति अधिक तीव्र हो उठी है।

2. रूप का अधिक तीव्र अनुभव कराना

अलंकारों के प्रयोग से किसी व्यक्ति या वस्तु के रूप का अनुभव भी अधिक सजीवता के साथ कराया जा सकता है। यथा :–

नील परिधान बीच सुकुमार,
खिल रहा मृदुल अध खुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघवन-बीच गुलाबी रंग।। (कामायनी)

इन पंक्तियों में उपमा तथा रूपक की योजना से श्रद्धा का सौंदर्य अधिक प्रभावशाली रूप में अनुभूत होता है।

3. गुणों का अधिक तीव्र अनुभव करना

अलंकारों के माध्यम से वस्तुओं के गुणानुभव को अधिक तीव्र किया जाता है। जैसे :–

ओ चिन्ता की पहली रेखा
अरी विश्व वन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प सी मतवाली।। (कामायनी)

इन पंक्तियों में रूपक तथा उपमा अलंकारों के प्रयोग से चिंता की पीड़ादायकता

4. क्रिया को अधिक तीव्र अनुभव कराना

अलंकारों के माध्यम से व्यक्ति की क्रियाशीलता को सामान्य की अपेक्षा अधिक तेज करके दिखाया जाता है। यथा–

उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई
उधर पराजित काल-रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई। (कामायनी)

इन पंक्तियों में रूपक और उपमा अलंकारों के माध्यम से उषा के उल्लासमय आगमन तथा काल रात्रि के शीघ्रता से तिरोभाव की क्रिया का अनुभव अधिक तीव्रता के साथ कराया गया है।

निष्कर्ष– काव्य में अलंकार के महत्त्व सम्बन्ध विवेचन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार की परम्परा अति प्राचीन एवं सुदृढ़ है। काव्य के प्राथमिक चरण में तो काव्य-क्षेत्र में अलंकार का ही एक छत्र साम्राज्य था। उसी को काव्य की आत्मा माना जाता था परन्तु जैसे-जैसे समय बढ़ता गया अलंकार का साम्राज्य भी संघर्ष की स्थिति में फँसकर ध्वस्त होने लगा। जिस प्रकार एक विशाल साम्राज्य में निहित महत्त्वाकांक्षी तत्त्व समय पाकर अपना सिर उठाने लगते हैं उसी प्रकार 'रीति', 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति', 'रस' तथा 'औचित्य' सम्बन्धी तत्त्वों ने अलंकार के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। अलंकार, प्रारम्भ में उद्भूत रीति, ध्वनि, तथा वक्रोवित्त को तो किसी भाँति परास्त करने में सफल हो भी गया परन्तु 'रस' की प्रबल एवं शक्तिशाली धारा ने अलंकार रूपी सम्राट को परास्त कर उसके सिंहासन पर पूर्ण अधिकार जमा लिया। तब से अलंकार काव्य के प्रथम स्थान से च्युस्त हो गया और उसने 'रस' के साथ समझौता करके उसके सहायक के रूप में कार्य करने की मान्यता को स्वीकार कर लिया।

हिन्दी-साहित्य में अलंकार की स्थिति का सिंहावलोकन करने के पश्चात् भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी में अलंकार का स्थान रस की अपेक्षा गौण ही है परन्तु रस के साथ किसी न किसी रूप में वह अवश्य ही उपस्थित मिलता है। वीरगाथाकाल में उसने शब्दालंकारों तथा सादृश्यमूलक अर्थालंकारों के रूप में उपस्थित रहकर वीर रस के उत्कृष्टतम रूप का अधिक तीव्रता एवं सजीवता के साथ दर्शन कराया है। इसी युग में तलवारों की झन-झनाहट के बीच से बढ़ते हुए वीर योद्धाओं के प्रेम-वृक्ष को हरियाली प्रदान करने के लिए इस ने रूपक, उपमा, रूपकातिश्योक्ति, उत्प्रेक्षा तथा संदेह आदि से प्रेम की धारा बहाई है। इसके अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, दृष्टान्त, दीपक आदि के रूप में समाज को रीति-नीति की बातें भी यह सिखाता रहा है। भक्ति काल में अलंकार अत्यन्त सौम्य रूप धारण करते हुए केवल वांक्षित होने पर ही उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टान्त, दीपक, अर्थान्तरन्यास आदि के रूप में रस की सगुण रूप में आराधना करता

रहता है। रीतिकाल में इसे खुलकर खेलने का अवकाश मिला और यह विलासी तथा अकर्मण्य राजाओं के आश्रित कवियों के सान्निध्य में रहकर रसाभास रूप रस-राज के साथ अठखेलियाँ करते हुए अपनी स्थिति को अधिक सुदृढ़ बना सकने में सफल हुआ। आधुनिक काल में भी राष्ट्रवाद, समाजवाद, प्रकृतिवाद, प्रतीकावाद, प्रयोगवाद, आदि की धाराओं में विकसित होकर रंग-बिरंगे, पुण्डरीक पुष्पों की भाँति साहित्य-सरोवर के सौंदर्य को पूर्णता प्रदान करता रहा है। अत: यह कहना अनुचित न होगा कि **अलंकार सदैव काव्य के भूषण रहे हैं और 'भूषन बिनु न विराजई कविता-वनिता मित्त' की उक्ति को सार्थक करते रहे हैं परन्तु फिर भी काव्य में इन वांछित प्रयोग ही उपादेय सिद्ध हुआ है।।**

यहाँ यह कहना सार्थक ही है कि रस की ही भाँति भारतीय काव्य और काव्य-शास्त्र अलंकारों के स्वरूप विस्तार तथा प्रयोग आदि में भी बेजोड़ हैं।

टिप्पणियाँ

1. रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहधोदित:।
   न कान्तमपि निर्मूषं विभाति वनितामुखम्।। (का. अलं. 1.13)
2. काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। (काव्यादर्श 2.1)
3. सौन्दर्यमलंकार: (काव्य-अलंकार सूत्र-वृति)
4. काव्य शोभाया: कत्तारौ धर्मा: गुणा:। तदतिशय वस्त्वलंकारा:। (वहीं 3।2)
5. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। वही
6. तद्दोषौशब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि। (काव्य प्रकाश)
7. अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती। (अग्निपुराण)
8. अंगीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
   असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णमनलं कृती।। (चन्द्रालोक 1.12)
9. जदापि सुजाति सुलच्छनी सुवरनसरस सुवृत्त।
   भूषण बिनु न विराजई कविता बनिता मित्त (कविप्रिया)
10. कविप्रिया प्रकरण 5 से 9 तक
11. अ. अनन्ताहिवाग्विकल्पा: तत्प्रकारा एवं चालंकारा: (ध्वन्यालोक)
    ब. अंगाश्रितास्वलंकारा: मन्तव्या: कटकादिवत्।
12. अभिधान प्रकार विशेषा एव चालंकारा:।। (अलंकार सर्वस्व)
13. शब्दार्थयोरस्थिरताये धर्मा शोभातिशायिन:। (साहित्य दर्पण)
14. (क) एवंचातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम् (का.प्र. टीका)
    (ख) सर्वत्र एवं विधा विषयेऽतिग्रशयोक्तिरेव प्राणत्वेना ऽवतिष्ठे।
    तां विनाप्रायेगालंकारतवायोपगात्। (का. प्र.)

15. **उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा**
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया।। (नाट्यशास्त्र 16/43)

16. दे. पं. रामदहिन मिश्र कृत काव्य दर्पण पृ. 339-41

17. अलंकाराणाम् अनन्तत्त्वात्। (ध्वन्यालोक)

18. तेचाद्यापि दिकल्प्यते कर्स्तान् कात्स्र्नेन वक्ष्यति। (काव्यादर्श)

19. इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगत्वेन यो विभागः सः
अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। (काव्य प्रकाश)

20. यत्सत्वे यत्सत्वमन्वयः यदभावे यदभावो व्यतिरेकः।। (न्याय मुक्तावली)

21. काव्य दर्पण (रामदहिनमिश्र) पृ. 342-431

22. काव्य दर्पण (रामदहिनमिश्र) पृ. 243

23. तलमध्य अनल स्फोट से भूकम्प होता है जहाँ।
होता विकम्पित वेग से क्या अचल भूधर भी वहाँ। (जयद्रथ वध)

24. उक्तपद का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है-
सरसिज लगत सुहावनों जदपि लियो ढपि पंक।
कारी रेख कलंक हू लसति कलाधार अंक।
पहिरे बल्कल वसन यह लागति नीकी बाल।
कहा न भूषण होइ जो रूप लिख्यौ विधिभाल। ((राजा लक्ष्मणसिंह कृत
(शकुन्तला नाटक 1/19))

25. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभाति शायिनः।
रसादीनुपकुन्ताऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।। (साहित्य दर्पण 10-1)

26. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (मम्मट)

27. अस्थिराइति नैषांगुणवदावश्यकी स्थितिः। (विश्वनाथ)

षष्ठ अध्याय

रीति-सिद्धान्त

रीति परम्परा का उद्‌भव एवं विकास

'गुणों' की स्थापना के रूप में 'रीति' की मूल प्रेरणा भरत से ही प्राप्त होती है। परन्तु भामह ने सर्वप्रथम अपने काव्य शास्त्रीय ग्रंथ 'काव्यालंकार' में रीतियों का विस्तृत विवेचन किया है। भामह ने अपने काव्य भेद निरूपण में काव्य-भेदों के रूप में 'वैदर्भ' तथा 'गौड़ीय' का निर्देश किया है। भामह के इस प्रयोग से केवल यही अनुमान लगाया जा सकता है कि भामह के समय में संस्कृत काव्य-रचना के क्षेत्र में काव्य की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं जिनका आधार विशुद्ध भौगोलिक था। भामह ने अपने विवेचन में रीति-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष पर्यालोचन नहीं किया है परन्तु परोक्ष रूप से 'रीति-सिद्धान्त' के बीज अवश्य ही भामह के विवेचन में मिलते हैं। अत: यदि भामह को रीति का मूल आविष्कारक मानें तो अत्युक्ति न होगी। यहाँ यह जानना भी आवश्यक है कि भामह ने किसी आकस्मिक चेतना या सूझबूझ के आधार पर ही वैदर्भ तथा 'गौडीय' नाम प्रस्तुत नहीं कर दिये हैं बल्कि ये नाम कुछ काव्य-शैलियों के लिए मौखिक रूप से लोक-जीवन में बहुत समय से प्रचलित चले आ रहे होंगे।

प्राचीन काल में हमें चार काव्य-शैलियों का परिचय मिलता है जिनका उल्लेख बाणभट्ट (7वीं शती) ने किया है। ये शैलियां थीं– 1. उदीच्य 2. प्रतीच्य 3. दक्षिणात्य 4. गौड। इन शैलियों के सम्बन्ध में बाणभट्ट का कथन है कि उदीच्य शैली उत्तर प्रान्त की है। जहाँ के लोग श्लिष्ट भाषा का अधिक प्रयोग करते हैं। प्रतीच्य शैली पश्चिमी प्रान्तों की है जहाँ के लोग अर्थ को अधिक महत्व देते हैं। दाक्षिणात्य शैली दक्षिण प्रान्त वालों की है जो उत्प्रेक्षा पर अधिक बल देते हैं और गौड़ीय शैली पूर्वीप्रान्तों की है जहां के कवियों में वर्णो का आडम्बर अधिक परिलक्षित होता है। इस विवेचन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रवृत्ति विशेष के आधार पर भौगालिक दृष्टि से काव्य रचना की पृथक्-पृथक् धारायें प्रवाहित होती रही हैं। परन्तु बाण द्वारा उल्लिखित इन शैलियों में काव्य की केवल ब्राह्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है।

भामह के पश्चात् दण्डी ने रीति के लिए उसके पर्यायवाची मार्ग तथा वर्त्म शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने भामह द्वारा उल्लिखित 'वैदर्भ' तथा गौडीय मार्गों का विवेचन

करते हुए उनके भौगोलिक महत्त्व को स्वीकार किया है और रीति के आधारभूत दस काव्य गुणों का विस्तार से विवेचन किया है। **दण्डी** ने जिन दस गुणों का निर्धारण किया है वे हैं – **श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि।** दण्डी के अनुसार ये दस गुण ही वैदर्भ-मार्ग के प्राण हैं। **वामन - दण्डी** के पश्चात् रीति-सिद्धान्त के संस्थापक आचार्य वामन ने 'रीति' का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है और **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** की घोषणा करके रीति को एक पूर्ण स्वतन्त्र तथा महत्वपूर्ण काव्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने काव्य लक्षण का विवेचन करते हुए लिखा है कि काव्य अलंकारों के कारण ही ग्राह्य होता है।[1] काव्य सौंदर्य ही अलंकार है।[2] तथा उस सौंदर्य का उपादान दोषों के परिहार तथा गुणों और अलंकारों के ग्रहण द्वारा होता है।[3] वामन ने रीति सिद्धान्त के विवेचन में गुणों पर अधिक बल दिया है। उन्होंने गुणों को शब्द गुण तथा अर्थ गुण इन दो रूपों में स्वीकार करके गुणों के क्षेत्र को अधिक व्यापक बना दिया है। उन्होंने शब्द गुणों का बन्ध (प्रबन्ध या रचना के बाह्य संगठन) के अन्तर्गत माना है और अर्थ गुणों को काव्य की अन्तरंग विशेषता मानते हुए रस तक को उसके अंतर्गत समाहित कर लिया है। वामन ने ही सर्वप्रथम रीति के दो के स्थान पर तीन भेद किये– वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली। वैदर्भी तथा गौड़ी रीतियों का तो किसी न किसी रूप में उल्लेख वामन से पूर्व भी मिल जाता है परन्तु पाञ्चाली का प्रयोग सर्वप्रथम वामन ने ही किया है। अत: पाञ्चाली नामक तीसरी रीति की उद्‌भावना वामन की निजी देन है। वामन की स्थापना के पश्चात् ही तीन रीतियाँ 'वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली' काव्य जगत् में प्रसिद्धि प्राप्त कर गईं और आज तक भी ये इसी रूप में मानी जाती हैं।

गुणों के सम्बन्ध में यह तथ्य भी विचारणीय है कि आचार्य भरत ने गुणों को स्वतंत्र भाव रूप में स्वीकार न करके दोषों के अभाव-रूप में स्वीकार किया है परन्तु वामन ने गुणों को स्वतत्र-भाव-रूप में स्वीकार किया है और उन्हें दोषों के विपर्य्य के रूप में स्थापित किया है। इस प्रकार 'वामन' ही वह पहले आचार्य हैं जिन्होंने गुण संख्या का विस्तार किया है और उनकी पृथक् भाव रूप में स्थापना की है।

गुण तथा रीति भेदों के अतिरिक्त वामन की एक महत्त्वपूर्ण देन और है कि उन्होंने 'मार्ग' तथा 'वर्त्म' आदि प्रचलित समानार्थी शब्दों के स्थान पर 'रीति' शब्द की स्थापना की और इसी शब्द के आधार पर सविस्तार 'रीति' सिद्धान्त का विवेचन किया। वामन ने अपने इन विचारों का प्रतिष्ठापन भामह के प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यालंकार पर वृत्ति (टीका) लिख कर किया है। अत: इनके सभी विचार काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति में सन्निहित हैं। इस आधार पर एक तथ्य और सामने आता है कि वामन अलंकारवादी आचार्यों की परम्परा के ही समर्थक हैं और उन्होंने अलंकारों के महत्व को स्वीकार करते हुए अलंकार सिद्धान्त की व्याख्या स्वरूप ही अपने मत की स्थापना की है। वामन ने कोई स्वतन्त्र या मौलिक काव्य ग्रंथ की रचना नहीं की है बल्कि उन्होंने अलंकार-वृत्ति

लिखकर उसी संदर्भ में अपनी मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं।

वामन के पश्चात् 'रीति' के प्रमुख विवेचक **रुद्रट** (नवी शताब्दी) हुए हैं। इन्होंने रीतियों की संख्या तीन के स्थान पर चार कर दी। इन्होंने लाटी या लाटीया नामक चौथी रीति की स्थापना की तथा रीतियों का विभाजन समस्त पदों (समास युत पदावली) के आधार पर किया। उनका विभाजन इस प्रकार है– 1. लघु समास-युत पाञ्चाली 2. मध्यम समास-युत लाटीया 3. दीर्घ समास बहुला गौडीया तथा 4. समास रहिता कौ वैदर्भी रीति माना। **रुद्रट** का यह रीति सम्बन्धी विवेचन रीति के बाह्य-रचना विधान का द्योतक है। रुद्रट के पश्चात् **ध्वनिवादी आचार्य आनन्द वर्द्धन** ने यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से तो रीति सिद्धान्त की अवहेलना ही की है परन्तु परोक्ष रूप से उन्होंने रीति का महत्त्व स्वीकार कर लिया है क्योंकि आनन्दवर्द्धन ने रीति के लिए संघटना शब्द का व्यवहार किया है और रीति को रसाश्रित माना है। उनके अनुसार रीति रस-रूप सौंदर्य का साधन है। आनन्दवर्द्धन की इस स्थापना में रीति का वह मर्म गृहीत होता है जो अभी तक आचार्यों से अछूता रह गया था। वह 'मर्म' यह था कि यदि रीति को माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों तक ही सीमित मानें तो इसका तात्पर्य स्पष्ट रूप में यह होगा कि रीति केवल रस तक ही सीमित है क्योंकि इन तीनों ही गुणों का सम्बन्ध केवल रसों से है परन्तु रसों के अतिरिक्त 'ध्वनि' भी तो काव्य का महत्वपूर्ण तत्व है जो रस पूर्ण रचनाओं में तो रस सौंदर्य के रूप में उद्भूत होती है और अन्य भावपूर्ण रचनाओं में जहाँ रस का परिपाक नहीं होता भाव, सजीवता, या प्रेरणा के रूप में विद्यमान रहती है। जैसे देश प्रेम, राष्ट्र प्रेम, समाज प्रेम, परोपकार, त्याग, सत्य, बलिदान, क्षमा, अहिंसा आदि के उदात्त भावों में। अतः आनन्दवर्द्धन द्वारा रीति को जाने या अनजाने में उपयुक्त स्थान दिया गया है।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् **राजशेखर** (10वीं शती) ने काव्य-पुरुष एवं साहित्य-विद्या के रूपकों द्वारा प्रवृत्तियों तथा रीतियों का विवेचन किया है। विदर्भ देश में ही उन्होंने काव्य पुरुष तथा साहित्य-विद्या का पाणिग्रहण कराकर वैदर्भी रीति को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित्र किया है। इन्होंने रीतियों की संख्या का और भी विस्तार किया है।इन्होंने अपने 'काव्य मीमांसा' नामक ग्रंथ में तो केवल वैदर्मी, गौडी तथा पांचाली का ही उल्लेख किया है परन्तु 'कर्पूरमंजरी'की प्रस्तावना में मागधी तथा 'बाल रामायण' के दशम अंक में मैथिली रीति का भी उल्लेख मिलता है।

राजशेखर के पश्चात **वक्रोक्तिकार** कुन्तक ने भी रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है और उन्होंने तीन मार्गों का उल्लेख किया है। 1. सुकुमार मार्ग, 2. विचित्र मार्ग, 3. मध्यम मार्ग। उनका कथन है कि सुकुमार मार्ग में रसो और भावों का नैसर्गिक निर्वाह होता है, विचित्र मार्ग में कलात्मकता की प्रधानता रहती है तथा मध्यम मार्ग में भाव तथा कला का उचित सम्मिश्रण रहता है। कुन्तक ने इन दोनों ही मार्गों के विशिष्ट तथा साधारण गुणों का उल्लेख किया है। इनके अनुसार विशिष्ट चार

गुण हैं–

माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य। साधारण दो गुण हैं – औचित्य तथा सौभाग्य। कुन्तक ने रीतियों में प्रादेशिक विशेषताएँ स्वीकार न करके उन्हें कवि स्वभाव जन्य बताया है। इस प्रकार कुन्तक ने रीति-विवेचन में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

कुन्तक के पश्चात **भोज** (11वी शती) ने रीतियों की संख्या में दो-अवन्तिका और मागधी की वृद्धि और कर दी है। इन दो रीतियों का वर्णन 'सरस्वती कंठाभरण' में है 'शृंगार प्रकाश' में केवल चार (पांचाली, गोडीया, वैदर्भी तथा लाटीया) का ही वर्णन है। **मम्मट** (11वीं शती) ने रीति और वृत्ति में अभेद मानते हुए कहा है कि उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियाँ ही वामन की तीन रीतिंया है।

हेमचन्द्र (1088-1172ई.) ने अपने काव्यानुशासन में रीति, वृत्ति, गुण और दोषों का विवेचन करते हुए गुण तथा दोषों को क्रमशः शब्दार्थ का उत्कर्षकारक तथा अपकर्ष कारक माना है। इन्होंने माधुर्य ओज और प्रसाद इन तीन गुणों, **इन तीन गुणों** को व्यक्त करने वाली उपनागरिका, परुषा तथ कोमलाा वृत्तियों तथा वैदर्भी, गौडी, पांचाली इन तीन रीतियों को एक ही माना है। अन्त में **आचार्य विश्वनाथ** ने रीति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए पदों की संघटना को रीति कहा है और उसके चार भेद वैदर्भी, गौडी पांचाली तथा लाटी स्वीकार करते हुए 'रीति'और वृत्ति में कोई भेद नहीं माना है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य भरत से लेकर विश्वनाथ तक 'रीति' के सम्बन्ध में किसी न किसी रूप में विचार विर्मश होता ही रहा है। इससे स्पष्ट है कि रीति की भारतीय काव्य-शास्त्र में एक सुदीर्घ परम्परा रही है और रीति किसी न किसी रूप में आचार्यो के आकर्षण का केन्द्र बनी रही है। यद्यपि रीति का व्यापक एवं विशद विवेचन तो 'वामन' ने ही किया है और उन्हें इसीलिए 'रीति-सिद्धान्त' का प्रवर्त्तक आचार्य भी माना जाता है परन्तु रीति की व्याख्या रीति के समानार्थी शब्दों की स्थापना, रीति के प्रकार गुण, रस, ध्वनि तथा अलंकारादि से उसका सम्बन्ध आदि सभी तत्त्वों पर आचार्यों द्वारा सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अत: यह कहा जा सकता है कि रीति-सिद्धान्त, भारतीय काव्य शास्त्र का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त और सम्प्रदाय है।

रीति का स्वरूप

रीति शब्द 'रीङ्.' धातु से 'क्तिन' प्रत्यय लगने से बना है। इसका अर्थ है– मार्ग, प्रणाली, पद्धति, गति, पन्थ, प्रस्थान आदि। (**रीयतेगम्यतेऽनेनेति रीतिः**) इस आधार पर रीति का साहित्यिक अर्थ हुआ-रचना की पद्धति या ढंग विशेष। रचना के इसी ढंग को शैली भी कहा जाता है। आचार्यों ने विभिन्न दृष्टिकोणों को आधार बनाकर 'रीति' के भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। **भरत, भामह तथा दण्डी** ने 'रीति' की कोई

परिभाषा नहीं दी है। **'भरत'** ने मात्र गुणों का उल्लेख किया है जिनका रीति से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। **भामह** ने केवल रीति के दो भेदों-वैदर्भी और गौड़ी का ही उल्लेख किया है और **'दण्डी'** ने प्रथम बार रीति के लिए 'मार्ग' तथा 'वर्त्म' शब्दों का व्यवहार किया है। उन्होंने दस गुणों का भी विस्तार से विवचेन किया है जिनकों वैदर्भ मार्ग के प्राण कहा गया है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भरत, भामह और दण्डी ने चाहे 'रीति' शब्द की काव्य-शास्त्रीय व्याख्या न की हो परन्तु उनके स्वरूप तथा प्रवृत्ति आदि से तो अवगत करा ही दिया है। यथा, वैदर्भी- कोमल स्वभाव वाली रचना प्रणाली और गौडीय उग्र या ओजस्वी स्वभाव की रचना प्रणाली।

मूल रूप में तो रीति-स्वरूप का विशद विवेचन आचार्य **वामन** ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' में किया है। वामन के अनुसार **'विशिष्टा पद रचना रीतिः'** अर्थात विशिष्ट प्रकार की पद रचना ही रीति है। और **'विशेषो गुणात्मा'** अर्थात यह विशिष्टता गुणों (ओज, माधुर्य, प्रसाद आदि) में है। गुण-स्वरूप का विवेचन करते हुए वामन कहते हैं **'काव्य शोभायाः कत्तारौ धर्माः गुणाः** अर्थात काव्य की शोभा के कारण गुण होते हैं और इन्हीं गुणों पर आधारित 'रीति' काव्य की आत्मा है। **(रीतिरात्मा काव्यस्य)** 'वामन' के इस मत का आशय यह है कि ओज, माधुर्य तथा प्रसादादि गुणों से युक्त रचना को रीति कहा जाता है। वामन की इस परिभाषा में **'रीति वह है जिसमें गुणों का पूर्ण समावेश हो।'** यहाँ एक शंका स्वभावतः ही उठ खड़ी होती है कि क्या ऐसी रचनाएँ जिनमें गुणों का समावेश न हो काव्य कहलाने की क्षमता रखती हैं अथवा नहीं? उत्तर मिलेगा-नहीं क्योंकि वामन का 'रीति' शब्द से तात्पर्य उसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ-मार्ग पद्धति प्रणाली आदि से बिल्कुल ही भिन्न है। रीति का व्युत्पत्तिपरक अर्थ तो स्पष्ट रूप से रीति को एक प्रणाली विशेष या शैली विशेष के अन्तर्गत ही रखता है जो काव्य का एक नितान्त बाह्य रूप है और जिसका सम्बन्ध मात्र भाषादि बाह्यतत्वों से है परन्तु वामन ने गुण-पूर्ण रचना को रीति कहकर उसे रस, भाव, तथा ध्वनि (व्यंग्यादि) आन्तरिक भावों से सम्बद्ध कर दिया है और रीति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक बना दिया है।

वामन द्वारा रीति शब्द का कोई पर्याय नहीं दिया गया है जैसा कि अन्य आचार्यों ने रीति के मार्ग वर्त्म संघटन शक्ति आदि स्थानापन्न शब्दों का व्यवहार किया है। यहाँ एक बात पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा कि वामन अन्ततोगत्वा 'अलंकार-सम्प्रदाय' के समर्थक थे और इसीलिये उन्होंने भामह के अलंकार मूलक ग्रंथ काव्यालंकार की टीका 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' लिखी है और इसी टीका (वृत्ति) में ही अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। वे अलंकारों को सौंदर्य की संज्ञा देते हैं **'सौंदर्यमलंकारः'** परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि अलंकार आन्तरिक सौंदर्य के द्योतक हैं या बाह्य सौंदर्य के। कुछ भी हो **वामन के अनुसार गुणमूलक रचना को 'रीति' कहते हैं।** इस कथन से यही निष्कर्ष निकालना होगा कि 'रीति' एक रसपूर्ण भावपूर्ण तथा व्यंग्यपूर्ण

रचना को कहते हैं क्योंकि वामन के अनुसार रीति का सम्बन्ध गुणों से है और गुणों का सम्बन्ध रस, भाव तथा व्यंग्यादि से। **आनन्दवर्द्धन** ने भी रीति की विवक्षा करते हुए कुछ अंशो में तो वामन का ही अनुकरण किया है कि-सम्यक पद रचना का नाम संघटना या रीति है और वह रस सौंदर्य का साधन है। रस सौंदर्य से आनन्दवर्द्धन का आशय 'ध्वनि' से है। उनकी दृष्टि में ध्वनि साध्य है और रीति उसका साधन। इस प्रकार वामन तथा आनन्दवर्द्धन के मतों में पर्याप्त स्तर भेद है और यहाँ आनन्दवर्द्धन की ही बात अधिक उचित प्रतीत होती है कि रीति काव्य-सौंदर्य (रस,व्यंग्य तथा भावादि) का साधन है। साध्य नहीं। जबकि वामन ने रीति को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए उसे साध्य रूप में स्थापित किया है।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् **राजशेखर** ने 'वचन विन्यास' के क्रम को 'रीति' कहा है (वचन विन्यास क्रमो रीतिः)। **कुन्तक** ने रीति को 'कवि प्रस्थान हेतु' अर्थात् कवि की रचना का मार्ग कहा है। **भोज** ने रीति को मार्ग तथा पन्थ आदि के पर्याय के रूप में गृहीत किया है। इन तीनों ही आचार्यों के दृष्टिकोण 'रीति' के व्युत्पत्ति कारक अर्थ को लेकर चले हैं। अतः वामन के मत का समर्थन करते हुए भी ये मूल रूप में उससे दूर भागते दिखाई देते हैं।

मम्मट ने 'रीति और वृत्ति' को एक मानते हुए वृत्ति की परिभाषा करके उसे रीति से जोड़ दिया है। मम्मट ने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार की है– **'वृत्तिर्नियतवर्णगतो रस विषयो व्यापारः'** अर्थात् वृत्ति विशिष्ट वर्णों पर आधारित रसानुभूति की प्रक्रिया है। इसी परिभाषा को रीति से जोड़ते हुए वे लिखते हैं– **'एतास्तिस्त्रोवृतयो वामनांदीनां मते वैदर्भी गौडी पाञ्चालयांख्या रीतयो मताः।'** अर्थात् ये तीनों ही वृत्तियाँ (उपनागरिका, परुषा तथा कोमला) वामन आदि द्वारा प्रतिपादित 'वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली' इन तीन रीतियों के समान हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मम्मट का मत आनन्दवर्द्धन के इस मत का ही परिचायक है कि रीति रस की उद्बोधक क्रिया है।

अन्त में **विश्वनाथ** ने भी 'रीति' को काव्य की आत्मा रस, भाव आदि की पोषिका माना है।[4]

विवेचन–आचार्यों के रीति-स्वरूप सम्बन्धी मतों का पर्यालोचन कर लेने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि रीति के स्वरूप निर्धारण के सम्बन्ध में तीन वर्ग स्थापित हो गये थे–

1. **अलंकार वादी तथा अन्य समर्थक आचार्यों का वर्ग** जो 'रीति' को उसके व्युत्पत्ति कारक अर्थ के आधार पर कवि-प्रस्थान का मार्ग या काव्य-रचना का विशिष्ट दृष्टिकोण मानता है। जैसे दण्डी, राजशेखर,कुन्तक तथा भोज आदि।

2. **रीति सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य** 'वामन' जो गुणयुत रचना को 'रीति' कहते हुए उसे काव्य की आत्मा (साध्य) रूप में मानते हैं।

3. **ध्वनि एंव रसवादी आचार्य** आनन्द वर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ जो रीति

को विशिष्ट पद रचना (गुणयुत रचना) तो मानते हैं परन्तु उसे रस, भाव और व्यंग्य (ध्वनि) आदि की पोषिका (साधन) के रूप में स्वीकार करते हुए रीति को काव्य की आत्मा न मानकर उसे बाह्यांग या पद संघटना की प्रणाली (शैली) विशेष मानते हैं। वे रीति के अन्य तत्त्वों को (विशिष्ट पद रचना आदि) स्वीकार करते हुए भी उसे साधन मानते हैं। साध्य नहीं।

उपर्युक्त आचार्यों के मतों पर सम्यक् विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि रीति न तो वामन के अनुसार काव्य का आन्तरिक तत्त्व (काव्य की आत्मा) या साध्य ही है और न अलंकार वादी आचार्यों की भांति वह नितान्त व्युत्पत्ति कारक अर्थ के आधार पर कोरी पद्धति मार्ग या गति आदि ही है। अत: रीति के सम्बन्ध में निम्नलिखित मध्यम मार्ग ही अपनाना होगा।

1. रीति के व्युत्पत्ति मूलक अर्थ को ध्यान में रखते हुए उसका यह अर्थ ग्रहण किया जायेगा कि 'रीति' पदों (वर्णों) का एक विशिष्ट संघटन (संगठन) है जो काव्य की विशिष्ट रचना (शैली) के निर्माण में सहायक होती है।

2. रीति का आन्तरिक अर्थ लेते हुए यह निर्धारण करना पड़ेगा कि रीति का सीधा सम्बन्ध गुणों से है और वह गुणों के माध्यम से रस, भाव तथा व्यंग्यादि के सौंदर्योद्बोधन का कार्य करती है।

अत: निष्कर्ष रूप में 'रीति' की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है

'रीति पदों (वर्णों और शब्दों) का ऐसा विशिष्ट संघटन है जो गुणों (ओज माधुर्य तथा प्रसादादि) के माध्यम से काव्य सौंदर्य (रस, भाव तथा व्यंग्यादि) का स्पष्ट बोध कराती है।'

दूसरे शब्दों में– **'रीति गुणों के माध्यम से काव्य सौंदर्य का उद्बोधन कराने वाली विशिष्ट 'शैली' को कहते हैं।'**

रीति के प्रकार

रीति की संख्या के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं। **भामह** ने रीति के केवल दो ही भेद स्वीकार किये हैं– वैदर्भ तथा गौडीय। **वामन** ने पांचाली का प्रवेश कराकर इनकी संख्या को तीन स्थिर किया। **रुद्रट** ने लाटी या लाटीया नामक चौथी रीति की कल्पना करके रीति के चार प्रकार निर्धारित किये। आगे चलकर **राजशेखर** ने मैथिली तथा मागधी दो रीतियाँ और मानकर इनकी संख्या छ: तक पहुँचा दी। **भोज** ने भी रीति संख्या छ: मानी है। उन्होंने मैथिली तथा मागधी को एक (मागधी के रूप में) मानते हुए 'अवन्तिका' नामक एक नयी रीति का नाम जोड़कर – वैदर्भी, गौडीया, पांचाली, लाटीया, मागधी, और अवन्तिका ये छ: भेद निर्धारित किये।

रीति के भेदों का आधार-विचारणीय तथ्य यह है कि रीति के भेद निरन्तर बढ़ते ही चले गये अर्थात दो से बढ़कर छ: या सात हो गये। इसका कारण क्या हो सकता है? इस पर भी विचार करना आवश्यक है। 'रीति' के सभी भेद संस्कृत साहित्य

के आधार पर निर्मित हुए। प्रारम्भ में संस्कृत साहित्य का मधुर एवं कोमल रूप आचार्यों को विदर्भ (बरार) में ही परिलक्षित हुआ और ओजस्वी तथा कठोर रूप गौड़ प्रदेश (बंगाल) में ही दिखाई दिया। इन दोनों ही प्रान्तों की माधुर्य पूर्ण तथा ओजपूर्ण शैलियाँ अधिक प्रभावित करने वाली थीं और अन्य क्षेत्रों की काव्य-शैलियों में कोई स्पष्ट विभेद परिलक्षित नहीं होता था। अतः **भामह** ने मधुर सरस, गंभीर तथा भावपूर्ण विदर्भ देश (बरार प्रान्त) के लक्ष्य ग्रंथों के आधार पर उन रचनाओं को **वैदर्भ** के नाम से अभिहित किया और गौड (बंगाल) प्रान्त में उपलब्ध ओजपूर्ण (शक्ति आदि की पूजा से सम्बद्ध) रचनाओं के आधार पर कठोर वर्णों से पूर्ण सजीव एवं स्फूर्तिदायक रचनाओं को **गौडीया** के नाम से अभिहित किया। वामन के समय तक आते आते पंजाब की रचनायें भी प्रभावशाली रूप धारण करने लगीं और उनमें सरलता, सरसता, मधुरता, कठोरता, स्फूर्तिदायकता, प्रेरणादायकता तथा उत्साहवर्द्धकता आदि सभी गुण विद्यमान दिखायी दिये। अतः इन रचनाओं के आधार पर वामन ने एक तीसरी वृत्ति **पांचाली** की स्थामना कर दी।

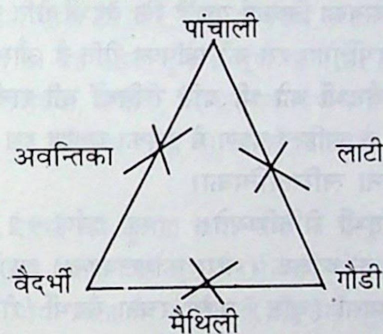
लाटी या लाटीया की कल्पना रुद्रट ने की थी। इसकी स्थापना का आधार कोई क्षेत्रीय विशेषता नहीं थी। रचना में समस्त पदों (समासों का) न्यूनाधिक्य प्रयोग ही था। रुद्रट ने वैदर्भी तथा पांचाली को माधुर्य गुण युत मानते हुए गौडी तथा लाटीया को ओज गुण युत मान लिया। रुद्रट ने लाटीया को पांचाली और गौडी के बीच की मध्यम समास वाली रचना मान लिया जिसमें पांचाली से अधिक और गौड़ी से कम समस्त पदों को प्रयोग हुआ हो।

आगे चलकर मगध तथा मैथिल प्रदेश की भाषा ने भी अपनी विशिष्ट शैली का प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिया क्योंकि यह क्षेत्र विदर्भ (बरार) तथा बंगाल के समीप पड़ता था। अतः इस शैली में वैदर्भी और गौडीया की अन्तर्वर्तिनी शैली प्रतिष्ठित की; परन्तु अलंकार वादियों ने इसे मान्यता नहीं दी। **राजशेखर** ने मागधी या मैथिली रीति की स्थापना क्षेत्रीय आधार पर अपने ग्रंथ 'कर्पूर मंजरी' तथा 'बालरामायण' में वहाँ उपलब्ध काव्य-शैली के आधार पर की। आगे चलकर जैसे-जैसे लक्ष्यग्रंथों की क्षेत्रीय शैलियों का विकास हुआ वैसे ही वैसे रीति के भेद बढ़ते चले गये। अन्त में **भोज** ने अवन्ती के आसपास की शैलियों के आधार पर पांचाली तथा वैदर्भी की अन्तराल वर्तिनी शैली के रूप में अवन्तिका नामक 'रीति' को प्रतिष्ठित किया।

उपर्युक्त का निष्कर्ष यह निकलता है कि रीति भेदों का विकास विशुद्ध रूप से क्षेत्रीय शैलियों में प्राप्त माधुर्यादि गुणों के आधार पर हुआ। अतः इन का नामकरण भी भौगोलिक आधार पर हुआ है। लगभग सभी आचार्यों ने रीतियों के नामकरण का यही अभिधान माना है। रीतियों के प्रकारों का सम्यक् अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि पंजाब से लेकर विदर्भ तक और विदर्भ से लेकर बंगाल तक वहां की भाषायी प्रवृति के आधार पर काव्य में नवीन शैलियों का विकास हुआ जिनका मूलाधार

ओज माधुर्य तथा प्रसाद गुण थे। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आजकल भी विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं में माधुर्य (जैसे ब्रज में), ओज (जैसे पंजाबी व हरियाणी में) तथा दोनों का मिलाजुला रूप (जैसे अवधी) आदि में विद्यमान है। इसी आधार पर प्राचीन काल में भी रीतियों का निर्धारण हुआ जो अभी तक कुछ न्यूनाधिक्य के साथ ग्रहण किया जाता रहा है। इन छ: रीतियों में तीन रीतियाँ मुख्य थीं- वैदर्भी, गौड़ीय तथा पाञ्चाली। शेष तीन इनकी अन्तर्वर्तिनी रीतियाँ थीं जैसे - पांचाली तथा गौडी की अर्न्वर्तिनी रीति थी लाटी या लाटीया, वैदभी तथा गौडी की अन्तर्वर्तिनी मैथिली या मागधी तथा पांचाली और वैदर्भी की अन्तर्वतिनी रीति अवन्तिका थी।

रीतियों के प्रकारों के सम्बन्ध में एक तथ्य पर विचार कर लेना परम आवश्यक है कि चाहे प्रारम्भ में रीतियों के प्रकारों की स्थापना समस्त पदों तथा भौगोलिक विशेषताओं के आधार पर की गई थी परन्तु कालान्तर में और विशेषकर हिन्दी साहित्य में रीतियों को भौगालिक सीमाओं में बाँधकर नहीं देखा जा सका। साथ ही संस्कृत से निसृत भाषाओं की प्रवृति संयोगात्मक से वियोगात्मक होती चली गई। अत: हिन्दी में समासों के प्रयोग का अभाव ही देखा जाता है। यदि कहीं समास प्रयोग मिलता भी है तो वह सामान्य कोटि का ही माना जायेगा। संस्कृत के समान हिन्दी में समासों का प्रयोग नहीं हुआ। अत: रीति भेदों पर विचार करते समय संस्कृत आचार्यों की स्थापनाओं को ध्यान में रखते हुए रीतियों का मूल विभाजन वृत्तियों तथा रस, भाव एवं ध्वनि आदि के प्रयोगों के आधार पर करना ही समीचीन होगा। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर नीचे रीति भेदों का सोदाहरण विवेचन किया जाता है।



उपर्युक्त आधार पर इन रीतियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता हैं-

1. मूल रीतियाँ (वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली)
2. गौण या अन्तर्वतिनी रीतियाँ (लाटी, मैथिली तथा अवन्तिका)

मूल रीतियाँ

वैदर्भी

वैदर्भी रीति माधुर्य गुण पर आधारित है और इसका सम्बन्धशृंगार, करुण तथा

शान्त जैसे कोमल रसों से है। इन्हीं गुणों के कारण इसे समास रहित या अल्प समास वाली रचना भी कहा जाता है। इसमें सर्वथा मधुर कोमल कान्त पदावली का ही प्रयोग होता है जिसमें सरसता, मधुरता, कोमलता तथा गम्भीरता कूट-कूट कर भरी रहती है। वैदर्भी में 'ट' वर्ग के कठोर वर्णों का प्रयोग नहीं होता और 'क' वर्ग से लेकर 'प' वर्ग तक के सभी वर्णो का प्रयोग अपने पंच वर्णों के साथ होता है। इसमें संयुक्त वणों का बाहुल्य भी वर्जित है। प्राय: सभी आचार्यों ने वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ रीति माना है। दण्डी ने तो श्लेषादि दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है। दण्डी के अनुसार वैदर्भी की श्रेष्ठता का मूल कारण उसका गुण-स्फुटत्व तथा गुण साकल्य ही है। इसका तात्पर्य यह है कि वैदर्भी रीति में माधुर्य गुण इस प्रकार स्फुट (प्रकट) होता है। जिस प्रकार पके हुए फल से मीठा रस स्वत: ही झलकता है और पान करने से पूर्व ही मन को आनन्द से भर देता है। इसी को लार टपकना भी कहते हैं। **रुद्रट** ने वैदर्भी को माधुर्य और सौकुमार्य के कारणशृंगार, प्रेम तथा करुणा आदि रसों के योग्य माना है। **राजशेखर** ने विदर्भ के मुख्य नगर वत्सगुल्म को भगवान् कामदेव की क्रीड़ा-स्थल मानकर वैदर्भी रीति को उसके उपयुक्त बताते हुए सर्वश्रेष्ठ माना है। उन्होंने आलंकारिक भाषा में इस 'रीति' की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जब काव्य-पुरुष की पत्नी साहित्य-विद्या ने उससे (काव्य -पुरुष से) गौड़ी में सम्भाषण किया तो उसकी कठोरता के कारण वह उसे तनिक भी प्रभावित न कर सकी। इसके पश्चात् जब उसने पांचाली में सम्भाषण किया तो वह उसे कुछ अच्छा लगा और वैदर्भी में किया गया वार्तालाप तो उसे एकदम पसन्द आया। इस प्रकार 'काव्य-पुरुष' के ऊपर वैदर्भी का ही सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। इस सबका निष्कर्ष यह है कि वैदर्भी रीति की सभी आचार्यों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वैदर्भीशृंगार रस की पोषिका रीति है औरशृंगार को ही रसों का राजा कहा गया है। **अत: वैदर्भी को भी यदि रीतियों की रानी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी विश्वनाथ** ने साहित्य दप्रण में इसका लक्षण इस प्रकार किया है–

माधुर्यव्यजंकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
आवृतिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।। (सा. दर्पण 9,2,3)

अर्थात् – 'माधुर्य गुण के व्यंजक (मधुर कोमलकान्त) वर्णों वाली, लालित्य पूर्ण समासरहित या अल्प समासों (वृत्ति) वाली रचना वैदर्भी 'रीति' कहलाती है। उदाहरणार्थ–

ऐसे बेहाल बिवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय महादु:ख पायौ सखा तुम आये इतै न कितै दिन खोये।
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करि कैं करुना निधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहीं नैनन के जल सौं पग धोये।

(सुदामाचरित)

इन पंक्तियों में करुण रस है। मधुर कोमल कान्त पदावली का प्रयोग हुआ है।

अत: माधुर्य गुण एवं मधुरा (उपनागरिका वृत्ति) है। समस्त पदों का सर्वथा अभाव है। साथ ही सरसता, कोमलता, गम्भीरता, मार्मिकता तथा प्रभावोत्पादकता आदि गुणों से पंक्तियाँ ओतप्रोत हैं। संयुक्त वर्ण, द्वित्व वर्ण तथा कठोर वर्णों का समावेश कही भी नहीं हो पाया है। यह पद ब्रजभाषा का है। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना उचित होगा कि **ब्रजभाषा की प्रवृत्ति ही मधुरावृत्ति व वैदर्भी रीति के अनुकूल है।** यह भाषा स्वत: ही सरस एवं कोमल है।

गौड़ी

गौड़ी की स्वरूप संरचना के सम्बन्ध में विद्वानों के मत इस प्रकार हैं– **दण्डी** के मतानुसार गौड़ी में दस गुणों का समावेश नहीं रहता। **वामन** ने इसे ओज तथा कान्तिगुण युत शैली के रूप में माना है। जिसमें उग्रपदों तथा समास बहुल पदावली की प्रधानता होती है और मधुरता तथा सुकुमारता का अभाव रहता है।[5] **रुद्रट** ने इसे दीर्घ समासों से युक्त रीति माना है जो रौद्र, भयानक, वीर आदि दीप्ति प्रधान रसों की अभिव्यक्ति के उपयुक्त है। **राजशेखर** के मत से दीर्घ समासवती, अनुप्रासमयी तथा योग वृत्ति सम्पन्न (संयुक्त वर्णों वाली) गौड़ी रीति है। **विश्वनाथ** के मत में गौडी वह रीति होती है जिसे ओज गुण के प्रकाशक वर्णों से युक्त समास बहुल, उत्कट(उत्तेजनापूर्ण) रचना कहा जाता है जिसमें समास तथा पण्डित्य पूर्ण शब्दों का अधिक प्रयोग होता है।[6] इस विवेचन का निष्कर्ष इस प्रकार है।

गौडी वृत्ति में सभी बातें वैदर्भी की विलोम होती हैं। यह वृत्ति कर्कश ट ठ ड ढ ण आदि से युक्त रहती है। इसमें समासों की भरमार रहती है। संयुक्त तथा द्वित्ववर्णों का अधिक समावेश रहता है। वीर, रौद्र, भयानक तथा बीभत्सादि कठोर रसों में इसका पूर्ण परिपाक रहता है। यह ओज गुण से पूर्ण रहती है। इसमें शौर्य गुण की वृद्धि होती है। यह वृत्ति स्फूर्तिदायक, सजीव, प्रेरणादायक प्रभावशाली तथा रोचकता युत होती है। इसमें परुषा वृत्ति का परिपाक रहता है। इसको कतिपय आचार्यों ने वैदर्भी की तुलना में हेय बताया है।

गौड़ी तथा वैदर्भी की तुलना प्राय: सभी ने प्रस्तुत की है। **दण्डी** के मतानुसार श्लेष, प्रसाद, सुकुमार आदि दसों गुण वैदर्भ-मार्ग के तो प्राण हैं और गौडीय-मार्ग में इनका विपर्यय ही पाया जाता है। वे वैदर्भी को उस कुलांगना के समान मानते हैं जो अपने मधुर वचनों-द्वारा सर्वत्र सम्मान प्राप्त करती है और गौडी की तुलना उस बार-विलासिनी से की है जो बहुमूल्य वस्त्रों तथा आभूषणों से युक्त होकर सब के मन में चकाचौध उत्पन्न कर देती है। इसका आशय यह है कि वैदर्भी अलंकारादि बाह्य उपकरणों से रहित और गौडीया चमत्कारपूर्ण अलंकारादि से भूषित रहती है। **वामन** गौड़ी तथा वैदर्भी को समान मानते हुए कहते हैं कि गौड़ी रीति भी वैदर्भी के समान सुन्दर तथा आह्लादकारिणी है। इसमें ओज तथा कान्ति गुणों की प्रधानता रहती है और समास बहुलता तथा ओजस्वी पदों का प्राचुर्य रहता है। **भामह** ने भी गौड़ी को हेय

नहीं माना है वे कहते हैं कि वैदर्भी की आँख मूँद कर प्रशंसा करना उतना ही अनुचित है जितना कि गौड़ मार्ग की आँख मूँदकर निन्दा करना। जिस मार्ग (रीति) में काव्य के अलंकार युत, अग्राम्यत्व, अर्थत्व, न्यायत्व अनाकुलत्व आदि गुण विद्यमान हों वही रीति रचना प्रशंसनीय है। दोनों का अपनी सीमाओं में रहना ही उचित है, चाहे वैदर्भी हो या गौड़ी। यदि सीमा का उल्लंघन करती हैं तो गाह्य नहीं होंगी और सीमान्तर्गत रहने पर गौड़ीया भी उतनी ही ग्राह्य है जितनी कि वैदर्भी। विद्वानों के मतों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अपनी-अपनी सीमाओं के अन्दर (या एक निश्चित सीमा तक) वैदर्भी तथा गौड़ी दोनों ही श्लाघनीय हैं परन्तु अनौचित्य रूप में तो दोनों ही त्याज्य मानी जानी चाहिये। इसका आशय यह हुआ कि वैदर्भी और गौडीया दोनों का ही महत्त्व समान है। नीचे गौड़ी के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं–

आज अभिमन्यु ललकार बढ़ा अरि दल को
विक्रम अपार रूप रुद्र-सा दिखाया है।
गज-रथ-पैदल विकट-भट, काटि-काटि,
पाटी रण-भूमि ऐसा ताण्डव मचाया है।
रुण्ड-मुण्ड बिखरे पषाण-खण्ड-पुञ्ज सम,
ताप-त्रास-शोक व्यूह-माण्डव में छाया है।
वाणों की कराल वर्षा से मची त्राहि-त्राहि,
त्राण-त्राण नाथ अभिमन्यु-बाण आया है॥

यह कहना असंगत न होगा कि प्रस्तुत पद में गौड़ी रीति के सभी गुण विद्यमान हैं। इसमें वीर दर्पपूर्ण ओजस्वी पदावली का प्रयोग है। वीर रस तथा ओज और कान्ति गुणों का समावेश है। समासों, कठोरवर्णों तथा द्वित्व वर्णों का प्राचुर्य है। ये पंक्तियाँ स्फूर्ति तथा प्रेरणादायक हैं। इनमें शौर्य गुण का विकास होता है। आलंकारिकता तथा चमत्कार का भी समावेश है।

राम की शक्तिपूजा की निम्न पंक्तियाँ भी गौडी रीति का सजीव उदाहरण हैं–

राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह-क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह।
विच्छुरित वह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण।
लोहित लोचन-रावण-मद-मोचन-महीयान,
राघव-लाघव-रावण-वारण-गत-युग्म-प्रहर
उद्धत-लंकापति मूर्छित-कपि-दल-बल-विस्तर ....।

पाञ्चाली

पाञ्चाली की कल्पना वामन ने की थी। वामन के अनुसार माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों से युक्त अगठित एवं अश्लिष्ठ पदावली तथा छाया युक्त रीति पांचाली कहलाती है।[7]

अत: पांचाली में ओज तथा कान्ति का अभाव माधुर्य तथा सौकुमार्य का सद्‌भाव

रहता है। पांचाली में भी गौडी की भाँति सभी गुणों का समावेश नहीं रहता इसमें प्रसादादि कतिपय गुण ही विद्यमान रहते हैं। **रुद्रट** ने पांचाली को लघुसमास रचना पर आधारित माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों की अभिव्यंजिका माना है जिसमें शृंगार, प्रेम, करुणा, भयानक तथा अदभुत रसों का सन्निवेश रहता है। **रुद्रट तथा राजशेखर** के मत में पांचाली रीति लघुसमासवाली होती है। यह स्वल्पानुप्रास तथा उपचार वृत्ति से रूपकादि से युक्त मानी गई है। **कुन्तक** ने जिसे मध्यम मार्ग (वैदर्भी तथा गौडी के मध्यवर्तिनी रीति) माना है उसकी विशेषताएँ पांचाली से मिलती हैं। **विश्वनाथ** ने माधुर्य और ओज के अभिव्यंजक वर्णों को छोड़कर अन्यवर्णी अर्थात् 'प्रसाद' के अभिव्यंजक वर्णों का विन्यास करने वाली जिसमें पाँच-छः पदों के समासों से बड़े समासों का प्रयोग न किया गया हो को 'पांचाली' रीति माना है।

पांचाली से सम्बधित उपर्युक्त विवेचन का अवलोकन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पांचाली, वैदर्भी तथा गौडी के बीच की रीति है। अर्थात् इसमें माधुर्य तथा ओज का मिश्रण या दोनों में से किसी एक अथवा दोनों का हल्का रूप ही विद्यमान रहता है। यह माधुर्य तथा ओज गुणों की भी मध्यिका है। अतः इस रीति में प्रसाद गुण व्याप्त रहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पांचाली सरल, सरस, मधुर, सजीव, रोचक, प्रेरणादायक तथा सामान्य प्रभावी रचना होती है जिसमें रसों के स्थान पर भाव एवं ध्वनि की प्रधानता रहती है। इसमें मोटे रूप में सभी प्रकार के कोमल तथा परुष रसों या भावों का समावेश हो सकता है।

हिन्दी में भाव तथा ध्वनि युत देश, प्रेम, समाज-सुधार, परिस्थित-चित्रण, प्रकृति-चित्रण तथा वर्णनात्मकता आदि पर आधारित सजीव, प्रेरणादायक, रोचक, मधुर, स्फूर्तिदायक रचनायें जो सरल पदावली में प्राप्त होती हैं वे पांचाली रीति के अन्तर्गत आती है। पांचाली में संयुक्त वर्णों तथा श्लेषादि का अभाव एवं प्रतीकों का भाव परिलक्षित होता है। यह पंजाब की ठुमका व लहरदार शैली है। छायावाद पर पांचाली का प्रभाव अधिक है। इसमें ओज माधुर्य तथा प्रसाद का मिश्रण रहता है। उदाहरणार्थ–

क्षुधार्त रन्तिदेव ने दिया करस्थ-थाल भी।
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थि-जाल भी।
उशीनरः क्षितीश ने स्व-माँस दान भी किया।
सहर्ष वीर कर्ण ने स्व-देह-चर्म भी दिया।
यही पशु-प्रवृत्ति है कि आप-आप ही चरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।। (मैथिली शरण गुप्त)

इन पंक्तियों में दयालुता, परोपकार, त्याग, बलिदान तथा सहिष्णुता आदि भावों का वर्णन है। यह वर्णन सरल, सरस, मधुर, सजीव, रोचक तथा स्फूर्तिदायक है। इसमें प्रसाद गुण का परिपाक है ओज तथा माधुर्य का मिश्रण है। इन पंक्तियों से मानवीय भावों के अनुसरण की प्रेरणा मिलती है। इन पंक्तियों में पांचाली रीति का समावेश है।

गौण या अन्तर्वर्तिनी रीतियाँ

लाटी या लाटीया

लाटी या लाटीया की कल्पना **रुद्रट** ने की थी। यह रीतिशृंखला में चौथी रीति मानी जाती है; परन्तु इसका नामकरण भौगोलिक आधार पर न होकर प्रवृत्ति विशेष के आधार पर ही हुआ है। रुद्रट ने लाटीया को मध्यम समास वाली रीति मानते हुए उसे गौडी के समीप रक्खा है। इसमें पांचाली तथा गौडी के गुणों का सम्मिश्रण रहता है। अत: यह पांचाली तथा गौडी की अन्तर्वतिनी रीति के रूप में प्रतिष्ठित की जा सकती है। उदाहरणार्थ–

मानस भवन में आर्य-जन जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।
हो भव्य भावोद्भाविनी यह भारती हे! भगवते।
सीता-पते, सीता-पते, गीता मते, गीता मते।। (भारत-भारती)

मागधी या मैथिली

मागधी या मैथिली की कल्पना **राजशेखर** ने की थी। यह रीतियों के विकास क्रमानुसार पांचवी रीति मानी जाती है। यद्यपि राजशेखर ने 'कर्पूर मंजरी' की भूमिका में 'मागधी' और 'बाल रामायण' के दशवें अंक में मैथिली तथा मागधी रीतियों का पृथक् पृथक् चित्रण किया है परन्तु आचार्यों ने इन दोनों ही रीतियों को केवल एक ही रूप में मान्यता दी है। कर्पूर मंजरी में उन्होंने 'वच्छोमी' या 'वात्सगुल्मी', 'मागधी' और 'पांचालिका' इन तीन रीतियों का उल्लेख किया है जो प्रकारान्तर से वैदर्भी (वात्सगुल्मी), गौडी (मागधी) तथा पांचाली रीतियाँ ही मानी जा सकती हैं। मैथिली के उन्होंने तीन आवश्यक गुण बताये हैं। 1. अर्थ का अतिशय मर्यादा में रहना। 2. अल्पसमास की स्थिति। 3. योग (संयोगात्मक) परम्परा का निर्वाह। इनमें से प्रथम तो दण्डी और भोज द्वारा निरूपित 'कान्त' (कान्ति) गुण ही माना जा सकता है। तीसरा गुण दण्डी के अनुसार गौडी रीति में पाया जाता है। इस प्रकार मैथिली रीति वैदर्भी तथा गौडी की अन्तर्वर्तिनी मानी जा सकती है जिसमें माधुर्य तथा ओज की समानता रहती है। उदाहरणार्थ–

सिंधु तर्यो उनको बनरा तुम पै धनु-रेख गई न तरी।
तुम बाँधत-ब्बाँधत सो न् बँध्यो, उन वारिधि बाँधि कैं बाट करी।
अजहू रघुनाथ-प्रताप की बात तुम्हें दशकण्ठ न जानि परी।
तेलनि तूलनि पूँछ जरी न, जरी गढ़ लंक् जराय-जरी। (रामचंद्रिका)

अवन्तिका – भोज ने उपर्युक्त रीतियों के अतिरिक्त अवन्तिका नाम की एक छठी रीति का भी उल्लेख किया हैं। उन्होंने वैदर्भी तथा पाञ्चाली के अन्तराल वर्तिनी रीति का नाम अवन्तिका बताया है। अवन्तिका में दो से चार तक समस्त पदों का प्रयोग

किया जा सकता है। इसमें सरसता, मधुरता, सरलता तथा प्रभावोत्पादकता मूलक प्रसाद तथा माधुर्य गुण विद्यमान रहते हैं। उदाहरणार्थ–

बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा सा जल रहा।
है चल रहा सन-सन पवन तन से पसीना ढल रहा।
देखो कृषक शोणित सुखाकर हल तथापि चला रहे।
किस लोभ से इस आँच में वे निज-शरीर जला रहे॥ (भारत-भारती)

रीति का अन्य विधाओं से सम्बन्ध एवं महत्त्व

रीति तथा वृत्ति

काव्य के क्षेत्र में तीन प्रकार की वृत्तियाँ मानी गई हैं। 1. उपनागरिका (मधुरा), 2. परुषा और 3. कोमला। इन तीनों ही वृत्तियों का रीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मम्मट तथा जगन्नाथ आदि ने इन दोनों को अभिन्न माना है। इसका कारण यह है कि रीति और वृत्ति दोनों का ही सम्बन्ध गुणों से है। रीतियों के मुख्य तीन प्रकार हैं– वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली। प्रकृति गुण तथा प्रभावादि में वैदर्भी तथा उपनागरिका (मधुरा) को एक माना जाता है, गौडी तथा परुषा को समान कहा जाता है और पांचाली तथा कोमला में एकत्व की स्थापना की जाती है। इस एक्य का आधार यह है कि वैदर्भी तथा उपनागरिका दोनों का ही सम्बन्ध माधुर्य गुण तथाशृंगार, करुण, शांत जैसे कोमल रसों से है। दोनों में ही 'मधुर कोमल-कान्त' पदावली का प्रयोग होता है। कविता के एक ही छन्द को दोनों के ही उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। उपनागरिका को मधुरा कहना अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

गौड़ी तथा परुषा के भी अंग-प्रत्यंग समान हैं। दोनों का ही सम्बन्ध ओज, गुण तथा वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स आदि कठोर रसों से है। दोनों में ही भाषा के कठोर, द्वित्व, समासयुत तथा संयुक्त वर्णों का प्रयोग होता है। दोनों में ही शौर्य गुण विद्यम्नान रहता है। इसी प्रकार पांचाली, प्रसाद तथा कोमला के सभी तत्त्व समान हैं। सरलता, मधुरता, सरसता रोचकता आदि के तत्व इन में समान रूप से पाये जाते हैं। अतः सभी आचार्यों ने रीति तथा वृत्तियों को ध्वनि मत से एक स्वीकार किया है। यद्यपि रीति और वृत्तियों को सभी आचार्यों ने एक रूप में स्वीकार किया है परन्तु यदि गम्भीता पूर्वक विचार किया जाय तो दोनों में पर्याप्त अन्तर भी दिखाई देता है। जैसे (1) रीतियाँ छः या सात मानी जाती हैं और वृत्तियाँ केवल तीन ही। (2) रीतियों के नामकरण भौगोलिक आधार पर किये गये हैं और वृत्तियों के नाम उनकी प्रवृत्ति विशेष पर। (3) 'रीति' एक पृथक् से काव्य सिद्धान्त और सम्प्रदाय है जबकि वृत्तियों का किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं है। 4. रीति एक शैली विशेष मानी जाती है जबकि वृत्ति को प्रवृत्ति विशेष के रूप में गृहीत किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आन्तरिक पक्ष की

दृष्टि से तो रीति एवं वृत्ति समान हैं परन्तु प्रकार भेद, भौगोलिकता आदि के आधार पर ये बिल्कुल पृथक्-पृथक् हैं।

रीति और प्रवृत्ति

भरत, राजशेखर, धनंजय, भोज आदि आचार्यों ने वृत्ति के साथ प्रवृत्ति का भी विवेचन किया है। भरत ने प्रवृत्ति को स्थानगत विशेषताओं से युक्त व्यवहार व रहन-सहन की परिचायकि प्रणाली विशेष माना है। जिसमें विभिन्न स्थानों के रहन-सहन (भाषा, वेश-भूषा, रीति-रिवाज) आदि का समावेश रहता है। भरतादि का प्रवृत्ति का यह विवेचन नाट्य-मूलक ही है। काव्य में इन सभी बातों का केवल आन्तरिक पक्ष (स्थानगत, भाव-विचार आदि) का ही निरूपण रहता है। इस प्रकार हमको रीति तथा प्रवृत्ति में भी समानता तथा असमानता ये दोनों ही तत्त्व प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि ये दोनों ही तत्त्व भौगोलिक विशेषताओं के व्यंजक होने के कारण समान हैं और बाह्य तथा आन्तरिक पक्षों के व्यजंक होने के कारण भिन्न हैं। अर्थात प्रवृत्ति बाह्य गुणों का बोधक है तो रीति आन्तरिक तत्त्वों का। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति पृथक्-पृथक् काव्य विधाएँ है जो कुछ अंशों में समान हैं।

रीति गुण और रस

वामन ने गुणयुत रचना को रीति मानते हुए 'गुण' को रीति का मूल तत्त्व माना है।[9] **दण्डी** ने 'गुण' को रीति का प्राण कहा है।[10] **मम्मट** ने आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति रस के उत्कर्ष कारी स्थिर धर्म को गुण कहा है।[11] **आनन्दवर्द्धन तथा विश्वनाथ** ने भी इसी का समर्थन किया है।[12] इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रीति का सम्बन्ध गुण से है और गुण का सम्बन्ध रस से। अत: रीति-गुण और रस अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि गुण रस सौंदर्य का कारण हैं तो रीति गुण सौंदर्य का। रस तथा भावादि काव्य का सौंदर्य हैं और रसादि के माधुर्यादि गुण सौंदर्य उद्बोधक धर्म। इसी प्रकार रीति भी गुणों के माधुर्यादि सौंदर्य की उद्बोधक प्रक्रिया है। जिस प्रकार शरीर का सौंदर्य आत्मा है। आत्मा का सौंदर्य-शील पराक्रमादि। इन शीलादि के उद्बोधक मनुष्य की शिष्टता तथा शक्तिमत्ता आदि गुण होते हैं और इन गुणों को धारण करने वाले मनुष्य-शरीर के गुण स्वस्थता, सुन्दरता, सुडौलता आदि हैं। यही स्थिति काव्य में रस, गुण और रीति की है। एक ही रचना में ये तीनों ही तत्त्व अनिवार्य रूप से विद्यमान रहते हैं। उदाहरणार्थ--

वन-बाग तड़ाग तरंगिनि तीर तमाल की छाँह विलोकिभली।
घटिका इक बैठत हैं सुख पाय बिछाय तहाँ कुस-कास थली।
मग को श्रम श्रीपति दूरि करें अपने शुभ बाकल-अंचल सों।
श्रमतेऊ हरें तिनकों कहि केसब चंचल चारु दृगंचल सौं। (रामचन्द्रिका)

इस पद में संयोगश्रृंगार रस है। माधुर्य गुण है जोश्रृंगार के उत्कर्ष का अवधारक

है। मधुर कोमल कान्त पदावली के प्रयोग के कारण यहाँ माधुर्य गुण पर आधारित वैदर्भी रीति है। इसी प्रकार रस, गुण और 'रीति' का पृथक्-पृथक् सम्बन्ध निश्चित रहता है जिसका विवरण इस प्रकार है-

रस गुण तथा रीति सम्बन्ध

रस	गुण	रीति	काव्यवृत्ति	नाट्यवृत्ति	काव्य-प्रवृत्ति
शृंगार, करुण, शान्त, हास्य	माधुर्य तथा प्रसाद	वैदर्भी तथा पांचाली	उपनागरिका तथा कोमला	कैशिकी तथा भारती	मधुर-गम्भीर
वीर, रौद्र, बीभत्स भयानक अद्भुत	ओज तथा प्रसाद	गौडी तथा पांचाली	परुषा कोमला	सात्वती आरभटी	स्फूर्तिदायक तथा सजीव

रीति-अलंकार तथा वक्रोक्ति

रीति का वक्रोक्ति तथा अलंकार से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि ये तीनों ही काव्य के बाह्य सौंदर्य के उद्‌बोधक हैं। रीति काव्य शैली की द्योतक है तो अंलकार और वक्रोक्ति काव्य में निहित कल्पना-तत्व के पोषक। अंलकारों का सम्बन्ध प्रतीकात्मकता तथा बिम्ब मूलकता से है तो रीति का सम्बन्ध काव्य की सरलता, सजीवता एवं रोचकता आदि से।

रीति ध्वनि और औचित्य

ध्वनि और औचित्य का रीति से वही सम्बन्ध है जो उससे रस का है। रस काव्य का सत् तत्व (यथार्थ) होता है। ध्वनि काव्य का सौंदर्य और औचित्य काव्य का आदर्श होता है। गुण इन तीनों ही तत्वों की सौदर्योद्‌बोधक प्रक्रिया में सहयोग देते हैं। रस की भांति ध्वनि तथा औचित्य में भी सभी गुण तथा रीतियाँ विद्यमान रहती हैं। उदाहरणार्थ-

बाहर निकलना मौत है आंधी अँधेरी रात है।
हा! शीत कैसा पड़ रहा जो थरथराता गात है।
तो भी कृषक ईंधन जलाकर खेत पर हैं जागते।
यह लाभ कैसा है कि जिसका लोभ हैं नहीं त्यागते।। (भारत-भारती)

इन पंक्तियों में कर्मठता, सहिष्णुता तथा करुणा की ध्वनि है। गुण है-समता, प्रसाद तथा समाधि। रीति है-लाटी। कृषकों का अत्यन्त कष्ट सहन करते हुए भी कर्तव्य को न छोड़ना औचित्य या आदर्श है।

रीति शैली और छन्द

रीति भारतीय काव्य-शास्त्र में एक सम्प्रदाय या सिद्धान्त विशेष के रूप में प्रचलित है। **वामन** ने रीति को **विशिष्टा पद रचना रीतिः** कहा है। अर्थात् 'विशिष्ट प्रकार

की पद रचना को रीति कहते हैं। आगे उन्होंने **'विशेषो गुणात्मा'** कह कर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह विशिष्टता माधुर्यादि गुण ही हैं। अत: **गुणयुत रचना ही रीति है** के द्वारा गुणों को रीति के लिए अनिवार्य बताते हुए उन्होंने 'रीति' को काव्य के अन्तर्पक्ष(भावनात्मक पक्ष) से जोड़ दिया है। तत्पश्चात् इन्होंने दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण (कुल बीस गुणों) की स्थापना करके रीति को अधिक व्यापकता प्रदान की है और उसे रस-कोटि तक पहुँचा कर सरसता, मधुरता, गम्भीरता, सप्राणता, प्रेरणादायकता तथा उपयोगिता से युक्त करके विशद् बना दिया है। रीति के बीस गुण इस प्रकार हैं– श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, औदार्य, ओज, कान्ति तथा समाधि। ये ही दस शब्द गुण तथा दस अर्थगुण करके बीस हो जाते हैं। **वामन, आनन्दवर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ** आदि ने गुणों को काव्य की शोभा को धाारण करने वाले धर्म कहा है (काव्य शोभाया कर्तारो धर्मा: गुणा) और उनका सम्बन्ध 'रस से जोड़ा है। इस विवक्षा के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि रीति गुणों की और गुण रस-सौंदर्य के व्यंजक हैं। अत: रीति का सम्बन्ध रसों से है जिन्हें काव्य की आत्मा माना जाता है। साथ ही वैदर्भी, गौडी, पांचाली आदि सात रीतियों का उल्लेख होने से भी रीति की गरिमा अधिक बढ़ गई है।

शैली का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है–शील की अभिव्यक्ति, प्रणाली। संस्कृत काव्य-शास्त्र में शैली शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। इसका प्रयोग हिन्दी में पाश्चात्य प्रभाव से प्रारम्भ हुआ है। **अंग्रेजी में शैली के लिए 'स्टाइल' शब्द का व्यवहार होता है,** जिसका अर्थ है– रचना का ढंग या प्रणाली। अनेक विद्वानों ने शैली तथा रीति के स्वरूप की तुलना करके उन्हें समान ही बताने का दुराग्रह किया है परन्तु हम यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि पाश्चात्य परिवेश और भारतीय परिवेश में आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय-चिंतन परम्परा विशुद्ध रूप से आत्मवाद पर आधारित है। अत: उसके निष्कर्ष अधिक गहन एवं सार्वभौम हैं। इसके अतिरिक्त पाश्चातय चिंतन- धारा बुद्धि पर आधारित है। अत: उसके निष्कर्ष भौतिक तथा सामान्य हैं। नीचे पाश्चात्य आधार पर किये गये शैली के स्वरूप तथा भेदादि का निरूपण करके इस तथ्य तक सरलता से पहुँचा जा सकता है–

(1) पाश्चातय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्लेटो का नाम आता है। यह यूनान का प्रसिद्ध काव्य-शास्त्री अरस्तू का गुरु था। प्लेटो ने तीन प्रकार की शैलियाँ मानी हैं–1. सरल, 2. विचित्र और 3. मिश्र। इन तीनों में से उसने मिश्र को सर्वश्रेष्ठ बताया है। प्लेटो की दृष्टि में सरल भी उपादेय है परन्तु विचित्र निकृष्ट है जिसमें बालक, भृत्य और ग्रामीण जन ही रुचि लेते हैं।

(2) प्लेटो के पश्चात् अरस्तू का नाम आता है। यह प्लेटो का शिष्य तथा सिकन्दर का गुरु था। अरस्तू ने शैली के दो मूल गुण बताये है। स्पष्टता और औचित्य। शैली के इन्होंने दो प्रकार भी बताये हैं–1. साहित्य शैली 2. विवाद शैली। अरस्तू ने शैली

के चार दोषों का भी निरूपण किया है। 1. समासों का अधिक प्रयोग। 2. अप्रचलित शब्दों का प्रयोग। 3. दीर्घ,अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग। 4. अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग।

(3) लौन्जाइनस (जो कल्पना-सिद्धान्त का निरूपक माना जाता है) ने कहा है कि महान् शैली 'आत्मा की प्रतिध्वनि होती है। ये शैली के पांच गुण मानकर चले हैं– 1. धारणा की भव्यता 2. भावना की तीव्रता 3. अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग 4. आभिजात्य (क्लासिकल) भाषा का प्रयोग 5. पद रचना की गरिमा और औदार्य।

उपर्युक्त के निष्कर्ष इस प्रकार हैं–

1. शैली में सरलता का गुण परम आवश्यक है।

2. शैली में औचित्य का समावेश रहना चाहिए।

3. शैली में अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग होना चाहिए।

4. भव्य धारणा तथा तीव्र भावों का समावेश भी शैली में आवश्यक है।

5. शैली में क्लासिकल (आभिजात्य) भाषा का प्रयोग किया जाय।

शैली में जिन बातों का निषेध किया गया है वे हैं– समासों की बहुलता, अनुचित शब्द प्रयोग, अनुपयुक्त विशेषणों तथा रूपकों का प्रयोग।

उपर्युक्त तत्वों की 'रीति' से तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि–

1. **रीति गुणयुत रचना को कहते हैं जिसका सम्बन्ध रसों से है** जबकि **शैली सरल, विचित्र, उचित, अलंकार युत तथा पाण्डित्यपूर्ण भाषा से युक्त होती है।** अत: उसमें सरसता, गम्भीरता, मार्मिकता, रोचकता, प्रेरणादायकता, उपयोगिता आदि मौलिक तत्त्वों का अभाव रहता है।

2. रीति के स्पष्ट रूप से छ: प्रकार माने गये हैं– वैदर्भी, गौडी, पांचाली, लाटी, मैथिली तथा अवन्तिका। ये सभी नाम भौगोलिक विशेषताओं तथा मधुर-परुष एवं सरल प्रवृत्ति के आधार पर रक्खे गये हैं। पाश्चात्य शैली के भी **साहित्य शैली और विवाद शैली** ये दो भेद किये गये हैं। इसमें स्पष्ट है कि शास्त्रार्थ आदि के लिए प्रयुक्त शास्त्रीय रचनाओं के ढंग को भी शैली नाम से अभिहित किया जाता था। इस प्रकार शैली रचना का एक सामान्य ढंग ही है। उसमें 'रीति' जैसी विशद्ता एवं व्यापकता परिलक्षित नहीं होती।

3. भारतीय 'रीति' में समासों के प्रयोग को आवश्यक अनावयक तथा मध्यम आवश्यक माना गया है और यह काव्य की प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर ही किया गया है क्योंकि सभी कथन एक जैसे नहीं होते। कहीं गर्मी होती है तो कहीं नर्मी। जहाँ गर्मी होती है वहां समासों का प्रयोग आवश्यक होता है। समस्त पद प्रधान भाषा के प्रयोग से स्फूर्ति तथा दर्प दीप्तित होता है तथा समास रहित भाषा से माधुर्य एवं गम्भीरता व्यक्त होती है। इस प्रकार रीति की तुलना में शैली में विविधता का अभाव है और वह रचना प्रवृत्ति के अनुकूल मोड़ नहीं लेती।

4. रीति का सम्बन्ध गुणों तथा रसों से है और इसी संदर्भ में आचार्यों ने बीस गुणों का सविस्तार विवेचन भी किया है परन्तु शैली विवेचन में कही भी गुणों का विवेचन नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त रस का तो पाश्चात्य विद्वान् नाम तक नहीं जानते।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय रीति तथा पाश्चात्य शैली की गरिमा, विस्तार तथा उपयोगिता आदि में पर्याप्त भेद है। रीति में तत्त्वों का व्यापक एवं तथ्यात्मक विवेचन हुआ है जबकि शैली में तथ्यों को सामान्य रूप में ही प्रदर्शित किया गया है। परन्तु रीति एवं शैली में गरिमा तथा विस्तार का मौलिक भेद होते हुए भी पर्याप्त मात्रा में साम्य भी है। यथा–

1. दोनों ही (रीति तथा शैली) काव्य की महत्वपूर्ण विधा मानी जाती हैं।
2. दोनों को ही काव्य की अभिव्यक्ति का साधन माना गया है।
3. दोनों में ही गुणों की आवश्यकता तथा दोषों के निषेध का प्राविधान है।
4. दोनों का ही सम्बन्ध भाषा से है।

यद्यपि शैली तथा छन्द स्वरूप विस्तार, गरिमा तथा महत्ता में रीति की तुलना में नगण्य हैं परन्तु फिर भी प्रचार की दृष्टि से ये रीति से बहुत आगे हैं। इसका कारण वामन की वह अतिशयोक्तिपूर्ण उद्‌भावना है जो उन्होंने **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** कहकर बिना सोचे हुए कर डाली थी। वामन की इसी त्रुटि के कारण रीति सिद्धान्त प्रसिद्धि न पा सका और उपहासास्पद बनकर रह गया। यद्यपि वैदर्भी आदि रीतियों को काव्य में बराबर स्थान मिलता रहा परन्तु एक परिपुष्ट तथा सर्वग्राह्य काव्य शैली के रूप में रीति की प्रतिष्ठा न हो सकी जैसी कि पाश्चात्य 'शैली' शब्द की प्रतिष्ठा सर्वत्र परिलक्षित होती है। यदि वामन 'रीति' शब्द के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा उसे काव्य की आत्मा न बताकर केवल एक गुणयुक्त तथा दोषयुक्त महान् काव्य शैली (अभिव्यक्ति-प्रणाली) के रूप में ही चित्रित करते तो अवश्य ही रीति का सर्वत्र समादर होता।

जहाँ शैली का प्रयोग गद्य-मय रचनाओं के लिए होता है वहीं छन्द का प्रयोग पद्य-मय रचनाओं के लिए होता है। यदि रीति को लाक्षणिक रूप में काव्य की आत्मा न मानकर उसे अभिधा द्वारा काव्य की प्रवृत्ति विशेष या रचना का एक प्रभावशाली ढंग मान लिया जाय तो रीति सिद्धान्त अधिक सार्थक एवं सिद्धि प्राप्त कर सकता है। काव्य के दो पक्ष होते हैं। 1. अनुभूति पक्ष 2. अभिव्यक्ति पक्ष। अनुभूति पक्ष के अन्तर्गत काव्य के अन्तर्पक्ष रस तथा ध्वनि को रक्खा जाता है। ये दोनों ही शरीरस्थ आत्मा, मन तथा बुद्धि के प्रतीक हैं। अभिव्यक्ति पक्ष में भाषा, अलंकार तथा छन्द आते हैं। पर्याप्त वाद-विवाद के पश्चात् यह निर्धारित किया जा चुका है कि 'रीति' काव्य की आत्मा नहीं है बल्कि काव्य-पुरुष के स्वस्थ, पुष्ट, सुन्दर, शक्तिशाली, कोमल, कान्तिमय तथा प्रभावशाली शरीर की विधायिका वृत्ति है। तात्पर्य यह है कि- 'रीति' काव्य रचना की वह महान् प्रणाली है जो काव्य को उसकी मधुर, प्रवृत्तियों के अनुकूल निर्माण की सामग्री तथा विधि प्रदान करती है। इसका आशय यह हुआ कि रीति काव्य-सौंदर्य

की स्थापिका है। रीति बाह्य सौंदर्य की स्थापना प्रत्यक्ष रूप में करती है और अन्त:सौन्दर्य की स्थापना परोक्ष रूप में, अर्थात गुणों के माध्यम से करती है। जिस प्रकार किसी वस्तु की गरिमा विधायिनी उसकी सामग्री और शिल्प होती है उसी प्रकार काव्य गरिमा की विधायिनी 'रीति' को माना जा सकता है। ताजमहल का अन्त:सौंदर्य उसके बाह्य सौंदर्य के कारण ही है। यदि ताजमहल में सामग्री तथा शिल्प का अभूतपूर्व सामजंस्य न होता तो ताजमहल विश्व का सातवाँ आश्चर्य नहीं बन सकता था। कितने ही प्रेमी-प्रेमिकाओं की प्रेमोत्कृष्टता बिना उपयुक्त सामग्री और शिल्प के या तो कब्रों में दबी पड़ी हैं या चिताओं की राख बनकर अदृश्य हो चुकी हैं। एक प्रेमिका ने ताजमहल के प्रागंण में खड़े होकर अपने प्रेमी से पूछा था कि यदि मैं मर जाऊँ तो क्या तुम मेरी यादगार में ऐसा ही महल बनवाओगे? प्रेमी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। दूसरे किसी असमर्थ प्रेमी-प्रेमिका ने ताजमहल को देखकर यह शेर भी पढ़ा बताते हैं –

एक दौलतमन्द ने ताजमहल बनवाकर।
हम गरीबों के प्रेम का उड़ाया है मजाक॥

कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे मूल-तत्त्व कितना ही प्रभावशाली हो, बिना सामग्री तथा शिल्प के समुचित एवं विशिष्ट सामंजस्य कभी भी भव्यता को धारण नहीं कर सकता। एक कहावत है कि **'लाल गुदड़ी में नहीं छिपते।'** परन्तु इसका भी आशय उपर्युक्त सामग्री तथा शिल्प के विवेचन से परे नहीं है। स्पष्ट है कि 'लाल' तभी भव्यता को प्राप्त कर सका होगा जबकि उसमें भी सामग्री एवं शिल्प का अद्भुत योग हुआ होगा। अत: काव्य की समस्त सामग्री एवं शिल्प की विधायिका वृत्ति को 'रीति' कहा जाता है जिसके अन्तर्गत बाह्यरूप से काव्य की भाषा, अलंकार योजना तथा छन्द विधान समाहित हो जाते हैं और परोक्ष रूप से काव्य का आन्तरिक सौंदर्य गुण तथा रसादि की प्रवृत्ति भी नियंत्रित हो जाती है। जिस प्रकार एक अभिनय का निर्देशक अपने को किसी पात्र-विशेष के भावों, विचारों और कार्यों आदि का प्रदर्शन कराने के लिए प्रत्यक्ष रूप से आवश्यक वेश-भूषा तथा अन्य सामग्री को धारण कराता है और अप्रत्यक्ष रूप से उसके कोमलता, कठोरता आदि गुणों को धारण करने का संकेत देता है उसी प्रकार काव्य में भी ये सभी तत्त्व रीति द्वारा समाहित किये जाते है। अत: किसी अभिनय के निर्देशक की भांति रीति समस्त कार्य-व्यापार की निर्देशिका व नियामिका है। इसी लिए प्रत्यक्ष रूप में काव्य अलंकार, छन्द और गुणादि सभी काव्य तत्त्व रीति के अन्तर्गत आ जाते हैं और परोक्ष रूप से रस तथा ध्वनि आदि का समायोजन भी रीति द्वारा ही होता है। काव्य की समस्त अन्तर्बाह्य सामग्री का चयन भी रीति करती है और कवि द्वारा उसे कौशल से यथा स्थान प्रयोग करने की विधि रीति ही प्रदान करती है। देखा जाय तो सौंदर्य के उद्‌बोधन रस या ध्वनि आदि आन्तरिक तत्त्व जो काव्य के मूल तत्त्व माने जाते हैं काव्य के बाह्य तत्त्व भाषा, अलंकार तथा छन्दादि की भाँति ही काव्य

सामग्री ही हैं। और जिस प्रकार एक मकान की बिखरी हुई या अनगढ़ रूप में पड़ी हुई सामग्री का कोई महत्त्व नहीं होता बल्कि उस सम्पूर्ण सामग्री को समुचित रूप से संयोजित करके जब भव्य भवन बनाया जाता है, तभी ताजमहल तैयार होता है जिसमें भव्यता का मूल कारण उसकी सामग्री तथा शिल्प का समन्वय है। काव्य में रीति द्वारा ही सामग्री तथा शिल्प का समन्वय किया जाता है। हो सकता है इसी तथ्य को ध्यान में रखकर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कह दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि रीति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और छन्द तथा शैली का क्षेत्र सीमित। अत: छन्द अथवा शैली को रीति के एक अंग के रूप में ही माना जा सकता है।

रीति काव्य की आत्मा

वामन ने काव्य में रीति के महत्त्व को सर्वोपरि रूप में **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** कहकर स्वीकार किया है। वामन ने रीति को गुण युत रचना कहा है। और गुणों का सम्बन्ध रसों से होता है, अत: रीति का सम्बन्ध भी किसी न किसी रूप में 'रस' से होता है। वामन के अतिरिक्त अन्य किसी भी आचार्य ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में तो स्वीकार नहीं किया है परन्तु भरत से लेकर जगन्नाथ तक संस्कृत के सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में रीति की महत्ता को स्वीकार किया है। सभी आचार्यों के मतों का निचोड़ यही बैठता है कि **'रीति' काव्य की एक विशिष्ट रचना प्रणाली या शैली होती है जो काव्य में गुण तथा रसादि के अनुकूल पोषण में अभिवृद्धि करती है।** काव्य-शास्त्र में रीति का इतने व्यापक रूप में विचार मिलता है कि आचार्यों ने दो से बढ़ा कर इनकी संख्या सात तक पहुँचा दी है और सभी सम्प्रदायों के आचार्यों ने किसी न किसी रूप में अपने मतों की पुष्टि के लिए रीति का प्रयोग किया है परन्तु वामन के अतिरिक्त किसी ने भी उसे कांव्य की आत्मा नहीं कहा है।

अत: जहाँ एक ओर रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास वामन ने किया है वहाँ कुन्तक, आनन्दवर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने रीति के प्रति अतिशय मोह एवं पक्षपात के लिए वामन का कुछ उपहास भी किया है **आनन्द वर्द्धन** ने इस सम्बन्ध में कहा था–

अस्फुटस्फरित काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्मि अर्थाकर्तु रीतयः सम्प्रवर्तिता।। (ध्वन्या 3.47)

अर्थात् ध्वनि जैसे महत्वपूर्ण काव्य तत्त्व को समझ सकने में अशक्य लोगों द्वारा ही रीतियों का प्रवर्त्तन किया है।

कुन्तक ने तो यहाँ तक कह डाला कि छोड़ो भी कौन 'रीति' जैसी सारहीन वस्तु के साथ माथा-पच्ची करे' **(तद्मलनेन निस्सार वस्तु-परिमल व्यसनेन)**

इस प्रकार काव्य शास्त्रियों के रीति सम्बन्धी मतों का अवलोकन करने पर यही ज्ञात होता है कि वे काव्य में रीति को एक शैली विशेष के रूप में महत्त्वपूर्ण मानते

थे परन्तु वामन की उसके अनावश्यक महत्त्व देने की प्रवृत्ति से चिढ़ते थे।

लक्ष्यग्रंथों को देखने से भी यही ज्ञात होता है कि प्रत्येक काव्य रचना में किसी न किसी रूप में 'रीति' विद्यमान है। इसका कारण यह है कि 'रीति' एक भव्य काव्य-शैली है और शैली काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। भारतीय विवक्षा में तो शैली का पृथक से निरूपण नहीं किया गया है परन्तु रीति सिद्धान्त के सम्यक् अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय काव्य शास्त्र में 'रीति' के नाम से जो विवेचन हुआ है वह अभिव्यक्तिपक्ष-मूलक शैली का ही समानार्थी है। यद्यपि भारतीय रीति-सिद्धान्त तथा पाश्चात्य शैली-सिद्धान्त में मौलिक अंतर है। इसका कारण यह है कि रीति तत्त्व शैली की अपेक्षा अधिक गरिमावान् है क्योंकि रीति शब्द के द्वारा जिस शैली-शिल्प का विवेचन हुआ है वह सरसता, सरलता, मधुरता, गम्भीरता, सजीवता, रोचकता, प्रभावोत्पादकता प्रेरणादायकता, उपयोगिता, शिक्षा तथा उपदेशात्मकता आदि उदात्त तत्त्वों से युक्त होती है। यद्यपि छन्द भी शैली का ही अंग है परन्तु रीति तथा छन्द में पर्याप्त अन्तर है। छंद जहाँ शैली के बाह्य शिल्प का द्योतक है वहाँ रीति काव्य-शैली के आन्तरिक शिल्प का भी प्रदर्शन करती है। छन्द का सम्बन्ध केवल भाषा की स्वर, ताल तथा लयात्मकता से है परन्तु रीति के अन्तराल में समस्त रस, ध्वनि भाव और विचार विद्यमान रहते हैं, फिर भी रीति काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकी।

रीति की देन

काव्य के क्षेत्र में रीति-सिद्धान्त की देन पर यदि विचार किया जाय तो यही विदित होता है कि वामन ने रीति के रूप में एक पृथक् काव्य-सिद्धान्त एवं सम्प्रदाय का निरूपण किया है जो काव्य की आत्मा सम्बन्धी सम्प्रदायों में गिना जाता है। इसके अतिरिक्त रीति के सात भेदों के निरूपण से काव्य में प्रचलित सात शैलियों का परिचय मिलता है जिससे रचना की प्रवृत्ति को सरलता से समझा जा सकता है। वामन ने रीति सिद्धान्त के अन्तर्गत गुणों का विस्तार से विवेचन किया है और बीस गुणों की स्थापना की है जिससे शैली का महत्व काव्य क्षेत्र में विशेष बढ़ जाता है। गुणों के अतिरिक्त वामन ने दोषों का भी गुणों के समानान्तर रूप में विशद् विवेचन किया है जिससे इन दोषों के परिहार के द्वारा रस-भाव ध्वनि तथा गुणों से युक्त उत्कृष्ट कोटि के काव्य की रचना की जा सके। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में काव्य तत्वों के अन्तर्गत 'शैली-तत्त्व का बड़े विस्तार से विवेचन हुआ है, ठीक यही स्थिति भारतीय काव्य-शास्त्र में 'रीति-सिद्धान्त' विवेचन की है। रीति सिद्धान्त की संस्थापना द्वारा भारतीय-काव्य-विवक्षा का अभिव्यक्ति मूलक कोना भर जाने से काव्य विवक्षा पूर्णता को प्राप्त हो सकी है।

आधुनिक युग में रीति का नाम तो नहीं लिया जाता परन्तु गुणों के रूप में उसे सदैव याद किया जाता रहेगा क्योंकि गुणों का ही दूसरा नाम रीति है। गुण काव्य की

आत्मा तो नहीं है परन्तु वे काव्यात्म रूप रस के पोषक तत्त्व अवश्य हैं। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि कभी भी गुणहीन रचना को काव्य नहीं माना गया है क्योंकि गुणों की उपलब्धि काव्य में सर्वत्र होती है। रस-रहित काव्य की कल्पना तो की जा सकती है परन्तु गुण-रहित काव्य की कल्पना करना असंभव है। गुण भाव की साधारणीकृत तथा असाधारणीकृत दोनों ही स्थितियों में विद्यमान रहकर चमत्कार उत्पन्न करतें हैं। अतः गुण ही एक मात्र ऐसा तत्त्व है जो काव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। रीति की यही सबसे बड़ी देन है।

टिप्पणियाँ

1. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। (का. लं. सू. वृ.)
2. सौदर्यमलंकारः। (वही)
3. सदोष गुणालंकार हानादानाभ्याम्।। (वही)
4. पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनां। (सा.द, 9/1)
5. ओजः कान्तिमती गौडीया।

   ओजः कान्तिश्च विद्येते यस्यां सा ओजः कान्तिमती गौडीया नाम रीतिः। माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात्। समासबहुला असुल्बणपदा च।

   (का. ल. सू. वृ. 1.2.12)
6. ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः। समास बहुला गौडी।

   (सा. द, 913,4)
7. अश्लिष्टरलथभावां तु पुराणच्छाययाश्रिताम्।

   मधुरां सुकुमारांच पांचालीं कवयो विदुः।। (का. ल. सू. वृ.1/2/13)
8. .... वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।

   समस्तपंचपदो बन्धः पांचालिका मता। (सा. द., 9/4)
9. विशिष्टाः पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। का. लं. सू. वृ.।
10. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः। (काव्यादर्श 1/42)
11. ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।

    उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलास्थितयो गुणाः।।(का. प्र. 8/1)
12. (क) तमर्थमवलम्बन्ते येऽङि्गनं ते गुणाः स्मृताः (ध्वन्यालोक 2.6)

    (ख) रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा गुणाः। (सा. द. 8/1)

सप्तम अध्याय

ध्वनि-सिद्धांत

ध्वनि परम्परा का उद्भव और विकास

'ध्वनि-सिद्धान्त' के प्रवर्त्तक मूल रूप में तो **आचार्य आनन्दवर्द्धन** माने जाते हैं और उनका ध्वनि विषयक ग्रंथ **'ध्वन्यालोक'** इस विषय का प्रथम तथा आधिकारिक ग्रंथ माना गया है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक में कुछ ऐसे संकेत दिए हैं जिनसे यह विदित होता है कि आनन्दवर्द्धन से पूर्व अनेक आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। परन्तु इस सम्बन्ध में कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता।[1] आनन्दवर्द्धन से पूर्व ध्वनि सिद्धान्त विषयक किसी ग्रंथ के उपलब्ध न होने पर यही अनुमान लगाया जा सकता है कि ध्वनि-सम्बन्धी चर्चा विद्वानों में समय-समय पर होती रहती होगी परन्तु उसका स्वरूप इतना प्रखर व स्पष्ट रूप में उभरकर न आया होगा जैसाकि आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक का प्रणयन करके प्रदर्शित किया। ध्वनि परम्परा के सम्बन्ध में अभिनव गुप्त भी किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि बिना किसी प्रामाणिक ग्रंथ के यही अभिप्राय माना जा सकता है कि विद्वन्मण्डली में ही मौखिक रूप से ध्वनि के सम्बन्ध में विचार विमर्श होता रहा होगा[2] जिसे आगे चलकर आनन्दवर्द्धन ने अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा के बल से एक पुष्ट व प्रभावशाली काव्य-सिद्धान्त के रूप में उद्भूत किया।

काव्य शास्त्र में ध्वनि शब्द का प्रादुर्भाव व्याकरण की देन है। व्याकरण से गृहीत ध्वनि शब्द की विवक्षा तथा उसके भेदादि का निरूपण आचार्यों ने अपनी मति के अनुरूप करके उसे एक पुष्ट एवं महत्त्वपूर्ण काव्य-शासत्रीय सिद्धांत के रूप में स्थिर किया। **वैयाकरण शब्द को नित्य तथा अनित्य इन दो रूपों में मानते हैं। वर्ण के रूप में उच्चरित शब्द (ध्वनि का स्थूल रूप) अनित्य है। इसी वर्ण रूप शब्द (स्थूल रूप) से एक दूसरा शब्द भी व्यंजित होता है जो उसका (सूक्ष्म) ध्वनित रूप कहलाता है।** यह ध्वनित रूप नित्य होता है। शब्द के इसी नित्य रूप को वैयाकरण स्फोट की संज्ञा देते हैं। इस मत के अनुसार जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उस उच्चारण के क्रम में अनित्य शब्द के वर्ण नष्ट हो जाते हैं और एक अखण्ड स्फोट का रूप प्रदर्शित होने लगता हैं। इसी अखण्ड स्फोट से अर्थ की प्रतीति होती है। स्फोट-ध्वनि का एक विशिष्ट परिणाम होता है। इस आधार पर यह स्फोट अनित्य

(शब्द) से उत्पन्न नित्य (शब्द) है।[3] स्फोट के व्युत्पत्ति के आधार पर दो अर्थ माने जाते हैं। 1. जिससे अर्थ स्फुट होता हो। 2. जो वर्णों द्वारा स्फुटित या व्यक्त हो। इसका तात्पर्य यह है कि स्फोट व्यंजक (कारण) भी है और व्यंग्य (कार्य) भी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यही स्फोट-ध्वनि रूप में गृहीत हुआ होगा।

'ध्वनि' शब्द और उसके अर्थ का विकास व्याकरण की देन बताया जाता है परन्तु काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में उसे इतर परिप्रेक्ष में ग्रहण करते हुए आचार्यों ने इसे काव्य की आत्मा तक स्वीकार कर डाला है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-मत की स्थापना करते समय जहाँ एक ओर अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा ध्वनि-चर्चा का उल्लेख किया है वहाँ दूसरी ओर ध्वनि के विरोधियों का भी उल्लेख किया है। इन्होंने अपने से पूर्वाचार्यों के ध्वनि विरोधी सम्प्रदाय को तीन वर्गों में विभक्त किया है।

1. अभाववादी या अलंकारवादी 2. भक्तिवादी 3. अलक्षणीयतावादी या अनिर्वचनीयतावादी।[4] अलंकारवादी तो ध्वनि की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता। उनका मत है कि शब्दार्थ संयुक्त काव्य के अलंकार,. गुण, वृत्ति आदि पूर्व प्रतिष्ठित तत्त्वों के अतिरिक्त 'ध्वनि' नाम का कोई तत्त्व हो ही नहीं सकता। **भक्तिवादियों** के मत में ध्वनि की स्वतंत्र सत्ता मान्य नहीं है। वह तो लक्षणादि में अन्तर्भूत है। **अलक्षणीयतावादी** ध्वनि के अस्तित्व को तो स्वीकारते हैं परन्तु उसे ब्रह्म-सत्त्व की भाँति अनिर्वचनीय मानते हैं। इनका मत यह था कि ध्वनि तत्त्व की सत्ता तो विद्यमान है परन्तु वह इतनी सूक्ष्म तथा गहन है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह मात्र अनुभूत है।[5] आनन्दवर्द्धन के समक्ष यह विषम संकट था परन्तु उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा तथा धैर्य के द्वारा वस्तुस्थिति को समझा और विरोधियों के तर्कों का विवेकपूर्ण उत्तर देते हुए **'ध्वनि-सिद्धांत'** की स्थापना की जो भारतीय काव्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् भी ध्वनि सिद्धांत के समर्थकों व विरोधियों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। रस-सिद्धांत के प्रबल पोषक एवं रस-सूत्र के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता **आचार्य अभिनव गुप्त** ने 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक व्याख्या लिखकर 'ध्वनि-सिद्धान्त' की महत्ता का प्रतिपादन किया। **मम्मटाचार्य** ने ध्वनि-सिद्धान्त की सार्थकता को प्रबल एवं पुष्ट तर्कों द्वारा सिद्ध किया। **आचार्य विश्वनाथ** तथा **पण्डित राज जगन्नाथ** ने भी ध्वनि सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार किया।

ध्वनि सिद्धान्त के समर्थकों के साथ ही साथ विरोधियों की भी दीर्घ परम्परा रही है जिनमें **मुकुलभट्ट** (9 वीं 10 वीं शती), **भट्टनायक** (10 वीं शती), **धनंजय** (10 वीं शती उत्तरार्द्ध) **कुन्तक** (10 वीं शती) तथा **महिमभट्ट** आदि विद्वानों के नाम गिनाये जा सकते हैं जिन्होंने 'ध्वनि सिद्धान्त' को स्वीकार ही नहीं किया है। ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधियों का एक प्रबल-दल होते हुए भी ध्वनि-सिद्धान्त की गरिमा कभी कम नहीं हुई और दिन-प्रतिदिन ध्वनि-सिद्धान्त की मान्यता बढ़ती गई। ध्वनि

सिद्धान्त के महत्व बढ़ने का एक कारण यह भी था कि लक्ष्य-ग्रंथों में ध्वनि-तत्त्व स्पष्ट रूप में विद्यमान था। सभ्यक् रूप से यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि **पण्डितराज जगन्नाथ** ने **'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द काव्यम्'** कहकर अन्तिम रूप में ध्वनि सिद्धांत की महत्ता की साधिकार घोषणा कर दी।

ध्वनि का स्वरूप

लक्षण– 'ध्वनि' शब्द के तीन अर्थ बताये गये हैं।[6]

1. **'ध्वनति इति'** अर्थात् जो व्यंग्य (गुप्तभाव) को ध्वनित या व्यक्त करता है।
2. **'ध्वन्यते इति'** अर्थात् वह अर्थ जो प्रकाशित होता है।
3. **'ध्वननंम् इति'** अर्थात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने की क्रिया या व्यापार। इन तीनों ही अर्थों में ध्वनि को तीन रूपों में व्यक्त किया है। प्रथमत: ध्वनि को व्यंग्यार्थ की प्रतीति का कारण बताया है क्योंकि व्यंग्यार्थ को उससे फूटता हुआ सौंदर्य ही व्यक्त करता है। जिस प्रकार हीरे से स्वत: विकीर्ण होने वाली ज्योति तथा पुष्प से फूटकर निकलने वाली सुगन्ध इनके अव्यक्त सौंदर्य को व्यक्त कर देती हैं उसी प्रकार शब्द में छिपे हुए व्यंग्यार्थ को उससे झाँकता हुआ चमत्कार (सौंदर्य) व्यक्त कर देता है। जैसे :–

नैन दुराये नहिं दुरें पट घूँघट की ओट।
चतुर नारि और सूरमा करें लाख में चोट॥

दूसरे अर्थ **'ध्वन्यते इति'** में ध्वनि को प्रकाशित होने वाला अर्थ बताया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शब्द में अर्थ उस प्रकार छिपा रहता है जिस प्रकार गन्ने में रस, मेंहदी में लाली तथा अगर (धूप) में गंध। अनुकूल अवस्था प्राप्त करके गन्ने से रस, मेंहदी से लाली या धूप से सुगन्ध स्वत: ही व्यक्तता को प्राप्त हो जाती है। उसी प्रकार अनुकूलता आने पर शब्द से उसका सौन्दयार्थ भी स्वत: व्यक्त हो जाता है। परन्तु यह लक्षण तो व्यंजना शक्ति का है। व्यंग्यार्थ जो एक गुप्त भाव-सौंदर्य होता है, शब्द में अव्यक्तावस्था में इस प्रकार छिपा रहता है जिस प्रकार धूप में गन्ध, गन्ने में रस और मेंहदी में ललिमा और जब गन्ने को पेरा जाता है, मेंहदी को पीसा जाता है तथा अगरबत्ती को जलाया जाता है तभी उनमें निहित रसादिक गुण व्यक्त होते थे। उसी प्रकार भाषा की पर्तों के नीचे से व्यंग्यार्थ को प्राप्त करने के लिए भी विशिष्ट बुद्धि का प्रयोग किया जाता है। बिना उपयुक्त उपाय के भाषा के प्रकोष्ठ में छिपा हुआ व्यंग्यार्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता। केशवदास कृत 'रामचन्द्रिका' में यह गुण विशेष रूप से विद्यमान है। उसकी व्यंजनाओं तक पहुँचने के लिए विशिष्ट पाण्डित्य की आवश्यकता होती है। अत: भाषा आदि की कठोर पर्तों में छिपा हुआ व्यंग्य भी जब उचित विवक्षा के द्वारा अपने पूर्ण चमत्कार के साथ उद्भूत हो जाता है तो वह ध्वनि का रूप धारण कर लेता है।

तीसरे अर्थ **'ध्वननम् इति'** में ध्वनि को व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने की क्रिया

कहा है। परन्तु ध्वनि को क्रिया मानना उपयुक्त नहीं होगा। ध्वनि तो स्वयं सौंदर्य (व्यंग्यार्थ) है जो चमत्कार से युक्त होने के कारण स्वतः व्यक्त होती है।

ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार की है–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।[7]

अर्थात्– "जहाँ वाच्यार्थ या वाचक शब्द अपने को गोण बनाकर किसी अन्य अर्थ (व्यंग्यार्थ) को व्यक्त करते हैं वह ध्वनि है।"

"आनन्दवर्द्धन के अनुसार जहाँ वाच्यार्थ गोण हो और व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो वही 'ध्वनि' है। ध्वनि का मूल कारण व्यंग्यार्थ की चमत्कार मूलकता है। व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से तभी प्रधान होगा जबकि वह स्वतः ही झीने बादलों से झाँकती हुई सूर्य देव की अरुणाभ किरणों की भाँति फूट-फूट कर व्यक्त हो रहा हो। यदि व्यंग्यार्थ भाषा अथवा अलंकारों की परतों में दब जायेगा तो वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता विवक्षित हो जायेगी और आवश्यक अन्विति के पश्चात् ही वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति होगी। इसे गुणीभूत व्यंग्य की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि चाहे उचित विवक्षा के पश्चात् ही सही ऐसी स्थिति में भी व्यंग्य का उपादान तो होता ही है। यथा–

सुनो देवि मोपै कछू दृष्टि दीजै। इतौ सोच तौ राम काजै न कीजै।
कृतघ्नी कुदाता कुकन्या हि चाहे। हितू नग्न मुंडीन कौ ही सदा है।
तुम्हें देवि दूषै हितू ताहि मानें। उदासीन तोसौं सदा ताहि जानें।
(रामचद्रिका)

यहाँ स्पष्ट रूप से वाच्यार्थ की प्रधानता है और व्यंग्यार्थ गोण है। इसीलिए विद्वान् इन पंक्तियों में गुणीभूत व्यंग्य होने का दावा करते हैं परन्तु यहाँ व्यंग्यार्थ भाषा की कठोर पर्तों में उसी प्रकार छिपा हुआ है जिस प्रकार गन्ने के कठोर छिल्के में उसका मधुर रस छिपा रहता है और जब रस कोल्हू के नीचे दबने पर ही प्रवाहित होता है उसी प्रकार इन पंक्तियों का व्यंग्यार्थ भी उचित विवक्षा करने पर स्पष्ट हो जाएगा। यथा–

'रावण सीता से कहता है कि हे देवि! मैं वढ़ा पापी हूँ। कुछ मेरी ओर भी ध्यान दीजिए। राम के लिए इतना सोच करना व्यर्थ है क्योंकि राम तो (कृत+अघ+नी) अर्थात् पाप न करने वाले (पुण्यात्मा) हैं। वे तो (कु=पृथ्वी+दाता=दानी) अर्थात् पृथ्वी का दान देने वाले महान् दानी हैं। राम तो कु=पृथ्वी की कन्या अर्थात् सीता (तुम) को बहुत चाहते हैं। राम पूर्ण ब्रह्म हैं। और वे सदैव नग्नरूप में जटा-जूट धारण करने वाले महान् सन्तों के हित कर्त्ता हैं। मुझ जैसे विलासी का उद्धार तो वे कभी नहीं करेंगे। हे देवि! जो तुम्हें अर्थात् लक्ष्मी को दोष देता है उसी त्यागी पुरुष को राम हितैषी समझते हैं परन्तु मैं तो

त्यागी न होकर विलासी हूँ। वैभव सम्पन्न हूँ। अत: पापी हूँ राम मेरा हित कभी नहीं कर सकते। वे तो केवल उसी पर कृपा करते, हैं जो तुमसे (लक्ष्मी) से उदासीन रहता है।'

इन पंक्तियों को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ ही अधिक उत्कर्ष चारुता प्रतिपादन करने वाला है परन्तु यह उचित विवक्षा की अपेक्षा रखता है। प्रत्यक्ष उत्कर्ष चारुता प्रतिपादन करने वाला उदाहरण भी प्रस्तुत किया जाता है :-

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा अधिक अध खुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।। (कामायनी)

इन पंक्तियों में श्रद्धा के अङ्गों की गोराई, कोमलता और चमक का चमत्कार मूलक वर्णन है। इसका आशय यह है कि श्रद्धा का अंग-प्रत्यंग अत्यन्त गोरा, चमकीला, और कोमल था। अत: यहाँ अंगों की चमक गोराई और कोमलता की अतिशयता का भान प्रत्यक्ष रूप में होता है। यहाँ ध्वन्यात्मक बिंब है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि :-

1. वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष चारुता प्रतिपादित करने वाले व्यंग्य को 'ध्वनि' कहते हैं।

2. चमत्कार मूलक व्यंग्य ही 'ध्वनि' है।

ध्वनि के आधार पर काव्य के तीन प्रमुख भेद :-

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के आधार पर काव्य के तीन भेद किए हैं **1. ध्वनि काव्य 2. गुणीभूत व्यंग्य काव्य 3. चित्र काव्य। मम्मट** ने इन तीन भेदों को क्रमश: उत्तम, मध्यम तथा अधम काव्य की संज्ञा दी है। **पं. राज जगन्नाथ** ने शब्दालंकार मात्र से युक्त काव्य को अधम, अर्थालंकारों से युक्त काव्य को मध्यम: गुणीभूत व्यंग्य प्रधान काव्य को उत्तम तथा ध्वनि प्रधान काव्य को उत्तमोत्तम काव्य माना है। यहाँ **यह तत्त्व विचारणीय है कि गुणीभूत व्यंग्य तथा अर्थालंकार युक्त काव्य को मध्यम कोटि का काव्य मानना ही उचित होगा।** शब्दालंकार पर आधारित काव्य अधम तथा ध्वनि युक्त काव्य ही उत्तम काव्य माना जाना चाहिए। निम्नलिखित विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाएगा।

काव्य अथवा ध्वनि के प्रकार

आनन्दवर्द्धन द्वारा किए गए ध्वनि के भेदों को **मम्मटाचार्य** ने इतना बढ़ाया कि उनकी **संख्या 10455** तक पहुँचा दी है। उन्होंने सर्वप्रथम ध्वनि के 51 मूल भेद माने हैं। इन 51 भेदों का वर्ग करके 51x51 = 2601 भेदों को 4 से गुणा करके 10404 भेद किए हैं और इन में 51 भेद जोड़कर इनको 10455 तक द्रौपदी के चीर की भाँति

बढ़ाते चले गए हैं।[9] यद्यपि ये भेदोपभेद ध्वनि काव्य के किए गये हैं परन्तु इन्हें ध्वनि के भेदों के नाम से भी अभिहित किया जाता है। ध्वनि के प्रमुख भेद इस प्रकार हैं:–

1. लक्षणामूला (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि

जहाँ व्यंग्य 'लक्षणा शक्ति' के माध्यम से व्यंजित होता है, उसे लक्षणामूलक ध्वनि कहते हैं। 'लक्षणामूलक' ध्वनि को 'अविवक्षित वाच्य' ध्वनि इसलिए कहा गया है कि उसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती। अर्थात् लक्ष्यार्थ तक पहुँचने पर वाच्यार्थ बिल्कुल तिरोभूत हो जाता है क्योंकि 'लक्षण लक्षणा' में जिसे 'जहत् स्वार्था' भी कहा जाता है–विवक्षित अर्थ के प्राप्त होने पर वाच्यार्थ बिल्कुल समाप्त हो जाता है जैसे–

घोड़े मरिजात जहान में तब गधे राज पाते हैं।

इस पंक्ति में व्यंग्यार्थ की सिद्धि के लिए 'घोड़े' तथा 'गधे' शब्दों के अर्थ क्रमश: योग्य तथा अयोग्य व्यक्ति ही ग्रहण किये जायेंगे, अत: इन दोनों ही शब्दों के लक्ष्यार्थ ग्रहण में 'घोड़े' व 'गधे' के वाच्यार्थ बिल्कुल बदल जायेंगे। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वाच्यार्थ अविवक्षित रहेगा।

इन शब्दों में क्रमश: योग्यता की उपयोगिता तथा अयोग्यता की अनुपयोगिता ही ध्वनित है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं :–

(क) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य (उपादान लक्षणामूलक) ध्वनि

लक्षणा के दो मुख्य भेद होते हैं –1. उपादान लक्षणा 2. लक्षण लक्षणा। उपादान लक्षणा में लक्ष्यार्थ के साथ ही साथ मुख्यार्थ का भी उपादान हो जाता है। जैसे–'सारा देश चिंघाड़ उठा'। इसका लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाएगा कि 'सारे देश के निवासी' चिंघाड़ उठे। यहाँ 'सारा देश' का अर्थ 'सारे देश के निवासी' ग्रहण किया गया है। इस अर्थ में निवासी के साथ 'सारा देश-वाच्यार्थ भी बना हुआ है। अत: इसे उपादान लक्षणा या 'अजहत् स्वार्था' कहा जाता है और इसी उपादान लक्षणा पर आधारित ध्वनि को उपादान लक्षणामूलक ध्वनि कहा जाता है। उपादान लक्षणा मूलक ध्वनि में वाच्यार्थ का संक्रमण अन्य अर्थ अर्थात् लक्ष्यार्थ में हो जाता है। अत: उपादान लक्षणा मूलक ध्वनि को अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। यह **पदगत** तथा **वाक्यगत** दो प्रकार की होती है।

उदाहरणार्थ :–

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।। **(मैथिली शरण गुप्त)**

यहाँ प्रथम 'पंक्ति में 'अबला जीवन' शब्द का अर्थ 'निर्बल स्त्री समाज' में संक्रमित हो जाता है। अत: यहाँ पदगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि है।

दूसरी पंक्ति में 'आँचल में दूध' और 'आँखों में पानी' ये दो वाक्य हैं और इनका

अर्थ क्रमशः ये मनुष्य को दूध पिलाकर पुष्ट करती हैं (तथा) फिर भी मनुष्य इन को कष्ट देकर रुलाता ही रहता है। वाक्यों में संक्रमित हो जाता है।

यहाँ स्त्रियों की अतिशय निर्बलता तथा अतिशय पुत्र वत्सलता व पुरुषों की स्त्रियों के प्रति अतिशय अनुदारता ही ध्वनित होती है। यह व्यंग्यार्थ उपादान लक्षणा द्वारा वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ में संक्रमित हो जाने पर प्राप्त होता है। अतः इन पंक्तियों में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य (उपादान लक्षणा मूला) अविवक्षित वाच्य (लक्षणा मूला) ध्वनि है।

(ख) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य (लक्षण लक्षणामूला) ध्वनि

'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' ध्वनि को 'लक्षणा मूला' ध्वनि भी कहते हैं क्योंकि जब वाच्यार्थ द्वारा व्यंग्यार्थ की सिद्धि नहीं हो पाती तब व्यंग्यार्थ को प्राप्त करने के लिए लक्ष्यार्थ ग्रहण करना होता है परन्तु लक्षणा में लक्ष्यार्थ ग्रहण करने पर वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत (बिल्कुल तिरोभूत) हो जाता है। अतः वाच्यार्थ के अत्यन्त तिरस्कृत होने पर ही व्यंग्यार्थ की प्राप्ति होने के कारण लक्षण लक्षणामूला ध्वनि को 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि' कहा जाता है। यह भी **पदगत** तथा **वाक्यगत** दो प्रकार की होती है– उदाहरणार्थ :–

(1) 'मैं नीर-भरी दुःख की बदली।'

(2) 'विरह का जल जात जीवन।'

इन दोनों पंक्तियों का वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की सिद्धि करने में असमर्थ है। अतः इनका लक्ष्यार्थ जीवन अत्यन्त दुःख से भरा हुआ है–ग्रहण करना होगा। यह लक्ष्यार्थ 'लक्षण लक्षणा' द्वारा प्राप्त हुआ है जिसमें वाच्यार्थ की बिल्कुल ही तिरोभाव हो गया है। दूसरे शब्दों में वाच्य अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है, अतः इन पंक्तियों में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य (लक्षण लक्षणा मूला) ध्वनि है जिनमें दुःख की अतिशयता ध्वनित होती है

2. अभिधा मूला (विवक्षितान्य पर वाच्य) ध्वनि

अभिधा मूला ध्वनि में व्यंग्यार्थ की सिद्धि वाच्यार्थ द्वारा ही हो जाती है। इसे 'विवक्षितान्य पर वाच्य' इसलिए कहा गया है कि इसमें 'वाच्यार्थ' से ही अन्य अर्थ (व्यंग्यार्थ) का बोध हो जाता है। इसमें वाच्यार्थ अविवक्षित (तिरोभूत) न होकर विवक्षित (विद्यमान) रहता है। इसके 47 भेद किये गये हैं।

उदाहरण–

भव में मैं वैभव व्याप्त कराने आया।
नर को मानवता प्राप्त कराने आया॥
संदेश स्वर्ग से नहीं यहां मैं लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥ (साकेत)

इन 'पंक्तियों' में अभिधा के द्वारा केवल वाच्यार्थ से ही 'राम' का 'महान् पुरुषत्व'

ध्वनित होता है। अत: यहाँ अभिधा मूला ध्वनि है।

अभिधामूला ध्वनि के भी दो भेद हैं–

(क) असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि (रस ध्वनि)

(ख) संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि (वस्तु तथा अलंकार ध्वनि)

असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम संलक्ष्य (ज्ञात) नहीं होता वहाँ 'असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसे 'रस ध्वनि' भी कहा जाता है। इसके **वर्णगत, पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, रचनागत तथा प्रबन्धगत** छ: भेद किये गये हैं यथा–

पुर तैं निकसी रघुवीर वधू धरि-धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै।
फिर बूझति हैं 'चलनो' अब केतिक पर्णकुटी करि हो कित है?
तिय की लखि आतुरता पियकी, अखियाँ अति चारु चली जल च्वै॥

ये पंक्तियाँ संयोगश्रृंगार की हैं। इनमें राम और सीता की करुणातिशयता तथा प्रेमातिशयता ध्वनित है।श्रृंगारमूलक होने के कारण यहाँ रस ध्वनि है। इन पंक्तियों में व्यंग्यार्थ सीधे-सीधे वाच्यार्थ से ही उपलब्ध हो जाता है। अत: अभिधामूला ध्वनि है। यहाँ करुणातिशयता तथा प्रेमातिशयता का भाव वाच्यार्थ प्राप्त होते ही तुरन्त फूट पड़ता है जिससे वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध इतनी शीघ्रता से हो जाता है कि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने के क्रम का भान ही नहीं होता। इसीलिए इसे 'असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि' कहा जाता है। यहाँ यह तथ्य भी विचारणीय है कि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने में क्रम तो अवश्य रहता है परन्तु बोधगम्यता की अतिलाघावता के कारण वह क्रम ज्ञात नहीं हो पाता। जैसे–यदि किसी मक्खन की टिक्की को चाकू से काटा जाय तो चाकू के टिक्की के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने में एक क्रम तो अवश्य रहेगा परन्तु मक्खन की कोमलातिशयता और चाकू की तीक्ष्णातिशयता के कारण वह क्रम ज्ञात नहीं हो पायेगा।

संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि (वस्तु तथा अलंकार ध्वनि)

संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि उसे कहते हैं जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के बोध होने तक का क्रम स्पष्ट रहता है। अर्थात् इस प्रकार के बोध में 'रस ध्वनि' जैसी लाघवतातिशयता परिलक्षित नहीं होती। इसके 21 भेद किये गये हैं परन्तु सभी भेदों का मूलाधार वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि ये दो ही हैं। अत: इन्हीं का निरूपण करना यहाँ समीचीन होगा–

1. वस्तु ध्वनि– वस्तु ध्वनि के अंतर्गत किसी भी व्यक्ति या वस्तु की रूप, क्रिया, गुण तथा भाव आदि की उत्कृष्टता अभिधा के द्वारा ध्वनित होती है।

उदाहरणार्थ:–

बरदंत की पंगति कुंदकली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै, छवि मोतिन माल अमोलन की।
घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाऊँ लला इन बोलन की। (कवितावली)

इन पंक्तियों में बालक राम के मुख की 'सौंदर्यातिशयता' ध्वनित है। अत: यहाँ वस्तु ध्वनि है। यहाँ व्यंग्यार्थ अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ से सीधे-सीधे प्राप्त होता है। अत: अभिधामूल (संलक्ष्य क्रम व्यंग्य) ध्वनि है।

अंलकार ध्वनि

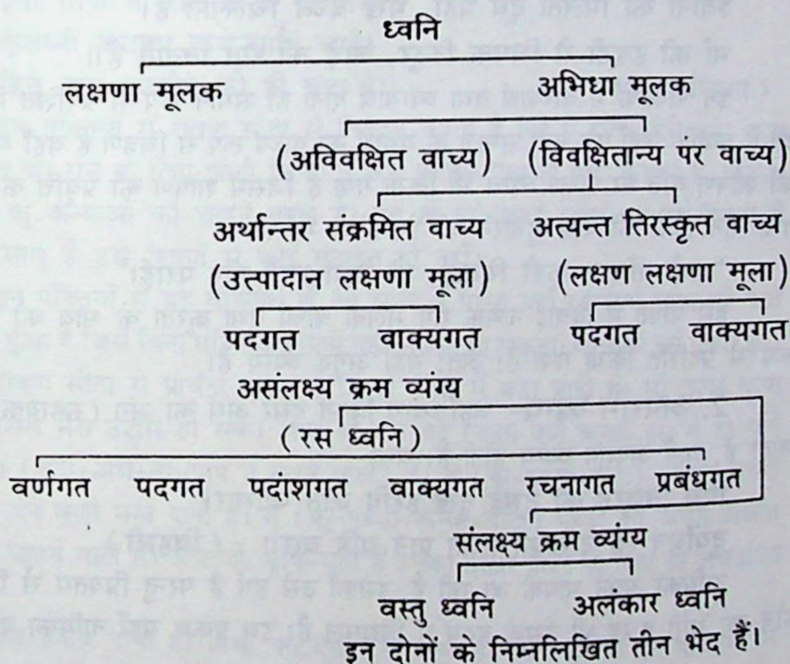
अंलकार ध्वनि वहाँ होती है जहाँ व्यंग्यार्थ अलंकारों के माध्यम से ध्वनित होता है। उदाहरणार्थ–

बाँधा बिधु को था किसने, इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से।। (प्रसाद)

इन पंक्तियों में रूपकातिशयोक्ति अलंकार के द्वारा रमणी-मुख की सौदर्यातिशयता ध्वनित है। अतः यहाँ अलंकार ध्वनि है।

ध्वनि के उपर्युक्त प्रमुख भेदों को रेखा चित्र में निम्न प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :–

ध्वनि के प्रमुख भेदों का रेखा चित्र



1. शब्द शक्ति मूलक

2. अर्थ शक्ति मूलक

3. उभय शक्ति मूलक

यदि ध्वनि के उपर्युक्त भेदोपभेदों पर एक विहंगम दृष्टि डाली जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि 'ध्वनि' और 'शब्द शक्ति' में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि 'ध्वनि' के सभी भेद शब्द-शक्ति के ही पर्याय हैं, जैसे– लक्षणा और व्यंजना ही क्रमशः अभिधामूल तथा लक्षणामूला ध्वनियाँ हैं और व्यंजना तो स्वंय ध्वनि अर्थात् व्यंग्यार्थ ही है। साथ ही आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के अन्तर्गत 'रस', अलंकार तथा भाव (व्यंग्य) को समाहित करके काव्य के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया है जिससे सभी प्रकार का काव्य 'ध्वनि' के अन्तर्गत आ जाता है।

गुणीभूत व्यंग्य (काव्य)

गुणीभूत व्यंग्य, ध्वनि का बिल्कुल विलोम है। ध्वनि में जहाँ व्यंग्य की स्पष्टता रहती है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्य गौण होता है।[10] **गुणीभूत व्यंग्य के प्रमुख आठ भेद माने गये हैं–**

1. अगूढ़ व्यंग्य– जहाँ व्यंग्य वाच्यार्थ के सामान ही स्पष्ट रूप में प्रतीत होता हो, वहाँ अगूढ़ व्यंग्य होता है। इसे स्फुट व्यंग्य भी कहा जा सकता है। यथा–

श्वानों को मिलता दूध यहाँ, भूखे बच्चे चिल्लाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़े की रात बिताते हैं।।

इन पंक्तियों में वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों ही समान रूप से प्रदर्शित दिखाई देते हैं क्योंकि जहाँ एक ओर समाज के यथार्थ का वाच्य रूप से चित्रण है वहाँ धनिकों की शोषण वृत्ति पर तीक्ष्ण व्यंग्य भी किया गया है जिसमें शोषण की प्रवृत्ति के त्याग तथा दीन हीनों की दशा सुधारने की प्रेरणा दी गई है।

'जाके पाँव न फटी बिवाई, सो कहा जानैं पीर पराई।'

इस पंक्ति में विवाई नामक रोग मूलक वाच्य तथा क्रूरता के भाव को समान रूप से प्रदर्शित किया गया है। अतः यहाँ अगूढ़ व्यंग्य है।

2. अपरांग व्यंग्य– जहाँ व्यंग्य किसी दूसरे अर्थ का अंग (सहायक) बन जाता है, वहाँ अपरांग व्यंग्य होता है। यथा–

पिय बिछुरन को दुसह दुख हरषि जात प्यौसार।
दुर्योधन लौं देखियत तजत प्रान यहि बार।। (बिहारी)

नायिका अपने मायके जा रही है, इसका उसे हर्ष है परन्तु प्रियतम से बिछोह होने का भारी दुःख भी उसके हृदय में विद्यमान है। इस प्रकार यहाँ नायिका का हर्ष

का भाव दु:ख का अंग (गौण) बन गया है। अतः इन पंक्तियों में अपरांग व्यंग्य है।

डिंगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस कै खरैं लजाने लाल।। (बिहारी)

यहाँ श्री कृष्ण के कंप सात्त्विक से व्यंजित रति-भाव अंगी है। अर्थात् 'रति-भाव' यहाँ प्रधान है और लज्जा का भाव गौण है। अतः अपरांग व्यंग्य है।

3. वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य– जहाँ अपेक्षित व्यंग्य के द्वारा 'वाच्य' की सिद्धि हो वहाँ वाच्य सिद्ध्यंग व्यंग्य होता है–

पण्डित अति सिगरी पुरी मनहुँ गिरा गति गूढ़।
सिंह चढ़ी जनु चण्डिका मोहति मूढ़-अमूढ़।

यहाँ वाच्यार्थ अयोध्या के उत्कर्ष का वर्णन है। परन्तु उसे 'गिरागति गूढ' कहने व 'सिंह चढ़ी जनु चण्डिका' कहने में अयोध्या निवासियों की विद्वता तथा शक्तिमत्ता अपेक्षित व्यंग्य है जो वाच्यार्थ की सिद्धि का माध्यम है। अतः इन पंक्तियों में वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य है।

4. अस्फुट व्यंग्य– जहां व्यंग्य अस्फुट या अदृश्य हो तथा जिसे सरलता से बिना मस्तिष्क की कसरत के प्राप्त न किया जा सके। वहाँ अस्फुट व्यंग्य होता है। इसे गूढ़, व्यंग्य भी कहा जा सकता है। जैसे–

सुनो देवि मोपै कछू दृष्टि दीजै।
इतौ सोच तौ राम काजै न कीजै।
कृतध्नी कुदाता कुकन्याहि चाहै।
हितू नग्न मुण्डीन को ही सदा है।। (रामचन्द्रिका)

इन पंक्तियों में रावण सीता से निवेदन करता है कि हे देवि! मेरी ओर कुछ तो ध्यान दो। राम के लिए इतनी चिन्ता न करो क्योंकि राम तो बड़ा कृतध्न है, कुदाता है और कु कन्याओं को चाहने वाला है। वह तो नंगे-मुण्डे लोगों का ही हितेषी है अर्थात् साधु है उसे स्त्रियों से कोई मतलब ही नहीं।

इन पंक्तियों में यह वाच्यार्थ है, जो स्पष्ट है परन्तु यहाँ व्यंग्यार्थ भाषा की पर्तों में छिपा हुआ है जिसे बिना मस्तिष्क लगाये नहीं समझा जा सकता। व्यंग्यार्थ इस प्रकार है–

रावण सीता से प्रार्थना करता है कि हे देवि! मैं बड़ा पापी हूँ। मेरे ऊपर कृपा करो जिससे मेरा उद्धार हो सके। आप श्री राम की चिन्ता क्यों करती हो। वे तो पूर्ण पुण्यात्मा (कृत+अघ+नी=पाप न करने वाले) हैं। वे (कु=पृथ्वी+दाता) अर्थात् पृथ्वी का दान देने वाले महा दानी हैं। वे (कु=पृथ्वी+कन्या=सीता) पृथ्वी की कन्या अर्थात् तुम्हें ही चाहने वाले हैं। और जो ऋषि-मुनि हैं उनका उद्धार करने के लिए ही अवतरित हुए हैं।

इस प्रकार दोनों ही अर्थों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इन पंक्तियों में व्यंग्य अत्यन्त गूढ़ (अस्फुट) है। अतः यहाँ अस्फुट (गूढ़) व्यंग्य है।

5. संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य–जहाँ इस बात का संदेह रहता है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में किसकी प्रधानता है, वहाँ संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य होता है। यथा–

लग्यो सुमन होइहि सफल आतप रोष निवारि।
बारी-बारी आपनी सींचि सुहृदता बारि।। (बिहारी)

एक स्त्री दूसरी स्त्री से (जो अपनी फुलवारी सींच रही है) कहती है–

हे बारी (बाला) तेरी बारी (बाड़ी) में जो सुमन (फूल) लगे हैं वे सफल होंगे अर्थात् उन पर जल्दी ही फँल आने प्रारम्भ हो जायेंगे। अतः तू उतावले पन में आकर खीझे मत कि इन डालों पर कब फूल आयेंगे। तू अपनी बेचैनी तथा खीझ को त्याग कर धैर्यपूर्वक इन पौधों में पानी लगाती रह। यह अर्थ अपना स्पष्ट प्रभाव व्यक्त करता है।

इस दोहे का व्यंग्यार्थ इस प्रकार ग्रहण किया जाएगा– सखी नायिका से कहती है कि हे बाले! तू अपनी बेचैनी तथा रोष को त्याग दे कि नायक से भेंट क्यों नहीं हो रही है। तेरा मन जो नायक में लगा है वह अवश्य ही सफल होगा। तू तो धैर्यपूर्वक अपने प्रेम को हृदय में धारण किए रह।

श्लेष से रहित इन दोनों ही अर्थों में यह निर्धारित करना कठिन है कि कौन सा अर्थ प्रधान है और कौन सा अप्रधान। अतः यहाँ संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य है।

6. तुल्यप्राधान्य व्यंग्य– तुल्य प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य वहाँ होता है जहाँ वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों में ही चमत्कार की प्रधानता समान रूप से परिलक्षित होती हो। यथा–

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वशिष्ठ से पण्डित ज्ञानी सोधि कै लगन धरी।
सीता हरन मरन दशरथ को वन में विपति परी।

इन पंक्तियों में वाच्यार्थ राम कथा से सम्बन्धित है और व्यंग्यार्थ लोक जीवन में उपलब्ध कर्मगति मूलक सार्वभौम सत्य से। अतः दोनों ही प्रभावशाली तथा प्रेरणादायक होने से समान महत्त्व रखते हैं। यहाँ इन दोनों के ही सम्बन्ध में 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की स्थिति है क्योंकि सहृदय पाठक दोनों ही अर्थों को अनिवार्यतः समान रूप से ग्रहण करेगा। अतः यहाँ तुल्य प्राधान्य व्यंग्य है।

7. काक्वाक्षिप्त व्यंग्य– जहाँ व्यंग्य काकु (कण्ठध्वनि के वैचित्र्य) से आक्षिप्त (प्रभावित) रहता है वहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग होता है। यथा–

हैं दससीस मनुज रघुनायक।
जिनके हनूमान से पायक।। (मानस)

अंगद कहता है कि हे रावण! क्या राम मनुष्य हैं जिनके हनुमान जैसे बलिष्ठ सेवक हैं अर्थात् राम मनुष्य नहीं ब्रह्म हैं क्योंकि हनुमान जैसा योद्धा जो तुम्हारे सम्मुख ही तुम्हारी लंका को जला गया और तुमसे उनके उस सेवक का भी बाल बाँका नहीं हो सका तो तुम राम का किसी भी प्रकार सामना नहीं कर सकते। अतः यहाँ काकु

(कण्ठ ध्वनि के वैचित्र्य) से यह व्यंग्य प्राप्त होता है कि राम मनुष्य नहीं हैं, ब्रह्म का अवतार हैं। अत: हे मूर्ख रावण तू वास्तविकता को समझकर उनकी शरण में चला जा। राम से बिगाड़ करने में तेरा कल्याण नहीं है।

8. असुन्दर व्यंग्य– जहाँ केवल वाच्यार्थ ही प्रभावशाली हो और व्यंग्य तनिक भी प्रभावशाली न हो वहाँ असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य होता है। जैसे :–

सूपनखा रावण की बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जिमि अहिनी।।
पंचवटी सो गई इक बारा। देखि विकल भई युगल कुमारा।।
रुचिर रूप धरि प्रभु पहँ आई। बोली मंद-मंद मुस्काई।। (मानस)

इन पंक्तियों में शूर्पनखा का प्रेम प्रदर्शन रूप व्यंग्य है जो किसी को भी प्रभावित नहीं करेगा। उल्टे घृणा का भाव पाठकों के मन में उत्पन्न करता है। **सामान्य रूप से असुन्दर व्यंग्य रसाभास में प्राप्त होता है जहाँ भाव अनौचित्य की कोटि में संक्रमण कर जाते हैं।**

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि 'गुणीभूत व्यंग्य' कोई पृथक् सिद्धान्त या विधा नहीं हैं। इसका उपादान तो ध्वनि के अंतर्गत ही होता है। ध्वनि प्रसंग में हम यह स्पष्ट रूप से व्यक्त कर चुके हैं कि ध्वनि का ग्रहण दो रूपों में किया जाता हैं 1. अविवक्षित रूप में तथा 2. विवक्षित रूप में। अत: जहाँ व्यंग्यार्थ पुष्प में गंध की भाँति व्यक्तावस्था में रहता है वहाँ ध्वनि अविवक्षित रूप में प्राप्त होती है और जहाँ व्यंग्य गन्ने में रस, मेंहदी में लालिमा तथा अगरबत्ती की सुगन्धि की भाँति अव्यक्तावस्था में रहता है और विवक्षित होने पर ही प्राप्त होता है उसे विवक्षित ध्वनि का रूप मानना चहिये। परन्तु आचार्यों ने इन दोनों को दो रूपों में पृथक्-पृथक् विधा मानकर चित्रित किया है। आचार्यगण 'ध्वनि' केवल उसे स्वीकार करते हैं जिसमें व्यंग्यार्थ 'कूप' में जल की भाँति स्पष्ट परिलक्षित होता है और वाच्य उसमें दबी हुई कीचड़ की भाँति अदृश्य होता है। गुणीभूत व्यंग्य उसे मानते हैं जहाँ व्यंग्य मेंहदी की लालिमा की भाँति अप्रधान होकर छिपा पड़ा हो और वहाँ वाच्यार्थ की ही प्रधानता ज्ञात होती हो। परन्तु इस प्रसंग में एक तथ्य अवश्य ही विचारणीय है कि व्यंग्य चाहे व्यक्तावस्था में हो या अव्यक्तावस्था में, 'व्यंग्य' तो ध्वनि का प्राण है जो (ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य) दोनों ही स्थितियों में अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। अन्तर केवल इतना है कि कहीं वह स्वत: प्राप्य होता है कही सप्रयास। भेद केवल स्थिति का है, मूल का नहीं। गुणीभूत व्यंग्य भी सौंदर्य का द्योतक है। अत: गुणीभूत व्यंग्य और ध्वनि को पृथक्-पृथक् मानना अचित नहीं है।

चित्र काव्य

ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य से इतर काव्य को **चित्र-काव्य** की संज्ञा दी हैं।[11] उनके अनुसार **चित्र-काव्य अधम काव्य** है, जो रस भावादि तथा व्यंग्यार्थ से रहित होता है। वह मात्र शब्द और अर्थ

के वैचित्र्य पर आधारित होता है।[12] **आनन्दवर्द्धन के अतिरिक्त मम्मट, अप्पयदीक्षित तथा नरेन्द्र प्रभुसूरि ने भी इस विषय में आनन्दवर्द्धन का ही समर्थन किया है।[13] चित्र काव्य की सबसे बड़ी पहचान है–उसमें व्यंग्य का अभाव।** परन्तु व्यंग्य काव्य का सौंदर्य होता है जो रसों, अलंकारों तथा विविध वस्तुओं में सन्निहित रहता है। इसीलिए ध्वनि के तीन प्रकार माने गये हैं। **1. रस ध्वनि 2. वस्तु ध्वनि तथा 3. अलंकार ध्वनि। इनसे इतर काव्य की कल्पना करना अनुचित लगता है क्योंकि जिस काव्य में व्यंग्य, रस तथा भावादि का अभाव होगा तो फिर शंका यह उठती है कि उसमें होगा ही क्या?** उदाहरणार्थ– एक मनिहार (चूड़ी बेचने वाला) अपनी झोली में काँच की चूड़ियाँ बेचने को ले जा रहा था। उसे रास्ते में एक लुटेरा मिला। उसने झोली में डंडा मारते हुए पूछा? "बता इसमें क्या है"? मनिहार बोला "एक डंडा और मार दो तो इसमें कुछ भी नहीं रहेगा।"

इसी प्रकार जब काव्य से रस, भाव और व्यंग्य ही निकाल दिये जायेंगे जो काव्य के मूल तत्त्व (प्राण या आत्मा) माने जाते हैं तो फिर रचना निर्जीव हो जायेगी और निर्जीव रचना को काव्य माना जाना सिद्धान्त के विरूद्ध है क्योंकि **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** के आधार पर तो केवल वह रचना ही काव्य मानी जाएगी जो रस-युक्त हो। अत: रस-रहित रचना तो काव्य कोटि में ही नहीं आयेगी।

आचार्यों ने चित्र काव्य का उल्लेख करके तथा उसके स्वरूप विवेचन में अलंकारों का समावेश करके यह संदेह उत्पन्न कर दिया है कि जहाँ आचार्यों की एक लम्बी परम्परा ने अलंकारों को काव्य का अपरिहार्य तत्त्व माना है।[14] और अलंकारों को सौंदर्य कहा है।[15] अत: अलंकार में भी रसवत् तथा प्रेयस अलंकारों का उल्लेख किया गया है जिससे स्पष्ट है कि अलंकार भी रस तथा भावादि से युक्त हैं। अत: अलंकार-सहित काव्य कभी भी शुष्क, नीरस तथा सौंदर्य हीन नहीं कहा जा सकता।

अलंकारों को काव्योत्कर्ष में अभिवृद्धि के साधन तथा काव्य-सौंदर्य का कारक भी माना है।[16] इससे यह स्पष्ट है कि अलंकार काव्य का भूषण (आभूषण) हैं जो उसकी शोभा में अभिवृद्धि करते हैं। यहाँ प्रश्न यह भी उठता है कि यदि अलंकारों को लकड़ी को पहना दिया जाए तो क्या वे उसके सौंदर्य में चार चाँद लगा देंगे या किसी सुन्दर रमणी को ही अलंकारों से लाद दिया जाये तो क्या उसका सौंदर्य अलंकारों की संख्या के अनुपात में अभिवृद्ध हो जायेगा? ये दोनों ही प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और निरन्तर आत्म रूप विवेचन में अलंकारों तथा रस की स्थापनाओं में तर्क स्वरूप प्रस्तुत किये जाते रहे हैं परन्तु यहाँ इस विवेचन से हमें केवल इतना ही सरोकार है कि अलंकार लकड़ी को भी पहनाये जा सकते हैं और सुन्दर कलेवर को भी। लकड़ी को पहनाये गये अलंकार मुर्दे को पहनाये गये अलंकारों की भाँति होते हैं और सौंदर्य उद्बोधक नहीं होते बल्कि ऐसी निर्जीव प्रतिमा अलंकारों के सौंदर्य को और लज्जित

करती है। दूसरी ओर सुन्दर कलेवर पर धारण किये गये अलंकार अवश्य ही सौंदर्य में अभिवृद्धि करते हैं परन्तु अलंकारों का अधिक भार भी नीरसता तथा उदासीनता उत्पन्न करने वाला बन जाता है। इस प्रकार अलंकारों के प्रयोग के तीन स्थितिगत परिणाम स्पष्टत: देखने को मिलते हैं।

1. निर्जीव या जड़ को धारण कराये गये अलंकार।

2. सुन्दर एवं सजीव कलेवर को धारण कराये गये अलंकार।

3. सुन्दर एवं सजीव कलेवर को धारण कराये गये अत्यधिक अलंकार।

इन तीनों ही स्थितियों में द्वितीय स्थिति उत्तम तृतीय अनुत्तम तथा प्रथम कम उत्तम या अधम मानी जायगी। यही स्थिति काव्य की भी है। रस, व्यंग्यादि से रहित काव्य लकड़ी की भाँति निर्जीव होता है। उसे चाहे जितना अलंकारादि से परिवेष्ठित करो; उसमें सौंदर्य ही प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि वास्तविक सौंदर्य तो प्राणों में है और जब देह निष्प्राण है तो अन्य कोई भी तत्त्व उसे सप्राण या सुन्दर नहीं बना सकता। ठीक इसी प्रकार का काव्य आनन्दवर्द्धनादि के द्वारा चित्र काव्य माना गया है।

उपर्युक्त विवक्षा के अनुसार यह तो मान्य है कि रसादि विहीन काव्य चाहे अलंकारदि से मण्डित हो अधम व अनुपयोगी काव्य ही है, परन्तु इस प्रकार की रचना को रसवादी तो काव्य ही नहीं मानेंगे। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी प्रथम तो यही मत व्यक्त किया कि चित्र–काव्य; काव्य कोटि में नहीं आता परन्तु उन्होंने इस प्रकार के काव्य के प्रति लोगों का दुराग्रह देखकर उसे अधम काव्य के रूप में स्वीकार कर लिया।[17] यहाँ यह विचारणीय है कि वे उसे अधम काव्य की संज्ञा देते अवश्य हैं परन्तु उनके मत से भी 'चित्र-काव्य' को काव्य-कोटि में नहीं रखा जा सकता। अब बचे अलंकारवादी आचार्य, वे तो अलंकार युक्त रचना को ही उत्कृष्ट कोटि का काव्य मानतें हैं। उनकी दृष्टि में तो अलंकार ही काव्य की आत्मा है। यदि इस मत को माने तो आनन्दवर्द्धन का चित्रकाव्य मूलक मत बिल्कुल झूठा सिद्ध होता है। इधर हिन्दी का प्रयोगवादी साहित्य भी अतिवादी होने के कारण अतिक्लिष्ट अतिशुष्क तथा अत्यधिक नीरस ही है। परंतु इसे भी लोग साग्रह साहित्य कहते आ रहे हैं। अत: इन सभी कारणों से चित्रकाव्य की सत्ता को स्वीकार लेने पर भी एक प्रश्न और उठता है कि अलंकारादि से परिवेष्ठित 'चित्र-काव्य' जब रस तथा भावादि से रहित होता है तो क्या उसमें रसाभास और भावाभास की अति समाज विरोधी, अश्लीलतापूर्ण स्थिति पाई जा सकती है। यह तो सम्भव है ही, क्योंकि जहाँ भाव ही जब अनौचित्य प्रयोग के द्वारा अग्राहय हो जाता है तब भिन्न प्रकार के स्वाद देने लगता है और घोर अश्लील तमोगुण पूर्ण चित्र समविष्ट हो जाते हैं ऐसी रचनायें भी त्याज्य मानी जाती हैं। आनन्दवर्द्धन तथा मम्मट भी अन्त में इसी मत से सहमत दिखाई देते हैं।[18] अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि :–

"रस व्यंग्य तथा भावादि से रहित अथवा मात्र शुष्क तथा नीरस अलंकारादि

से युक्त रचना तथा जिसमें रसाभास, भावाभास आदि (अनुचित एवं बाह्य) तत्त्वों के अतिक्लिष्ट एवं अश्लीलता युक्त कथनों व मात्र शुष्क विचारों का समावेश हो; चित्र काव्य कहलाता है।

हिन्दी काव्य-साहित्य पर यदि सम्यक् प्रकार से विचार करें तो हिन्दी का युग उपर्युक्त प्रकार के रस विहीन तथा मात्र शब्द चित्र मूलक रचनाओं से भरा हुआ है। रीतिकालीन कविता मेंशृंगाराभास तथा प्रयोगवादी कविता में रसाभास तथा व्यंग्यादि का पूर्ण अभाव ही मिलता है। यद्यपि इस प्रकार की रचनाएँ काव्य-कोटि में नहीं आतीं परन्तु दुराग्रही अखाड़ेबाज इस प्रकार की रचनायें धड़ाधड़ रचते जो रहे हैं तथा उसे नई कविता का नाम देकर नाम तथा दाम कमाते चले जा रहे हैं। यही नहीं ऐसे लोगों का ऐसा प्रबल वर्ग बन गया है कि इन्हीं में से अनेक व्यक्तियों ने आलोचकों का बाना भी पहन लिया है और आलोचना के नवीन मान दण्डों का निर्माण भी हो गया है। प्रकाशक वर्ग अबाध गति से इस प्रकार की रचनाओं को व आलोचनाओं को प्रकाशित भी कर रहा है। कहाँ तक कहें नई कविता के नाम पर हिन्दी में कूड़े का ऐसा ढेर बन गया है कि कहते नहीं बनता। कहा जाता है कि बारह वर्षों में घूरे के भी दिन फिरते हैं। परन्तु प्रयोगवादी अकवियों के दिन तो ऐसे जम कर बैठे गये हैं कि अब हिन्दी कविता के दिन फिरते दिखाई नहीं देतें निम्नलिखित उदाहरणों से इस कथन की पुष्टि स्वत: ही हो जायगी।

रसाभास मूलक चित्रकाव्य– जब अनुचित प्रयोगों के द्वारा 'रस' में साध ारणीकरण की क्षमता का लोप्र हो जाता है तब उसे 'रसाभास' कहा जाता है और रस विहीनता के कारण ही ऐसे अश्लील एवं समाज विरोधी वर्णनों को 'चित्र-काव्य' की संज्ञा दी जा सकती है यथा –

सॉवरे की सूनी सेज सोवति हीं राधिकाजू,
सोये आइ साँवरे हू मानि मन गोनों सौ। (केशव-रसिकाप्रिया)

इन पंक्तियों में अविवाहिता राधा के साथ श्री कृष्ण को इस प्रकार सोता हुआ दिखाया है जिस प्रकार विवाहित पति-पत्नी गौने के समय साथ-साथ सोते हैं।

इस प्रकार की रचना को कविता कहते हुए लज्जा से सिर नीचा हो जाता है परन्तु नाम और दाम कमाने की खातिर महाकवि केशवदास को अपना ईमान बेचते हुए भी शर्म नहीं आई होगी। कम से कम राधा और कृष्ण को तो इस नरककुण्ड में न घसीटते। जिन श्री कृष्ण को 'गीता' में योगेश्वर कहा गया है उन्हीं को केशवदास ने बेहद बेशर्म, कामी, लुच्चा और लफंगा बना डाला है। यह काव्य-नीति के बिल्कुल विपरीत आचरण है। इसे सहृदय पाठक कभी क्षमा न करेगा। चाहे वाह-वाही देने वाले कामी और कापुरुष कृष्ण और राधा की आड़ में अपनी काम-पिपासा की शान्ति के लिए 'केशव' को अशर्फियों से तोल दें। दूसरा उदाहरण लीजिए। मतिराम की भी एक ऐसी ही कुमतिपूर्ण रचना देखिये–

रति की केलि अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई
प्यास लगी कोई पानी दै जाइयो भीतर बैठि कैं बात सुनाई
जेठी पठाइ दई दुलही तब हेरि हँसै मतिराम बुलाई
कान्ह की बात पै कान न दीनौं तो गेह की देहरि में धरि आई।।

ये पंक्तियाँ भी बेशर्मी दर्शन के लिए कम जघन्य नहीं है। श्री कृष्ण ने राधा के साथ रात भर केलि (संभोग क्रीड़ा) की और फिर भी संतुष्ट न हुए जैसे कोई बेशर्म, लुच्चा और कामी व्यक्ति करता है। उसी प्रकार का आचरण 'पृथ्वी का भार उतारने के लिए' ब्रह्म का अवतार धारण करने वाले श्री कृष्ण का चित्रित करते हुए मतिराम की मति कहाँ मारी गई थी। यदि उसे ऐसी ही निकम्मी रचना करनी थी और अपनी काव्य प्रतिभा की बधिया बिठानी थी तो कम से कम राधा और कृष्ण को तो बख्श देता। फिर चाहे किसी कुँए में गिरते तो अपनी बला से। केवल दु:ख इसी बात का है कि इस कुमतिराम ने नैतिकता, धर्म तथा शिष्टाचार की ओर से ऐसी आँखे बन्द कर ली थीं मानो उसके सामने सारा पशुओं का ही समाज हो और वह स्वयं भी पशु ही हो। धिक्कार है ऐसी कविता को, उसके प्रणेता कवि को और ऐसी कविता में रस-पाकर आनन्द का अनुभव करने वाले कुहृदयों को तथा इन कविताओं की भूरि-भूरि प्रशंसा करने वाले दुर्नितिज्ञ आलोचकों को।

इन निकम्मी रचनाओं का रोना कहाँ तक रोयें। हिन्दी साहित्य का एक बड़ा कोना (रीतिकाल) ही इस प्रकार की भ्रष्ट रचनाओं से भरा पड़ा है। अच्छा होता यदि ये रचनायें प्रकाशित होने से पूर्व ही समुद्र में फैंक दी जातीं जिससे हिन्दी कविता का नाम तो बदनाम होने से बच जाता। रीतिकाल में जब ये रचनायें प्रणीत हुई थीं तब तो इनका प्रसार केवल कामी और विलासी राजाओं के अन्त:पुरों और उनकी अन्तरंग गोष्ठियों तक ही सीमित था परन्तु प्रकाशन साधनों का आविष्कार होने से ये मनहूस रचनायें अब सभी हिन्दी-पाठकों के गले मढ़ गई हैं। इन रचनाओं मेंश्रृंगार का रसाभास तो है ही, भाव तथा व्यंग्यादि का भी गुड़-गोबर कर के रख दिया है।

भावाभासमूलक चित्रकाव्य–जहाँ भावाभिव्यंजन में भी अश्लील एवं घोर कामुकता मूलक अनौचित्य विद्यमान रहता है, वहाँ भाव की मर्यादित अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। अत: ऐसे वर्णनों को भावाभास कहा जाता है। अनौचित्य का पोषक होने के कारण भावाभास को चित्रकाव्य (भाव रहित काव्य) की कोटि में रखा जा सकता है।

उदाहरणार्थ :–

सन सूरव्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारिं।
हरी अरी अरहरि अजौं क्यों बैठी मन मारि।। (बिहारी)

इस दोहे में पूर्व पंक्ति में नायिका के सभी संकेत स्थल फसलों के कट जाने पर नष्ट हो जाने से उसे विषाद होता है। तभी सखी अरहर के खेत की ओर संकेत करके उस के मन में हर्ष का भाव जाग्रत करती है। यहाँ एक भाव (विषाद) की शान्ति

है और दूसरे विरोधी-भाव (हर्ष) का उदय है परन्तु 'विषाद' की शान्ति चमत्कार मूलक होने के कारण यहाँ विषाद और हर्ष दोनों ही अमर्यादित कामवासना के प्रेरक होने के कारण अनौचित्य के पोषक हैं। इन पंक्तियों को मात्र शब्द चित्र ही कहा जायेगा। श्लील भाव का यहाँ पूर्णतया अभाव ही लक्षित है।

अलंकार मूलक चित्रकाव्य– अलंकार मूलक चित्रकाव्य केवल वहीं माना जायेगा जहाँ अलंकारों का प्रयोग तो हुआ हो परन्तु रस, भाव, ध्वनि आदि का वहाँ पूर्ण अभाव हो। यथा :–

निकटतर धँसती हुई छत आड़ में निर्वेद।
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में।
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव।
' धैर्य धन गदहा।

इन पंक्तियों में शब्दालंकार (अनुप्रास) तथा अर्थालंकार (रूपक) का प्रयोग तो हुआ है परन्तु यहाँ रस भाव तथा व्यंग्य का पूर्ण अभाव है। ये पंक्तियाँ कविता जैसा प्रभाव ही उत्पन्न नहीं करतीं। अत: शुष्क, नीरस तथा प्रभावहीन होने के कारण इन पंक्तियों को चित्रकाव्य की कोटि में रखना ही संगत होगा।

अगर कहीं में तोता होता।
तो क्या होता? तो क्या होता?
तोता होता, तोता होता।

इन पंक्तियों में (अनुप्रास तथा पुनरुक्ति प्रकाश) शब्दालंकारों की झड़ी लगी हुई है परन्तु रसादि चील के घोंसेले में माँस की भाँति ढूँढनें पर भी नहीं मिलते। अत: कोरा शब्द जाल मात्र होने के कारण इन पंक्तियों को 'चित्र-काव्य' के अन्तर्गत ही स्थान मिल सकता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जिसे आचार्यों ने 'चित्र काव्य' की संज्ञा दी है वह काव्य शरीर का एक कोढ़ ही समझना चाहिये। इस प्रकार के काव्य सर्जन से साहित्य-पुरुष का वह अंग रुग्णता से युक्त ही माना जायेगा जिस अंग में 'चित्र-काव्य' चित्रित किया गया हो। जैसे रीति-कालीन महाघोर अश्लील शृंगार मूलक काव्य तथा काव्य-तत्त्वों की हत्या करने वाला प्रयोगवादी काव्य।

ध्वनि का काव्य में महत्व

व्यंग्य और ध्वनि– अब प्रश्न यह उठता है कि व्यंग्य क्या है जिसका बार-बार उल्लेख ध्वनि-प्रसंग में किया जाता है। सामान्य रूप से व्यंग्य **'शब्द में छिपा हुआ सौन्दर्य' होता है।**[19] **जिसे गुप्त भाव या विचार भी कहा जा सकता है।** पण्डित राज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा देते हुए **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यम्'**

का उल्लेख किया है। यह रमणीय अर्थ ही व्यंग्य या सौन्दर्य है जो शब्द में छिपा रहता है। शब्द में सौंदर्य दो रूपों में रहता है **1. अव्यक्त रूप में जैसे गन्ने में रस 2. व्यक्त रूप में जैसे पुष्प में सुगन्ध।** इस व्यक्तावस्था तथा अव्यक्तावस्था दोनों को ही ध्वनि की संज्ञा दी जाती है। **जहाँ व्यंग्य व्यक्तावस्था में होता है, उसे चमत्कार कहा जाता है। यहाँ ध्वनि का उपादान प्रथम चरण में ही हो जाता है। जहाँ व्यंग्य अव्यक्तावस्था में रहता है वहाँ सौंदर्य को प्राप्त करने के लिये मस्तिष्क की कसरत (द्रविड़ प्राणायाम) करके भाषा की कठोर पर्तों में छिपे हुए व्यंग्य (सौन्दर्य) को प्राप्त करना पड़ता है।**

व्यंजना तथा ध्वनि :– अव्यक्त तथा व्यक्त सौन्दर्य को प्राप्त कराने का कार्य व्यंजना शक्ति द्वारा ही होता है। अतः व्यंजना कारण होती है और ध्वनि उसका कार्य। आचार्यों ने ध्वन्यार्थ, प्रतीयमानार्थ, द्योतितार्थ, व्यंग्यार्थ आदि को भी ध्वनि की संज्ञा दी है। ये सभी प्रकार के अर्थ अभिधेयार्थ तथा लक्षार्थ से भिन्न होते हैं। इनका आशय है कि ध्वनित होने वाला अर्थ, प्रतीत होने योग्य अर्थ, प्रकाशित होने वाला अर्थ तथा व्यंजित होने वाला अर्थ आदि। इस प्रकार **ध्वन्यात्मकता, प्रतीति, व्यंजना तथा द्योतितता आदि अर्थ का भान कराने वाली वे क्रियाएँ या व्यापार हैं जिन्हें आचार्यों ने व्यंजना के नाम से स्थिर किया है।** प्रतीयमान अर्थ ही व्यंग्य या सौन्दर्य है जो प्रतीति की योग्यता रखता है। कभी उसका कुछ अंश प्रतीत हो जाता है कभी नहीं होता। परन्तु उसे सप्रयास प्रतीत कराया जा सकता है। 'आत्मा' भी अव्यक्ता तथा व्यक्तावस्था में स्थित है। सांसारिक विभूतियों में वह व्यक्त (साकार) है तथा मायातीतादि अवस्थाओं में वह निराकार या अव्यक्त है परन्तु अव्यक्त होते हुए भी वह 'ज्ञातृत्ववन्त' अर्थात् जानी जाने योग्य है।[20] तभी तो योगीजन समाधि लगाकार उसे प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और उसे जान लेते हैं। इसी तथ्य को आनन्दवर्द्धन ने कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट किया है– सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धन शब्द में निहित व्यंग्य की स्थिति को समझाते हैं :–

प्रतीयमानं पुनरन्य देव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यामिवांगनासु।।[21]

अर्थात् जिस प्रकार किसी सुन्दर रमणी के अंग व उनसे झलकता हुआ सौंदर्य भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। उसी प्रकार महाकवियों की वाणियों से निकले हुए शब्द तथा उनसे झलकता हुआ अर्थ (सौंदर्य) भी भिन्न-भिन्न तत्त्व होते हैं।

तदुपरान्त उन्होंने शब्द में छिपे व्यंग्य को प्राप्त करने की भी प्रक्रिया को स्पष्ट किया है :–

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वद् अर्थे वाच्ये तदाहतः।।[22]

अर्थात् जिस प्रकार प्रकाश की इच्छा रखने वाला कोई व्यक्ति (दीप में

छिपे हुए आलोक को प्राप्त करने के लिए) दीपक जलाने का प्रयास करके उसे प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की अभिलाषा रखने वाला सहृदय भी प्रयत्न करके वाच्यार्थ में छिपे हुए व्यंग्यार्थ को प्रयास करके प्राप्त कर लेता है।

अन्त में आनन्दवर्द्धन व्यंग्य क्या है? इसका उत्तर देते हैं–

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्।।[23]

अर्थात्–मुख्यार्थ या वाच्यार्थ के महाकवियों की वाणियों से अलंकृत होते हुए भी प्रतीयमानार्थ (व्यंग्यार्थ) तो उससे (मुख्यार्थ से) रमणियों की लज्जाशीलता की भाँति द्योतित होने वाला एक आन्तरिक तत्त्व है।

'दिनकर' की इन पंक्तियों में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है।

मेंहदी में जैसे लाली हो।
वर्तिका बीच उजियाली हो।
बत्ती जो नहीं जलाता है।
रोशनी नहीं वह पाता है। (रश्मिरथी)

अत: उपर्युक्त समस्त विवेचन में इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि :– **'व्यंग्य' शब्द में निहित वह भाव सौंदर्य होता है जो व्यंजना के द्वारा विवक्षा के उपरान्त या स्वतः प्राप्त होता है।'**

अभिधा-लक्षणा और ध्वनि– अभिधा तथा लक्षणा भी व्यंजना की ही भाँति शब्द के अर्थ का भान कराने की क्रियाएँ होती हैं परन्तु यहाँ यह देखना है कि इन दोनों शक्तियों का 'ध्वनि' के साथ कुछ सम्बन्ध है अथवा नहीं। अभिधा द्वारा शब्द के साक्षात् (प्रत्यक्ष) अर्थ का भान बिना किसी कठिनाई के करा दिया जाता है परन्तु जब अभिधा द्वारा प्राप्य अर्थ (मुख्यार्थ) के प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त होने में बाधा पड़ती है तब लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ तक पहुँचा जाता है। उदाहरणार्थ–किसी जलाशय से यदि जल ग्रहण करना है तो जलाशय की प्रकृति के अनुसार उसे दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। प्रथमत: यदि जल का स्तर ऊपर है तो हम सीधे जाकर लोटे या अन्य पात्र में जल भर लेते हैं परन्तु यदि जल-स्तर नीचा है तो रस्सी द्वारा पात्र को नीचे ले जाकर जल प्राप्त कर लेते हैं या यदि जलाशय तक सीढ़ियों से नीचे जाकर जल प्राप्त कर लेंगे। इसी प्रकार अभिधा द्वारा बिना किसी माध्यम के जल की भाँति प्रत्यक्ष व सुलभ्य अर्थ को प्राप्त कर लेते हैं और जब अर्थ सहज-सुलभ नहीं होता तो उसे किसी माध्यम से प्राप्त कर लेते हैं। वह माध्यम लक्षणा है। यहाँ विचारणीय यह है कि अभिधा तथा लक्षणा से एक ही तत्त्व अर्थात् शब्द के मुख्यार्थ या प्रत्यक्षार्थ तक ही पहुँचा जाता है, जैसे प्यासा व्यक्ति सीधे जलाशय से या रस्सी आदि की सहायता से जल ही प्राप्त करता है परन्तु किसी-किसी जलाशय में तो जल के अतिरिक्त अन्य

तत्त्व भी जैसे मुक्तादि भी छिपे हुए रहते हैं परन्तु इन मुक्तादि का आभास सभी को नहीं होता। इन तत्त्वों की खोज करने वाला वही होता है जो जल के अतिरिक्त जलाशय से कुछ और विशिष्ट वस्तु निकालना चाहता है। कभी तो उस कार्यार्थी को इन वस्तुओं के विद्यमान होने का आभास कुछ ऊपरी संकेतों द्वारा मिल जाता है। वहाँ तो वह केवल गोता मात्र लगाकर ही इन मुक्तादिकों को प्राप्त कर लेता है, परन्तु कभी-कभी उसे सप्रयास-जल आदि का स्तर घटाकर ही रत्नादि को प्राप्त करना पड़ता है। **काव्य के क्षेत्र में भी अर्थ की यही स्थिति होती है। जल की भाँति सहज-सुलभ मुख्यार्थ ही अभिधा या लक्षणा का साध्य है और मुक्तादि की भाँति जलाशय की तहों में व्यक्तावस्था या अव्यक्तावस्था में निहित अर्थ जिसे व्यंजना द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है 'ध्वनि' है।** अभिधा का कार्य केवल मुख्यार्थ या उससे ही सम्बन्धित अर्थ का बोध कराना होता है। अतः इसका ध्वनि से ही मूल सम्बन्ध होता है। क्योंकि अलंकार 'ध्वनि' का मुख्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता वह तो मुख्यार्थ से सर्वथा भिन्न 'व्यंग्यार्थ' से सम्बन्धित है, अतः अलंकार ध्वनि का उपादान प्रायः लक्षणाधारित होता है। दूसरे शब्दों में मुख्यार्थ केवल प्रत्यक्ष सौंदर्य का भान कराता है जबकि लक्ष्यार्थ प्रत्यक्ष सौंदर्य से भिन्न गुप्त सौंदर्य होता है। इसलिए मुख्यार्थ की अपेक्षा इसमें चमत्कार कौतूहल तथा जिज्ञासादि तत्त्वों का समावेश रहता है और यह आनन्द का अधिक तीव्रता के साथ अनुभव कराने में सफल होता हैं

रस और ध्वनि–आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को अत्यन्त विस्तृत रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है उन्होंने रस को ध्वनि का एक भेद मात्र माना है। इसका आशय यह हुआ कि ध्वनि 'रस' की पोषिका है, परन्तु ध्वनि और रस में साम्य भी है और वैषम्य भी। रस; समूह शक्तिमूलक होता है। उसकी निष्पत्ति विभाव, अनुभव, तथा संचारियों के संयोग से होती है जबकि ध्वनि; शब्द में निहित सौंदर्य मात्र होती है। उसके उपादान के लिए रस की भाँति अंगादि की आवश्यकता नहीं होती। रस भावों के साधारणीकरण द्वारा ही प्राप्त होता है अतः रस-ध्वनि में तो भावों का साधारणीकरण होगा परन्तु अलंकार तथा वस्तु ध्वनि में यह संभव नहीं है। रस-निष्पन्नता की स्थिति में 'सत्त्वगुण' का आविर्भाव और रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव हो जाता है। रस भावों का अलौकिक स्वरूप होकर आनन्द की सृष्टि करता है। रस-संख्या निर्धारित होती है, रस निष्पन्नता की स्थिति में आने पर स्थायीभाव किसी भी शत्रु या मित्र भाव से विच्छिन्न नहीं होता। वह भाव की ऐसी दिव्य-शक्ति है जिसमें समस्त विकार ईर्ष्यादि दीपक पर पतंगों की भाँति जलकर भस्म हो जाते हैं और उदीयमान भाव रत्यादि सहृदय के मनोभावों को नियंत्रित करके उसे अलौकिक आनंद की कक्षा में ले जाकर अवस्थित कर देते हैं, परन्तु ध्वनि में यह सब गुण विद्यमान नहीं होते। ध्वनि अव्यक्त सौंदर्य होता है जो व्यंजना के द्वारा अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् प्राप्त होता है जिसे आनन्दवर्द्धन ने 'रस-ध्वनि' की संज्ञा दी है परन्तु वह तो रस ही

है। रस-ध्वनि रस के उत्कर्ष का मूल है जिसके द्वारा रस-सौंदर्य अभिव्यक्त होता है। जैसे यदि हम आम को चूस कर उसके रस का पान करें तो हमें बड़ा आनन्द आयेगा। परन्तु इस आनन्द का कारण आम का स्वाद (खट्टा-मीठापन) ही है जो आम का सौंदर्य (मूल-तत्त्व) है। यदि आम खट्टा हुआ तो हम उसे चूसकर आनन्द नहीं ले सकते। अचार आदि डाल कर उस आम का उपयोग कर सकते है।। उसी प्रकार रस आनन्द है तो ध्वनि उसका मूल तत्त्व अर्थात् सौंदर्य हैं। यदि हम आम के रस के साथ नमक, जीरा, हींग आदि मसालों को मिलाकर उसका उपभोग करें तो आम के रस के साथ ही साथ उन मसालों का स्वाद भी प्राप्त होगा जिससे हमारा मन अधिक चमत्कृत वह तीव्र आनन्द का अनुभव करेगा। इसका आशय यह हुआ कि जब मसालों के द्वारा रस के मूल गुण (स्वाद) मे वृद्धि की गई तो उसी अनुपात में उसके आनन्द-तत्त्व में भी वृद्धि हुई परन्तु मिलावट की अतिशयता विशुद्ध आनन्द में बाधक हो जाती है। रस के साथ जो मसालेदार चटपटापन होता है वही रस ध्वनि है। अत: उसका एक सीमा तक रहना ही उपयुक्त है।

अत: जहाँ रस निष्पन्न होता है तो वहाँ ध्वनि भी जो एक आदर्श (सौंदर्य) के रूप में अव्यक्तावस्था में निहित रहती है उद्भूत हो जाती है और उस दशा में रसानुभूति अत्यन्त तीव्र हो उठती है। यथा–

निकली दुर्गा दुर्ग-द्वार से ले कर में नंगी तलवार।
भागे शत्रु देख चण्डी को मचा चौतरफ हा हा कार।
फिर गई दृष्टि विक्राल मरा। हय टापों से फुफकार मरा।
पड़ गई जिधर तलवार मरा। बढ़ गई जिधर ललकार मरा।।

ये पंक्तियाँ झाँसी का दुर्ग छोड़कर अर्द्धरात्रि में द्वार से निकलकर जाने के समय महारानी लक्ष्मीबाई की वीरता से सम्बन्धित हैं। इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से अभिधा द्वारा वीर रस की अभिव्यंजना है परन्तु परोक्ष रूप से व्यंजना द्वारा इन पंक्तियों में रानी की देश-भक्ति, मातृभूमि-प्रेम तथा मर्यादा-पालन आदि से सम्बन्धित आदर्श भावों की भी अभिव्यक्ति हुई है। यही ध्वनि है जो रस की संपोषिका बनकर अवतरित हुई है और इसी को आनन्दवर्द्धन ने रस-ध्वनि की संज्ञा दी है।

यह एक विचारणीय तथ्य है कि प्रत्येक रस में आदर्श भाव अविच्छिन्नावस्था में विद्यमान रहते हैं जो रस की निष्पन्नावस्था में स्वत: ही उद्भूत होते देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ:–वीर रस में–देश भक्ति, त्याग, तप, बलिदान, सहिष्णुता आदि। **शान्त रस** में–ईश्वर प्रेम, सदाचार जैसे–सत्य, अहिंसा, त्याग, संतोष वैराग्य, निरहंकारिता, निर्लोभता, निष्कामता, समदर्शिता आदि। **रौद्र रस में**– स्वाभिमान, स्वदेशाभिमान, मर्यादा पालन आदि। **बीभत्स रस में**–घृणित वस्तुओं से वैराग्य या निवृत्ति मूलक भावना आदि। **शृंगार रस में**–त्याग, तप, बलिदान, विनोद प्रियता, प्रेम की पवित्रता, प्रेम की अतिशयता, वियोग की अतिशयता आदि। **करुण रस में**–सहानुभूति, पर दु:ख कातरता, परोपकारादि। **हास्य रस में**–विनोद प्रियता, चिन्ता-मुक्ति की कामना आदि। **अद्भुत रस में**–आनन्दातिशयता

आदि के भावों की अभिव्यक्ति होती है। ये सभी भाव आदर्श भाव होते हैं और ध्वनि के अंतर्गत आते हैं। परन्तु इनका अस्तित्व रस से बिल्कुल पृथक् होता है और इस स्थिति में भाव के साथ ही साथ बुद्धि का अंश भी विद्यमान रहता है। इसलिए इन भावों को आदर्श की संज्ञा दी जाती है। **अतः 'ध्वनि' रस का सुन्दर, आदर्श व प्रेरणादायक पक्ष है। रस घृत रूप है और 'ध्वनि' दूध रूप।**

अलंकार तथा ध्वनि

आनन्दवर्द्धन ने अलंकार-ध्वनि के रूप में भी ध्वनि का एक भेद स्वीकार किया है। यह अलंकार-ध्वनि अलंकारों के माध्यम से व्यंग्य की प्राप्ति का साधन है। अलंकार-ध्वनि के अन्तर्गत व्यंजना द्वारा अलंकारों में छिपे हुए व्यंग्य को उद्भूत किया जाता है। यथा :-

अनुराग तड़ाग में भानु उदै विगसी मनो मंजुल कंज कली॥
(कवितावली)

इन पंक्तियों में 'रूपक' अलंकार का प्रयोग हुआ है। इस रूपक की तह में 'प्रेमातिशयता' का भाव छिपा हुआ है जो अभिधा तथा लक्षणा द्वारा किये गये अर्थो के पश्चात् व्यंजना द्वारा प्राप्त होता है। यही 'प्रेमातिशयता' यहाँ ध्वनि है जिसे अलंकार ध्वनि कहा जाता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अलंकार, ध्वनि का आवरण होता है। **इस आवरण को हटाते ही ध्वनि (सौंदर्य) स्वतः उस प्रकार फूट पड़ता है जिस प्रकार वल्कल धारी श्री राम का सौंदर्य राजसी वस्त्रों के त्याग देने पर सुशोभित हुआ था।** यथा:-

कागर कीर ज्यों भूषन चीर, सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई (कवितावली)

तथा :- वनवासिनी शकुन्तला का सौंदर्य भी वल्कल वस्त्रों से चन्द्रकिरणों की भाँति फूटता हुआ दुष्यन्त को दिखाई पड़ रहा था। यथा :-

"इयमधिकमनोज्ञा बल्कलेनाऽपि तन्वी
किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥" (अभिज्ञान शाकुन्तलम्)

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि **अलंकार ध्वनि (सौंदर्य) को अभिव्यक्त करने के कारण मात्र ही हैं।**

वक्रोक्ति रीति तथा ध्वनि

'वक्रोक्ति' और 'रीति' भाव प्रकाशन की शैलियाँ मात्र हैं। अलंकारों की भाँति वक्रोक्ति तथा रीति के द्वारा भी ध्वनि का उपादान होता है। अलंकारों के माध्यम से वक्रोक्ति का समावेश प्रायः वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि में देखा जाता है और रीति का रस-ध्वनि में क्योंकि रीति का सम्बन्ध गुणों से है और गुणों का सम्बन्ध रसों से। उदाहरणार्थ -

'कटि-कटि शीश गिरें धरणी पै, उठि-उठि रुण्ड करें तरवारि॥'

इन पंक्तियों मे ओज गुण, गौड़ी रीति, वीर रस तथा पराक्रमातिशयता की 'ध्वनि' है। इसी प्रकार :-

'लाल चेहरे हैं नहीं फिर लाल किसके।'

इस पंक्ति में यमक अलंकार के द्वारा वर्णवक्रता मूलक वक्रोक्ति का प्रयोग हुआ है, साथ ही यहाँ स्वाभिमान व देशभक्ति की ध्वनि भी व्यंजित है जो वाक्यार्थ का मूल भाव है। इस प्रकार 'वक्रोक्ति तथा रीति' भी 'ध्वनि' की उपकारक विधायें हैं।

औचित्य तथा ध्वनि– औचित्य तथा ध्वनि में कोई मूल भेद नहीं है। दोनौं ही एक हैं क्योंकि ध्वनि में भी सौंदर्य (आदर्श भाव एवं विचार) का पर्यालोचन रहता है और औचित्य भी (आदर्श एवं विचार) की ही अभिव्यक्ति करता है। 'औचित्य' में आदर्श दो रूपों में विद्यमान रहता है । **1. आह्लादक रूप में 2. शिक्षाप्रद रूप में।** आह्लादक औचित्य रस का अधिक निकटवर्ती है और शिक्षाप्रद औचित्य ध्वनि का समीपी। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनि का प्रवेश औचित्य में भी रहता है।

ध्वनि और साधारणीकरण

भारतीय काव्य-शास्त्र में इस प्रकार का विवेचन तो पर्याप्त मात्रा में मिलता है कि 'रस' विना 'साधारणीकरण' के निष्पन्न नहीं होता परन्तु इस तथ्य पर आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है कि क्या ध्वनि के उपादान के लिए भी साधारणीकरण की आवश्यकता है? ध्वनि तथा रस के स्वरूप एवं सम्बन्धों पर यदि सम्यक् रूप से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि **'रस' जिसे काव्य की आत्मा माना जाता है आत्म तत्त्व की भाँति 'सत् चित् आनन्द' रूप है,** इसीलिए 'रस' सर्वश्रेष्ठ और काव्य का प्राण माना जाता है। **'ध्वनि' काव्य का सौंदर्य है जिसमें 'सत् तथा चित्' तत्त्व की प्रधानता रहती है। रीति, वक्रोक्ति, अलंकार तथा औचित्य में सत् तत्त्व ही प्रधान रहता है और चित् तथा आनन्द का तिरोभाव रहता है। इसीलिए ये चारों तत्त्व काव्य के बाह्य पक्ष (अभिव्यक्ति पक्ष) के द्योतक हैं। इससे स्पष्ट है कि रस ही काव्य का आनन्द तत्त्व है। ध्वनि सौंदर्य तत्त्व और भाषा अलंकारादि सत् तत्त्व हैं, रसपूर्ण तथा रसध्वनि युत रचना में सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् अनिवार्य रूप से विद्यमान रहते हैं।** वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि युत रचनाओं में सत्य तथा सौंदर्य तत्व विद्यमान रहते हैं और इनमें शिव तत्त्व विद्यमान नहीं रहता अत: यहाँ साधारणीकरण नहीं होता। साधारणीकरण केवल वहाँ होता है जहाँ काव्य में 'सत्य, शिव और सौंदर्य' तीनों ही तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इनमें से एक का भी तिरोभाव रहने पर साधारणीकरण नहीं होगा। अत: इस आधार पर वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि का साधारणीकरण नहीं होगा। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि 'रस' ब्रह्म सत्ता की भाँति एक सार्वभौम सत्ता है। इसमें देश, काल तथा परम्परादि का बन्धन नहीं रहता। रस में ईर्ष्यादि क्षुद्र भावों का तिरोभाव होकर, सत्य, अहिंसा तथा करुणादि के उदात्त भावों

का ही प्रादुर्भाव रहता है। यह सब हृदय के सत्त्व गुण प्रधान होने पर ही होता है। अत: रस की उपादेयता सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक मानी गई है। सौंदर्य का बोधक होने के कारण रस-ध्वनि में भी सार्वभौम सत्य निहित रहता है परन्तु अलंकार तथा वस्तु ध्वनियों में देशकालादिका बंधन रहता है। अत: वस्तु तथा अलंकार ध्वनियाँ सार्वभौम सत्ता नहीं हैं। इन दोनों ही ध्वनियों का सम्बन्ध बुद्धि तथा मन से है, आत्मा से नहीं। इसीलिए इन ध्वनियों में काव्य का बुद्धि पक्ष अर्थात् विचार पक्ष तथा कल्पना पक्ष प्रबल रहता है जो लौकिक सौंदर्य की ही सृष्टि करता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध-शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो॥ **(चन्द्रगुप्त)**

इन पंक्तियों का स्पष्ट रूप से विश्लेषण करने पर दो प्रकार के तत्त्व प्राप्त होते हैं। 1. **उत्साहवर्द्धक-वीर रस,** 2. **त्याग, बलिदान, सहिष्णुता, स्वतंत्रता एवं देश-प्रेम**। इन दोनों ही तत्त्वों में उत्साह का भाव तथा त्यागादि के भाव तो सार्वभौम सत्य हैं ही जो देश-कालादि की सीमाओं से मुक्त है क्योंकि यदि इन पंक्तियों को एक ही साथ भारतीय तथा विदेशी नागरिकों को सुनाया जाये तो वे दोनों ही उत्साह का अनुभव करेंगे। इसका कारण यह है कि यहाँ उत्साह का भाव साधारणीकृत होकर मेरे-तेरे, अपने-पराये के बंधन से मुक्त हो जायेगा और सभी सुनने वालों को समान रूप से प्रभावित करेगा परन्तु देश प्रेम या राष्ट्रीयता का भाव तो देश काल की सीमाओं में बँधा होने के कारण भारतीय श्रोताओं को तो प्रभावित करेगा और विपक्षी श्रोताओं को प्रभावित नहीं करेगा।

उपर्युक्त आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'ध्वनि' का केवल एक ही रूप शाश्वत है 'रस-ध्वनि' और यह तो 'रस' ही है। अत: 'रस' कहें या 'रस-ध्वनि' कहें, बात एक ही बैठती है। इन दोनों का तो साधारणीकरण अवश्य होगा क्योंकि इन दोनों का ही सम्बन्ध अलौकिक भाव निरूपण से है। ये दोनों ही सार्वभौम सत्य के रूप में अवतरित होते हैं। साथ ही वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनियों में अलौकिकत्व का तिरोभाव रहता है। इनमें केवल सत् तथा चित् रूपों का ही आविर्भाव रहता है और 'शिव' तत्त्व का अभाव रहता है। इसीलिए ये दोनों ही ध्वनियाँ 'लौकिक' धरातल पर ही रहती हैं। इन दोनों ही ध्वनियों को बुद्धि-तत्त्व के अन्तर्गत रखा जा सकता है। बुद्धि तत्त्व के सार्वभौम सत्ता के रूप में न होने के कारण वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि में विचारों तथा मनोभावों का साधारणीकरण नहीं होता। यहाँ एक तथ्य और भी विचारणीय है कि सार्वभौमिकता केवल 'सत्' भाव में ही होती है क्योंकि मात्र सत् में शिव तत्त्व का विद्यमान होना आवश्यक नहीं है। विचार का सम्बन्ध बुद्धि से रहता है। अत: अलंकार और वस्तुध्वनि बुद्धि-तत्त्व पर आधारित होने के कारण

लौकिक परिवेश को नहीं त्याग पाते और इसीलिए इन ध्वनियों में रजोगुण और तमोगुण के अंशों का तिरोभाव नहीं हो पाता। इनका आविर्भाव बना रहता है। अत: रजोगुण और तमोगुण की स्थिति के बने रहने के कारण इन ध्वनियों का साधारणीकरण नहीं हो पाता। यहाँ एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि जब इन ध्वनियों का साधारणीकरण ही नहीं हो पाता फिर इन्हें ध्वनियाँ न मानना ही क्या उचित नहीं होगा? क्या इनके स्थान पर केवल एक ही रस-ध्वनि नहीं मानी जा सकती? ये दोनों ही प्रश्न बड़े मार्मिक हैं और इनका उत्तर केवल यही हो सकता है कि अलंकार तथा वस्तु ध्वनियाँ भी चमत्कार एवं कौतूहल को बढ़ाती हैं और इनमें भी प्रेरणादायकता, सजीवता, रोचकता आदि उत्तम-तत्त्व विद्यमान रहते हैं जो बुद्धि-समन्वित होने के कारण लौकिक धरातल पर देशकाल की सीमाओं से आबद्ध रहने पर भी आनन्द का अनुभव कराते हैं। यद्यपि यह आनन्द रस की भाँति सार्वभौम नहीं होता परन्तु लोक-प्रवृत्ति को संतुष्ट करने में यह उपयुक्त सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ– व्यक्तिगत सफलता एवं लाभ, पारिवारिक प्रेम, जीवन निर्वाह के अन्य साधन आदि में लौकिक आनन्द निहित रहता है जौ लौकिक सम्बन्धों से युक्त होने के कारण कुछ सीमा तक प्रेरणादायक होते हैं। यह जान लेना आवश्यक है कि जाति प्रेम या साम्प्रदायिकता, परिवार प्रेम या वैयक्तिकता आदि के भाव समान ही हैं। इनमें सार्वभौमिकता नहीं है। परन्तु राष्ट्रीयता तथा देश-प्रेम आदि से झलकता हुए अन्याय व शोषण के विरोध का भाव, देश, धर्म तथा स्वतंत्रता की रक्षा का भाव आदि में सार्वभौम सत्य पूर्णरूपेण विद्यमान रहता है।

अत: इनमें शिव-तत्त्व विद्यमान रहने से इन भावों का साधारणीकरण अवश्य होगा, यदि ये भाव अनौचित्य की कोटि में जाकर रसाभास या भावाभास के गर्त में न फँस जायें। अब प्रश्न यह भी उठता है कि **क्या असाधारणीकृत वस्तु एवम् अलंकार ध्वनियों को "ध्वन्याभास" नहीं माना जा सकता, जिस प्रकार कि रसाभास या भावाभास माना जाता है**। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि विद्वानों ने चाहे इन ध्वनियों को ध्वन्याभास नहीं माना है परन्तु इनमें भी अनौचित्य किसी सीमा तक विद्यमान रहता ही है और इन्हें भावाभास की भाँति ध्वन्याभास ही मानना अधिक उचित है। परन्तु विद्वानों ने इन तथ्य पर विचार ही नहीं किया क्योंकि कुछ विद्वान काव्य को मन तथा बुद्धि की खुराक भी बनाने के पक्ष में रहते थे। इसलिये मनोवैज्ञानिक तथा बुद्धि परक तत्त्वों को वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि की संज्ञा देकर काम चला लिया है। इन दोनों ही ध्वनियों में कल्पना तथा बुद्धि तत्त्व विद्यमान रहते हैं। रस विहीन कल्पना का सम्बन्ध मन से है। अलंकार तथा वस्तु ध्वनि मूलक काव्य में कल्पना का प्रयोग मनोवैज्ञानिक तथ्यों के विवेचनार्थ ही किया जाता है। अत: जहाँ मनोवैज्ञानिक तत्त्व विद्यमान रहते हैं वहाँ भी साधारणीयकरण नहीं हो पाता।

यद्यपि साधारणीकरण का विषय अत्यन्त दुरूह एवम् पेचीदा है परन्तु इसको शिव तत्त्व के धरातल पर रस के साथ रखकर सरलता से समझा जा सकता है। साधारणीकरण

की कसौटी मात्र रस है। जहाँ रस नहीं होगा वहाँ साधारणीकरण नहीं होगा। और जहाँ रस होगा वहाँ साधारणीकरण अवश्य होगा, इसीलिए केवल रस ध्वनि में ही साधारणीकरण विद्यमान रहता है। अन्य ध्वनियों में नहीं।

ध्वनि, कल्पना एवं बुद्धि तत्त्व

ध्वनि के तीन प्रकार माने गये हैं। 1. **रस ध्वनि** 2. **अलंकार ध्वनि तथा वस्तु ध्वनि।** इनमें रस ध्वनि का सम्बन्ध भाव से है। अलंकार ध्वनि का सम्बन्ध मन से तथा वस्तुध्वनि का सम्बन्ध बुद्धि से है। काव्य में कहीं सार्वभौम सत्य का निरूपण रहता है। कहीं बौद्धिकता या विचारों का, तो कहीं मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का। संसार का कारोबार भी इन्हीं तीन प्रवृत्तियों पर आधारित रहता है। मनुष्य-शरीर में ये तीनों ही प्रवत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। काव्य भी मानव शरीर की भाँति होता है। अत: काव्य में भाव विचार तथा कल्पना का अस्तित्व आत्म तत्त्व, बुद्धि तत्त्व तथा मनस्तत्त्व पर आधारित रहता है। कुछ विद्वान् ध्वनि को मात्र कल्पना का पर्यायवाची मानते हैं परन्तु गम्भीरता से विवेचन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि कल्पना पर आधारित अलंकार ध्वनि होती है और बुद्धि पर आधारित वस्तु ध्वनि जिसमें विचारात्मकता का पक्ष प्रबल होता है।

हिन्दी साहित्य में भी अलंकार तथा वस्तुध्वनि उपलब्ध है। 'रससिद्ध' महाकाव्यों तक में ये दोनों ही तत्त्व किसी न किसी मात्रा में विद्यमान रहते हैं। हिन्दी का छायावादी, प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी काव्य मात्र बौद्धिकता तथा मनोविज्ञान पर आधारित होने के कारण कल्पना तथा बुद्धि तत्त्व बहुल अलंकार एवं वस्तु ध्वनि मूलक काव्य ही है। सुमित्रानन्दन पंत, निराला, महादेवी, अज्ञेय, मुक्तिबोध आदि की कविताओं में अलंकार तथा वस्तु ध्वनियाँ भरी पड़ी हैं। रीतिकालीन काव्य में भी या तो रसाभास, भावाभास की अधिकता है या अलंकार एवं वस्तु ध्वनि की। भक्तिकालीन साहित्य ही एक मात्र रस पूर्ण काव्य कहा जा सकता है। उदाहरण देकर उपर्युक्त मत की पुष्टि करना आवश्यक है :-

रस ध्वनि-

इस समाधि में छिपी हुई है एक राख की ढेरी।
जलकर जिसने स्वंतत्रता की दिव्य आरती फेरी।
यह समाधि यह चिर समाधि है झाँसी की रानी की।
अन्तिम लीलास्थली यही है लक्ष्मी मरदानी की।। (सुभद्रा कुमारी चौहान)

इन पंक्तियों में करुणा का भाव व्यंजित है। अत: ये पंक्तियाँ करुण रस के अन्तर्गत आयेंगी। करुणा के साथ ही त्याग, बलिदान, सहिष्णुता, प्रेरणा, उत्साह आदि के भाव भी ध्वनित होते हैं। ये भाव सार्वभौम सत्य के रूप में उद्‌भुत हैं। अत: इन भावों का साधारणीकरण होगा। साधारणीकृत होने के कारण ये भाव बुद्धि एवं कल्पना की कोटि में न आ सकेंगे। इन पंक्तियों में रस-ध्वनि का परिपाक हुआ है।

वस्तुध्वनि–

देख लो साकेत नगरी है यही।
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।
केतु पट अंचल सदृश हैं उड़ रहे।
कनक कलशों पर अगर दृग जुड़ रहे॥ **(साकेत)**

इन पंक्तियों में अयोध्या का वर्णन होने के कारण वस्तु ध्वनि है जो अयोध्या की सौंदर्यातिशयता को व्यंजित करती हैं। इस वर्णन का सम्बन्ध बुद्धि से है। बुद्धि प्रसूत होने के कारण यहाँ भावों का साधारणीकरण भी नहीं होगा। ये पंक्तियाँ रोचकता एवं कौतूहल के भाव को व्यक्त करती हैं। अत: यहाँ वस्तु ध्वनि का समावेश है।

अलंकार ध्वनि–

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ।
किन्तु सुर सरिता कहाँ सरयू कहाँ,
वह मरों को मात्र पार उतारती।
यह यहीं से जीवितों को तारती॥ **(साकेत)**

इन पंक्तियों में व्यतिरेक एवं अतिशयोक्ति अलंकारों का प्रयोग है। अत: अलंकार ध्वनि है। इस वर्णन में कल्पना की प्रधानता है।

ध्वनियों का संकर तथा संसृष्टि

जहाँ दो या दो से अधिक ध्वनियाँ एक दूसरे से दूध और पानी की भाँति इस प्रकार मिली हुई होती हैं कि एक दूसरी से पृथक दिखाई न दे, वहाँ ध्वनियों का **संकर** होता है। इसके अतिरिक्त जहाँ ध्वनियों का पारस्परिक मिश्रण तिल-तंदुल की भाँति इस प्रकार होता है कि उन्हें सरलता से पृथक्-पृथक् भी देखा जा सके वहाँ ध्वनियों की **संसृष्टि** होती है।

ध्वनि– संकर के प्रमुख तीन भेद होते है :–

1. संशयास्पद 2. अनुग्राह्यानुग्राहक 3. एक व्यंजकानुप्रवेश।

1. संशयास्पद ध्वनि संकर– जहाँ ध्वनियों का संकर संशयास्पद हो अर्थात् जहाँ अनेक ध्वनियों में किसी एक के निश्चय का न कोई साधक हो न बाधक वहाँ संशयास्पद ध्वनि संकर होता है। उदाहरणार्थ–

राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या?
रमे हुए मुझ में सब कुछ नहीं हो क्या?
तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो मुझ में मन तुम में रमा करे। (मैथिलीशरण गुप्त)

इन पंक्तियों में राम के प्रति महान् पुरुष विषयक रति का उल्लेख हुआ है परन्तु दोनों में से किसी एक ही का निर्धारण साधक भी है और बाधक भी। अत: संशयास्पद

ध्वनि संकर है।

2. अनुग्राह्यानुग्राहक ध्वनि संकर– जहाँ अनेक ध्वनियों में एक दूसरी ध्वनि का अंग हो वहाँ अनुग्राह्यानुग्राहक ध्वनि संकर होता है यथा–

'खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।' (सु. कु. चौहान)

इस पंक्ति में रस ध्वनि भी है और वस्तु ध्वनि भी। परन्तु वस्तु रस-ध्वनि का अंग है। अत: यहाँ अनुग्राह्यानुग्राहक ध्वनि-संकर है।

3. एकव्यंजकानुप्रवेश ध्वनि संकर– जहाँ एक से अधिक ध्वनियाँ एक ही पद या वाक्य में होती हैं, वहाँ यह भेद होता है। यथा –

तरनि तनूजा तीर तरुवर तर ठाढ़े।
तारी दै-दै हँसत कुँवर कान्ह प्यारी सौं। (कविप्रिया)

यहाँ केवल एक ही वाक्य है कि यमुना के किनारे पर वृक्ष के नीचे खड़े हुए श्री कृष्ण राधा से ताली दे-देकर हँस रहे थे। इस वाक्या में प्रेम, हास्य, विस्मय, हर्ष, मोह, श्रम आदि के भाव एक साथ ही ध्वनित हैं, अत: यहाँ एक व्यंजकानुप्रवेश ध्वनि संकर है।

ध्वनि संसृष्टि– ध्वनि संसृष्टि वहाँ होती है जहाँ दो या दो से अधिक ध्वनियाँ सर्वथा पृथक-पृथक् परिलक्षित होती हैं यथा :–

मधुर विरक्ति भरी आकुलता फिरती हृदय गगन में।
अन्तर्दाह स्नेह का फिर भी होता था इस मन में।। (कामायनी)

इन दोनों ही पंक्तियों में श्रद्धा की करुणातिशयता तथा स्नेहातिशयता ध्वनित है। दोनों ही ध्वनियाँ एक दूसरे से पृथक् हैं। अत: यहाँ ध्वनि संसृष्टि है।

काव्य की आत्मा ध्वनि

आनन्दवर्द्धन ने 'काव्यस्यामा ध्वनिरिति' कहकर ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। काव्य एक पुरुष शरीर की भाँति है जिसमें बाह्य तत्त्व (भाषादि) के साथ ही साथ आन्तरिक तत्त्व (भावादि) भी विद्यमान रहते हैं। विद्वानों ने आत्मा को आनन्द स्वरूपिणी तथा सर्व व्यापक बताया है। यह योग्यता केवल रस में ही पायी जाती है। ध्वनि में सर्वव्यापकता जिसे साधारणीकरण कहते हैं, का अभाव रहता है। अत: ध्वनि-तत्त्व में आत्म तत्त्व की योग्यता का आभाव है। जिस प्रकार एक ही आत्मा सर्वत्र समान रूप में व्याप्त रहती है उसी प्रकार काव्य में निहित रस भी सभी सहृदयों में समान रूप से व्याप्त होकर आनन्दित करने की क्षमता रखता है। अत: काव्य की आत्मा तो रस को ही माना गया है। परन्तु आत्म तत्त्व के अतिरिक्त जिस प्रकार शरीर में बुद्धि तथा मन भी प्रभावशाली एवं आवश्यक तत्त्व होते हैं। उसी प्रकार काव्य में भी **'ध्वनि'** रस के पश्चात परम आवश्यक एवं उपयोगी तत्त्व है। ध्वनि को काव्य के सौंदर्य की कोटि में रखा जाता है। यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के अंतर्गत रस को भी उसका एक भेद माना है परन्तु **रस 'ध्वनि' का साधक नहीं है वह स्वयं**

साध्य है क्योंकि जहाँ रस का सम्बन्ध आनन्द से है वहाँ ध्वनि का सम्बन्ध सौन्दर्य एवं आदर्श की स्थापना से है। उदाहरणार्थ– 'वीर' एक रस है जिसका स्थायी भाव उत्साह है परन्तु वीर रस का आदर्श-तत्त्व; देश-प्रेम, समाज-प्रेम, परोपकार, सहिष्णुता, त्याग, तप, बलिदान आदि हैं जिनकी व्यंजना ध्वनि द्वारा ही होती है। यही रस का सौन्दर्य है। **इसके अतिरिक्त ध्वनि 'रस' की सहकारिणी शक्ति भी कही जा सकती है क्योंकि जहाँ काव्य में रस नहीं होता वहाँ ध्वनि ही काव्यानन्द की सृष्टि करती है और जहाँ रस होता है वहाँ ध्वनि रस के उत्कर्ष में वृद्धि करके उसकी उपयोगिता को बढ़ाती है। यदि इस रूप में देखें तो ध्वनि का दायित्व रस से भी आगे बढ़ जाता है क्योंकि सभी कवि रस सिद्ध नहीं होते और जो रस सिद्ध कवि नहीं होते वे ध्वनि-सिद्ध तो अवश्य ही होते हैं।**

साहित्य का सम्यक् अवलोकन करने से यह तथ्य स्वत: ही प्रकाश में आ जाता है कि संस्कृत तथा हिन्दी का पर्याप्त साहित्य 'ध्वनि' मूलक साहित्य ही है। रीतिकालीन साहित्य तथा छायावादी काव्य में ध्वनि की ही प्रधानता है। प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी काव्य को भी ध्वनि मूलक काव्य ही कहा जा सकता है। आधुनिक युग में समस्त देश-प्रेम, धर्म-सुधार, तथा समाज सुधार विषयक साहित्य में ध्वनि-तत्त्व की ही प्रधानता है। **इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की आत्मा रस होते हुए भी ध्वनि इसके बुद्धि व मनोभाव हैं जिनमें काव्य का आदर्श एवं सौन्दर्य सन्निहित रहता है। 'रस' के पश्चात् काव्य में दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व ध्वनि ही है। अतः यह कहना असंगत न होगा कि 'रस'-काव्य की आत्मा है और 'ध्वनि' काव्य का बुद्धि-तत्त्व** तथा मनस्तत्व है।

यदि गम्भीरता से विचार करें तो यही सिद्ध होता है कि **'ध्वनि' के अन्तर्गत तो केवल वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनियाँ ही आती हैं जिनका सम्बन्ध क्रमशः बौद्धिक सौंदर्य तथा कल्पना जन्य मन-सौंदर्य से है। 'रस ध्वनि' तो 'रस' हीं है। इसे ध्वनि कहना उचित नहीं लगता। यह उस समय तक तो ठीक था, जब तक 'रस' की स्वतंत्र रूप में स्थापना नहीं हुई थी, परन्तु रस-सत्ता के स्थापित हो जाने के पश्चात् 'रस-ध्वनि' का अन्तर्भाव रस में स्वतः ही मान लेना चाहिए।**

टिप्पणियाँ

1. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
   स्तस्याभावं जगदुरपरे भावतमाहुस्त मन्ये। (ध्वन्यालोक 1.1)
2. विनाऽपि विशिष्ट पुस्तकेषु विनिवेशनाद् इत्याभिप्रायः। (ध्वन्यालोक लोचन)
3. यः संयोगवियोगाभ्यां करणेरूपजन्यते।
   स स्फोटःशब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः।। (वाक्यपदीय-भर्तृहरि)
4. ध्वन्यालोक 1.1

5. अविगति गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगेहि मीठे फल को रस अन्तरतम ही भावै।। (सूरदास)

6. अर्थो वा शब्दों वा व्यापारो वा! अर्थोऽपिवाच्यो वा ध्वनतीति शब्दो ऽप्येवम् व्यंग्यो वा ध्वन्यते इति।
वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकाया तु प्राधान्येन समुदाय एवं काव्य रूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्। (ध्वन्यालोक, 1/13 लोचन)

7. ध्वन्यलोक 1.13

8. (क) 'चारुत्वोत्कर्ष निबन्धना हि वाच्य व्यंग्यो: प्राधान्य विवक्षा।(ध्वन्यालोक)
(ख) वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुक्तमम् (सा. द.)।

9. काव्यप्रकाश 4.44

10. (क) प्रकाररोऽन्यो गुणी व्यंग्य काव्यस्त दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्। (ध्वन्यालोक 3.35)
(ख) अपरंतु गुणीभूत व्यंग्य वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। (सा. द.)

11. गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्य उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमाभिधीयते। (ध्वन्यालोक 3.42)

12. रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेष प्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। (ध्वन्यालोक 3.42 (वृति)

13. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यग्यं त्ववरं स्मृतम्। (का. प्र. 1.5)

14-15 काव्यंग्राह्यलमलंकारात्। (का. लं. स्.-वृ.)

16. काव्यशोभाकरान्धर्मालंकारान् प्रचक्षते। (काव्यादर्श)

17. तच्चित्रं कवीनां विश्ंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभि: परिकल्पितम्। (ध्वन्या. 3.43 (वृति))

18. (अ) रसभावादिविषयविवक्षा विरहे सति।
अलंकार निबन्धो य: स चित्रविषयो मत:।। (ध्वन्या 3.43)
(ख) अत्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। (का. प्र. 1.4)

19. मुक्ताफलेषु छायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभातियदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।। (ध्वन्यालोक)

20. ज्ञान स्वरूपं च हरेरधीनं शरीर संयोग वियोग योग्यम्।
अणु हि जीवं प्रतिदेह छिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहु।। (वेदान्त)

21-23 ध्वन्यालोक 1.4, 19, 3.38

अष्टम अध्याय

वक्रोक्ति-सिद्धांत

वक्रोक्ति परम्परा का उद्भव एवं विकास

कुन्तक से पूर्व के आचार्य– वक्रोक्ति-सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य **कुन्तक** (कुन्तल) माने जाते हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ **'वक्रोक्ति जीवित'** में वक्रोक्ति का विशद् रूप से विवेचन किया है। इन्होनें वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित किया है। यद्यपि कुन्तक को ही 'वक्रोक्ति-सिद्धांत' का प्रवर्त्तक माना जाता है परन्तु 'रीति' की भाँति वक्रोक्ति भी भामह के समय से ही काव्य क्षेत्र में निरन्तर प्रयुक्त होती रही है। **भामह** ने **'वक्रोक्ति'** और **'अतिशयोक्ति'** को सभी अलंकारों का मूल माना है।[1] भामह का कथन है कि बिना इन दोनों के अलंकारों में चमत्कार उत्पन्न हो ही नहीं सकता। अत: ये दोनों ही अलंकारों के मूल में विद्यमान रहती हैं। 'अतिशयोक्ति' चमत्कार के रूप में और 'वक्रोक्ति' वचन-वैदग्ध्य के रूप में। कुछ आचार्य भामह द्वारा प्रयुक्त 'अतिशयोक्ति' तथा 'वक्रोक्ति' में भेद करते हैं। परन्तु भामह ने इन दोनों को एक दूसरे का पर्याय ही माना है। वे 'अतिशयोक्ति' को उक्ति के सामान्य व्यवहार का अतिक्रमण मानते हैं तथा उसी को उक्ति की वक्रता भी मानते हैं। यहाँ भामह का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है। हम जो कथन सामान्य रूप से करते हैं उसमें कल्पना का अंश न रहने के कारण वह लोक कथन का अतिक्रमण नहीं होता परन्तु जब यही बात काव्य के रूप में कही जायेगी तो उसमें कल्पना का अंश विद्यमान होने से कुछ हेर फेर अवश्य हो जाएगा। अर्थात् सामान्य कथन के स्थान पर विशिष्ट कथन ही होगा। यही विशिष्ट अतिशय–कथन है और यही अतिशयता उक्ति की वक्रता है।

भामह के पश्चात् दण्डी ने अपने लक्षण ग्रंथ **'काव्यादर्श'** में वक्रोक्ति का विवेचन किया है। इन्होंने वाङ्मय को दो भागों में विभाजित किया है। 1. स्वभावोक्ति 2. वक्रोक्ति। इन्होंने स्वभावोक्ति को तो पृथक् अलंकार माना है और उपमा-रूपकादि अन्य सभी अलंकारों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही माना है।[2]

दण्डी के अनुसार इसका आधार यह है कि 'स्वभावोक्ति' शास्त्रात्मक कथनों में होती है और वक्रोक्ति काव्य में। दण्डी की इस धारणा के आधार पर तीन प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं– क्या दण्डी स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते? क्या

दण्डी भामह की भाँति ही वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल मानते हैं जिसमें स्वभावोक्ति भी समाहित है? क्या दण्डी भामह की ही भाँति अतिशयोक्ति को स्वभावोक्ति और स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति मानते हुए केवल एक ही तत्त्व को भिन्न-भिन्न पर्याय रूपों में देखते हैं? इन तीनों ही शंकाओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भामह और दण्डी के मतों में साम्य भी है और वैषम्य भी। साम्य इस दृष्टि से है कि भामह और दण्डी दोनों ही वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल मानते हुए वक्रोक्ति को ही महत्त्व देते हैं। वैषम्य इस रूप में है कि भामह अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति का पर्याय मानते हुए मात्र वक्रोक्ति को ही समस्त अलंकारों का अनिवार्य तत्त्व घोषित करते हैं और उसे स्वाभाविक कथन की अपेक्षा अधिक आह्लादक बताते हैं। परन्तु दण्डी स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से पृथक् तत्त्व मानते हुए 'स्वभावोक्ति' तथा वक्रोक्ति में स्पष्ट भेद बुद्धि का परिचय देते हैं। काव्यादर्श में जहाँ उन्होंने स्वभावोक्ति को शास्त्रात्मक माना है वहाँ उसे काव्यात्मक भी माना है (काव्येस्ववप्येतदीप्सितम्) अर्थात् काव्य में भी इसका आलंकारिक रूप में प्रयोग अभीप्सित है। परन्तु काव्यगत स्वभावोक्ति भी वक्रोक्ति से पृथक् ही है, वक्रोक्ति के आश्रित नहीं। इस प्रकार दण्डी ने वक्रोक्ति की विशदता को भामह की तुलना में कम कर दिया।

वामन ने वक्रोक्ति को भामह तथा दण्डी की भाँति व्यापक अर्थ में नहीं लिया। उन्होंने वक्रोक्ति को गौणी लक्षणा (**सादृश्य लक्षणा वक्रोक्ति**) मात्र ही माना और इस प्रकार वक्रोक्ति के महत्त्व को कम कर दिया।

रुद्रट ने तो वक्रोक्ति को वामन से भी नगण्य बना दिया और उसे एक शब्दालंकार मात्र ही रहने दिया। रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार मात्र मानते हुए उसके 'काकु वक्रोक्ति' तथा 'श्लेष वक्रोक्ति' ये दो भेद कर दिये जो अलंकार के रूप में अब तक मान्य चले आ रहे हैं।

आनन्दवर्द्धन तथा अभिनव गुप्त का ध्यान फिर से वक्रोक्ति की विशदता की ओर लौटा और उन्होंने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में भामह की धारणा पुष्ट की। भामह के अनन्तर वक्रोक्ति दो धाराओं में विभक्त हो गई थी – 1. मात्र शब्दालंकार के रूप में 2. मात्र अर्थालंकार के रूप में। जबकि **भामह** ने वक्रोक्ति में शब्दालंकार या अर्थालंकार का भेद–निरूपित नहीं किया है। आनन्दवर्द्धन ने भी वक्रोक्ति को स्वाभाविक कथन से इतर विशिष्ट (अतिशयोक्तिपूर्ण एवं चमत्कार पूर्ण) कथन के रूप में ही स्वीकार किया है परन्तु अलंकार के स्वरूप के विषय में आनन्दवर्द्धन एवं अभिनव की धारणा भामह की धारणा से भिन्न है। भामह ने जहाँ अलंकारों को उक्ति का व्यापार माना है वहाँ आनन्दवर्द्धन एवं अभिनव उसे भावादि का व्यापार मानते हैं। इसका आशय यह हुआ कि आनन्दवर्द्धन काव्य के अन्तरंग तत्त्व (भाव-विचारादि) पर अधिक बल देते हैं। आनन्दवर्द्धन व्यंग्य को काव्य-सौन्दर्य के रूप में मानते हैं जबकि भामह शब्दार्थ मात्र पर आधारित अलंकार (बाह्य-तत्त्व) कों ही काव्य–सौन्दर्य मानते हैं। आनन्दवर्द्धन

की धारणा है कि चारुत्व के ग्रहण का मूलाधार व्यंजकत्व है, अलंकार नहीं। अत: आनन्वर्द्धन के अनुसार व्यंग्य को व्यंजित करने वाली विशिष्ट उक्ति ही वक्रोक्ति होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति व्यंग्य के ग्रहण की प्रक्रिया या साधन मात्र है। अत: वह विशिष्ट दृष्टि में वक्रोक्ति है।

कुन्तक के समसामयिक भोजराज ने दण्डी की भाँति वक्रोक्ति को तीन भागों में बाँटा है–1. स्वभावोक्ति 2. वक्रोक्ति एवं 3. रसोक्ति। यहाँ भोज ने वक्रोक्ति को शास्त्रात्मक एवं रसात्मक दोनों ही बिन्दुओं से पृथक् करके उसे मात्र अलंकारों (उक्ति वैचित्र्य) से सम्बद्ध कर दिया है।

कुन्तक– वक्रोक्ति के सम्बन्ध में चली आ रही संकीर्ण एवं व्यापक धारणाओं को ध्यान में रखते हुए कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना की। सर्वप्रथम कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'ध्वनि' के दासत्व से मुक्ति दिलाई। आनन्दवर्द्धन ने वक्रोक्ति को व्यंजकता के रूप में मानकर उसे व्यंग्य की अभिव्यक्ति का मात्र साधन बना डाला था। 'वक्रोक्ति' का यह तिरस्कार कुन्तक से सहन न हो सका। उन्होंने 'व्यंजकता' के स्थान पर 'वक्रोक्ति' की स्थापना की और उन्होंने ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित किया। कुन्तक ने ध्वनिवादियों का विरोध किया। इन्होंने कहा कि कवि द्वारा वांछित अर्थ को विशिष्ट कथन ही अभिव्यक्त कर सकता है, सामान्य शब्द में यह सामर्थ्य नहीं होती। अत: कवि की भावना को प्रस्तुत करने वाला शब्द ही काव्योचित शब्द है। सामान्य शब्द मात्र सामान्य अर्थ तक ही सीमित रहता है। वह सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ रहता है। कवि एवं सामान्य व्यक्ति दोनों ही अपनी भावनाओं को व्यक्त करने वाले शब्दों का प्रयोग करते हैं। अत: कुन्तक की दृष्टि में ये दोनों ही शब्द अमिधामूलक हैं। कुन्तक की दृष्टि में इस अमिधा के अभिधानता (अर्थ ग्रहण करने की क्षमता) के आधार पर दो भेद किए हैं।

1. अभिधा 2. विचित्र अभिधा। कुन्तक की दृष्टि में यह विचित्र अभिधा ही जो विचित्र प्रकार की पद रचना होती है, वक्रोक्ति है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति की व्याप्ति पर विशदता से प्रकाश डाला और उसे वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में निरन्तर व्याप्त माना। कुन्तक के मतानुसार काव्य में ऐसा कोई कोना नहीं है जो वक्रोक्ति से खाली हो। यही मत आत्मा की व्याप्ति के सम्बन्ध में भी व्यक्त किया जाता है और **'आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पण्डित:।'** कहकर जिस प्रकार 'आत्मतत्व' की विशदता का परिचय दिया जाता है उसी प्रकार कुन्तक ने **'वक्रोक्तिमय सर्व काव्येषु य पश्यति स पण्डित:'** की स्थापना कर डाली है। काव्य क्षेत्र में इसी सर्वव्यापकता के आधार पर ही कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया।

कुन्तक के पश्चात् – जिस प्रकार वामन का रीति-सिद्धान्त काव्य की आत्मा के रूप में मान्य न हो सका उसी प्रकार कुन्तक का 'वक्रोक्ति सिद्धांत भी मात्र-वक्रोक्ति

जीवित' को ही सुशोभित करता रहा। उसका परवर्ती विद्वानों में समादर न हो सका। वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा न मानते हुए सभी विद्वानों ने काव्य में 'वक्रता' की स्थिति को तो स्वीकार किया है परन्तु वह वक्रता काव्य का मूल तत्त्व (आन्तरिक तत्त्व) है– ऐसा नहीं माना। कुन्तक के पश्चात् वक्रोक्ति पुन: अपनी प्राचीन दो अलंकार धाराओं में विभक्त हो गई। **मम्मट और विश्वनाथ** ने वक्रोक्ति को मात्र शब्दालंकार माना है और **रुय्यक, विद्यानाथ तथा अप्पय दीक्षित** ने इसे अर्थालंकार मात्र। कालान्तर में यही धारा प्रवाहित होती रही और हिन्दी तक आते-आते वक्रोक्ति का आकार मात्र शब्दालंकार तक ही सीमित रह गया। अत: यह कहना असंगत न होगा कि काव्य-शास्त्रियों ने वक्रोक्ति का (वक्र-टेढ़ी-मेढ़ी उक्ति) के रूप में अभिधा के द्वारा ही स्वीकार किया है। अर्थात् वक्रोक्ति वह रचना है जिसमें अभिधा के द्वारा बात को घुमा फिरा कर इस प्रकार कहा जाये कि वह कथन किसी न किसी रूप में आह्लादक या चमत्कारक बन जाये। वक्रोक्ति का दूसरा रूप जो अर्थालंकार के रूप में लक्षणा द्वारा निर्मित था आगे चलकर ग्राह्य नहीं हुआ। अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति की मान्यता भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्द्धन, भोज तथा कुन्तक के आधार पर अर्थालंकार के रूप में हिन्दी जगत में बिल्कुल नहीं हुई। मात्र रुद्रट, मम्मट तथा विश्वनाथ के आधार पर (शब्दालंकार के रूप में ही) हो पाई है।

वक्रोक्ति के उपर्युक्त विकास क्रम को देखने पर यह स्पश्ट हो जाता है कि विद्वानों का वक्रोक्ति विषयक समस्त प्रयास रसवादी धारणा के प्रवाह में ऐसा बहा कि मात्र एक छोटी सी कंकड़ी के रूप में ही शेष रह गया। यह इतिहास बताता है कि वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का कुन्तक का प्रयास मात्र दुराग्रह ही था क्योंकि उन्होंने वक्रोक्ति शब्द को केवल लाक्षाणिक अर्थ में ही ग्रहण किया था जिसे न तो विद्वान् ही अपना सके और न समाज ही समझ सका।

वक्रोक्ति का स्वरूप

काव्य में वक्रोक्ति का प्रयोग किसी न किसी रूप में **भामह** के समय से ही होता चला आ रहा था। यह शब्द काव्य के लिए इतना उपयुक्त एवं व्यापक था कि इसका उल्लेख लक्षण एवं लक्ष्य दोनों में ही विभिन्न अर्थों में मिलता है। लक्ष्य ग्रंथों में वक्रोक्ति का पुष्ट उदाहरण **बाणभट्ट** की 'कादम्बरी' है। इसमें राजा शूद्रक को वक्रोक्ति निपुण कहा गया है।[3] इसके अतिरिक्त **कविराज** ने (11 वीं शती) 'राघव पाण्डवीयम्' में अपने को, सुबन्धु को तथा बाणभट्ट को वक्रोक्ति निपुण कहा है।[4] इसका आशय यह है कि 'वक्रोकित' व्यवहार कुशलता का एक आवश्यक तत्त्व मानी जाती थी या यों कहिये कि **'वाक्कौशल' को ही 'वक्रोक्ति' कहते थे** जिसका अर्थ था कि बातचीत का वह ढंग जिसके द्वारा वक्ता अपने कथ्य को ऐसे प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करे कि वह श्रोता पर बराबर इस प्रकार प्रभाव डालता जाय कि श्रोता वक्ता का अनुकरणकर्त्ता बन जाय। इस आधार पर तो हम वक्रोक्ति को **एक कुशल 'भाषण-कला'** भी कह

सकते हैं। यह बात भी सटीक प्रतीत होती है कि कुशल-भाषण कला-वक्ता की कसौटी है। हिटलर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अपनी अद्भुत वक्तृत्व शक्ति के आधार पर ही जर्मनी का डिक्टेटर बन गया था। इसी प्रकार **कवि राज** ने भी इस वक्तृत्व-शक्ति या वक्तृत्व-कौशल को कवि का अद्भुत गुण मानते हुए अपने को, सुबन्धु को और बाणभट्ट को सर्वश्रेष्ठ वक्रोक्तिकार कहा है। इसके अतिरिक्त व्यवहार में भी वक्रोक्ति का प्रयोग अत्यन्त प्रभावशाली, गम्भीर, मार्मिक तथा नुकीले कथनों के लिए प्रयुक्त होता है। यह निन्दा, प्रशंसा, हँसी, मजाक तथा व्यंग्य के रूप में निरन्तर ग्रहण होता है। अधिक तीखे व्यंग्यों से आहत होकर लोगों को कहते देखा है कि रहने दो ये वक्रोक्तियाँ। ये वक्रोक्तियाँ झाड़ना बन्द करो आदि। इस प्रकार हम वक्रोक्ति को एक अत्यन्त प्रभावशाली मार्मिक, शिक्षाप्रद, प्रेरणादायक तथा निन्दा-प्रशंसा मूलक उक्ति के रूप में मान लें तो कोई अत्युक्ति न होगी। पति के संग्राम भूमि में जाने से कतराने पर राजपूत स्त्रियों की ये उक्तियाँ घर-घर में गूँज रही हैं–यदि तुम्हारी युद्ध में जाने की सामर्थ्य नहीं है तो मेरी चूड़ियाँ पहन लो और मुझे अपनी तलवार दो – मैं बैरी के दाँत खट्टे कर देती हूँ। कभी एक योद्धा दूसरे योद्धा से कहता है– तुम! यदि लड़की होते तो अच्छा था। तुम्हें किसी राजा को ब्याह देते और अपना राज्य उसकी मदद से बचा लेते। बिहारी ने जयसिंह को इस वक्रोक्ति से जगाया था–

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहि विकास यहि काल।
अली कली ही सौं बंध्यो आगे कौन हवाल।। (बिहारी सतसई)

इस आधार पर यह कहना अत्युक्ति न होगी कि लोक व्यवहार में 'वक्रोक्ति' सर्वदा से प्रभावशाली व प्रेरणादायक एवं गोली की भाँति हृदय को घायल करने वाले तथा ठोकर की भाँति सोते हुए को जगाने वाले कथनों के रूप में प्रयुक्त होती रही है। अत: वक्रोक्ति को 'मार्मिक कथन' कहा जा सकता है।

व्यवहार के अतिरिक्त लक्षण ग्रंथों में भी वक्रोक्ति के स्वरूप निर्धारण की एक लम्बी परम्परा रही है। इस परम्परा में वक्रोक्ति को निम्नलिखित रूपों में चित्रित किया गया है–

1. अलंकार-रूप में।
   (क) अतिशयोक्ति के रूप में।
   (ख) स्वभावोक्ति से इतर विचित्र उक्ति के रूप में।
   (ग) शब्दालंकार के रूप में।
   (घ) अर्थालंकार के रूप में।
2. व्यंजकता के रूप में।
3. विचित्र अभिधा के रूप में।

1. अलंकार के रूप में – सर्वप्रथम भामह ने वक्रोक्ति को 'अतिशयोक्ति' कहकर उसे सभी अलंकारों का मूल तत्त्व माना है। भामह की वक्रोक्ति विषयक यह

धारणा अत्यन्त सारगर्भित एवं उपयुक्त मानी जा सकती है। भामह के पश्चात् दण्डी ने वक्रोक्ति को मात्र अर्थालंकार मानते हुए उसके ये दो भेद किए हैं – स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। इनमें स्वभावोक्ति को शास्त्रात्मक या गहन अर्थ से रहित उक्ति के रूप में माना है और वक्रोक्ति को काव्यात्मक मानते हुए उसे सुन्दर उक्ति के रूप में स्वीकार किया है। वामन ने वक्रोक्ति को मात्र साम्यमूलक अलंकार (उपमादि) के अंतर्गत माना है और रुद्रट ने उसे मात्र शब्दालंकार की संकीर्ण परिधि में सीमित कर दिया है। इसी तथ्य की पुष्टि मम्मट तथा विश्वनाथ ने भी की है।

2. व्यंजकता के रूप में– आनन्दवर्द्धन तथा उनके टीकाकार अभिनव ने व्यंग्य को काव्य का सौंदर्य मानते हुए वक्रोक्ति को उस सौंदर्य की अभिव्यंजक प्रक्रिया व्यंजकता के रूप में माना है। इसका आशय यह हुआ कि वक्रोक्ति काव्य-सौन्दर्य को व्यंजित करने की एक प्रक्रिया है। अत: वक्रोक्ति साध्य न होकर साधन मात्र ही है।

3. विचित्र अभिधा के रूप में – आनन्दवर्द्धन की उक्त धारणा का कुन्तक ने खण्डन किया और 'व्यंजकता' के स्थान पर वक्रोक्ति को 'विचित्र-अभिधा' अर्थात् चमत्कार के साथ सौंदर्य को व्यक्त करने वाला सरल कथन तथा 'अपूर्व अलंकार' माना है। कुन्तक की वक्रोक्ति सम्बन्धी मान्यता इस प्रकार है–

'वक्रोक्ति प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।

वैदग्ध्य भंगी भणिति। वैदग्ध्य विदग्धता। कविकर्म कौशलम्, तस्य भंगी विच्छितया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्ति रित्युच्यते।'[5]

अर्थात् – 'वक्रोक्ति प्रसिद्ध अर्थ का अतिक्रमण करके विशिष्ट अर्थ की स्थापना करने वाली वह उक्ति होती है जो कवि की भावना को कवि कौशल के द्वारा व्यक्त करती है।'

वक्रोक्ति के सम्बन्ध में कुन्तक का उक्त मत अधिक व्यापक एवं उपयुक्त है। इस परिभाषा के आधार पर वक्रोक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित तत्त्व प्राप्त होते हैं :–

1. वक्रोक्ति में अभिधा की प्रधानता रहती है। अत: वक्रोक्ति प्रतीकात्मकता की दुरूहता एवं रूक्षता का वारण करती है।

2. वक्रोक्ति में प्रसिद्ध अर्थ अर्थात् सामान्य प्रचलित अर्थ का व्यवहार नहीं होता क्योंकि सामान्य अर्थ से काव्य सौंदर्य व्यंजित नहीं हो सकता। अत: वक्रोक्ति में अभिधा द्वारा व्यक्त विचित्र अर्थ को ही व्यक्त किया जाता है।

3. सामान्य अर्थ को अतिक्रान्त करके विचित्र अर्थ को ग्रहण कराने वाली होने के कारण वक्रोक्ति में मार्मिकता, गम्भीरता, सजीवता, प्रेरणादायकता, तथा प्रभावोत्पादकता जैसे आन्तरिक गुण भी विद्यमान रहते हैं।

4. विचित्र अर्थ की उपलब्धि कवि-कौशल के द्वारा होती है। अत: वक्रोक्ति में कवि-कौशल या कवि-प्रतिभा का भी पर्याप्त महत्त्व रहता है।

5. वक्रोक्ति में कवि अपनी भंगी (भाव एवं विचारों) को ही व्यक्त करता है। अत: वक्रोक्ति में भावों एवं विचारों का भी सम्यक् समावेशन रहता है।

6. कवि कौशल एवं कवि-भंगिमा को प्रधानता देकर कुन्तक ने वक्रोक्ति में रचनाकार को अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

उपर्युक्त आधार पर वक्रोक्ति की विशद्ता, व्यापकता, गम्भीरता एवं मार्मिकता का परिचय मिल जाता है। कुन्तक ने इसी विशदता गम्भीरता से ओतप्रोत होने के कारण वक्रोक्ति को वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में व्याप्त दिखाया है। वास्तव में वक्रोक्ति रचना का एक विशिष्ट गुण होती है जिसमें उपयुक्त (विचित्र) एवं सरल शब्दावली में मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति की जाती है।

निम्नोक्त कथन में एक पुष्कल रचना के गुणों का जो उल्लेख किया गया है, वह वक्रोक्ति के स्वरूप का स्पष्ट चित्र अंकित करता है।

'नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।' (हर्षचरितम्)

अर्थात् नवीन अर्थ, सरल साहित्यिक पदावली, सरल (अक्लिष्ट) श्लेष का प्रयोग, छलकता हुआ रस और प्रभावशाली पदमैत्री ये सभी गुण जो एक उत्कृष्टतम काव्य के तत्त्व हैं – एक ही स्थान पर दुर्लभ होते हैं परन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगी कि 'वक्रोक्ति' में उपर्युक्त सभी गुण एक साथ ही प्रयुक्त किये जाने का प्रावधान है।

4. काव्य की आत्मा के रूप में वक्रोक्ति – वक्रोक्ति की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर ही कुन्तक ने **'वक्रोक्तिकाव्य जीवितम्'** कहकर वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिस्थापित किया है। जिस प्रकार आत्मा का सौंदर्य शरीर के बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही पक्षों को उजागर करता है उसी प्रकार वक्रोक्ति भी काव्य के 'अन्तर्बाह्य' को प्रकाशित करने वाली एक विशिष्ट उक्ति होती है। अत: 'वक्र' अर्थात् विचित्र (आह्लादक) उक्ति (रचना) होने के कारण ही वक्रोक्ति काव्य का प्राण मानी गई है। इसे हम यों प्रदर्शित कर सकते हैं कि कुन्तक ने उक्ति के दो प्रकार माने हैं– 1. सामान्य 2. विशिष्ट। सामान्य कथन विचित्र अभिधान (अर्थ) की व्यंजना नहीं कर सकता। वह असुन्दर, क्षुद्र एवं लौकिक होता है। इसके स्थान पर विचित्र कथन ही प्रभावशाली अर्थ को व्यंजित कर सकता है। यही काव्य का मूल-तत्त्व है। यदि काव्य से उस विचित्र अर्थ को निकाल दें तो काव्य का सम्पूर्ण किला इस प्रकार ध्वस्त हो जाएगा जैसें उसकी आधार-शिला (नींव) को निकालने पर एक दुर्ग की दीवारें ध्वस्त हो जायेंगी। जिस प्रकार सम्पूर्ण-भवन अपनी नींव पर आधारित रहता है और वह नींव ही उसका मूलाधार होती है उसी प्रकार काव्य का मूलाधार उसमें प्रयुक्त विचित्र पदावली होती है जो विचित्र अर्थ का प्रतिपादन करती है। इसलिए कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'अपूर्व अलंकार' भी कहा है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि –

'विचित्र अर्थ को धारण करने वाली सरस, मार्मिक, गम्भीर, सजीव, रोचक, प्रेरणादायक तथा प्रभावशाली उक्ति को वक्रोक्ति कहा जाता है।

वक्रोक्ति के प्रकार

कुन्तक ने जहाँ वक्रोक्ति के स्वरूप का गहनता के साथ विवेचन किया है वहाँ उसके भेदोपभेदों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। कुन्तक ने वक्रोक्ति की व्याप्ति को 'वर्ण' से लेकर पद, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध तक विस्तृत कर दिया है। **'वर्ण' रचना का लघुतम अंश होता है और प्रबन्ध उसकी दीर्घतम इकाई।** कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'विचित्र अभिधा' कहा है और इस प्रकार वैचित्र्य को ही वक्रोक्ति का प्राण माना है। यही वैचित्र्य काव्य का भी प्राण है क्योंकि यदि रचना सामान्य अर्थ की ही अभिव्यंजक होगी तो वह कोई भी प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकेगी। प्रभावोत्पादकता के अभाव में उसे काव्य ही न माना जायेगा क्योंकि अर्थ-वैचित्र्य काव्य का मूल-तत्त्व होता है। चाहे इस वैचित्र्य के नाम पृथक्-पृथक् हों परन्तु उसकी अनिवार्यता को सभी विद्वानों ने स्वीकारा है। कुन्तक ने इसी को आधार मान कर वक्रोक्ति के भेदों का विस्तार किया कुन्तक द्वारा निरूपित **वक्रोक्ति के भेद** निम्न प्रकार हैं–

1. **वर्ण वक्रता** 2. **पदपूर्वार्द्ध वक्रता** 3. **पदपरार्द्ध वक्रता** 4. **वाक्य वक्रता** 5. **प्रकरण वक्रता** 6. **प्रबन्ध वक्रता।**

1. वर्ण वक्रता – वर्ण-वक्रता से कुन्तक का अभिप्राय यह है कि काव्य में वर्णों का विन्यास ऐसा होना चाहिए जो सामान्य अर्थ से इतर विचित्र-अर्थ की अभिव्यक्ति करने में पूर्ण समर्थ हो। परम्परागत आचार्यों ने इसी वर्ण-विन्यास को अनुप्रास कहा है। यही अनुप्रास अथवा यमकादि वर्ण-वक्रता का मूलाधार हैं। अनुप्रास में वर्णों की अनेक बार आवृत्ति की जाती है। कुन्तक के मतानुसार यह आवृत्ति विचित्र अर्थ से रहित नहीं होनी चाहिये। कुन्तक के अनुसार वर्णों की आवृत्ति स्वाभाविक एवं अश्रम-साध्य होनी चाहिये। पूर्वगत वर्णों की अतिशय पुनरावृत्ति भी जो मात्र चमत्कार को ही व्यक्त करे कुन्तक को स्वीकार नहीं है। कुन्तक ने यह वर्ण-वक्रता छः प्रकार की बताई है –

1. एक ही वर्ण की सामान्य अन्तर से आवृत्ति।
2. दो वर्णों की कुछ अन्तर से आवृत्ति।
3. तीन वर्णों की थोड़े अन्तर से आवृत्ति।
4. वर्णान्ति-संयुक्त स्पर्शों (ङ्क., ञ्ज, ण्ट, न्त, म्ब) की आवृत्ति।
5. त न ल के द्वित्त्व (त्त, न्न, ल्ल) की आवृत्ति।
6. चौथे और पाँचवे भेद में निर्दिष्ट वर्णों को छोड़कर शेषालंकार संयुक्त स्पर्शों (र्क, क्र, र्म, म्र) आदि की आवृत्ति।

उपर्युक्त भेदों के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं –

1. 'सीरी। धीरी।' में 'र' की आवृत्ति एक बार हुई है।

2. **'तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये'** में 'त' तथा 'र' की आवृत्ति है।

3. **'उदित गात अतिप्रात पदमिनी प्रान नाथ भय'** इस पंक्ति में 'त' 'प' तथा 'न' की आवृत्ति है।

4. **'श्रम तेऊ हरे तिनको कहि केसव, चञ्चल चारू दृगंञ्चल सौं।'** में चञ्चल तथा दृगञ्चल में 'ञ्च' की आवृत्ति है।

5. **'मल्ल पर मल्ल आये भल्ल पर भल्ल आये।'** में 'ल' की आवृत्ति है।

6. **'धर्म मात्र वर्म है हमारी कल-कीर्तिका'** में र्म की आवृत्ति है।

2. पदपूर्वार्द्ध वक्रता – जहाँ पद की धातु या प्रकृति से विचित्र अर्थ की सिद्धि होती है वहाँ पदपूर्वार्द्ध वक्रता होती है। 'पद' से तात्पर्य है– शब्द। यह शब्द दो प्रकार का होता है।

1. सुबन्त अर्थात् संज्ञा 2. 'तिगन्त' अर्थात् क्रिया

ये दोनों ही प्रकार के पद 'धातु+ प्रत्यय' इन दो तत्त्वों से बनते हैं परन्तु जब धातु रूप (नाम) अपनी प्रधानता से अर्थ-चमत्कार का बोधक होता है वहाँ पद पूर्वार्द्ध वक्रता होती है। **कुन्तक ने इस वक्रता के 11 भेद किये हैं।**

1. रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता 2. पर्याय वक्रता 3. उपचार वक्रता 4. विशेषण वक्रता 5. संवृति वक्रता 6. प्रत्यय वक्रता 7. आगम वक्रता 8. वृत्ति वक्रता 9 भाव वक्रता 10. लिंग वक्रता 11. क्रिया वैचित्र्य वक्रता।

नीचे इन सभी भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं–

रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता– यह वक्रता रूढ़ि या प्रसिद्धि के द्वारा उपलब्ध होती है। अर्थात् जहाँ किसी पद के अपने किसी विचित्र प्रचलित अर्थ में रूढ़ हो जाने के कारण विचित्र अर्थ की सिद्धि होती है उसे रूढ़ि वक्रता कहते हैं।

यथा –

विकृत परन्तु प्रकृत परिचय से डरा सकेगी तू न हमें।
अबला फिर भी अबला ही है हरा सकेगी तू न हमें।। (पंचवटी)

यह उक्ति लक्ष्मण की है। शूर्पनखा लक्ष्मण से तिरस्कृत होकर अपना भयानक रूप प्रदर्शित करती है परन्तु लक्ष्मण उसके लिए नारी की परम्परागत दुर्बलता के अर्थ में रूढ़ 'अबला' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसमें यह विचित्र अर्थ छिपा है कि नारी तो अबला (अशक्त) होती है। वह किसी प्रकार पुरुषों की बराबरी नहीं कर सकती। अत: हे शूर्पनखा! तू हमारा (लक्ष्मणादि का) कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती और तेरे इस भयानक रूप को देखकर हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। यहाँ 'अबला' शब्द ही विचित्र-अर्थ का बोधक है। नारी के लिए रूढ़ 'अबला' शब्द का प्रयोग करके लक्ष्मण ने शूर्पनखा का पहले ही तिरस्कार कर दिया और उसे बता दिया कि वह कितने पानी में है। अत: यहाँ रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता है। रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता में वक्ता द्वारा श्रोता के प्रति लोकोत्तर निन्दा तथा प्रशंसा का भाव अन्तर्निहित रहता है।

पर्याय वक्रता– पर्याय वक्रता वहाँ होती है जहाँ विचित्र अर्थ की सिद्धि उसके पर्याय (समानार्थी शब्द) पर आधारित होती है। यथा –

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।। (प्रसाद)

इन पंक्तियों में दुर्दिन शब्द (अतिवृष्टि मूलक भयानक समय) के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द के कारण ही यहाँ विचित्र अर्थ अत्यन्त दु:खदायी समय की सिद्धि होती है। अत: यहाँ पर्याय वक्रता है।

उपचार वक्रता– यह रूपक, उपमादि अलंकारों में उपलब्ध होती है जहाँ एक वस्तु का दूसरी पर आरोप का अभेद ज्ञात न हो।

यथा :– **'जल भी परम उमंग भरा। नाच रहा है रंग भरा।।'** इन पंक्तियों में जल पर नर्तक का आरोप है।

विशेषण वक्रता– जहाँ विशेषण के प्रभाव से क्रिया अथवा कारक का सौंदर्य उल्लसित हो वहाँ विशेषण वक्रता होती है। यथा :–

विधि के समान हैं विमानी कृत राज हंस,
विविध विबुध जुत मेरु सो अचलु है।। (रामचन्द्रिका)

इस पंक्ति में प्रयुक्त विशेषणों के द्वारा राजा दशरथ के रथ के घोड़ों तथा राजा दशरथ की सभा का सौंदर्य प्रस्फुटित होता है।

संवृत्ति वक्रता – अर्थात् गोपन की वक्रता – जहाँ विचित्र अर्थ की प्राप्ति के लिए सर्वनामादि के प्रयोग द्वारा किसी विषय का संवरण या गोपन किया जाय। यथा:–

'जीवन की गोधूली में कौतुहल से तुम आये।'

इस पंक्ति में 'तुम' शब्द प्रियतम या परमात्मा के विचित्र अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

प्रत्यय वक्रता– जहाँ प्रत्यय के कारण ही भावाभिव्यक्ति में चमत्कार उत्पन्न होता है। जैसे –

कारी बदरिया बहिनि हमारी कौंधा बीरन लगे हमार।
आज बरसिजा मेरी कनउज में कंता एक रयनि रहि जाय।

इस पंक्ति में 'बदरिया' शब्द में या 'प्रत्यय' के बढ़ जाने से वक्रता की उपलब्धि हुई है।

इसी प्रकार पद पूर्वार्द्ध वक्रता के अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

3. पदपरार्द्ध वक्रता– जहाँ सुबन्त (संज्ञा) तथा तिगन्त (क्रिया) के प्रत्यय के वैचित्र्य से वक्रता (विचित्र अर्थ) की सिद्धि होती है, वहां पद परार्द्ध वक्रता होती है। इसके छ: भेद किये गये हैं –

1. काल वक्रता 2. कारक वक्रता 3. संख्या (वचन) वक्रता 4. पुरुष वक्रता 5. उपग्रह वक्रता 6. प्रत्यय वक्रता।

पुरुष वक्रता का एक उदाहरण प्रस्तुंत है –

'करके ध्यान आज 'इस जन' का निश्चय वे मुस्काये।' (साकेत)

इस पंक्ति में 'मेरा' के स्थान पर 'इस जन' का प्रयोग हुआ है। यहाँ पुरुष के परिवर्तन द्वारा वक्रता उत्पन्न हुई है।

प्रत्यय वक्रता का भी उदाहरण प्रस्तुत है।

मृत्यु अरी चिर निद्रे तेरा अंक हिमानी सा शीतल। (कामायनी)

इस पंक्ति में 'निद्रे' तथा 'हिमानी' शब्दों में अतिरिक्त प्रत्यय के प्रयोग से वक्रता की उपलब्धि हुई है।

4. वाक्य वक्रता – कुन्तक के अनुसार वर्ण वक्रता एवं पद वक्रता वाचक (कहने वाले) वक्ता की सीमा में आती है और वाक्य वक्रता वाच्य या वस्तु की वक्रता की परिधि में। तात्पर्य यह है कि वाक्य वक्रता में वस्तुगत सौंदर्य की प्रधानता रहती है। यथा–

नील परिधान बीच सुकुमार,
खिल रहा अधिक अध खुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥ (कामायनी)

इन पंक्तियों में कामायनी (श्रद्धा) वर्ण्य है। उसका स्वाभाविक सौंदर्य प्रस्तुत वर्णन में अत्यन्त प्रभावशाली एवं चमत्कृत रूप में वर्णित है। अत: यहाँ वक्रता की उपलब्धि वाक्य वक्रता के द्वारा होती है।

कुन्तक ने वस्तु के स्वरूप को दो प्रकार का माना है–

1. सहज 2. आहार्य। सहज स्वरूप भी दो प्रकार का होता है – स्वभाव प्रधान एवं रसात्मक। स्वभावगत धर्म भी दो प्रकार का माना है – 1. सामान्य 2. शोभामय। कुन्तक का मत है कि कविकौशल निरपेक्ष (रहित) सामान्य धर्म से युक्त वस्तुओं में काव्य-सौंदर्य नहीं होता, वह तो केवल कवि कौशल सापेक्ष विचित्र-वर्णनों में ही उपलब्ध होता है। अत: इस स्थिति में वस्तु का सहज स्वरूप ही सरस एवं स्वाभाविक बन जाता है और दोनों ही रूप आहलादकारी बन जाते हैं। ऐसे सहज स्वरूप आहलादकर होने में 'वस्तु वक्रता' कारण है न कि स्वभावोक्ति या रसवत् अलंकार। कुन्तक स्वभावोक्ति और रसवत् अलंकार को अलंकार नहीं मानते। कुन्तक के अनुसार वे दोनों ही अलंकार्य हैं।

वस्तु के आहार्य स्वरूप के वर्णन में उपमादि अलंकारों की सहायता ली जाती है। कुन्तक की धारणा है कि यदि वस्तु का स्वाभाविक सौंदर्य उपलब्ध हो तो उसे अलंकारादि के अतिशय प्रयोग द्वारा विकृत नहीं करना चाहिए। परन्तु यदि वस्तु में आहार्य (बनावटी) सौंदर्य उत्पन्न करना हो तो उपमादि अलंकारों का प्रयोग किया जा सकता है। कुन्तक की इस धारणा के अनुसार प्रमुख रूप से अर्थालंकार ही वाक्य वक्रता के अंतर्गत आते हैं।

5. प्रकरण वक्रता– प्रकरण सम्पूर्ण प्रबंध का कोई एक भाग-मात्र होता है। प्रकरणों के द्वारा प्राप्त वक्रता (विचित्र अर्थ) को प्रकरण वक्रता कहते हैं। यह नौ प्रकार की होती है –

1. पात्र प्रवृत्ति वक्रता– जिसमें पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष वर्णित होता है।

2. उत्पाद्य कथा वक्रता– जहाँ परम्परा प्रसिद्ध कथानक में कवि कल्पना द्वारा तनिक परिवर्तन कर देने से मधुर काव्य-सौंदर्य की सृष्टि हो जाती है जिससे वह प्रकरण रस की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है जैसे– कालिदास ने शकुन्तला की कथा में दुर्वासा के शाप की कल्पना द्वारा दुष्यन्त के चरित्र को लांछित होने से बचा लिया है। साकेत की निम्नलिखित पंक्तियों में भी नवीन प्रसंग की उद्‌भावना चित्रित की गई है–

भरत से सुत पर भी संदेह।
बुलागा तक न उसे जो गेह।
गूँजते थे रानी के कान।
तीर सी लगती थी यह तान॥ (साकेत)

यह उत्पाद्य कथा वक्रता दो प्रकार की होती है–

1. अविद्यमान की कल्पना 2. विद्यमान का संशोधन।

जैसे रामचन्द्रिका में लक्ष्मण पर 'शक्ति' प्रहार रावण करता है और रामचरितमानस में मेघनाद।

3. उपकार्योपकारक भाव वक्रता– जहाँ प्रासंगिक कथायें एक दूसरे का उपकार करती हुई अन्ततः प्रमुख कार्य का उपकार करें। जैसे– रामचरितमानस के बालकाण्ड में वर्णित नारद मोह की कथा, प्रतापभानु-अरिमर्दन की कथा, राम के जन्म का आधार बनती हैं। इन कथाओं में प्रथम दोनों कथाएँ राम कथा की उपकारक हैं।

4. आवृत्ति वक्रता– किसी एक प्रकरण की नूतन रूपों में पुनः प्रस्तुति जैसे– रामचरितमानस के उत्तराकाण्ड में ब्राह्मण द्वारा की गई शिव की स्तुति 'नमामी शमीशान निर्वाण रूपं-------' आदि आठ श्लोकों में वर्णित है और निरन्तर कवि शिव में नवीन रूपों की उद्‌भावना करता चला गया है।

5. प्रासंगिक प्रकरण वक्रता– अर्थात् किसी विशेष प्रकरण का मनोहारी वर्णन- जैसे– 'साकेत' में साकेत का वर्णन।

6. प्रकरण रस वक्रता– अर्थात् रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन। जैसे– ऋतु वर्णन, नगर-यात्रा, आखेट आदि के वर्णन आदि।

7. अवान्तर वस्तु वक्रता– अथवा किसी सुन्दर एवं नवीन प्रसंग की उद्‌भावना प्रधान कथा की सिद्धि जैसे– मुद्राराक्षस में चाणक्य द्वारा नियुक्त पुरुष द्वारा आत्महत्या का ढोंग रचकर राक्षस को आत्म-समर्पण के लिए तैयार करने की कथा।

8 नाटकान्तर्गत नाटक वक्रता अथवा गर्भांक– नाटक के एक अंग में एक लघु अंक की रचना जैसे 'उत्तररामचरित' का गर्भांक जिसमें श्री रामचंद्रजी को

वाल्मीकि-रचित नाटक का अभिनय अप्सराओं द्वारा दिखाने का आयोजन किया गया है और जिसमें सीता को गंगा में कूदती देखकर राम व्याकुल हो जाते हैं।

9. मुख संध्यादि विनिवेश वक्रता– अथवा विभिन्न प्रकरणों की परम्परागत अन्विति। प्राय: सभी संस्कृत नाटकों में मुखादि संधियों की योजना पाई जाती है जिनसे इन नाटकों की वस्तु अधिक उपादेय बन गई है।

6. प्रबन्ध वक्रता– प्रबन्ध वक्रता से तात्पर्य है– 'महाकाव्य' या 'खण्ड काव्य' से सम्बद्ध कवि कौशल को प्रबन्ध वक्रता कहा जाता है। इसके छ: भेद हैं–

1. मूल रस परिवर्तन– जैसे रामचरितमानस का मूल रस 'शान्त' रामचन्द्रिका में 'वीर' रस में परिवर्तित कर दिया गया है।

2. प्रकरण विशेष पर कथा समाप्ति– जैसे रामचरितमानस की कथा को तुलसीदास ने रावण वध के पश्चात् रामराज्य वर्णन करके ही समाप्त कर दिया है और लवकुश की कथा को छोड़ दिया है।

3. कथा विच्छेद– अर्थात् कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि। यथा :– जयद्रथ वध, पंचवटी आदि में रामकथा तथा महाभारत की कथाओं को बीच में ही छोड़ दिया गया है परन्तु इन कथाओं के द्वारा मूल कार्य की सिद्धि का संकेत दे दिया गया है।

4. नायक द्वारा अनेक आनुसंगिक फलों की प्राप्ति– जैसे मैथिलीशरण गुप्त कृत 'हिडिम्बा' में पाण्डव लाक्षागृह से प्राण बचाकर वन में जाते हैं परन्तु वहाँ भीम का विवाह दैत्य कन्या 'हिडिम्बा' से हो जाता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त आखेट के लिए जाता है और वहाँ उसे शकुन्तला की प्राप्ति भी हो जाती है।

5. प्रधान कथा का द्योतक नाम– जैसे रामकथा का द्योतक 'रामायण', जयद्रथ वध का द्योतक 'जयद्रथ-वध' पद्मिनी की कथा का द्योतक 'पद्मावत' आदि।

6. कथा साम्य अथवा एक कथा से सम्बद्ध विलक्षण प्रबन्ध– जैसे रामायण के साम्य पर 'साकेत' की रचना जिसमें रामकथा के साथ ही साथ उर्मिला की कथा को विस्तार विलक्षणता के साथ चित्रित किया है। 'मुद्राराक्षस' नाटक के साम्य पर 'चन्द्रगुप्त' नाटक आदि।

उपर्युक्त आधार पर विवेचित वक्रोक्ति के भेदोपभेदों का अवलोकन करने से यह ज्ञात हो जाता है कि कुन्तक ने सविस्तार वक्रोक्ति का निरूपण किया है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के छ: प्रधान भेद तथा लगभग 41 उपभेद किये हैं जिनसे वक्रोक्ति का स्वरूप पूर्ण रूपेण स्पष्ट हो जाता है। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को 'वर्ण' से लेकर प्रबन्ध तक व्याप्त दिखाया है। इसका आशय यह हुआ कि वक्रोक्ति काव्य के हर कोने में व्याप्त है क्योंकि वक्रोक्ति 'विचित्र-अर्थ' की सिद्धि का माध्यम है और अर्थ-वैचित्र्य काव्य का मूल-तत्त्व होता है। सामान्य अर्थ का ज्ञापक कथन काव्य के अन्तर्गत नहीं आता।

वक्रोक्ति का अन्य विधाओं से सम्बन्ध एवं महत्त्व

कुन्तक ने यद्यपि वक्रोक्ति का विवेचन अलंकारों के परिप्रेक्ष्य में ही किया है परन्तु उन्होंने अपने समय तक प्रचलित रीति तथा ध्वनि सम्प्रदायों की वक्रोक्ति सम्बन्धी विसंगतियों को भी अपने विवेचन का विषय बनाया। इन्होंने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति-जीवित' में प्रधान रूप से वक्रोक्ति का विवेचन करते हुए भी आनुषंगिक रूप से अलंकार, रीति, ध्वनि तथा रसादि का भी विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति में रस, भाव, ध्वनि, अलंकार तथा रीति सभी समाहित हो जाते हैं। अत: वक्रोक्ति का अन्य काव्य विधाओं से भी निकट का सम्बन्ध है। इसका विवेचन इस प्रकार किया जाता है–

अलंकार और वक्रोक्ति – कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति सिद्धांत को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति की सर्वप्रथम स्थापना अलंकारवादी **भामह** ने, अलंकारों के 'मूल-तत्व' के रूप में की थी। भामह की मान्यता थी कि काव्य में सामान्य उक्ति का अतिक्रमण करने वाली विशिष्ट उक्ति ही चमत्कार उत्पन्न कर सकती है और यह चमत्कारक उक्ति अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति है। भामह की इस स्थापना में वक्रोक्ति, शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का मूल मानी गई है। आगे चलकर कुछ आचार्यों ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार मात्र ही माना है और कुछ ने अर्थालंकार मात्र। जो भी हो यह कहना असंगत न होगा कि वक्रोक्ति का अलंकारों से सीधा सम्बन्ध है। यही नहीं 'वक्रोक्ति' अलंकार ही है। **कुन्तक** ने स्वयं वक्रोक्ति को 'अपूर्व अलंकार' कहा है (**काव्यस्यायमलंकार: कोऽप्यपूर्वो विधीयते**)। यद्यपि वक्रोक्ति को कुन्तक ने अलंकार रूप में स्वीकार तो किया है परन्तु उसे शब्दालंकार के भेद के रूप में मान्यता नहीं दी है। कुन्तक अलंकार के सम्बन्ध में भामह के दृष्टिकोण से भी एक सीमा तक ही सहमत हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति न मानकर विचित्र- उक्ति माना है। इन्होंने वक्रोक्ति के भेदोपभेदों में अनुप्रासादि अलंकारों को वक्रोक्ति के 'वर्णगत' भेदों के अतंर्गत और अर्थालंकारों को पदगत तथा 'वाक्यमूलक' भेदों के अंतर्गत स्वीकार करते हुए भी वक्रोक्ति में अलंकारों के क्लिष्ट, अतिशय तथा अस्वाभाविक प्रयोग की स्वीकृति नहीं दी है। इस प्रकार यह तो निर्विवाद रूप में सत्य है कि वक्रोक्ति का अलंकारों से 'चोली-दामन' का साथ है। इन दोनों ही विधाओं का सम्बन्ध 'कल्पना' तथा चमत्कार से है। दोनों में ही भाषा की विशिष्ट प्रवृत्ति अपनाई जाती है। जहाँ अलंकारों में कल्पना द्वारा बिम्ब (वस्तु का विचित्र रूप) के ग्रहण तथा शब्द (उक्ति का विचित्र रूप) के ग्रहण का प्राविधान रहता है उसी प्रकार वक्रोक्ति भी इन दोनों ही तत्त्वों पर आधारित रहती है। परन्तु कुन्तक ने अलंकारों का प्रयोग मात्र चमत्कार प्रदर्शन के लिए करने का विरोध किया है। **'वैचित्र्य मात्र प्रतिपत्तये'** अर्थात् वैचित्र्य मात्र की प्रतिपत्ति के लिए वे अलंकारों के प्रयोग के विरूद्ध हैं।

रीति तथा वक्रोक्ति – 'रीति' तथा 'वक्रोक्ति' में भी पर्याप्त साम्य-वैषम्य

परिलक्षित होता है। वामन ने जहाँ रीति को **'विशिष्टाः पद रचना रीति'** कहा है वहाँ कुन्तक ने वक्रोक्ति को **'वैदग्ध्य भंगी भणिति'** कहा है। जिसे यदि 'विचित्र पद रचना वक्रोक्ति' कहें तो अत्युक्ति न होगी। रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धांतों का भली प्रकार पर्यालोचन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि 'रीति-सिद्धान्त' का 'विशिष्ट' और वक्रोक्ति सिद्धान्त का 'विचित्र' मूलत: एक ही है। दोनों का ही सम्बन्ध काव्य-गुणों पर आधारित अर्थ-चमत्कार (काव्य-सौंदर्य) से है। विशिष्ट पद रचना भी 'सामान्य कथन' को अतिक्रान्त करती है और विचित्र पद रचना में भी यही प्राविधान है। इसके अतिरिक्त 'रीति' भी काव्य के बाह्यान्तर पक्ष को महत्त्व देती है और वक्रोक्ति में भी काव्य के इन दोनों ही पक्षों को समान महत्त्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त दोनों का ही सम्बन्ध काव्य के बाह्य पक्ष से है। दोनों ही विधाओं के मूल तत्त्व भामह में विद्यमान हैं और दोनों का ही उद्‌गम भामह से हुआ है। सामान्यतया रीति को एक महान् काव्य शैली माना जाता है तो वक्रोक्ति को एक महान् उक्ति (कथन का ढंग)। इस आधार पर यदि इन दोनों विधाओं को एक ही माना जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी परन्तु पर्याप्त साम्य होते हुए भी इन दोनों में तत्त्वत: अन्तर परिलक्षित होता है। यथा–

वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना कुन्तक ने ध्वनिवादियों के 'वक्रोक्ति' सम्बन्धी संकीर्ण दृष्टिकोण के विरोध में की थी जबकि रीति-सिद्धान्त की स्थापना अलंकारवादियों के रीति के सम्बन्ध में संकीर्ण दृष्टिकोण को लेकर हुई थी। इसका तात्पर्य यह है कि रीतिकार जहाँ अलंकारों का विरोधी है वहीं वक्रोक्तिकार उनका समर्थक है क्योंकि रीति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध गुणों से है और वक्रोक्ति का सीधा सम्बन्ध अलंकारों से। रीति मुख्यतया एक शैली विशेष है जबकि वक्रोक्ति विचित्र-अर्थ की उद्‌बोधक प्राण-शक्ति। वामन ने अपने सिद्धान्त में वक्रोक्ति को गौणी लक्षणा के आधार पर रूपकादि साम्य मूलक-अलंकारों के अन्तर्गत माना है जिसका कुन्तक ने खण्डन करके वक्रोक्ति की 'अपूर्व अलंकार' के रूप में स्थापना की है। वामन ने वक्रोक्ति को साम्यमूलक अलंकारों से जोड़ते हुए उसे गौणी लक्षणा के अन्तर्गत रखने का उल्लेख किया है। कुन्तक रीति के सम्बन्ध में दो पक्षों को लेकर चले हैं। जहाँ एक ओर कुन्तक ने रीति को एक निस्सार तत्त्व मानकर 'वक्रोक्ति-जीवित' में उसका कोई विवेचन ही प्रस्तुत नहीं किया है (**तदलमनेन निःस्सार वस्तु परिमल व्यसनेन**)। वहाँ दूसरी ओर उन्होंने सुकुमार विचित्र और मध्यम इन तीन मार्गों का तथा औचित्य, सौभाग्य, माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य इन छ: गुणों का विवेचन किया है। निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि जब वामन ने वक्रोक्ति को महत्त्व नहीं दिया तो कुन्तक ने भी रीति का उल्लेख करना अनुचित माना।

ध्वनि तथा वक्रोक्ति – आनन्दवर्द्धन ने अपने ध्वनि सिद्धान्त में वक्रोक्ति को कोई महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने वक्रोक्ति को ध्वनि की व्यंजकता के रूप में स्वीकार करके वक्रोक्ति को ध्वनि का गुण मात्र घोषित किया। कुन्तक को ध्वनिवादियों की

यह स्थापना अत्यन्त हेय ज्ञात हुई और यह वक्रोक्ति जैसे मूल्यवान् तत्त्व का तिरस्कार मात्र ही परिलक्षित हुआ। अत: कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को 'व्यंजकता' कहे जाने का प्रबल विरोध किया। उन्होंने वक्रोक्ति को 'विचित्र-अर्थ' का अभिधान करने वाली 'विचित्र-अभिधा' कहकर उसे काव्य का मूल-तत्त्व घोषित किया। कुन्तक ने 'ध्वनि' को न तो बाह्य सौंदर्य ही माना है और न उसे रसवद् अलंकार के रूप में ही स्वीकार किया है।

कुन्तक ने यद्यपि ध्वनि का कड़ा विरोध किया है परन्तु फिर भी वे परोक्ष रूप से ध्वनि के महत्त्व को स्वीकार करते चले गये हैं। 'ध्वनि-सम्प्रदाय' की स्थापना कुन्तक से पूर्व ही हो चुकी थी और ध्वनि-सिद्धान्त कुन्तक के समय तक आते-आते अधिक मान्य हो चला था। अत: पर्याप्त प्रयास करने पर भी कुन्तक ध्वनि-सिद्धान्त की मान्यताओं को क्षति न पहुँचा सके। उल्टे हुआ यह कि ध्वनि सिद्धान्त तो एक सीमा तक मान्य भी रहा परन्तु वक्रोक्ति-सिद्धान्त तो बिल्कुल ही चलन में न आ सका। कुन्तक ने एक नहीं अनेक स्थलों पर ध्वनि प्रतीयमान तथा व्यंजना की चर्चा की है। इन्होंने शब्द के वाचक, लक्षक तथा व्यंजक तीन ही भेद स्वीकार किये हैं। पदवक्रता के विभिन्न भेदों को ध्वनि-भेद का अप्रत्यक्ष रूप भी कुन्तक ने स्वयं स्वीकार किया है। इन्होंने वाच्य-वाचक वृत्ति से भिन्न प्रतीयमान वृत्ति का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि प्रत्यक्ष रूप से ध्वनि का खण्डन करते हुए भी परोक्ष रूप से वक्रता की परिधि में इन्होंने ध्वनि के महत्व को स्वीकार किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि ध्वनिवादी जहाँ व्यंजकता को मान्यता देते हैं वहाँ कुन्तक वक्रता को। दोनों का ही सम्बन्ध 'काव्य-सौंदर्य' से है अर्थात् दोनों ही काव्य-सौंदर्य की उद्‌भाविका हैं।

रस तथा वक्रोक्ति – कुन्तक के समय तक रस अलंकारादि की भाँति काव्य की आत्मा सम्बन्धी सम्प्रदाय के रूप में प्रचलित नहीं हो सका था। अलंकारवादियों ने रसवत् अलंकारों के उल्लेख द्वारा और ध्वनिवादियों ने रस-ध्वनि द्वारा ही 'रस' को मान्यता देकर उसे गौण रूप में ही स्वीकार किया था। इस स्थिति के अवलोकन से स्पष्ट है कि काव्य के क्षेत्र पें अलंकारवादियों का ही बोल-बाला था। रस का नहीं। इसी आधार पर कुन्तक ने भी वक्रोक्ति को ही महत्त्व दिया परन्तु उन्होंने रस का कहीं भी खण्डन नहीं किया वरन् रस की प्रशंसा ही की है। कुन्तक ने आनन्दवद्धन की भाँति रस को रसध्वनि के रूप में स्वीकार न करके उसे स्वतंत्र रूप में ही स्वीकार किया है। कुन्तक ने 'रस' को अलंकार्य माना है। कुन्तक ने कोरे अलंकार प्रयोग पर आपत्ति करते हुए कहा है कि अलंकारों का प्रयोग मात्र चमत्कार के लिए ही न होना चाहिए। बल्कि अलंकारों का प्रयोग या तो वर्ण्य (वाच्य) के सहज सौंदर्य की अभिवृद्धि के लिए होना चाहिये या काव्य के रसात्मक रूप का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए। कुन्तक 'वर्ण्य-वस्तु' को तथा काव्य को भी अलंकार्य ही मानते थे। इसी लिए उन्होंने अलंकारों को वर्ण्य या रसों का उत्कर्ष कारक साधन माना है। कुन्तक ने कहा है कि काव्य सर्वांग

रूप में रमणीय होता है और इसी रमणीयता के आधार पर वह सहृदयों के लिए आह्लादक बनता है। काव्य के प्रयोजन तथा सुकुमार मार्ग एवं प्रबन्धात्मकता के प्रसंगों में इन्होंने अनेक स्थान पर रस की चर्चा की है।

कुन्तक के रस-सम्बन्धी विवेचन को देखते हुए ज्ञात होता है कि कुन्तक ने यत्र-तत्र 'रस' शब्द का प्रयोग तो किया है परन्तु रस के प्रति कुन्तक ने कोई विशेष रुचि भी नहीं दिखाई है। उन्हें तो ध्वनि के विरोध-स्वरूप रस को जो कुछ महत्त्व देना था वह दे दिया है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि रसवादियों ने तो कुन्तक का विरोध ही किया है क्योंकि कुन्तक के पश्चात् रस को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले विश्वनाथ ने वक्रोक्ति को मात्र शब्दालंकार ही माना है। यदि कुन्तक विश्वनाथ के समय जीवित होते तो वक्रोक्ति-सम्बन्धी विश्वनाथ की मान्यता को देखकर वे वक्रोक्ति-जीवित से रस की रही-सही मान्यता को भी काट देते क्योंकि इन आचार्यों में पारस्परिक विद्वेष का भाव अधिक प्रवल रूप में पाया जाता है।

औचित्य तथा वक्रोक्ति – यद्यपि कुन्तक के समय तक औचित्य-सिद्धान्त की स्थापना नहीं हो सकी थी परन्तु विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न तत्वों के (अलंकारादि के) प्रयोगादि को लेकर औचित्य का उपादान होता रहा था जो क्षेमेन्द्र तक पहुँचते-पहुँचते एक पृथक् सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। कुन्तक ने भी औचित्य की चर्चा किसी न किसी रूप में की है।

कुन्तक ने औचित्य की चर्चा सामान्यत: तो की ही है किन्तु मार्ग गुण के (भेद) रूप में भी की है। कुंतक द्वारा प्रयुक्त औचित्य-मूलक प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुन्तक ने औचित्य की चर्चा दो रूपों में की है। 1. व्यापक अर्थ में 2. संकुचित अर्थ में। व्यापक रूप में औचित्य का प्रयोग कुन्तक ने वहीं किया है जहाँ प्रमाता (श्रोता या वक्ता) के शोभातिशय युक्त स्वभाव से वाच्य वस्तु का स्वभाव संवृत (गुप्त) हो जाय।

संकुचित अर्थ में औचित्य का प्रयोग मार्गगत एक विशेष गुण (भेद) के रूप में हुआ है।

वक्रोक्ति काव्य की आत्मा

कुन्तक ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' में सविस्तार वक्रोक्ति का विवेचन किया है। कुन्तक का यही विवेचन 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त में जहाँ एक ओर वक्रोक्ति के स्वरूप तथा भेदोपभेदों का सम्यक् विवेचन किया है वहाँ उसे **'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्'** कहकर काव्य की आत्मा भी घोषित किया है। कुन्तक का कथन है कि हम व्यवहार में दो प्रकार के कथन देखते हैं– 1. सामान्य अर्थ का बोध कराने वाले कथन। 2. विचित्र अर्थ का बोध कराने वाले कथन।

कुन्तक ने इन दोनों ही कथनों को क्रमशः 'स्वभावोक्ति' तथा 'वक्रोक्ति' की

संज्ञा दी है। कुन्तक का मत है कि स्वभावोक्ति में 'उक्ति' सामान्य रूप में विद्यमान रहती है। इस प्रकार के कथन असुन्दर तथा अप्रभावशाली होते हैं। अत: स्वाभाविक उक्ति काव्य का प्रतिपाद्य नहीं हो सकती। कुन्तक के मत से काव्य का प्रतिपाद्य वही उक्ति हो सकती है जो विचित्र-अर्थ को व्यक्त करती हो। कुन्तक ने विचित्र अर्थ को तथा वक्र-अर्थ को समान मानते हुए और उक्ति को अभिधा के अंतर्गत प्रतिष्ठित करते हुए विचित्र-अभिधा या वक्रोक्ति को ही काव्य के उपयुक्त बताया है। कुन्तक का इसी आधार पर कहना है कि बिना विचित्र-अभिधा या वक्र-उक्ति के रचना अपूर्ण ही रहेगी। अत: वक्रोक्ति काव्य का अनिवार्य तत्त्व हुआ और यही अनिवार्य तत्त्व काव्य की आत्मा है।

कुन्तक का काव्यात्म सम्बन्धी दृष्टिकोण अन्य विद्वानों से भिन्न है। कुन्तक काव्य-सौंदर्य को ही काव्य की आत्मा मानकर चले हैं और उनकी दृष्टि में यह सौंदर्य वक्रोक्ति में ही निहित रहता है। सामान्योक्ति या स्वभावोक्ति में नहीं। इस आधार पर काव्यात्म में कुन्तक काव्य के आन्तरिक सौंदर्य-रस-भावादि को तथा बाह्य सौंदर्य-पदविन्यासादि को सम्मलित करते हैं। जिस प्रकार शरीर के मूल तत्त्व आत्मा का सौंदर्य व्यक्ति के पुष्ट एवं आकर्षक शरीर महान् गुणों तथा महान् कार्यो से मापा जा सकता है उसी प्रकार काव्य का मूल-तत्त्व (आत्मा) काव्य में प्रयुक्त सशक्त, सरस, प्रभावशाली 'उक्ति' के द्वारा ही परिलक्षित हो सकती है। और जिस प्रकार स्वस्थ, सुन्दर, गुणवान् तथा महान् कार्य क्षमता से युक्त शरीर ही आत्म सौंदर्य का उद्‌बोधक है, उसी प्रकार उत्तम विचित्र वर्ण विधान शब्द-विधान वाक्य विधान तथा रचना विधान ही काव्य सौंदर्य के उद्‌बोधक हैं और यह काव्य सौंदर्य का उद्‌बोधक तत्व ही काव्य का मूल-तत्त्व है और वह मूल-तत्त्व ही काव्य की आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा रहित शरीर का कोई मूल्य नहीं होता उसी प्रकार विचित्र अर्थ रहित रचना का भी कोई मूल्य नहीं होता। अत: 'विचित्र-अभिधान' को धारण करने वाली 'विचित्र-अभिधा' या वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है।

यद्यपि कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया है परन्तु वह स्थापना अस्वाभाविक ही मानी जायगी जिसमें मूल-भाव के सौंदर्य को विकृत कर मनमाने ढंग से की गई स्थापना से जो उपलब्धि हो उसी को आत्मा घोषित कर दिया जाय। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि कुन्तक ने भी ठीक वही किया है जिसे एक लम्बे समय से अलंकारवादी, रीतिवादी तथा ध्वनिवादी आचार्य करते चले आ रहे थे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि कुन्तक के समय तक रसवाद की स्थापना पूर्णरूपेण काव्य-क्षेत्र में नहीं हो सकी थी। काव्य के मूल-तत्त्व के सम्बन्ध में सर्वप्रथम अलंकारवादी आचार्यों ने विस्तार से विवेचन, टीका-टिप्पणी तथा वाद-विवाद प्रस्तुत किये थे परन्तु इनके द्वारा भी कोई आत्म-सम्बन्धी मत सुनिश्चित न हो सका। रीतिकार का मत भी बाह्य तत्त्वों (शैली) का द्योतक था और आनन्दवर्द्धन का मत काव्य के आन्तरिक सौंदर्य का उद्‌बोधक होते हुए भी बौद्धिक धरातल तक

ही पहुँच पाया था। अतः कुन्तक के समय तक किसी भी आचार्य की धारणा काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं हो पायी थी। यद्यपि यह धारणा समुद्र में सीपी की भाँति और बादलों में विद्युत् की भाँति बार-बार विद्वानों के मन को आकर्षित एवं चमत्कृत कर रही थी फिर भी विश्वनाथ से पूर्व कोई भी आचार्य उस धारणा को काव्यात्म के रूप में स्थापित न कर सका। विश्वनाथ ने सभी काव्यात्म सम्प्रदायों का अवलोकन करके यह निश्चित किया कि अलंकार, रीति और वक्रोक्ति मात्र काव्य के बाह्य तत्त्व अर्थात् काव्य शरीर के द्योतक हैं और ध्वनि, कल्पना एवं बुद्धि पर आधारित रहने के कारण आत्म-तत्त्व-मूलक गुणों से अपूर्ण हैं। केवल 'रस' ही काव्य का वह तत्त्व है जो साधारणीकरण की क्षमता रखते हुए सभी पाठकों एवं दर्शकादि को समान रूप से आनन्द एवं प्रेरणा प्रदान करता है। अतः रस ही काव्य की आत्मा है। इसकी घोषणा **विश्वनाथ** ने **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** कहकर की।

काव्यात्म के प्रसंग में रस की स्थापना के कारण ही अन्य वादों की भाँति कुन्तक का वक्रोक्ति वाद भी प्रतिष्ठित न हो सका और सभी विद्वानों ने 'रस' को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया।

वक्रोक्ति सिद्धान्त की उपलब्धियाँ

'रीति सिद्धान्त' की भाँति 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' भी ख्याति प्राप्त नहीं कर सका। कुन्तक के परवर्ती मम्मट विश्वनाथ तथा महिम भट्ट ने वक्रोक्ति को मात्र शब्दालंकार के रूप में ही स्वीकार किया है और रुय्यक, विद्यानाथ तथा अप्पय दीक्षित आदि ने उसे अर्थालंकार के रूप में ही स्वीकार किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुन्तक के परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति सम्बन्धी उन्हीं मान्यताओं को ग्रहण किया है जिनकी स्थापना कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने की थी। इस तथ्य पर ध्यान देने से यह एक नया तथ्य उभर कर आता है कि कुन्तक ने जो वक्रोक्ति सिद्धान्त का इतना बड़ा बखेड़ा खड़ा किया था और वक्रोक्ति का अत्यन्त विशद् विवेचन करते हुए उसके अनेक भेदोपभेद करने में अपनी बुद्धि-शक्ति लगाई थी वह मानो बिल्कुल व्यर्थ एवं अवांछित ही थी। यदि वक्रोक्ति के इतिहास से कुन्तक को निकाल दिया जाय तो वक्रोक्ति की दो समानान्तर धारायें एक प्रवाह से (स्थूल तथा क्षीण रूप में) निरन्तर प्रवाहित होती परिलक्षित होती हैं। कुन्तक की विद्यमानता यहाँ एक ऐसे मध्यवर्ती विशालकाय पर्वत के समान दिखाई देती है जो इन धाराओं को बीच में रोककर बैठ गया हो और उस व्यवधान से उन धाराओं का जल एक विस्तृत जलाशय के रूप में उस विशाल-पर्वत के चारों ओर एकत्र हो गया हो तथा अतिशयता की स्थिति आ जाने पर पुनः उस पर्वत की परिधि को तोड़कर अपनी प्राचीन क्षीण एवं पीन धाराओं में आगे बढ़ता गया हो। वक्रोक्ति की क्षीण एवं पीन वे धारायें हैं जो भामह रूपी भगीरथ के तप से अलंकार रूपी पर्वत के मूल से निकल कर आगे शब्दालंकार एवं अर्थालंकार रूपिणी दो धाराओं में विभक्त हो गईं। शब्दालंकार की धारा क्षीण या संकीर्ण रूप में प्रवाहित हो रही थी

और अर्थालंकार की धारा स्थूल रूप में। यदि कुन्तक को वक्रोक्ति की इस शाश्वत धारा से निकाल भी दें तो भी वक्रोक्ति की गरिमा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपयोगिता की दृष्टि से तो कुंतक का वक्रोक्ति सिद्धान्त दो कौड़ी का है। आज तक कोई भी इस सिद्धान्त की ओर आँख उठा कर नहीं देख रहा है। रस-सिद्धांत ने तो मानो वक्रोक्ति की कमर ही तोड़ दी।

काव्यात्म-सम्बन्धी विवेचन की दृष्टि से तो कुन्तक को किसी ने घास डाली ही नहीं है। अब यह देखना है कि क्या वक्रोक्ति तथा उसके विस्तृत विवेचन की कुछ उपलब्ध्यिाँ हो सकती हैं। कुन्तक के समर्थक विद्वान् कुन्तक की इन उपलब्धियों का जब बढ़ा-चढ़ा-कर वर्णन करते हैं तो लगता है कि कुन्तक ही एक मात्र आचार्य थे और उनका वक्रोक्ति सिद्धान्त ही एक मात्र काव्य-सिद्धान्त है। कुन्तक की उपलब्धियाँ कुछ इस प्रकार गिनाई जाती हैं– 1. कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' की स्थापना ध्वनि-सिद्धान्त के विरोध में करके ध्वनिवादियों द्वारा निरूपित वक्रोक्ति के व्यंजकता शब्द को हटाकर उसके स्थान पर 'वक्रोक्ति' की स्थापना की। परन्तु हम पूछते हैं कि ऐसा करके कुन्तक ने कौन-सा भारी तीर मार लिया। ध्वनिवादियों ने वक्रोक्ति को ध्वनि की व्यंजकता बताकर कौन सा भारी अपराध कर दिया था जबकि कुन्तक भी खूब आपा-धापी करने के पश्चात् ध्वनि-वादियों की इस मान्यता को समूल नष्ट न कर सके। कुन्तक ने व्यंजकता के स्थान पर 'विचित्र अभिधा' का प्रयोग किया है परन्तु विचित्र शब्द का प्रयोग 'व्यंग्य' का ही बहरूपियापन है और अभिधा एक शब्द-शक्ति है। अत: कुन्तक की यह विचित्र-अभिधा और कुछ नहीं चमत्कार-मूलक व्यंग्य अर्थात् 'ध्वनि' ही है।

2. कुन्तक की दूसरी उपलब्धि यह बताई जाती है कि उन्होंने भामह द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति को एक सिद्धान्त का रूप दिया और उसका अधिक विशदता एवं व्यापकता के साथ विवेचन किया। इसमें भी कुन्तक की कोई योग्यता प्रदर्शित नहीं होती। 'बाल की खाल निकालना' या 'बालू से तेल निकालने' का प्रयास कभी अच्छा नहीं माना जा सकता। ये 'बाल की खाल निकालने वाले' जितने दकियानूसी होते हैं उतने और किसी वर्ग के लोग न मिलेंगे। ध्यानपूर्वक देखने से यह पता चल जायेगा कि कुन्तक ने वर्ण-वक्रता का बहाना लेकर तो शब्दालंकारों को काटकर रख दिया है। पद-वक्रता का ढोंग खड़ा करके ध्वनियों में समाहित कर दिया है परन्तु यहाँ कुन्तक ने बड़े चातुर्य से काम लिया है और 'ट्रेड-मार्क' को इस खूबी के साथ हटाया है कि 'डुप्लीकेसी' पकड़ी ही न जा सके। वाक्य वक्रता तो अर्थालंकार ही है। कुन्तक ही वक्रता प्रकरणों तथा प्रबन्धों तक में 'ब्रह्म-सत्ता' की भाँति व्याप्त है। इसी प्रकार कुन्तक ने वक्रता को ऐसा बोझिल बना दिया कि द्रोण-गिरि की भाँति उसे कोई हनुमान जैसा ही धुरन्धर उठा सकता है। वक्रोक्ति के निरर्थक भेदों को देखकर बड़ी निराशा होती है कि वे वक्रोक्ति के भेद हैं या द्रौपदी का चीर।

3. वक्रोक्ति-सिद्धान्त की तीसरी विशेषता यह बताई जाती है कि उसमें कवि-कौशल का भी उल्लेख किया गया है। कवि-कौशल के बिना तो कोई रचना ही सम्भव नहीं है और यह कवि-कौशल तो काव्य का मुख्य हेतु कवि-प्रतिभा ही है।

4. इसके अतिरिक्त रीति, रस तथा औचित्य आदि से सम्बन्ध स्थापित करने सम्बन्धी विशेषताओं का भी उल्लेख किया जाता है परन्तु ये सभी बातें 'दादी की कहानी' ही हैं। इनमें कुछ भी सार नहीं है। जहाँ काव्य का आत्मा-सम्बन्धी विवेचन करने वाले अलंकार तथा रीति आदि सम्प्रदाय प्रचलित थे वहाँ कुन्तक ने आचार्यत्व की झोंक में आकर 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' के रूप में एक नया बखेड़ा-खड़ा कर दिया। कुछ विद्वान् वक्रोक्ति सिद्धान्त को सम्प्रदाय के नाम से भी अभिहित करते हैं परन्तु यह सर्वथा अनुपयुक्त होगा क्योंकि कुन्तक के मत का अनुयायी ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा। अत: वक्रोक्ति-सिद्धान्त को सम्प्रदाय भी नहीं माना जा सकता।

निष्कर्ष रूप में वक्रोक्ति सिद्धान्त के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इस सिद्धांत पर कुन्तक ने अपार समय और शक्ति तो व्यय की परन्तु उपलब्धि कुछ भी नहीं हुई। यहाँ तक कि पहाड़ खोदा गया और चुहिया भी न निकल पाई।

औचित्य-सिद्धान्त

औचित्य परम्परा का उद्भव एवं विकास

औचित्य-सिद्धान्त के प्रर्वत्तक **आचार्य क्षेमेन्द्र (11 वीं शती)** माने जाते हैं परन्तु क्षेमेन्द्र से पूर्व भी औचित्य की एक सुदीर्घ परम्परा संस्कृत-साहित्य में परिलक्षित होती है। सर्वप्रथम **आचार्य भरत** ने अपने नाट्य-शास्त्र में अभिनय के औचित्य पर प्रकाश डाला है जिसमें उन्होंने पात्रों की वेशभूषा, गति, अभिनय, कार्यादि के प्रयोग पर बल दिया है।[1] इस सम्बन्ध में भरत का मत है कि नाटक में विभिन्न देश, कालादि तथा स्थानादि का समावेश रहता है। अत: सम्बन्धित क्रिया-कलापों का कथांकन करने के लिए यह उचित ही है कि तत्कालीन वेश-भूषादि का समुचित ध्यान रखा जाय। यदि ऐसा न किया जायेगा तो रस परिपाक में व्याघात उत्पन्न हो जायेगा। भरत ने यह कोई बिल्कुल नवीन बात नहीं कही थी। यह तथ्य तो लोक-जीवन में भी बराबर प्रचलित रहा होगा। वेश तथा भाषादि के सम्बन्ध में वर्तमान में भी यह उक्ति व्यवहृत होती है-

'जैसा देश वैसा भेष'

'देसी गधा पूरबी रेंक रेंकै'

नाटक के सम्बन्ध में यह तथ्य और भी उजागर होकर सामने आता है क्योंकि नाटक एक दृश्य-काव्य है। यदि नाटक के पात्रों की वेशभूषा, भाषा तथा कर्मादि तत्कालीन वातावरण के अनुकूल न होंगे तो वह अवश्य ही हास्यास्पद लगेगा। **उदाहरणार्थ**- यदि महाभारत कालीन पात्रों को कोट-पेंट या टाई से लैस कर दिया जायेगा और वे अँग्रेजी में सम्भाषण करने लगेंगे तो यह मात्र ओछेपन का ही परिचायक होगा। कला

का सौन्दर्य उसमें उद्भूत न हो सकेगा। अश्लीलता ही औचित्य का गला घोंटने को पर्याप्त है। काव्य (नाटकादि) में अश्लीलता का प्रयोग रस में विष घोलना है।

आचार्य भरत ने यद्यपि औचित्य का प्रतिपादन बड़ी स्पष्टता के साथ किया हैं परन्तु उनकी धारणा मात्र नाटक तक और नाटक के भी बाह्य पक्ष तक ही सीमित थी परन्तु फिर भी औचित्य का मूल रूप में प्रतिपादन करने का श्रेय भरत को ही मिलना चाहिये।

भरत के पश्चात् **भामह** ने प्रत्यक्ष में तो नहीं परन्तु परोक्ष रूप में औचित्य का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि असाधु वस्तु भी आश्रय के सौंदर्य के द्वारा अत्यधिक सुन्दर बन जाती है।

आगे चलकर **दण्डी** ने दोषों का निरूपण करते समय देश-गत, काल-गत आदि काव्य-दोषों का विवेचन करते हुए कहा है कि कवि-कौशल से ये दोष भी गुण बन जाते हैं। दण्डी का यह कथन औचित्य का ही समर्थक है। जिसमें कवि अपने कौशल से दोषों को भी गुण बना डालता है। महात्मा तुलसी का यह कथन देखिए--

सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई। (मानस)

दैत्यराज बलि की माता अपने पति वरोचन के साथ सती नहीं हुई थी। तत्कालीन परम्परा में एक साध्वी के लिए यह उचित नहीं था परन्तु कवि ने अपने कौशल के द्वारा सती न हो सकने के दोष को गुण में परिवर्तित कर दिखाया है।

भली भई मैं ना जरी (पति) वैरोचन के साथ।
मेरे बलि ऐसौ भयौ जापै कृष्ण पमारे हाथ।।

दण्डी के पश्चात् **यशोवर्मन** ने 'रामाभ्युदय' नामक नाटक की भूमिका में औचित्य की स्थापना स्पष्ट रूप से की है।

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्रपात्रोचिता
पुष्टिः स्वासरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुत संविधानक विधौ प्रौढ़िश्च शब्दार्थयोः
विद्वद्भि परिभाव्यताम विहितैः एता वदेवास्तुनः।।

इस प्रकार इन्होंने औचित्य की स्थापना करते हुए कहा है कि पात्रोचित कथन तथा स्वभावादि का प्रदर्शन करने से ही रस की पुष्टि होती है। अतः कथा में इन तत्त्वों का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। यशोवर्मन का यह कथन भरत की स्थापना का स्पष्टीकरण ही ज्ञात होता है।

आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि' को काव्य का मूल-तत्त्व (सौंदर्य-तत्त्व) मानते हुए यह स्वीकार किया है कि उचित अभिव्यक्ति ही ध्वनि की सफलता का मूल है। असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि के रूप में रस को ध्वनि का एक रूप मानते हुए उन्होंने कहा है कि अनौचित्य सदैव रस की प्रतीति में बाधक होता है। आनन्दवर्द्धन ने छः प्रकार के औचित्यों का उल्लेख भी किया है। इस संदर्भ में यहाँ यह तथ्य गम्भीरता से विचारणीय

है कि आनन्दवर्द्धन ने औचित्य का निरूपण ध्वनि के साधन के रूप में ही किया है। अन्ततोगत्वा उनका प्रतिपाद्य तो ध्वनि ही है। अत: औचित्य का सांगोपांग विवेचन होते हुए भी आनन्दवर्द्धन को 'औचित्य सिद्धान्त' का निरूपक आचार्य नहीं माना जा सकता।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् **कुन्तक, राजशेखर, महिमभट्ट, अभिनव** आदि ने भी यथा संभव औचित्य का विवेचन किया है। इनमें अधिकांश विद्वान् औचित्य को दोषाभाव के रूप में ही मानते हैं।

अंत में **क्षेमेन्द** ने औचित्य का सविस्तार विवेचन करके उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित किया जिसके आधार पर क्षेमेन्द्र औचित्य-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। परन्तु क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त भी रीति तथा वक्रोक्ति की भाँति अधिक प्रचलित न हो सका। वह केवल मात्र दोषाभाव ही बनकर रह गया। हिन्दी आचार्यो तक ने भी दोषाभाव में ही औचित्य का अन्तर्भाव ग्रहण किया है।

औचित्य का स्वरूप

औचित्य के स्वरूप-सम्बन्धी तत्त्वों का निर्धारण भरत से लेकर क्षेमेन्द्र तक निरन्तर होता रहा है। विद्वानों ने औचित्य को सामान्य रूप में भी निरूपित किया है और वृहद् रूप में भी। सर्वप्रथम **भरत** ने अपने ग्रंथ नाट्य शास्त्र में पात्रों की वेशभूषा तथा अभिनय आदि के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया था-

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपो ऽभिनयश्च कार्यः।
(नाट्य शास्त्र)

अर्थात् प्रथमत: पात्रों की वेशभूषा उनकी वय (उम्र) के अनुरूप होनी चाहिए। पात्रों की वेशभूषा के अनुरूप ही उनकी गति (स्थिति) हो। पात्रों की स्थिति के अनुरूप ही उनका पाठ (संवादादि) होने चाहिए और संवादादि के अनुरूप ही उनके अभिनय (क्रिया कलाप तथा भावादि) का प्रदर्शन होना चाहिए।

यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि भरत का 'अनुरूप' शब्द प्रकारान्तर से 'औचित्य' का ही समानार्थी है जिसमें पात्रों की वेशभूषा, अवस्था, भाषा तथा कार्यो के उचित प्रयोग का प्राविधान किया गया है। यद्यपि भरत का यह 'औचित्य' निरूपण बाह्य तत्त्वों पर ही आधारित है परन्तु इसमें यह निर्देश स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि नाटकादि में औचित्य का पालन करना आवश्यक है। इसी से नाटकादि की उपयोगिता बढ़ती है।

भामह ने भी औचित्य का निरूपण किया जो इस प्रकार है :-

किंचिद् आश्रय सौंदर्यात् धृते शोभामासाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसिमिवाञ्जनम्।। (काव्यादर्श)

अर्थात् सौंदर्य के किंचित आश्रय से भी असाधु तत्त्व शोभा को धारण कर लेते हैं जैसे- सुन्दर रमणी के नेत्रों में लगा हुआ काजल काला होने पर भी सुशोभित लगता

है। इस आधार पर भामह ने वस्तु के स्थानोचित औचित्य का निरूपण किया है। **दण्डी** ने कवि-कौशल को महत्त्व देते हुए कहा है कि कवि कौशल से प्रयुक्त दोष भी गुण बन जाते हैं।[7] **आनन्दवर्द्धन** ने अलंकार, गुण, संघटना प्रबन्ध, रीति तथा रस के उचित प्रयोग पर बल देते हुए औचित्य की व्यापकता की स्थापना की है।[8]

अंत में **क्षेमेन्द्र** ने औचित्य का विशद् विवेचन करते हुए उसे एक काव्यात्म-मूलक सम्प्रदाय के रूप में निरूपित किया। उन्होंने अपने ग्रंथ **'औचित्य विचार चर्चा'** में औचित्य के सम्बन्ध में कहा है–

उचितं प्राहुराचार्या सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य हि यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

अर्थात् जो वस्तु किसी अन्य वस्तु के सदृश या अनुरूप होती है उसे आचार्यगण उचित कहते हैं और उचित का जो यह भाव है वही औचित्य है। इस आधार पर क्षेमेन्द्र भी काव्य तत्त्वों के उचित सामंजस्य को 'औचित्य' मानते हैं और जहाँ यह सामंजस्य नहीं होता वहीं औचित्य का अभाव रहता है। इस तथ्य को उन्होंने एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है–

कण्ठे मेखलया नितम्ब फलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुर-बन्धनेन चरणेः केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणतौ रिपौ करुणया नायन्ति के हास्यताम्,
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।।

अर्थात् यदि किसी नारी द्वारा गले में मेखला, नितम्बों पर हार, हाथों में नूपुर, पैरों में केयूर (भुजबन्ध) धारण कर लिए जायें अथवा कोई व्यक्ति शरणागत पर शौर्य का प्रदर्शन करे या शत्रु पर करुणा प्रदर्शित करे तो यह समस्त कार्य किसको हास्यास्पद नहीं होंगे। इसी प्रकार बिना औचित्य के अलंकार और गुण भी रोचकता उत्पन्न नहीं कर सकते।

आचार्यों के उपर्युक्त मतों के आधार पर निष्कर्षतः यह कहना संगत ही है कि– **'काव्य तत्त्वों के उचित सामंजस्य को ही 'औचित्य' कहते हैं।'**

औचित्य के प्रकार

क्षेमेन्द्र ने जहाँ एक ओर औचित्य के स्वरूपादि का विशदता से विवेचन किया है वहाँ दूसरी ओर उन्होंने औचित्य के 28 प्रकार भी बताये हैं। ये 28 प्रकार इस प्रकार हैं– **पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वाद तथा अन्य काव्यांग।**

इन 28 तत्त्वों के नामकरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेमेन्द्र ने भाषा, अलंकार, भाव तथा व्यक्ति के गुण-स्वभावादि तथा काव्य के किसी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म

तत्त्व को भी औचित्य से रहित होना स्वीकार नहीं किया है। **आनन्दवर्द्धन** ने औचित्य को छः प्रकारों में ही समाहित कर दिया है – रसौचित्य, अलंकारौचित्य, गुणौचित्य, संघटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य तथा रीत्यौचित्य। क्षेमेन्द्र के सभी प्रकार प्रायः इन्हीं छः गुणों में अन्तर्भूत हो जाते है। पद, वाक्य, क्रिया, लिंग, कारक, वचन, उपसर्ग तथा निपात को संघटनौचित्य एवं भाषा औचित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि काव्य-भाषा पूर्णरूपेण भाषा सम्बन्धी दोषों से मुक्त होनी चाहिये। रस, अलंकार, गुण तथा प्रबन्ध का आनन्दवर्द्धन ने पृथक् अस्तित्व ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त अन्य काव्यांगो में काव्य-शैली (रीति) को रखा जा सकता है। देश तथा काल को पृथक्-पृथक् तत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा। कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, स्वभाव, विभाव, प्रतिभा, अवस्था तथा नाम को पात्रौचित्य की संज्ञा दी जा सकती है। अभिप्राय तथा सार-संग्रह को भावौचित्य, विचार को विचारौचित्य तथा आशीर्वाद को व्यवहारौचित्य माना जा सकता है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र के 28 और आनन्दवर्द्धन के छः प्रकारों को मिलाकर निष्कर्ष रूप में औचित्य के निम्नलिखित प्रकारों का विवेचन किया जा सकता है–

1. संघटनौचित्य या भाषा-औचित्य 2. रसौचित्य 3. अलंकारौचित्य 4. गुणौचित्य 5. प्रबन्धौचित्य 6. रीत्यौचित्य 7. देशौचित्य 8. कालौचित्य 9. पात्रौचित्य 10. भावौचित्य 11. विचारौचित्य 12. व्यवहारौचित्य।

नीचे इन सबका पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है–

संघटनौचित्य– संघटना का तात्पर्य है रचना विधान या वाक्य विन्यास। समास-प्रयोग को वाक्य रचना का प्रमुख आधार मानते हुए इसे तीन प्रकार का माना गया है। उत्तम, मध्यम तथा अधम। **उत्तम** संघटन उसको माना जाता है जहाँ समासों का प्रयोग सामान्य या नगण्य हो। **मध्यम** रचना वह होती है जहाँ समासों का प्रयोग सामान्य से कुछ अधिक तथा जटिल से कम अर्थात् मध्यम कोटि का हो। **अधम** रचना विधान में जटिल समास अर्थात् समस्त प्रयोगों का बाहुल्य रहता है। संघटनौचित्य में चार बातों का ध्यान रखना आवश्यक है– रस-प्रयोग, वक्ता की स्थिति, प्रतिपाद्य विषय तथा काव्य का रूप। इसी आधार परश्रृंगारादि कोमल रसों में सरल, समास-विहीन शब्दावली का प्रयोग होना चाहिए और वीर-रौद्रादि कठोर रसों में जटिल समासों का प्रयोग किया जा सकता है। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग पात्रों की स्थिति का सांगोपांग निरूपण करता है। **जयशंकर प्रसाद** के नाटक चन्द्रगुप्त में ग्रीक पात्रों के मुख से ग्रीक-मिश्रित-संस्कृत का प्रयोग उचित रहता जैसा कि संस्कृत के नाटकों में पात्रों के औचित्य के आधार पर संस्कृत, प्राकृत, तथा अपभ्रंश युक्त वाक्यावली की रचना की जाती थी या आधुनिक हिन्दी नाटकों में पात्रानुकूल अंग्रेजी, उर्दू-फारसी या तत्सम-तद्भव शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। प्रतिपाद्य विषय-मूलक औचित्य में वाक्य, रचना, सरल, जटिल अथवा मध्यम होनी चाहिए जैसी कि 'रामचरितमानस' में है। वहाँ स्तुतियाँ संस्कृत में हैं और कथा सरल अवधी में। इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य में तो सरल

व जटिल सभी प्रकार की वाक्य रचना का अवकाश रहता है परन्तु मुक्तक में वाक्यावली सरल एवं भावानुकूल ही होनी चाहिए। छायावादी तथा प्रयोगवादी कवियों में प्रतीकों और समासों की भरमार में संघटनौचित्य का उल्लंघन हुआ है।

रसौचित्य – आनन्दवर्द्धन ने रसौचित्य के लिए दस क्रियाएँ आवश्यक बताई हैं–

1. शब्द और अर्थ का प्रयोग उचित हो।
2. भाषा के अवयवों जैसे– प्रत्यय, लिंग, वचन, कारक, काल, समासादि का प्रयोग उचित हो।
3. प्रबन्ध-काव्य में संधियों आदि का उचित समावेश हो।
4. विरोधी रसों के अंगो (विभावादि) का विस्तृत वर्णन न हो।
5. परस्पर विरोधी रसों का एक ही स्थान पर वर्णन न हो।
6. गौण वस्तु, घटना तथा पात्रादि का इतना विस्तृत वर्णन न हो कि मूल रस ही उससे दब जाय।
7 अंग तथा अंगी रसों में परस्पर सामंजस्य हो। अंगी रस का अधिक तथा अंग रसों का सीमित वर्णन होना चाहिए
8. रसों में जहाँ आंगिक भाव न भी हो तब भी उनका अपेक्षाकृत कम तथा अंगी रस का अधिक वर्णन होना चाहिये।
9. रस का प्रयोग अवसरानुकूल हो।
10. विभावादि के वर्णनों में भी औचित्य का ध्यान रखा जाना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन में रस, भाव, भाषादि के उचित प्रयोगों पर बल दिया गया है जिससे रस का रूप विकृत न हो जाय या 'रस' रसाभास मात्र न रह जाय। यहाँ यह तथ्य भी स्पष्ट करना उचित ही है कि 'रस' जब अनौचिंत्य की परिधि में चला जाता है तो वह 'रस' रहता ही नहीं, रसाभास मात्र रह जाता है क्योंकि इस स्थिति में भावों का साधारणीकरण ही नहीं हो पाता।

अलंकारौचित्य – आनन्दवर्द्धन ने अलंकार ध्वनि (संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि) के रूप में अलंकारों को ध्वनि में प्रमुख स्थान प्रदान करते हुए अलंकारौचित्य का भी उल्लेख किया है। इनके अनुसार भी पाँच भेद हैं। जिसका विवरण इस प्रकार है–

1. अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग।
2. अलंकारों के प्रयोग में बौद्धिक प्रयास का निवारण।
3. अलंकारों द्वारा साध्य (मूल भाव) की पुष्टि।
4. अलंकारों का सौंदर्योत्कर्ष के साधन रूप (गौण रूप में ही) प्रयोग।
5. श्लेषादि चमत्कार मूलक अलंकारों का गौण एवं सीमित प्रयोग।

केशवकृत राम चन्द्रिका में अलंकारौचित्य के उल्लंघन की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है और सूरसागर तथा रामचरितमानस में अलंकारौचित्य का पर्याप्त मात्रा

में निर्वाह हुआ है।

गुणौचित्य – आनन्दवर्द्धन ने 'गुण' शब्द के अन्तर्गत माधुर्य, ओज तथा प्रसादादि गुणों को ही स्थान दिया है। इनके अनुसार गुणों का औचित्य इसी में है कि उनका प्रयोग भावों की प्रवृत्ति के अनुरूप ही हो।शृंगार में ओज का और वीर में माधुर्य का प्रयोग उचित नहीं कहा जा सकता। केशवदास तथा भूषण के काव्य में अधिकांश स्थल ऐसे मिल जाते हैं जहाँ पर कोमलता में कठोरता और सरलता में क्लिष्टता का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के स्थलों में गुणौचित्य का अभाव ही माना जायेगा। 'राम चन्द्रिका' में राम का अपनी माता को पतिव्रत धर्म का उपदेश, पंचवटी तथा अन्य आश्रमादि का वृहत् चमत्कारी वर्णन, राम-मिलन को जाती हुई भीड़ का भरत की चतुरंगिणी सेना के रूप में वर्णन आदि स्थल ऐसे हैं जहाँ गुणौचित्य का उल्लंघन किया गया है।

प्रबन्धौचित्य – प्रबन्धौचित्य में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है–

1. आधिकारिक कथा में ऐतिहासिक तथा लोक विश्रुत वृत्तों को प्रधानता देनी चाहिए।

2. वर्ण्य वस्तु तथा रस में अनुकूलता होनी चाहिए।

3. यदि प्रधान कथा का कुछ अंश वर्ण्य के प्रतिकूल पड़ता हो तो उसे या तो चलता कर देना चाहिए या हटा देना चाहिए। और अनुकूल स्थलों का सविस्तार वर्णन किया जाना चाहिए जैसे– महात्मा तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में साकेत तथा आश्रमादि के वर्णनों को हटाकर केवल राम-कथा के गंभीर एवं मार्मिक स्शलों को ही लिया है और अनेक अन्तर्कथाओं की सूचना मात्र देकर छोड़ दी है तथा कुछ कथाएँ जिसका 'शांत-भक्ति रस' से सम्बन्ध है उनको तुलसीदास ने जोड़ दिया है यथा–नारद मोह की कथा, सती-विनाश की कथा, शंकर पार्वती-विवाह की कथा, प्रतापभानु-अरिमर्दन की कथा तथा काकभुशुण्डि गरुड़ की कथा आदि।

4. प्रासांगिक घटनाओं का विस्तार आवश्यकतानुकूल ही हो।

5. प्रमुख कथा के प्रवाह में बाधा उपस्थित करने वाले अन्य वर्णनों की भरमार नहीं होनी चाहिए। जैसे रामचन्द्रिका में।

6. गौण घटना को मुख्य नहीं बनाना चाहिए जैसे राम-कथा में लक्ष्मण तथा उर्मिला का स्थान गौण है और राम-सीता का प्रमुख परन्तु 'साकेत' में 'उर्मिला-लक्ष्मण' के चरित को प्रधानता दी गई है जिससे 'राम-सीता' के चरित्र गौण से प्रतीत होते हैं।

7. प्रबन्ध काव्य में केवल उन्हीं घटनाओं का सन्निवेश होना चाहिए जो रसाभिव्यंजन में सहायक हों जैसे 'रामचरित मानस' तथा 'सूरसागर' में हुआ है। इसके अतिरिक्त 'रामचन्द्रिका' में चमत्कार पूर्ण वर्णनों की भरमार से रसाभिव्यंजन में बाधा उपस्थित हुई है।

8. कवि को प्रधान पात्र पर से कभी ध्यान नहीं हटाना चाहिए। रामचरितमानस तथा सूरसागर में यह दृष्टि अधिक स्पष्ट है। साकेत में इसका उल्लंघन मिलता है।

9. काव्य की समस्त घटनायें देश, काल तथा पात्रों की प्रवृत्ति के अनुकूल ही होनी चाहिए।

रीत्यौचित्य– रीत्यौचित्य के अन्तर्गत आनन्दवर्द्धन का कथन है कि रस, गुण, अलंकारादि का वक्ता तथा विषय आदि के अनुरूप ही प्रयोग होना चाहिए। रीति का सम्बन्ध गुणों से होता है और गुणों का रसों से। अतः रीत्यौचित्य के अन्तर्गत कवि को भाषा, अलंकार तथा छन्दादि के उचित प्रयोग का ध्यान रखना चाहिए। उनको पात्र तथा रसादि के अनुकूल होना चाहिए। जैसे– 'रामचरित मानस' के परशुराम संवाद में राम, लक्ष्मण तथा परशुराम के वार्तालाप में भाषा का पात्रोचित प्रयोग अत्यन्त मनोहारी है। रामचन्द्रिका के संवादों में भी यह गुण पूर्णरूपेण विद्यमान है। कहीं-कहीं 'रामचरितमानस' तथा 'रामचन्द्रिका' में रीत्यौचित्य का उल्लंघन भी मिलता है। जैसे :– भरत जैसे महान् पात्र का अपनी माता से यह कथन **'वर माँगत तोहि भई न पीरा। जरी न जीभ परे न मुँह कीरा।'** रामचन्द्रिका में राम के लिए **'वासर की सम्पत्ति उलूक ज्यों न चितवत'** में राम के लिए उलूक शब्द का प्रयोग आदि, रीतिकालीन काव्य में जहाँ राधा और कृष्ण के भद्दे, भौंड़े, अश्लीलादि तथा गर्हित चित्र खीचने में कवियों ने अपनी धृष्टता का परिचय दिया है वहाँ भी रीत्यौचित्य का स्पष्ट रूप में अभाव परिलक्षित होता है।

देशोचित्य– देशौचित्य से क्षेमेन्द्र का तात्पर्य यह है कि स्थानगत विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ही वहाँ का वर्णन करना चाहिए। केशवदास कृत 'रामचन्द्रिका' में देशौचित्य का कहीं-कहीं उल्लंघन मिलता है जैसे उन्होंने विश्वामित्र के आश्रम में **'एला लता लवंग संग पुंगी फल सोहै'** आदि का वर्णन करते समय यह भी ध्यान नहीं रखा कि बिहार में जहाँ विश्वामित्र का आश्रम था ये वस्तुएँ उत्पन्न ही नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त पात्रों की भाषा, वेशभूषा, रहन-सहन तथा रीति-रिवाज भी देश-गत विशेषताओं से युक्त होने चाहिए। देशगत विशेषता को पाश्चात्य नाट्य शास्त्रियों ने 'यूनिटी आफ प्लेस' अर्थात् 'स्थानगत एकता' कहा है। स्थानगत एकता का ध्यान रखे बिना काव्य में सम्भाव्यता नहीं आ सकती। साथ ही कथा का लोकविश्रुत तथा ऐतिहासिक रूप भी विकृत हो जाता है।

कालौचित्य – कवि को काव्य-रचना करते समय उसकी काल-गत विशेषताओं का भी ध्यान रखना चाहिए।

उदाहरण के लिए महाभारत के युद्ध में यदि जीपों, ट्रकों एवं रेलगाड़ियों आदि का वर्णन कर दिया जाय तो यह बड़ा ही विचित्र होगा और इससे कथा की संभाव्यता समाप्त हो जायेगी। रामचन्द्रिका में केशव ने तथा साकेत में मैथिलीशरण गुप्त ने काल-गत औचित्य का उल्लंघन किया है। यथा –

पांडव की प्रतिमा सम लेखों।
अर्जुन भीम महामति देखों।। (रामचन्द्रिका)

इन पंक्तियों में अर्जुन, भीम आदि पाण्डवों का उल्लेख 'त्रेतायुग' की कथा में किया गया है जबकि पाण्डवों का प्रादुर्भाव 'त्रेता' के पश्चात् आने वाले युग 'द्वापर' में हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि केशव ने जिस काल में इन व्यक्तियों के नाम लिए हैं उस समय तो इनका जन्म भी नहीं हुआ था इसी प्रकार का काल-गत विक्षेप साकेत में एक स्थान पर गुप्त जी ने भी प्रदर्शित किया है। यथा –

करुणे क्यों रोती है।
उत्तर में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है जो उसकी भवभूति क्यों कहै कोई।। (साकेत)

इन पंक्तियों में उर्मिला ने 'उत्तरामचरित' में वर्णित सीता की करुणा का उल्लेख किया है जबकि उस समय तक उक्त घटना-घटित ही नहीं हो पाई थी। अत: काव्य-रचना करते समय काल-गत विक्षेप से भी बचना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों ने काल-गत औचित्य को 'यूनिटी आफ टाइम' कहा है।

पात्रौचित्य – पात्रौचित्य का उल्लेख क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त भरत एवं यशोवर्मन ने भी किया है। इसका तात्पर्य यह है कि 'कथा' आदि में प्रयुक्त पात्रों के नाम, रूप, गुण, स्वभाव, भाषा, वेश-भूषा तथा कार्यादि तत्सम्बन्धी परिस्थितियों के अनुरूप ही होने चाहिए। पात्रौचित्य का निरूपण करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि– यदि कोई स्त्री गले में करधनी, हाथों में नूपुर तथा पैरों में कपूर धारण कर ले तो उसकी स्थिति बड़ी विचित्र एवं हास्यास्पद हो जायेगी। गोपियों द्वारा 'महारास' में सम्मलित होने के लिए जाते समय का वर्णन भी बहुत कुछ इसी से मिलता है।[7]

वेशभूषा के अतिरिक्त पात्रोचित भाषा का भी प्रयोग होना चाहिए। संस्कृत नाटकों में पात्रोचित भाषा का ही प्रयोग किया जाता था। इसीलिये इन नाटकों के उच्चकोटि के पात्र, राजा, मंत्री, ऋषि, मुनि तथा देवता आदि संस्कृत भाषा में बोलते थे। स्त्रियों, सेवकों और सैनिकों आदि की भाषा प्राकृत या अपभ्रंश रहती थी। प्राकृत में भी पात्रों की गरिमा के अनुसार शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची आदि का प्रयोग किया जाता था।

जयंशकर प्रसाद के नाटक-चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, तथा स्कन्दगुप्त में विदेशी पात्र भी हिन्दी में बोलते दिखाये गये हैं। अत: यह कुछ अव्यवस्थित सा लगता है। आधुनिक नाटकों में इसीलिए उर्दू–तथा फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग कराया जाता है।

भावौचित्य – काव्य में भाव का बड़ा महत्त्व है। रस के पश्चात् भाव ही काव्य का मूल तत्त्व माना जाता है। अत: काव्य में भावों का भी यथोचित प्रयोग होना चाहिए। भावों का प्रदर्शन पात्रों पर थोपा हुआ प्रदर्शित न हो। रामचन्द्रिका के परशुराम संवाद में परशुराम का क्रोध बिल्कुल बनावटी लगता है। निम्नलिखित पद से यह स्पष्ट हो जायेगा–

तोरि सरासन संकर कौ सुभ सीय स्वयंवर माँझ बरी।
ताते बढ्यौ अभिमान महा मन मेरिहु नैंक न संक करी।
सो अपराध परयौ हमसों अब क्यों सुधरै तुम ही धौं कहौ।
बाहु दै वेगि कुठारहि 'केसव' आपने धाम को पंथ गहौ।

(रामचन्द्रिका)

प्रथम दो पंक्तियों में परशुराम ने राम से कहा–शंकर के धनुष को तोड़कर और स्वयंवर में सीता का वरण करके तुम्हें बड़ा घमण्ड हो गया है इसी से मेरी भी शंका नहीं करते। तीसरी पंक्ति में राम ने कहा–मुझ से यह अपराध तो अवश्य ही हो गया है। अब इसे मैं कैसे दूर करूँ। आप ही इसके सुधार का उपाय बताइये। इस पर परशुराम कहते हैं– मेरे फरसे से अपने दोनों हाथों को कटवाकर अपने घर चले जाओ यही इसका उपाय है। परशुराम के इस कथन में क्रोध के भाव का अनुचित प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार रामचरित मानस में लक्ष्मण के क्रोध की भी कई स्थानों पर अनुचित अभिव्यक्ति हुई है। रीतिकालीन कविता में भावों के अनौचित्य का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है।

विचारौचित्य– विचारों की उचित अभिव्यक्ति भी काव्य-सौंदर्य में वृद्धि करती है। रामचन्द्रिका में राम द्वारा अपनी माता को पतिव्रत धर्म का उपदेश विचारों के अनौचित्य का ही परिचायक है। साथ ही भरत द्वारा अपनी माता कैकेयी के लिए **'जरी न जीभ परे न मुँह कीरा'** आदि अशोभनीय शब्दों के प्रयोग को उचित विचारों का पोषक नहीं माना जा सकता। छायावादी तथा प्रयोगवादी काव्य में भी विचारों का अनुचित प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

विचार एक प्रकार से आदर्श का संस्थापक माना जाता है। अत: काव्य में दूषित विचारों के कुपोषण से काव्य के आदर्श पक्ष को आघात पहुँचता है। रीतिकालीनशृंगारी काव्य में राधा और कृष्ण के अश्लील चित्र इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। उदाहरणार्थ :–

राधा हरि-हरि राधिका बनि आये संकेत।
दम्पत्ति रति विपरीत सुख सहज सुरति हू लेत।। (बिहारी)

इन पंक्तियों में राधा और कृष्ण को विपरीत रति में प्रवृत्त दिखाया है। जबकि 'श्रीमद् भागवद्गीता' में 'यत्र योगेश्वरो कृष्ण' कहकर उन्हें योगेश्वर घोषित किया है। परन्तु रीतिकालीन कवियों ने तो विलासिता के गर्त में पड़े हुए पौरुष हीन तथा निठल्ले आश्रयदाताओं की भोगलिप्सा पर पर्दा डालने के लिए यह कहर ढाया था। समाज के युवा वर्ग पर इन कविताओं का बड़ा गलत असर पड़ता है। ये कवितायें जहाँ एक ओर हमारी धार्मिक भावनाओं पर कुठाराघात करती हैं वहाँ दूसरी ओर ये समाज में अनाचार की वृद्धि भी करती हैं। ऐसी पंक्तियाँ दुराचारियों को अपने दुराचरण की वकालत करने में बड़ी सहायता करती हैं। ये पंक्तियाँ इन लोगों की सुरक्षात्मक ढाल हैं। इसी प्रकार प्रयोगवादी कविता में कौवे, गधे और कुत्ते आदि के वर्णन भी अनुचित विचारों के

पोषक हैं। काव्य में अश्लीलता का प्रदर्शन सबसे बड़ा पाप है। नरककुण्ड है। नैतिक पतन की पराकाष्ठा है।

व्यवहारौचित्य – व्यवहारौचित्य से तात्पर्य यह है कि काव्यादि में प्रयुक्त पात्रों में शिष्टाचार आदि का समावेश भी होना चाहिए। बड़ों की सेवा की भावना, आज्ञापालन, छोटों पर स्नेह, अभिवादन शीलता आदि से सामाजिक शौर्य की वृद्धि होती है। रामचरित मानस में व्यवहारौचित्य का निर्वाह सर्वाधिक हुआ है। इसी व्यवहारौचित्य के कारण राम को 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहा जाता है। 'रामचरितमानस' में महात्मा तुलसीदास ने पिता-पुत्र, सेवक-स्वामी, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, पति-पत्नी, भाई-भाई आदि सब के समुचित व्यवहार का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। हमारे समाज में सदैव से व्यवहारौचित्य का बड़ा महत्त्व रहा है। निम्नलिखित श्लोक से यह स्पष्ट ध्वनित होता है।

अभिवादनशीलस्यनित्यवृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

अर्थात् जो अभिवादन शील होता है और नित्य-प्रति वृद्ध जनों की सेवा करता है उसकी आयु-विद्या, यश और बल ये चारों गुण सदा बढ़ते रहते हैं।

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेमेन्द्र तथा अन्य आचार्यों ने औचित्य के जिन प्रकारों का उल्लेख किया है उनका पूर्णरूपेण प्रयोग हमारे साहित्य में उपलब्ध होता है। इन सभी भेदों के आधार पर हम काव्य की उपादेयता की झलक प्राप्त कर सकते हैं कि-- काव्य एक अत्यन्त उपयोगी विधा है जिसमें जीवन के आदर्श पक्ष का समुचित प्रदर्शन करके पाठकों को उनकी उपादेयता का ज्ञान कराते हुए भावुकता तथा मनोविकारों में बहते हुए समाज को समुचित अवलम्ब प्रदान किया जाता है।

औचित्य का काव्य में स्थान

औचित्य एक सार्वभौम सत्य है। यह काव्य के आदर्श पक्ष का पोषक है। अतः वर्ण्य, भाव, विचार, भाषा, अलंकार तथा छंदादि तक में इसकी व्याप्ति आवश्यक होती है। काव्य का मूल्य तभी बढ़ता है जब कि उसका हर पक्ष औचित्य से ओतप्रोत रहता है। औचित्य के अभाव में रचना का सौरस्य इस प्रकार जाता रहता है जिस प्रकार 'आत्मा' के अभाव में शरीर अत्यन्त अनुपयोगी तथा विकृत हो जाता है। औचित्य के भेद निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य का ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा रसादि से नित्य सम्बन्ध है। नीचे इस तत्त्व पर विचार किया जाता है –

रस तथा औचित्य – 'रस' को काव्य की आत्मा माना गया है। रस का उद्रेक सत्त्व गुण के प्रभाव से होता है। रस को 'ब्रह्मानंद सहोदर' भी कहा गया है। रस में 'अखण्डता तथा चिन्मयता' के गुण भी विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार 'रस' काव्य का एक अत्यन्त पवित्र एवं मूल्यवान् तत्त्व है परन्तु बिना औचित्य के तो 'रस' का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। 'रस' का औचित्य भावों का साधारणीकरण होता है जिसका

प्रादुर्भाव रजोगुण तथा तमोगुण के पतन के पश्चात् सत्त्व-गुण के सत्ता में आ जाने पर होता है। पाठकों तथा श्रोतादि के मन में सत्त्व गुण का आविर्भाव तथा रजोगुण एवं तमोगुण का तिरोभाव हो जाने को ही 'औचित्य'- की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि सत्त्वगुण के अभाव में रस की सत्ता समाप्त होकर उसमें रसाभास की स्थिति आ जाती है जिसका मूल कारण औचित्य का अभाव है। इस प्रकार यह तथ्य स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है कि 'रस' में सत्त्वगुण की स्थिति जिसे साधारणीकरण कहा जाता है औचित्य ही है क्योंकि रस के रसाभास में जाने का मूल कारण उसका अनौचित्य की कोटि में चले जाना या सत्त्वगुण की स्थिति का अभाव होना ही है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायेगा।

(1) बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कौन गाम काकी है बेटी देखी नहीं कबहु ब्रज खोरी।
काम कहा हमरो इत आवत खेलत रहत आपनी पौरी।
सुनत रहत व्रज में नंद ढोटा करत फिरत दधि माखन चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलो संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरई राधिका भोरी।।

(2) नीबी ललित गही यदुराई।
जबहि सरोज धर्‌यौ श्री फल पर तब जसुमति तहँ आई।।

ये दोनों ही कवितायें शृंगार रस के संयोग पक्ष पर आधारित हैं और एक ही कवि की रचनाएँ हैं तथा राधा और कृष्ण के प्रेम निरूपण से सम्बन्धित हैं। प्रथम पद में कवि ने औचित्य (मर्यादा) का अंचल नहीं छोड़ा है जिससे इस पद में भावों के साधारणीकरण की सामर्थ्य विद्यमान है। अत: इस पद में (संयोगशृंगार) रस का पूर्ण परिपाक हुआ है परन्तु दूसरी कविता में औचित्य (मर्यादा) का उल्लंघन होने के कारण वहाँ केवल रसाभास मात्र ही है क्योंकि अश्लीलत्व दोष के कारण इन पंक्तियों के पठन श्रवणादि से भावों का साधारणीकरण नहीं हो सकेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पहली कविता का प्रभाव सभी पाठकों पर समान रूप में पड़ेगा और दूसरी कविता का प्रभाव भिन्न-भिन्न पाठकों की रुचि के अनुसार भिन्न होगा। इस प्रभाव की इस भिन्नता का कारण क्रमश: मात्र औचित्य की विद्यमानता तथा अभाव ही है। इस आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि 'औचित्य' ही 'रस' का मूलाधार है।

अलंकार और औचित्य– अलंकार काव्य के बाह्य सौंदर्य के उद्‌बोधक होते हैं। जिस प्रकार शरीर प्रसाधन में अलंकारों की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार काव्य-प्रसाधन में भी अलंकारों का योग रहता है। अलंकारों के समर्थ आचार्य तो अलंकारों को काव्य की आत्मा (अनिवार्य तत्त्व) मानते हैं परन्तु 'औचित्य' के समर्थक आचार्यों ने अलंकारों के अतिशय-प्रयोग पर अंकुश लगाना आवश्यक माना है। प्राय सभी विद्वान् **'अतिसर्वत्र वर्जयेत्'** के सिद्धान्त के आधार पर अलंकारों के अतिशय प्रयोग को अनुचित

कहते हैं और काव्य में सप्रयास प्रयुक्त अलंकारों की भर्त्सना करते दिखाई देते हैं। जिस प्रकार एक सुन्दर स्वरूप को समुचित अलंकारों के प्रयोग द्वारा ही सुंदर एवं सुन्दरतम् बनाया जा सकता है उसी प्रकार काव्य में भी अलंकारों का समुचित प्रयोग ही अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। अलंकारों का क्लिष्ट प्रयोग तथा अत्यधिक प्रयोग काव्य के मूल सौंदर्य को विकृत कर देता है। श्लेषादि चमत्कार मूलक अलंकारों का अंगी रूप में प्रयोग भी वर्जित किया जाता रहा है। अलंकारों के अतिशय एवं चमत्कारिक प्रयोग पर अंकुश लगाने का कार्य औचित्य ही करता हैं। अलंकारों के अनुचित प्रयोग से 'रस' की भाँति अलंकारों का सौंदर्य हेय अवश्य हो जाता है। जैसे यदि किसी लकड़ी को बहुमूल्य अलंकारों से लाद दिया जाय तो वहाँ लकड़ी का सौंदर्य तो बढ़ेगा ही नहीं उल्टे अलंकारों की गरिमा का ह्रास भी होगा। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य में अलंकारों का उचित प्रयोग ही उपयोगी होता है। अत: औचित्य काव्य में अलंकारों की उपादेयता में वृद्धि का कार्य करता है।

ध्वनि तथा औचित्य– आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि' के उपकारक के रूप में औचित्य का भी विस्तार से विवेचन किया है। ध्वनिकार के अनुसार ध्वनि तीन प्रकार की होती है। 1. रस ध्वनि 2. अलंकार ध्वनि 3. वस्तु ध्वनि। रस तथा अलंकार का तो औचित्य के भेदों के रूप में भी निरूपण किया गया है। वस्तु-ध्वनि का भी औचित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि वस्तु का सौंदर्य भी औचित्य या मर्यादा के द्वारा ही प्रस्फुटित होता है। औचित्य के बिना वस्तु का कोई मूल्य नहीं होता। वस्तु के स्थानोचित औचित्य के सम्बन्ध में कहा गया है–

'स्थान भ्रष्टा न शोभंते दन्ताकेशानखानरा:॥'

अर्थात् दाँत, बाल, नाखून और मनुष्य; स्थानच्युत हो जाने पर शोभा नहीं देते। औचित्य हीन वस्तु का सौंदर्य विकृत होकर उपहासास्पद हो जाता है। शूर्पनखा ने राम के समक्ष जाने से पूर्व चाहे कितना ही रुचिर रूप धारण किया था परन्तु मर्यादा के अभाव में उसका सौंदर्य घृणा का आलम्बन मात्र ही बन सका था। इसके अतिरिक्त औचित्य (मर्यादा) से ओत-प्रोत शकुन्तला वल्कल वस्त्रों से युक्त होते हुए भी दुष्यन्त के आकर्षण का केन्द्र बन गई थी। इस आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ध्वनि भी औचित्य को अपने प्राण-तत्त्व की भाँति अपने में सँजोये रहती है।

रीति तथा औचित्य– आनन्दवर्द्धन ने रीत्यौचित्य का भी उल्लेख किया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य तथा शैली का अपरिहार्य सम्बन्ध है। **वामन** ने विशिष्ट प्रकार की पद-रचना को रीति कहा है और पद-रचना की विशिष्टता गुणों में मानी गई है परन्तु रीति की गुणात्मकता का सार औचित्य में ही सन्निहित है। बिना औचित्य के शैली कभी प्रभावशाली नहीं बन सकती। शैली में भाषा, अलंकार तथा छंदादि के प्रयोग तथा गुणों के समावेश आदि सभी तत्त्वों में औचित्य का निर्वहन होना परमावश्यक है। औचित्य के आधार पर ही विभिन्न कवियों की शैलियों को वर्गीकृत

किया जाता रहा है। यथा –

उत्तम पद कवि गंग के रचना को बलवीर।
केशव अरथ गँभीरता सूर तीन गुन धीर॥

इस पद में वर्णित 'उत्तमता' 'अर्थ-गंभीरता' तथा 'रचना-कौशल' सभी औचित्य के ही समानार्थी हैं। संस्कृत में भी यह परम्परा प्रचलित थी–

उपमा कालिदासस्य, भारवि अर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

यह पद भी उपर्युक्त की भाँति रीति तथा औचित्य के अपरिहार्य सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति में भी औचित्य का जितना अधिक समावेश होगा शैली उतनी ही उपादेय होगी। औचित्य को हम रीति की उपादेयता कहें तो अत्युक्ति न होगी।

वक्रोक्ति तथा औचित्य– 'वक्रोक्ति' को 'विचित्र अभिधा' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि वक्रोक्ति वह रचना होती है जिसमें विचित्र अर्थ का अभिधान रहता है। वक्रोक्ति का यह विचित्र शब्द ही औचित्य का बोधक है। कुन्तक ने **'वैदग्ध्य भंगी भणिति'** कहकर वक्रोक्ति में 'कवि-कौशल' को भी स्थान दिया है। यह 'कवि-कौशल' भी जो कि कवि प्रतिभा का द्योतक है, औचित्य की ओर ही संकेत करता है क्योंकि कवि अपनी प्रतिभा के बल पर ही उपादेय काव्य की रचना करता है जैसे– सूर, कबीर, तुलसी आदि की रचनाओं से स्पष्ट है। **कुन्तक** ने वक्रोक्ति का विस्तार 'वर्ण' से लेकर 'प्रबन्ध' तक माना है और उसके 41 भेद किये हैं। उसी प्रकार **क्षेमेन्द्र** ने भी औचित्य का विस्तार 'पद' से लेकर 'प्रबन्ध' तक माना है और उसके 28 भेद किये हैं। यदि वक्रोक्ति तथा औचित्य के भेदों को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दोनों में कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देगा। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ क्षेमेन्द्र ने काव्य के मूल तत्त्व के रूप में औचित्य का व्यवहार किया है वहाँ कुन्तक ने वक्रोक्ति का। परन्तु ध्यान पूर्वक देखने पर क्षेमेन्द्र का औचित्य और कुन्तक की वक्रता काव्य के उचित एवम् व्यापक पक्ष से ही सम्बन्धित हैं।

औचित्य काव्य की आत्मा

क्षेमेन्द्र ने **'औचित्य रस सिद्धास्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्'** कहकर औचित्य को काव्य की आत्मा भी घोषित किया है। क्षेमेन्द्र के समय तक अलंकार, रीति, 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति' तथा 'रस' को काव्य की आत्मा के रूप में निरूपित किया जा चुका था। क्षेमेन्द्र के समक्ष इन सभी सम्प्रदायों के तर्क एवं प्रमाण विद्यमान थे और 'रस' सम्प्रदाय की आत्मा-सम्बन्धी मान्यता का सर्वत्र बोलबाला हो चला था। **विश्वनाथ** ने **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** के द्वारा 'रस' को काव्य की आत्मा ही घोषित नहीं किया था बल्कि अपने पुष्ट एवं सशक्त तर्कों के द्वारा अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा 'ध्वनि' आदि की आत्मा-सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन भी प्रस्तुत किया था। विश्वनाथ का यह मत प्रायः

आगे चलकर सभी को मान्य हुआ और आज भी उसी रूप में मान्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षेमेन्द्र के समक्ष 'रस' की मान्यता का खण्डन करके औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित करने का कार्य कितना दुरूह था परन्तु क्षेमेन्द्र ने इस सम्बन्ध में कुछ पुष्ट तर्क देकर अलंकार तथा रसादि का खण्डन करने का प्रयास किया।

क्षेमेन्द्र का कथन था कि कोई भी वस्तु अपने में स्वतंत्र रहकर सुन्दर या असुन्दर नहीं होती यदि वह दूसरी वस्तुओं के अनुरूप है तो सुंदर है अन्यथा नहीं। इसी प्रकार अलंकारों का स्थानोचित प्रयोग ही सौंदर्य कारक हो सकेगा। साथ ही ओज, माधुर्य एवं प्रसादादि गुणों का भी यदि उचित प्रयोग होगा तो वे श्लाध्य होंगे, अन्यथा नहीं।

परन्तु अलंकार और गुण तो उचित प्रयोग द्वारा भी काव्य का सौंदर्य नहीं बन सकते क्योंकि ये दोनों ही सौंदर्य के साधन मात्र हैं, ये साध्य नहीं हैं। यही स्थिति रस की भी है। जिस प्रकार शरीर में स्थित रस शरीर की पुष्टि मात्र करते हैं। वे शरीर का सौंदर्य (आत्मा) नहीं होते उसी प्रकार काव्यगत 'रस' भी काव्य-शरीर को सौंदर्य के प्रकट करने की शक्ति प्रदान करते हैं। अत: 'रस' काव्य का सौंदर्य या आत्मा नहीं है। काव्य की आत्मा वह तत्त्व है जो काव्य में उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त है जिस प्रकार शरीर में आत्मा व्याप्त रहती है। काव्य का वह सर्व-व्यापक तत्त्व है औचित्य और जिस प्रकार मनुष्य का स्वास्थ्य उसके गुण तथा उत्तम कार्यादि उसके आत्म-तेज के बोधक होते हैं उसी प्रकार काव्य में अलंकारों, गुणों तथा रसादि का उचित प्रयोग ही काव्य-सौंदर्य का बोधक बन जाता है। इस प्रकार काव्योत्कर्ष का मूल औचित्य है जिस प्रकार शरीरोत्कर्ष का मूल उसके स्वास्थ्य, गुण एवं कार्यादि की महानता है।

विवेचन – उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'औचित्य' ही काव्य का मूल-तत्त्व है। यदि 'औचित्य' की व्यापकता पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि 'औचित्य' ही जीवन है। वहीं सौंदर्य है और वही सत्य है। दूसरे शब्दों में औचित्य ही **'सत्यं शिवं तथा सुन्दरम्'** का प्रतीक है। काव्य के हर पक्ष में औचित्य विद्यमान है। रस, भाव, अलंकार, भाषा तथा छन्द बिना औचित्य के सौंदर्यहीन हो जाते हैं। रस का तो औचित्य प्राण ही है क्योंकि औचित्य से च्युत हो जाने पर 'रस' का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। वह मात्र रसाभास ही रह जाता है। रीतिकालीन काव्य इस का ज्वलन्त उदाहरण है। भाव भी औचित्य के बिना भावाभास की कोटि में पहुँच जाता है। यही स्थिति अलंकारों की है। अलंकारों का अनुचित प्रयोग भी काव्य-सौंदर्य में बाधक बन जाता है। केशवकृत रामचन्द्रिका, छायावादी तथा प्रयोगवादी काव्य में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। गुणों का अनुचित प्रयोग भी रस-सिद्धि में बाधक बन जाता है। इसी प्रकार भाषा छन्दादि का अनुचित प्रयोग भी कृति के महत्त्व को समाप्त कर देता है। औचित्य का अभाव ही अनौचित्य कहलाता है। यही 'काव्य-दोष' के नाम से जाना जाता है। काव्य इतनी पवित्र वस्तु है कि उसमें किंचित दोष भी विष

का कार्य कर सकता है। केशवदास ने इसी ओर संकेत करते हुए कहा है –

राजत रंच न दोष जुत कविता बनिता मित्त।
बुन्दक हाला परत ज्यों गंगा घट अपवित्र॥ (कवि प्रिया)

महात्मा तुलसीदास ने भी 'राम-चरितमानस' को दोष मुक्त घोषित करते हुए कहा है– **'दोष रहित दूषण सहित'** अर्थात् मानस में काव्य दोषों का सर्वथा अभाव है परन्तु खर-दूषणादि राक्षसों के वृत्तों का समावेश मानस में अवश्य हो गया है।

इस समस्त विवेचन के आधार पर अब प्रश्न यह उठता है–कि क्या क्षेमेन्द्र आदि आचार्यों ने औचित्य की इस रूप में विवक्षा की है जिससे उसे काव्य का मूल-तत्त्व स्थिर किया जा सके? यदि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य के अन्तरंग-पक्ष अर्थात् 'आत्म-तत्त्व' के रूप में चित्रित किया होता तो उसे स्पष्ट रूप में काव्य-सौंदर्य घोषित किया जाना चाहिए था। तब औचित्य एक लौकिक (बाह्य) सौंदर्य न रहकर आंतरिक (अलौकिक सौंदर्य का द्योतक होता क्योंकि अलौकिक सौंदर्य-स्वरूपी औचित्य साधारणीकरण की योग्यता से विभूषित होना चाहिए था तभी औचित्य को काव्य का सत्य, काव्य का सौंदर्य या काव्य की उपयोगिता के रूप माना जा सकता था। यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि इस प्रकार का औचित्य तो रस की ही कक्षा में समाहित हो जाता है और दोनों में कोई अन्तर ही परिलक्षित नहीं होता। क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्बन्धी सिद्धान्त को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा तो घोषित कर दिया परन्तु उसे भाषा, अलंकार, गुणों तथा रसादि में व्याप्त दिखाकर उसके मात्र लौकिक आधार का ही विवेचन प्रस्तुत किया जिससे औचित्य का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट न हो सका। क्षेमेन्द्र ने यह क्यों किया? इसलिये कि उसे 'रस' से पृथक् कैसे करते। यहाँ यह स्पष्ट करना उचित ही होगा कि काव्य की आत्मा-सम्बन्धी दृष्टिकोण को जब तक शरीरस्थ आत्मा की भाँति निराकार निर्गुण तथा 'सत्, चित्, आनन्द' रूप में देखने का प्रयास नहीं किया जायेगा तब तक काव्य की आत्मा का मसला हल नहीं होगा। विश्वनाथ तथा अन्य रसवादी आचार्यों ने 'रस' को आध्यात्मवाद की आँखों से देखने का प्रयास किया इसलिए उन्हें काव्य की आत्मा के रूप में उसका दर्शन हो सका। इस विवेचन से स्पष्ट है कि लौकिक आधार पर औचित्य का कोई मूल्य नहीं है और यदि उसे अलौकिक धरातल पर स्थापित करके देखा जायेगा तो वह काव्य का 'सत्य, शिव तथा सौंदर्य' बनकर रस रूप में ही प्राप्त होगा। इस स्थिति में रस के स्थान पर औचित्य का कोई पृथक अस्तित्व ही नहीं रह जायेगा। अत: काव्य की आत्मा के रूप में 'रस' की स्थापना हो जाने के पश्चात् 'औचित्य' को काव्य की आत्मा के रूप में ख्याति प्राप्त न हो सकी और क्षेमेन्द्र का 'औचित्य सिद्धांत' भी रीति तथा वक्रोक्ति आदि की भाँति औचित्य विचार चर्चा में ही पड़ा रह गया।

यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि क्षेमेन्द्र के औचित्य-निरूपण में अतिव्याप्ति दोष भी आ गया है और अतिव्याप्ति को काव्यात्म रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यदि कोई घर में जलते हुए दीपक के प्रकाश की सर्वत्र व्याप्ति को देखकर घर को दीपक कहने लगे तो यह किसी को स्वीकार्य न होगा क्योंकि दीपक और घर में स्पष्ट रूप से पार्थक्य है। इसी प्रकार औचित्य की कोई सीमा नहीं है। उसका कोई सार्वभौम रूप भी नहीं है, वह देश-काल सापेक्ष है, जबकि काव्य-रस एक सार्वभौम तत्त्व है और वह देश-कालादि की सीमा से परे है। अत: 'रस' ही काव्य की आत्मा है, औचित्य नहीं।

औचित्य की उपादेयता

औचित्य – सिद्धान्त के सम्यक् विवेचन के पश्चात् उसकी उपादेयता पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। औचित्य का सम्बन्ध जीवन के उपयोगी पक्ष से होने के कारण काव्य में भी उसकी उपादेयता संदिग्ध नहीं है। लोक-जीवन में सर्वदा लोक प्रचलित उक्तियों द्वारा उपादेयता की स्थापना की जाती रही है। जैसे– **'तेते पाँव पसारिये जेती लाँवी सौर'** तथा **'लायक ही सों कीजिए ब्याह बैर अरू प्रीति'** आदि लोकोक्तियों में औचित्य की उपादेयता का ही दिग्दर्शन है। औचित्य का विरोधी अनौचित्य है। जीवन में विरुद्ध-धर्म के वारण द्वारा अनुकूल धर्म-की प्रतिष्ठा करने की भी परम्परा रहती रही है जैसे– **'राजा है चोरी करे न्याय कौन घर जाय'** तथा **'राजा-जोगी अग्निजल इनकी उल्टी रीति'** आदि में अनौचित्य के विलोम स्वरूप औचित्य की स्थापना हुई है। काव्य भी जीवन-प्रतिबिम्बी है। अत: काव्य की उपादेयता का रहस्य भी औचित्य में ही निहित है। महात्मा तुलसीदास ने–

जड़ चेतन गुन दोष मय विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण लहहिं पय परि हरि वारि विकार।।

के द्वारा औचित्य के ग्रहण तथा अनौचित्य के अग्रहण का ही समर्थन किया है। रस निष्पन्नता की स्थिति में भी अनौचित्य का लोप होकर औचित्य का ही प्रादुर्भाव होता है क्योंकि रस-निर्वचन में रजोगुण तथा तमोगुण पराभूत होकर सतोगुण के नियंत्रण में आ जाते हैं। इस स्थिति में समाज के मन से ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, पाप-पाखण्ड, असत्य, हिंसा आदि के कुत्सित भाव तिरोहित होकर सत्य, अहिंसा, परोपकार, करुणा, दया, क्षमा, सहिष्णुता, त्याग-बलिदान आदि के ईश्वरीय भाव मन में भर जाते हैं। यही 'रस' है, यही ज्ञान है, यही मोक्ष है, यही धर्म है, यही काव्य का मूल अर्थात् काव्य की आत्मा है। यह और कुछ नहीं औचित्य ही है। इस प्रकार काव्य के अन्तर्पक्ष में तो औचित्य व्याप्त ही है उसके बहिर्पक्ष अर्थात् भाषा, अलंकार, गुण तथा शैली आदि में भी सर्वत्र औचित्य के ही दर्शन होते हैं क्योंकि बिना औचित्य के भाषा, अलंकार तथा शैली आदि आत्म तेज मूलक (रस-सौंदर्य) को विकीर्ण करने में सफल नहीं हो सकते।

उपर्युक्त आधार पर औचित्य की उपादेयता स्वत: सिद्ध हो जाती है परन्तु क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सिद्धांत में औचित्य को गहराई के साथ नहीं लिया है यही कारण है कि

क्षेमेन्द्र का औचित्य-सिद्धांत मात्र 'चर्चा' का ही विषय बनकर रह गया। वह न तो काव्य सिद्धांत के रूप में ही समाहित हुआ और न काव्य की आत्मा के रूप में ही मान्य हो सका। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि औचित्य के बिना काव्य उसी प्रकार निष्प्राण है जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर निर्जीव हो जाता है और यह औचित्य काव्य की आत्मा 'रस' ही है जिसके विद्यमान होने पर सब कुछ उचित बन जाता है।

औचित्य सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा और क्षेमेन्द्र

पाश्चात्य काव्य शास्त्र के क्षेत्र में भी औचित्य पर पर्याप्त विचार-विमर्श होता रहा है। सर्व प्रथम ग्रीक विद्वान **अरस्तू** ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'पोएटिक्स' तथा 'रिटोरिक' में 'औचित्य' का विवेचन किया है। अरस्तू ने औचित्य को घटना, रूपक, विशेषण और विषय से सम्बद्ध मानते हुए चार प्रकार का माना है। अरस्तू के पश्चात् रोमन विद्वान् **'हौरेस'** ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आर्स पोएतिका' में विस्तार से 'औचित्य-सिद्धान्त' का निरूपण किया है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में हौरेस ने क्षेमेन्द्र की ही भाँति औचित्य का सविस्तार विवेचन किया है। हौरेस ने नाटक, कविता, काव्य-विषय तथा काव्य-शैली के क्षेत्र में सर्वत्र ही 'औचित्य' का प्राविधान किया है। इन्होंने अपने ग्रंथ 'आर्स पोएतिका' को दो खण्डों में विभाजित करके प्रथम खण्ड में औचित्य का महत्त्व तथा काव्य-वस्तु के चयन में सरलता एवं क्रमबद्धता का निरूपण किया है और दूसरे खण्ड में उचित शिल्पशैली, नाटक की कथा-वस्तु का काव्योचित प्रयोग, ट्रेजेडी तथा कामेडी के विषयों के प्रयोग में औचित्य का समावेश, 'चरित्र-औचित्य' तथा अभिनय औचित्य के रूप में करते हुए काव्य-रचना के क्षेत्र में असावधान तथा अर्थ-लिप्सा आदि अनुचित कार्यों का वारण किया गया है। हौरेस ने सत्काव्य के सृजन पर बल दिया है और सत्काव्य-सृजन के लिए औचित्य को आवश्यक बताया है। हौरेस ने औचित्य को छः भागों में विभक्त किया है। **1.विषय औचित्य 2. चरित्र औयित्य 3. घटना औचित्य 4. अभिनय औचित्य 5. शब्द चयन एवं शब्द योजना औचित्य तथा 6. शब्द औचित्य।**

हौरेस के पश्चात् लौंजाइनस ने उदात्त-सिद्धान्त के रूप में औचित्य का समर्थन किया है और उसके दो भेद किये हैं– **1. बाह्य 2. आन्तरिक।** बाह्य उदात्त के अन्तर्गत भाषा अलंकार तथा शैली को रखा जा सकता है। इसे लौंजाइनस ने शब्दगत उदात्त की संज्ञा दी है। 2. आन्तरिक उदात्त जिसके अन्तर्गत भाव तथा विचार समविष्ट होते हैं।

विवेचन – उपर्युक्त आधार पर यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में भी औचित्य पर पर्याप्त मात्रा में विचार किया गया है और एक सत्काव्य के लिए उचित वस्तु-विन्यास, पात्र योजना, अभिनय तथा भाषा-शैली को आवश्यक बताया है। औचित्य के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण लगभग भारतीय विद्वानों का रहा है। अन्तर केवल इतना ही है कि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को अधिक गम्भीरता एवं विस्तार से विवेचित किया है जिसमें रस भाव, अलंकार, गुण आदि अन्तर्बाह्य सभी तत्त्व समाहित

हुए हैं जबकि हौरेस का विवेचन औचित्य के बाह्य पक्ष का ही समर्थक है जिसमें वस्तु, घटना, पात्र, भाषा-शैली आदि का ही समायोजन हो पाया है। हौरेस का औचित्य-सम्बन्धी मत भरत के नाट्यौचित्य से ही मिलता जुलता है। लौंजाइनस का उदात्त-सिद्धान्त अवश्य काव्य के अन्तर्बाह्यौचित्य का पोषक ज्ञात होता है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि पाश्चात्य समीक्षकों का औचित्य-सम्बन्धी विवेचन काव्य में उचित के प्रयोग पर बल देता है और भारतीय समीक्षा में भी यही प्राविधान परिलक्षित होता है परन्तु क्षेमेन्द्र का औचित्य-सम्बन्धी मत अधिक विस्तृत है। यहाँ तक कि औचित्य को काव्य की आत्मा तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है।

औचित्य-सिद्धान्त की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि औचित्य का कोई सार्वभौम-सत्य मूलक स्वरूप निरूपित नहीं हुआ। वह देश-काल निरपेक्ष न होकर देश-काल सापेक्ष ही बना रहा। पाश्चात्य देशों में शराब पीना, माँस खाना, नाचना-गाना-ताश खेलना, सिगरेट पीना, अर्द्धनग्नावस्था में घूमना, निर्लज्जता का सार्वजनिक प्रदर्शन करना उचित माना जाता है; परन्तु भारत-वर्ष में यह सब अनुचित है और भारतवर्ष में जो लज्जाशीलता, विनम्रता, शिष्टाचार प्रदर्शन आदि उचित माने जाते हैं उन्हें पाश्चात्य समाज पिछड़ापन मानता है, यही कारण है कि क्षेमेन्द्र की औचित्य-साधना ग्राह्य न हो सकी और औचित्य का अन्तर्भाव 'रस' में करके औचित्य को सार्वभौम रूप प्रदान कर दिया गया।

टिप्पणियाँ

1. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
   यत्लोऽस्यां कविना कार्य: **कोलंकारोऽनया बिना।।** (का. अ. मा. 8.5)
2. **मित्रं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।।** (काव्यादर्श 2,36)
3. वक्रोक्ति निपुणो न आख्यायिकाख्यान परिचय चतुरेण-----। (कादम्बरी)
4. सुबन्धुर्बाणश्च कविराज: इति त्रयं।
   वक्रोक्तिमार्ग निपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा।। (राघव पाण्डवीयम् 1.147)
5. काव्य मीमांसा पृ. 114
6. नाट्य शास्त्र 14.68
7. विरोध: सकलो इत्येष कदाचित् कविकौशलात्।
   उत्क्रम्य दोषगणानां गुणवीथि विगाहते। (काव्यादर्श 3.179)
8. अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
   प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।। (ध्वन्या; 3.14)
9. **(अ) सूरसागर में महारास प्रसंग।**
   (ब) काजर एक आंखि में दीयौ, एक में दैन ऊ न पाई।
   अँगिया जांघन में पहिर्याई; धुनि सुनि मुरली।।

उपसंहार

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्

काव्य या साहित्य की दो धाराएं अति प्राचीन काल से ही समानान्तर रूप में प्रवाहित होती आ रही हैं- **(1) लक्ष्य काव्यधारा (2) लक्षण काव्य धारा।** लक्ष्य काव्य धारा के अन्तर्गत रामायण, महाभारत, रघुवंश, कादम्बरी, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, साकेत, कामायनी जैसे मूल काव्य ग्रंथ आते हैं जिनका प्रणयन लक्षण ग्रंथों से पूर्व और पश्चात् हुआ है। लक्षण ग्रथों के अन्तर्गत समस्त काव्य शास्त्रीय सैद्धान्तिक ग्रन्थ आते हैं जिनका प्रणयन भरत से लेकर अभी तक निरन्तर होता चला आ रहा है। मूल बात यह है कि पहले लक्ष्य का प्रादुर्भाव हुआ और उसके पश्चात लक्ष्य के सैद्धान्तिक विवेचन स्वरूप लक्षणों का निर्धारण किया गया। इससे सिद्ध है कि लक्ष्य-लक्षण की एक अजस्र परम्परा रही है इसे हम तर्क शास्त्र के अन्वय व्यतिरेकी सिद्धान्त से पूरी तरह स्पष्ट कर सकते हैं। अन्वय व्यतिरेकी सिद्धान्त यह है कि 'यत् सत्वे तत् सत्ता' अर्थात् जहां एक की सत्ता होगी, वहीं दूसरे की सत्ता भी होगी; जैसे- **'यत्रयत्रधूमस्तत्रतत्र वह्नि'** अर्थात् जहां धूम होगा वहां अग्नि अवश्य होगी। इसी प्रकार जहां काव्य होगा वहां उसका लक्षण भी अवश्य ही किया गया होगा। भारतीय तथा पाश्चात्य सभी क्षेत्रों में यह मान्यता सटीक बैठती है। भारतीय वाङ्मय में वेदों को आदि ग्रन्थ माना जाता है, परन्तु काव्य क्षेत्र में वाल्मीकीय रामायण, आदि ग्रन्थ है। इसीलिए महर्षि वाल्मीकि को आदि कवि भी कहा जाता हैं। वाल्मीकीय रामायण की रचना कवि के मन में करुणा की धारा प्रवाहित होने के कारण हुई थी। एक बार जब महर्षि वाल्मीकि वन में विचरण कर रहे थे तो उसी समय आखेटक ने क्रोंच पक्षी के जोड़े में से एक की निर्ममता पूर्वक हत्या कर दी थी जिससे उसका दूसरा साथी करुण क्रन्दन कर उठा था; इससे प्रभावित होकर महर्षि के मुख से यह छन्द फूट पड़ा था।

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् गमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौचमिथुनादेकंवधीः काममोहिताम्।।"

इसे आदि छंद माना जाता है, इससे स्पष्ट है कि काव्य का प्रथम स्रोत 'रस से प्रवाहित हुआ था और तत्पश्चात् संस्कृत के सभी ग्रथों - जैसे रामायण, महाभारत, गीता आदि तथा हिन्दी में रचे गये, रासो, संतकाव्य, सूफी काव्य, भक्तिकाव्य, रीतिकाव्य

और छायावाद तक के सभी आधुनिक काव्य ग्रन्थों में निरन्तर रस धारा प्रवाहित होती दिखाई देती है

रस के अतिरिक्त काव्य में अन्य तत्व भी उपलब्ध होते हैं, जैसे-अलंकार, शैली, गुण, दोष, ध्वनि वक्रोक्ति, औचित्य आदि। इन सभी तत्वों से मिलकर काव्य उसी प्रकार बनता है जैसे पंचतत्व (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश) तथा आत्मा से मिलकर शरीर बनता है। यद्यपि काव्य में सभी अवयवों का महत्व है परन्तु जिस प्रकार शरीर आत्मा के बिना निर्जीव है, अनुपयोगी है, दुर्गन्ध का ढेर है और मिट्टी है; उसी प्रकार काव्य भी बिना आत्मतत्व के अनुपयोगी शुष्क, नीरस और कोरा वाग्जाल मात्र है। विद्वानों ने काव्य को 'काव्यपुरुष' का सम्बोधन दिया है और यह माना है कि पुरुष-शरीर की ही भांति काव्य में भी शरीर तत्व और आत्म तत्व का संयोग रहता है। इसी आधार पर विद्वानों ने काव्य की आत्मा के रूप में उसके मूल तत्व को काव्य का अनिवार्य और अपरिहार्य तत्व माना और काव्य के बाह्य तत्वों को परिहार्य या गौण तत्वों के रूप में स्वीकार किया। परन्तु काव्य की आत्मा के निर्धारण में आचार्यो में मतैक्य नहीं हो सका और काव्यात्म सम्बंधी अच्छा खासा विवाद खड़ा हो गया। इसी कारण से काव्य का कोई सर्वसम्मत लक्षण भी निर्धारित नहीं हुआ। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के परिणाम स्वरूप काव्य की अनेक रूपात्माएं और तदनुसार अनेक लक्षण भी निर्धारित हुए। फिर भी काव्यात्म और काव्य लक्षण सम्बधी मतों में जो त्रुटियां थीं उनके आधार पर स्थापित मतों की सार्थकता और निरर्थकता को देखते हुए अन्य विद्वानों ने इन सिद्धान्तों की सम्यक् और संगत विवेचना की। अंत में कुछ सिद्धान्तों को संगत पाकर उन्हें अपनाया गया। असंगत व दोष पूर्ण लक्षणों को नकार दिया गया। काव्यात्म सम्बंधी धारणाओं में प्रमुख धारणाएं इस प्रकार स्थापित हुईं –

(1) रसवादी धारणा
(2) अलंकारवादी धारणा
(3) रीतिवादी धारणा
(4) ध्वनिवादी धारणा
(5) वक्रोक्तिवादी धारणा
(6) औचित्यवादी धारणा

यहां काव्यात्म और काव्य लक्षण सम्बन्धी इन धारणाओं का परिचय देकर यह स्पष्ट करना है कि इनमें किस धारणा को कितना उपादेय माना गया और उसे कितना महत्व दिया गया। साथ ही इनमें कौन सी धारणा ऐसी है जो गंगा के समान काव्य रूपी गोमुख से निकलकर सभी नदियों रूपी धारणाओं का जल लेकर सर्वसम्मत काव्यात्मरूप महासागर में जा मिली हो।

रसवादी धारणा

काव्यात्मा के रूप में सर्वप्रथम अद्वितीय अलौकिक और शाश्वत रूप में प्रवाहित रसधारा का उद्भव हुआ क्योंकि सर्वप्रथम रामायण-महाभारत और गीता जैसे रसवादी लक्ष्य ग्रन्थ प्रणीत हुए थे जिनमें रस स्पष्ट रूप से काव्य की आत्मा के रूप में प्रवाहित और परिलक्षित होता दिखाई देता था। इसीलिये आचार्य भरत ने, जो संस्कृत वाड्.मय के प्रथम आचार्य माने गए हैं, रस सिद्धान्त की स्थापना इस सूत्र द्वारा की-

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य भरत ने आठ रसों का निर्धारण भी किया। ये रस हैं-

शृंगार हास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्सादभुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्य रसाः स्मृताः॥

अर्थात् शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्‌भुत नाटक में ये आठ रस माने गये हैं। आगे चलकर शांत, वात्सल्य और भक्ति रस भी रसश्रृंखला में सम्मिलित कर लिये गए और रसों की संख्या ग्यारह तक पहुँच गई। परन्तु आचार्य भरत के रस सिद्धान्त पर ही विवाद खड़ा हो गया। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों पर तो विद्वान् एक मत रहे परन्तु संयोग और निष्पत्ति पर एक मत न हो सके। इसीलिये इस सूत्र की विशद व्याख्या की आवश्यकता हुई, जिसमें भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक, अभिनवगुप्त और धनंजय आदि ने मीमांसा, न्याय, सांख्य, और वेदान्त दर्शनों में निरूपित समकक्ष स्थायी भाव के सत्वगुण मूलक और राधारणीकृत स्वरूप को रस की संज्ञा दी। यहाँ आकर रस का स्वरूप पूरी तरह आत्मा के स्वरूप से मिल गया। विश्वनाथ के इस मत से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है-

"सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनऽयमास्वाद्यते रसः॥"

अर्थात रस का उद्रेक सत्वगुण से होता है जिसका आशय यह है कि रस रजोगुण और तमोगुण के भावों से परे है, वह सत्वगुण मूलक है। यह रस आत्मा की भांति अखण्ड स्वयं प्रकाशवान्, चिन्मय, आनन्दस्वरूप, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य अर्थात् विषयादि के लौकिक विकारों से रहित, ब्रह्मास्वाद सहोदर अर्थात् ईश्वरानुभूति के समकक्ष, अलौकिक आनन्द के समान और लोकोत्तर चमत्कार प्राण (प्रमाता के मन में आलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाला) है। इस रस का मेरे तेरे अपने पराये के लौकिक भाव से मुक्त होने पर ही कोई प्रमाता (सहृदय, सामाजिक, काव्य का पाठक, श्रोता या दर्शक) आस्वादन करता है। इसे काव्य में रस कहते हैं।

रस का यह स्वरूप निर्धारण इतना सटीक और स्पष्ट है कि इसे यदि काव्य की आत्मा मान लें तो कोई अत्युक्ति न होगी। गीता में दर्शित आत्मा का स्वरूप भी प्राय: यही है –

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥"

रस के इस स्वरूपनिर्धारण से प्रत्यक्ष हो गया था कि आत्मा के समान काव्य में उपलब्ध रस तत्व ही काव्य की आत्मा है और इसीलिये पंडित विश्वनाथ ने–

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।"

का उद्घोष करके रस को काव्य की आत्मा मानते हुए काव्य लक्षण का निर्धारण किया। विश्वनाथ रसवादी आचार्य थे। इन्होंने वेदान्त दर्शन के आधार पर रस का सम्बन्ध आत्मतत्व से जोड़ते हुए 'रस' को काव्य का मूल तत्व स्वीकार करके प्रामाणिक एवं बहुमान्य काव्य लक्षण का निर्धारण किया है। विश्वनाथ ने अपनी इस परिभाषा में तीन शब्दों का ही प्रयोग किया है– **1. रसात्मकं। 2. वाक्यं। 3. काव्यम्।**

इनमें प्रथम शब्द तो काव्य के अन्तर्पक्ष अर्थात् अनुभूति पक्ष का द्योतक है और दूसरा शब्द उसके 'अभिव्यक्ति पक्ष' का। इन दोनों से मिलकर ही 'काव्य' बनता है। 'रसात्मकं' 'रस' की ओर संकेत करता है तथा 'वाक्यं' भाषा, अलंकारों, तथा छन्दादि की ओर संकेत करता है।

विश्वनाथ ने एक लम्बी अवधि से तिरस्कृत रूप में चले आ रहे 'रस तत्व' को काव्यात्म रूप में स्थापित करके काव्य को सर्वाधिक उपयोगी, सुन्दर एवं ग्राह्य बना दिया। विश्वनाथ की इस स्थापना से काव्य के मूल तत्व को समझने में सहायता मिली है और काव्य में 'सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम्' की स्थापना सुलभ हो सकी है। सत्वगुण पर आधारित होने के कारण काव्य में 'रस' ही 'आत्म-तत्व' की भांति 'सत् है, सुन्दर है और शिव हैं।'

पं. विश्वनाथ द्वारा स्थापित इस काव्य लक्षण में परम्परागत चली आ रही धारणा से निम्नलिखित भेद दिखाई देता है–

1. विश्वनाथ से पूर्व 'शब्द' ही काव्य के 'अभिव्यक्ति पक्ष' के रूप में प्रयुक्त किया जाता था जिसके स्थान पर विश्वनाथ ने 'वाक्य' का प्रयोग करके अभिव्यक्ति की पूर्णता को प्रदर्शित किया; क्योंकि 'शब्द' मात्र के प्रयोग से अभिव्यक्ति तत्व का पूर्ण व स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता था।
2. पं. विश्वनाथ ने 'अर्थ' के स्थान पर केवल 'रस' का ही प्रयोग किया जिससे अनुभूति तत्व का भान अधिक सजीवता एवं स्पष्टता से किया जा सकता है।
3. विश्वनाथ ने 'रस' तथा 'वाक्य' के उन सभी विशेषणों को हटा दिया जिसका प्रयोग मम्मटादि ने किया था, इसीलिये पं. विश्वनाथ की परिभाषा सर्वाधिक सरल, स्पष्ट, मार्मिक, प्रामाणिक एवं उपयोगी सिद्ध हुई।

यह प्रतिष्ठापना अत्यन्त उपयोगी, मौलिक और महत्वपूर्ण थी परन्तु विश्वनाथ द्वारा यह उद्घोष काफी समय पश्चात् किया गया, जबकि इससे पूर्व काव्यात्म सम्बन्धी अनेक सम्प्रदाय रस तत्व के अतिरिक्त काव्य के अन्य तत्वों को काव्यात्मा के रूप में निरूपित कर चुके थे।

विश्वनाथ ने-'वाक्यं-रसातमकं-काव्यम्'- इन तीन शब्दों के द्वारा ही समस्त काव्य जगत् को अपने लघुतम कलेवर में सन्निहित कर दिया है। यह संक्षिप्त सूत्रात्मक कथन देखने में तो सूत्र रूप लगता है परन्तु यह वावन के बढ़े हुए आकार की भांति अत्यन्त व्यापक है। यहां **वाक्यं** से काव्य की समस्त रचना धर्मिता और **रसात्मकं'** से प्राण धर्मिता की प्रतिष्ठा हुई है जिसमें अनुभूति रूप रस और अभिव्यक्ति रूप में भाषा अलंकार और छंद आदि का ग्रहण किया जाता है।

यह प्रतिष्ठापना अत्यन्त उपयोगी, मौलिक और महत्वपूर्ण थी। विश्वनाथ द्वारा यह उद्घोष काफी विलम्ब से किये जाने का कारण इससे पूर्व कार्यरत काव्यात्मा सम्बन्धी सम्प्रदाय थे जो रस तत्व के अतिरिक्त काव्य के अन्य अनेक तत्वों को काव्यात्मा के रूप में विश्वनाथ से पूर्व ही निरूपित कर चुके थे। उन सभी मतों में भी परस्पर भारी द्वन्द था और कोई भी वर्ग एक दूसरे की स्थापना को स्वीकार नहीं कर रहा था। भरत से लेकर विश्वनाथ तक रस की धारा समाप्त तो नहीं हुई थी परन्तु क्षीण अवश्य पड़ गई थी और दूसरे सिद्धान्तों की ऊंची नीची खाईयों में विलुप्त प्राय: होकर भी अदृश्य रूप में प्रवाहित होती रही। विश्वनाथ रूपी भगीरथ के आश्रम में आकर ही इस धारा ने अपना स्पष्ट रूप प्रकट किया, जैसे-गंगा की धारा विष्णु के चरण से निकली तो परन्तु प्रजापति ब्रह्मा ने उसे अपने कमण्डल में छिपा लिया। कमण्डल से निकली तो शिव की जटाओं में विलीन हो गई और जब भगीरथ ने घोर तपस्या की तभी गंगा पृथ्वी पर आई। उसी प्रकार रस-गंगा की धारा वाल्मीकीय रामायण से प्रवाहित तो हुई और सिद्धान्तत: उसकी स्वीकृति भी भरत ने काव्य के मूल तत्व के रूप में दी परन्तु वह अनेक सम्प्रदायवादियों रूपिणी शिवजटाओं में उलझकर रह गई जिसे लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, धनंजय आदि ने रघुवंश के अनेक राजाओं की भांति प्रत्यक्ष करने के लिए तप तो किया, उसके रूप को भी खोज निकाला परन्तु वह काव्य के मूल तत्व या आत्मा के रूप में तब तक प्रतिष्ठित और मान्य नहीं हुई जब तक भगीरथ रूपी विश्वनाथ ने इसके स्वरूप को आत्मा के स्वरूप से मिलाकर काव्य-देवता के वरदान रूप में सबके समक्ष प्रस्तुत नहीं कर दिया। इस प्रकार विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करके काव्य की आत्मा और लक्षण सम्बन्धी विवाद को बहुत कुछ सुलझा दिया है। अत: नितान्त दुराग्रही लोगों को छोड़कर सभी ने इस मत को स्वीकार किया है।

काव्य में रस की स्थिति और काव्य के प्राणस्वरूप रस की अनुभूति पर विचार करने से पूर्व यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि किन सम्प्रदायों द्वारा रस के अतिरिक्त

काव्यात्म रूप में किन तत्वों को ग्रहण किया गया था और इन तत्वों के साथ आचार्य किस-किस रूप में रस की महत्ता को भी स्वीकार करते चले हैं।

अलंकारवादी धारणा

जिस प्रकार शारीरिक सौन्दर्य को सुन्दरतम बनाने के लिए आभूषणों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार काव्यसौन्दर्य को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए काव्य में अलंकारों का प्रयोग आवश्यक है।

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार सम्प्रदाय ही प्रथम एवं प्राचीनतम सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक भामह माने जाते हैं। इन्होंने काव्य के लिए अलंकारों को अनिवार्य घोषित करते हुए कहा है –

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुख्यम्"

अर्थात् जिस उं आकर्षक है तो उसे सौंदर्य प्रसाधक बाह्य उपकरणों की क्या आवश्यकता है। बाह्य उपकरण हों तो ठीक है और न हों तो भी अच्छा है। महाकवि कालिदास ने शकुन्तला के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा है कि **"जो स्वतः सुन्दर होते हैं उनके लिए बाह्य सौन्दर्य मूलक साधनों की आवश्कता नहीं होती।"**

मत की आलोचना एवं अस्वीकृति- अलंकार को मात्र कटक, कुण्डलादि के रूप में मानने वाले रसवादी आचार्य हैं। इन्होंने अलंकार को न तो प्रधान माना है और न गौण, बल्कि उसे काव्य में तीसरे स्थान पर रख दिया है। तीसरे स्थान पर रखे जाने पर भी ये अलंकार को काव्य में आवश्यक नहीं मानते। इनका कथन है कि काव्य अलंकार रहित भी होता है। इनके विचार से अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं। रस के समान इनका होना काव्य में अनिवार्य नहीं है। इसीलिये अलंकार को काव्य के आंतरिक तत्व या आत्म तत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु अलंकारवादी आचार्यों ने भी रसवत् और प्रेयस्' अलंकारों के रूप में रस के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

रीतिवादी धारणा

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्थापित करते हुए कहा- **"रीतिरात्माकाव्यस्य"**। रीति को उन्होंने विशिष्ट पद रचना माना है-

"विशिष्टापदरचना रीतिः"

और यह विशिष्टता गुणों (ओज, माधुर्य, प्रसाद) में होती है-

"विशेषो गुणात्मा।"

और काव्य की शोभा के कारण गुण ही होते हैं-

"काव्यशोभायाकर्त्तारौ धर्मा गुणाः।"

और इन्हीं गुणों पर आधारित, 'रीति' काव्य की आत्मा है-

"रीतिरात्मा काव्यस्य।"

स्पष्ट है वामन ने गुणपूर्ण रचना को रीति कहकर उसे रस, भाव तथा ध्वनि

(व्यंग्यादि) आंतरिक भावों से सम्बद्ध कर दिया है और रीति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक बना दिया है। आचार्य मम्मट ने भी काव्य में गुणों की महत्ता स्वीकार की है और गुणों को रस के अंग रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार रीति तो काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं की गई, परन्तु आचार्य वामन और मम्मट ने गुणों के परिप्रेक्ष्य में किसी सीमा तक रस की सत्ता को स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार रस-धारा पुनः आगे बढ़ती गई।

ध्वनिवादी धारणा

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा घोषित किया- **"काव्यस्यात्मा ध्वनि रितिः:।"**

अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि का लक्षण इस प्रकार किया-

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

तात्पर्य यह है कि वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ को ध्वनि कहते हैं। उस अर्थ को जो वाच्यार्थ से भिन्न होता है-

व्यंग्यार्थ, प्रतीयमानार्थ, कहते हैं।

आनन्दवर्द्धन का ध्वनि तत्व एक प्रकार से आन्तरिक तत्व है। उनके शब्दों में ध्वनि, महाकवियों की वाणी में कुछ और ही होती है। वह वाच्यार्थ से ऐसे भिन्न होती है जैसे किसी अंगना के अंग से फूटता हुआ लावण्य अथवा किसी लज्जाशील रमणी के मुख से झलकती हुई लज्जा की आभा।

क. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।
ख. मुख्या महाकविगिरामलंकृतिऽमृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥

निःसन्देह ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करने का प्रमुख कारण यही है।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन ने काव्य के विभिन्न प्रकार के चमत्कार को ध्वनि पर ही आधारित माना है। ध्वनि के तारतम्य के आधार पर उन्होंने समस्त काव्य को तीन रूपों में विभक्त किया है-

1. **ध्वनि काव्य (अलंकार तथा रस सौंदर्य से युक्त काव्य।)**
2. **गुणीभूतव्यंग्य काव्य।**
3. **चित्र काव्य।**

इनमें ध्वनि क्रमशः **1. प्रधान रूप से 2. गौण रूप से तथा 3. अस्फुट रूप से** विद्यमान रहती है। इस प्रकार काव्य का कोई ऐसा स्थल नहीं है जो ध्वनि के आंचल

में समविष्ट न हो पाता हो।

आनन्दवर्द्धन द्वारा स्थापित काव्यात्म रूप में ध्वनि सिद्धान्त ने विद्वानों को कुछ चमत्कृत तो किया परन्तु ध्वनि के अन्तर्गत वस्तु, अलंकार और रस तीनों को समाहित कर देने से ध्वनि अन्यतम रूप में काव्य की आत्मा होने का गौरव प्राप्त न कर सकी क्योंकि वस्तु और अलंकार तो स्पष्टत: काव्य के बाह्यांग हैं। ये काव्य का प्राण नहीं हो सकते। काव्य का प्राण तो रस ही है जिसे इन्होंने रस ध्वनि कहा है। यही रस ध्वनि आगे चलकर विश्‍वनाथ के द्वारा ध्वनि शब्द को हटाकर विशुद्ध रस रूप में स्वतन्त्र रूप से काव्यात्म रूप में प्रतिष्ठित हुई

वक्रोक्तिवादी धारणा

कुन्तक ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ **वक्रोक्ति जीवित** में सविस्तार वक्रोक्ति का विवेचन किया है। कुन्तक का यही विवेचन वक्रोक्ति सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त में जहाँ एक ओर वक्रोक्ति के स्वरूप तथा भेदोपभेदों का सम्यक् विवेचन किया है। वहां उसे– **'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्'** कहकर काव्य की आत्मा भी घोषित किया है। कुन्तक का कथन है कि हम व्यवहार में दो प्रकार के कथन देखते हैं-

1. सामान्य अर्थ का बोध कराने वाले कथन।

2. विचित्र अर्थ का बोध कराने वाले कथन।

कुन्तक ने इन दोनों कथनों को ही क्रमश: **स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति की संज्ञा दी है।** कुन्तक का मत है कि स्वाभावेक्ति उक्तिसामान्य में विद्यमान रहती है। इस प्रकार के कथन असुन्दर तथा अप्रभावशाली होते हैं। अत: स्वाभाविक उक्ति काव्य का प्रतिपाद्य नहीं हो सकती। कुन्तक के मत से काव्य का प्रतिपाद्य वही उक्ति हो सकती है जो विचित्र अर्थ को तथा वक्र-अर्थ को समान रूप से धारण करे। कुन्तक ने उक्ति को अभिधा के अन्तर्गत प्रतिष्ठित करते हुए **विचित्र-अभिधा** को ही काव्य के उपयुक्त बताया है। कुन्तक का इसी आधार पर कहना है कि बिना विचित्र अमिधा या वक्र उक्ति के रचना अपूर्ण ही रहेगी। अत: वक्रोक्ति काव्य का अनिवार्य तत्व हुआ और यही अनिवार्य तत्व काव्य की आत्मा है।

कुन्तक का काव्यात्म सम्बन्धी यह दृष्टिकोण अन्य विद्वानों से भिन्न है। कुन्तक काव्य सौन्दर्य को ही काव्य की आत्मा मानकर चले हैं और उनकी दृष्टि में यह सौंदर्य वक्रोक्ति में ही निहित रहता है। सामान्योक्ति या स्वभावोक्ति में नहीं। इस आधार पर काव्यात्म में कुन्तक काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य-रस-भावादि को तथा बाह्य सौन्दर्य पद विन्यास आदि को सम्मिलित करते हैं। जिस प्रकार शरीर के मूल तत्व आत्मा का सौन्दर्य व्यक्ति के पुष्ट एवं आकर्षक शरीर, महान् गुणों तथा महान् कार्यों से आभासित हो सकता है, उसी प्रकार काव्य का मूल तत्व काव्य में प्रयुक्त, सशक्त, सरस, प्रभावशाली

उक्ति के द्वारा ही परिलक्षित हो सकता है। जिस प्रकार स्वस्थ सुन्दर गुणवान् तथा महान् कार्य-क्षमता से युक्त शरीर ही आत्मसौन्दर्य का उद्‌बोधक है, उसी प्रकार विचित्र वर्ण-विधान, शब्द-विधान, वाक्य-विधान तथा रचना-विधान ही काव्यसौंदर्य के उद्‌बोधक हैं। यह काव्यसौंदर्य का उद्‌बोधक तत्व ही काव्य का मूल तत्व है और वह मूल तत्व ही काव्य की आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा रहित शरीर का कोई मूल्य नहीं होता उसी प्रकार विचित्र अर्थ रहित रचना का भी कोई मूल्य नहीं होता। **अतः विचित्र-अभिधान' को धारण करने वाली 'विचित्र अमिधा' या वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है।**

यद्यपि कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया है परन्तु वह स्थापना अस्वाभाविक ही मानी जायेगी जिसमें मूल-भाव के सौन्दर्य को विकृत कर मनमाने ढंग से की गई स्थापना से जो उपलब्धि हो उसी को आत्मा घोषित कर दिया जाये। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि कुन्तक ने भी ठीक वही किया है जिसे एक लम्बे समय से अलंकारवादी, रीतिवादी तथा ध्वनिवादी आचार्य करते चले आ रहे थे। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कुन्तक के समय तक रसवाद की स्थापना पूर्ण रूपेण काव्य-क्षेत्र में नहीं हो सकी थी। काव्य के मूल तत्व के सम्बन्ध में सर्वप्रथम अलंकार वादी आचार्यों ने विस्तार से विवेचन, टीका-टिप्पणी तथा वाद विवाद प्रस्तुत किये थे। परन्तु इनके द्वारा भी कोई आत्मसम्बन्धी तत्व सुनिश्चित न हो सका था। रीतिकार का मत भी बाह्य तत्वों शैली आदि का ही द्योतक था और आनन्द वर्द्धन का मत काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य का उद्‌बोधक होते हुए भी बौद्धिक धरातल तक ही पहुँच पाया था। कुन्तक के समय तक किसी भी आचार्य की धारणा काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं हो पायी थी। यद्यपि यह धारणा समुद्र में सीपी की भांति और बादलों में विद्युत की भांति बार-बार विद्वानों के मन को आकर्षित एवं चमत्कृत कर रही थी फिर भी विश्वनाथ से पूर्व कोई भी आचार्य उस धारणा की काव्यात्म रूप में स्थापना न कर सका। विश्वनाथ ने सभी काव्यात्म सम्प्रदायों का अवलोकन करके यह निश्चित किया कि अलंकार रीति और वक्रोक्ति तो मात्र काव्य के बाह्य तत्व अर्थात् काव्य शरीर के द्योतक ही हैं और ध्वनि, कल्पना एवं बुद्धि पर आधाररित रहने के कारण आत्म-तत्व मूलक गुणों से अपूर्ण हैं।

केवल 'रस' ही काव्य का वह तत्व है जो साधारणीकरण की क्षमता रखते हुए सभी पाठकों एवं दर्शकादि को समान रूप से आनन्द एवं प्रेरणा प्रदान करता है। अतः रस ही काव्य की आत्मा है। इसकी घोषणा विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर की।

काव्यात्म के प्रसंग में रस की स्थापना के कारण ही अन्य वादों की भांति कुन्तक का वक्रोक्तिवाद भी प्रतिष्ठित न हो सका **और सभी विद्वानों ने रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया।**

औचित्यवादी धारणा – विश्वनाथ के पश्चात् क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा घोषित किया। परन्तु विद्वानों ने उनके इस मत का अन्तर्भाव रस में करके यह धारणा व्यक्त की कि औचित्य का समावेश रस के अन्तर्गत ही हो जाता है। अतः काव्य की आत्मा रस को मानना ही न्याय संगत है।

समन्वय

काव्य के लिए भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही अपेक्षित हैं। अलंकार वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि अभिव्यक्ति परक सौन्दर्य से अधिक सम्बन्धित हैं। अलंकार शोभा को बढ़ाते हैं, रीति शोभा का अंग है किंतु पूर्ण शोभा नहीं। वक्रोक्ति में काव्य को साधारण वाणी से पृथक् करने वाली विलक्षणता पर अधिक बल दिया गया है किन्तु स्वाभाविकता और सरसता की उपेक्षा की गई है। कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है।

ध्वनि और रस सम्प्रदाय की प्रतिद्वन्दिता अवश्य है किन्तु उनकी प्रतिद्वन्दिता इतनी बढ़ी हुई नहीं है कि समन्वय न हो सके। आचार्यों ने स्वयं ही उसका समन्वय कर लिया है। ध्वनि का विभाजन करते हुए तीन प्रकार की ध्वनियां मानी गई हैं।

1. वस्तु ध्वनि। 2. अलंकार ध्वनि और 3. रस ध्वनि।

इन तीनों भेदों में रस ध्वनि को जो असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत है, अधिक महत्व दिया गया है। इस प्रकार रसध्वनि को विशिष्टता देना एक प्रकार से रस-सिद्धान्त की ही स्वीकृति है।

मम्मटाचार्य ने ध्वनि-सिद्धान्त को मानकर रस का वर्णन ध्वनि के अन्तर्गत ही किया है। मम्मटाचार्य ने अलंकारों को रस का उपकारी माना है और दोषों की व्याख्या भी रस के सम्बन्ध में की है। इससे स्पष्ट है कि मम्मट भी रसवादी थे। यहां तक कि रस-सिद्धान्त के पोषक और अभिभावक आचार्य विश्वनाथ ने इनका ही अनुकरण किया है।

मम्मट ने यद्यपि काव्य की परिभाषा में रस का उललेख नहीं किया है। उसमें ध्वनि का भी उललेख नहीं है। तथापि जिन तीन काव्य-तत्वों का अर्थात् दोष (अदोषौ) गुण (सगुणौ) और अलंकार (अनलड.कृती पुनः क्वापि) का उल्लेख है, उन सबको रस के आश्रित कर दिया है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त में एक प्रकार से रस सिद्धान्त को ही महत्ता दी है-

'औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्'।

अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि अभिव्यक्ति से ही सम्बन्ध रखते हैं। गुण, रीति अलंकार और ध्वनि का सम्बन्ध कृति से है। इनमें कर्त्ता और भोक्ता कुछ गौण से रहते हैं। इसके विपरीत रस में कर्त्ता काव्य और भोक्ता (पाठक) तीनों को ही समान महत्व मिलता है। उसमें प्रभाव है, गति है और जीवन की तरलता है। वह कवि के हिमगिरि से विशाल, रत्नाकर से विस्तृत और गम्भीर हृदय स्रोत से निसृत होकर कृति के रूप में प्रवाहित होता हुआ पाठक के हृदय को आप्लावित करता है। इसी से वह

रस काव्यास्वाद के अर्थ में अपना नाम **सार्थक** करता है। आस्वाद्य होने के कारण वह रसना के रस की भी समानधर्मिता सम्पादित करने में समर्थ रहता है। म्लान और म्रियमाण हृदयों को संजीवनी शक्ति प्रदान कर आयुर्वेदिक रस केगुणों को वह अपनाता है। काव्य का सार होने के कारण उसमें फलों के रस की भी अभिव्यक्ति हैं। रस अर्थात् आनन्द उसका निजी रूप है। वह रमणीयता का चरम लक्ष्य है और अर्थ की अर्थस्वरूपा ध्वनि का भी विश्राम स्थल है। इसीलिए वह परमार्थ रूप है, स्वयं प्रकाशानन्द, चिन्मय, अखण्ड तथा ब्रहमानन्द सहोदर है। उसका उद्रेक सत्व गुण से होता है। इसी लिए कहा गया है- **'रसौ वै सः।'** अर्थात् काव्य में रस ही आत्मरूप है। इसे यों भी कह सकते हैं कि **हर प्रकार से आत्म रूप, सजीव, जीवन्त तत्व होने के कारण भाव के साधारणीकरण और सत्वगुण मूलक विशेषताओं से युक्त रस ही काव्य की आत्मा है और रसात्मक रचना ही काव्य है।** अतः विश्वनाथ द्वारा–

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'

का उद्घोष, पूर्णतया सार्थक, उपादेय, प्रासंगिक और सर्वग्रह्य है। विश्वनाथ के मत की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. रस की महत्ता – रस का साहित्य में व्यापक प्रभाव रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र के सामान्य सर्वेक्षण से यह आपाततः लक्षित हो जाता है कि आदि से अन्त तक जितना समादर रस नामक काव्य तत्व को मिला है, उतना अन्य किसी काव्य-तत्व को नहीं मिला। संस्कृत आचार्यों, रीतिकालीन आचार्यों तथा आधुनिक हिन्दी विद्वानों ने मुक्त कंठ से रस की महत्ता प्रतिपादित की है। कतिपय प्रमाण लीजिए-

भरत- इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक हैं, नाट्य-शास्त्र के कर्ता भरतमुनि ने रस को नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने रस-सिद्धान्त की स्थापना इस सूत्र द्वारा की थी।

'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पतिः।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

आचार्य भरत ने आठ रसों का निर्धारण भी किया, ये हैं-श्रृंगार, हास्य करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्‌भुत।

आगे चलकर शान्त रस, वात्सल्य रस, और भक्ति रस भी माने गए जिससे रसों की संख्या ग्यारह हो गई।

भरत के रस सूत्र की विशद व्याख्या कर विभिन्न विद्वानों ने इसकी महत्ता प्रतिपादित की जिनमें भट्टलोल्लट का आरोपवाद, शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद, अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मीमांसा, न्याय, सांख्य और वेदान्त दर्शनों के आत्मरूप के समकक्ष स्थायी भाव के सत्वगुण मूलक और साधारणीकृत स्वरूप को रस की संज्ञा दी। यहां आकर रस का स्वरूप पूरी तरह

आत्मा के स्वरूप से मिल गया। अभिनवगुप्त ने रस को अलौकिक कहकर उसकी महत्ता प्रतिपादित की है और विश्वनाथ ने उसे काव्य की आत्मा घोषित करके स्तुत्य कार्य किया है।

2. अलंकारवादी आचार्यों – भामह, दण्डी और उद्‌भट आदि ने यद्यपि रस को अलंकार नाम से ही अभिहित किया है तथापि उन्होंने अपने इस दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया है।

भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए एक आवश्यक 'तत्व' के रूप में स्वीकृत किया है।

इसके अतिरिक्त रुद्रट ने भी भामह और दण्डी के समान रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक माना है।

3. रीतिवादी वामन – का अर्थगत कान्ति गुण का लक्षण रस पर ही आधारित है। उनका कथन है कि जहां रस दीप्त हो वहा कान्ति गुण माना जाता है।

'दीप्तरसत्वं कान्तिः।'

4. इन आचार्यों के पश्चात् **ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन** ने ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा रस को ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्य क्रम व्यंग्यध्वनि' नाम से स्वीकृत करते हुए रस को ही ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप घोषित किया है।

इसी प्रकार **आनन्दवर्द्धन** के प्रख्यात अनुकर्ता **मम्मट** ने भी रस को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन निर्दिष्ट किया है।

5. आनन्दवर्द्धन के पश्चात् वक्रोक्ति वादी **कुन्तक** ने भी 'रसवत् अलंकार को 'सभी अलंकारों का जीवित' कहते हुए प्रकारान्तर से रस की उत्कृष्टता मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है।

6. कुन्तक के उपरान्त इस दिशा में **अग्निपुराणकार** ने काव्य में रस की अनिवार्यता का संकेत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार लक्ष्मी त्याग दान के बिना शोभित नहीं होती उसी प्रकार वाणी भी रस के बिना शोभित नहीं होती।

'लक्ष्मीरिवविनात्यागान्नवाणीभातिनीरसा।'

7. इसी प्रकार **महिमभट्ट** ने भी रस को सर्वसम्मति से ही काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का निर्देश किया।

8. राजशेखर के पश्चात् जगन्नाथ ने – **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यम्'** कहकर रस की महत्ता का ही प्रतिपादन किया। अतः **विश्वनाथ** ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया और अपना काव्यलक्षण **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'** भी इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि **सभी संस्कृत आचार्यों ने किसी न किसी रूप में रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृति प्रदान की है।**

रस प्रक्रिया के अन्तर्गत भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त की स्थापना द्वारा रस की महत्ता प्रदर्शित की। आचार्य **गोविन्द ठाकुर** ने कहा 'भावकत्व ही साधारणीकरण है और विभावादि (आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी भाव तथा स्थायी भावों) का साधारणीकरण किया जाता है।

इस मत का हिंन्दी विद्वानों में खूब प्रचार हुआ और इसी के आधार पर विद्वानों ने अपने मतों का निर्धारण किया। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य भी रस सम्प्रदाय से ही प्रभावित हैं।

केशवदास को रीतिकाल का प्रथम आचार्य माना जाता है। वे रस के ही समर्थक हैं। उनका रस के सम्बन्ध में विचार इस प्रकार है।

"ज्यों बिनु दीठि न शोभिजै लोचन लोल विसाल।
तैसेइ केसव सकल कवि बिनु बानी न रसाल॥"

अर्थात् जैसे बड़े-बड़े नेत्र भी बिना दृष्टि के शोभा नहीं देते उसी प्रकार कोई भी कवि बिना रसयुक्त वाणी के कवि कहलाने योग्य नहीं है।

केशवदास की रसिकता का इससे प्रबल उदाहरण और क्या हो सकता है। इसके अतिरिक्त केशवदास ने निम्न दोहे में भी सरस' शब्द का प्रयोग कर रस की महत्ता प्रदर्शित की है।

"जदपि सुजाति सलच्छिनी सुबरन सरस सुवृत।"
"भूषन बिनु न विराजई कविता वनिता मित्त।"

केशवदास काव्य में दोषों के परिहार की घोषणा करके भी रस की महत्ता का ही प्रतिपादन करते हैं-

"राजत रंच न दोषजुत कविता बनिता मित्त।
बुन्दक हाला परत ज्यों गंगाघट अपवित्र॥"

अर्थात् कविता और स्त्री दोष युक्त होने पर तनिक भी सुशोभित नहीं लगतीं जैसे गंगाजल से भरे हुए घड़े में शराब की एक बूंद भी पड़ जाने पर वह अपवित्र हो जाता है।

केशवदास की स्थापनाओं का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि केशवदास मात्र अलंकारवादी नहीं थे वे काव्य में रस के भी समर्थक थे।

अन्य रीतिकालीन आचार्यों ने भी रस की महत्ता प्रतिपादित की है।

प्रायः सभी रीतिकालीन आचार्यों ने रस को आस्वाद्य अर्थात् आनन्दानुभूति के रूप में काव्य का प्रमुख तत्व मानकर रस की

आधुनिक हिन्दी आचार्यों में **महावीर प्र**

प्रसाद, डा. नगेन्द्र आदि ने रस को ही काव्

है। कतिपय उदाहरण देखिए-

रामचन्द्रशुक्ल- ने अपने निबन्ध 'क

हुए काव्य का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।"

इससे स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल काव्य के रसवादी स्वरूप के ही समर्थक हैं।

जयशंकर प्रसाद- ने काव्य लक्षण देते हुए लिखा है-

"काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है।" अर्थात् काव्य पाठकादि की आत्मा की रसात्मक आनन्दमूलक अनुभूति का माध्यम है। इसका आशय यह है कि काव्य से प्राप्त आनन्द रस का ही द्योतक है।

डा. नगेन्द्र ने रस की महत्ता इस प्रकार व्यक्त की है **"रमणीय अनुभूति उक्ति वैचित्र्य और छन्द**- इन तीनों का समंजित रूप ही कविता है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भरत से लेकर सभी संस्कृत आचार्यों, तथा हिन्दी आचार्यों ने रसवाद की स्थापना करने में प्रमुख सहयोग दिया जिससे विश्वनाथ की यह धारणा **'वाक्यं रसात्मकं काव्य्'** सर्वत्र मान्य और ग्राह्य हो गई।

2. संस्कृत का रसात्मक साहित्य- वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्म रामायण, महाभारत, भागवत, गीता, रघुवंश, कुमारसंभव, शाकुन्तलम्, मेघदूतम्, कादम्बरी, उरुभंगम् गीत गोविन्द, वेणीसंहार, स्वप्नवासवदत्ता, शिवराज विजय आदि सभी रस सिद्ध ग्रन्थ हैं। संस्कृत का कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो रस सिद्ध न हो। संस्कृत के महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, मुक्तक, कथा-साहित्य सभी में संस्कृत आचार्यों ने रस को अनिवार्य माना है। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत वाङ्मय में रस आदि से अंत तक सभी लक्ष्य ग्रंथों में आत्मा के रूप में शिक्षा, प्रेरणा, आनन्द, आत्म विकास, सदाचार, नीति, भक्ति, ज्ञान, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सजीवता, मार्मिकता, गंभीरता, रोचकता, ओज-माधुर्य-प्रसाद आदि के रूप में प्राणस्वरूप हो कर सर्वत्र विद्यमान है। अत: संस्कृत साहित्य के अवलोकन से यह प्रमाणित हो जाता है कि रस ही काव्य का प्राण, मूल तत्व, सार तत्व और आत्मा है।

3. हिन्दी का रसात्मक साहित्य और उसकी महत्ता- पृथ्वीराज रासो, अपर रासो साहित्य, संत साहित्य, सूफी साहित्य, राम तथा कृष्ण साहित्य और रीति साहित्य, आधुनिक साहित्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी, निबंध, महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, गीतिकाव्य सभी में छायावादी और प्रगतिवादी युग तक, रस

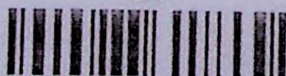
काव्यम्' कहकर रस की महत्ता का ही प्रति रण ही संस्कृत तथा हिन्दी का काव्य कालजयी
काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया ‹ न्तर प्रेरणा का स्रोत रहा है। सांस्कृतिक चेतना
काव्यम्।' भी इसी मान्यता के आधार पर ा ही गद्य और पद्य मूलक समस्त साहित्य ही
उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि **सभ** र बौद्धिक चेतना का शंख फूंकता रहा है। रस
रूप में रस को काव्य की आत्मा के रू त्य में धर्म और मोक्ष तक पहुंचाने वाले तत्व;

ज्ञान, भक्ति-सदाचार, दर्शन, जीवनदर्शन और नीति सदैव प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। भर्तृहरि का यह कथन संस्कृत और हिन्दी के रस सिद्ध काव्य के सन्दर्भ में सटीक और खरा उतरता है-

"जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥"

निष्कर्ष- स्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही आचार्यों ने काव्य की आत्मा पर विशद और गंभीर विचार करके अपने मत व्यक्त किये हैं। साथ ही उन्होंने अपने मतों की अनेक तर्कों द्वारा पुष्टि भी की है, परन्तु यह मत कि अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति काव्य की आत्मा हैं किसी को रास नहीं आया, क्योंकि ये सभी प्रत्यक्ष रूप से काव्य के बाह्य तत्व ही हैं। काव्य का आन्तरिक तत्व तो भाव है परन्तु भाव को मन और बुद्धि के समकक्ष रखकर ही देखा जा सकता है क्योंकि भाव मूल रूप में रजोगुण और तमोगुण से भी प्रभावित रहता है, इसीलिये यह आत्मरूप नहीं बन पाता। आत्मरूप केवल वही भाव बन सकता है जो रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त हो और सत्वगुण के प्रभाव से युक्त हो, जिससे वह भाव अखण्डता, चिन्मयता तथा ब्रहमानन्द सहोदरत्व आदि गुणों से युक्त होकर आत्म भाव बन जाए और उसमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की धारणा परिलक्षित होने लगे। यह सामर्थ्य केवल रस में ही है। यही रूप आत्मा का भी है। अतः रस रूप और आत्मरूप की समानता को स्वीकार करने में किसी को हिचक नहीं है। अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति आदि को आत्मा कहना पूर्णतया हास्यास्पद है। इसीलिये इन तत्वों को काव्य के मूल-अनिवार्य प्राण तत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया है। यही कारण है कि इन सिद्धान्तों पर किये गए काव्य लक्षण भी निरस्त प्रायः हो गये और उन्हें मान्यता नहीं मिली। अतः रस में काव्य के उदात्त आत्म रूप की क्षमता होने के कारण ही विश्वनाथ के **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** की उद्घोषणा का काव्यात्म परक परम उपयोगी काव्य लक्षण के रूप में सभी विद्वानों ने स्वागत किया है।




097
185364

भारतीय साहित्य सिद्धान्त